ज्ञानोदय

श्रमण संस्कृति का अग्रदूत मासिक

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

जुलाई १९४९ [१] वीर नि० २४७५

उद्देश्य—व्यक्तिस्वातन्त्र्य-मूलक श्रमण संस्कृतिके संदेश द्वारा समता, स्वतन्त्रता और शान्ति का सार्वजनीन उद्बोधन।

*

सम्पादक—मुनि कान्तिसागर · पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

इस अंक में

वार्षिक ६) * एकप्रति ॥=)

'ज्ञानोदय' कार्यालय
भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

ज्ञानोदय

वर्ष १ * काशी, जुलाई १९४९ * अंक १

मंगलं

णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं ।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं ।।

एसो पंच णमुक्कारो, सव्वपावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं हवइ मंगलं ।।

* *

चत्तारि मंगलं—

अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं ।

चत्तारि लोगुत्तमा—

अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो ।

चत्तारि सरणं पवज्जामि—

अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि,
साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।

——oo——

श्रमण संस्कृति

समत्व—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो॥

—प्रवचनसार ३।४१।

शत्रु और बंधु, सुख और दुःख, प्रशसा और निन्दा, मिट्टी और सोना तथा जीवन और मरणमें श्रमण समबुद्धि होता है।

*　　　　*

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्हि।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो॥

—प्रवचनसार ३।२६।

श्रमण ऐहलौकिक विषयतृष्णा से विरत और पारलौकिक विषयाकांक्षाओं से रहित होता है। उसका आहार विहार सन्तुलित होता है। वह कषायवासनाओं से निर्मुक्त रहता है।

*　　　　*

व्यक्तिस्वातन्त्र्य—

अण्णदवियेण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणुप्पादो।
तम्हा दु सव्वदव्वा उपज्जंते सहावेण॥

—समयसार गा० ३८५।

कोई भी द्रव्य अर्थात् चेतन या अचेतन व्यक्ति किसी अन्य द्रव्य का गुणोत्पाद नहीं कर सकता। इसलिए सभी द्रव्य अपनी अपनी उपादान योग्यता के अनुसार उत्पन्न होते हैं और परिणमन करते हैं।

*　　　　*

परकर्तृत्वका निषेध—

जो जम्हि गुणो दव्वे सो अण्ण ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं॥

चेतन या अचेतन जिस द्रव्य के जो गुण और धर्म है वे उसी में रहते हैं अन्य द्रव्य में संक्रान्त नही होते। जब एक द्रव्य के गुण और धर्म अन्य द्रव्य में संक्रान्त नहीं होते तो फिर वह अन्य द्रव्य का परिणमन करानेवाला कैसे हो सकता है?

———००———

ज्ञानोदय-गीत-

—रामावतार 'अरुण'

तिमिर-कुंज के स्वर्ण क्षितिज पर हुआ प्रथम ज्ञानोदय

कनक किरण से लिपट गया संसार
पवन-पंख पर गूँज उठी झंकार
रवि ने दिया प्रकाश-पुंज उपहार
चाँद लुटाने लगा सुधा की धार
धरती पर हँस पड़ा प्रकृति-शृंगार

इस आलोक स्वप्न-शतदल पर खुले मनुज-मन-दृग द्वय !
तिमिर-कुंज के स्वर्ण क्षितिज पर हुआ प्रथम ज्ञानोदय !

हुआ विश्व में मंगल पुण्य प्रभात
होने लगी अवनि अम्बर से बात
ऊपर में जो उमड़ रहे थे मेघ
उतरी भू पर रश्मिमयी बरसात।
आया लेकर दिवस अखण्ड प्रकाश
आई लेकर विद्युत काली रात

हँसी हिमालय की चोटी पर आत्म-अरुणिमा अक्षय।
तिमिर-कुंज के स्वर्ण क्षितिज पर हुआ प्रथम ज्ञानोदय।

हुआ आदमी का आध्यात्म विकास
महा सत्य पर हुआ सफल विश्वास
हुआ सभ्यता का स्वर्णिम जयकार
जागी संस्कृति मृदु प्राणों के पास !
फैला भारत-अन्तर-सुमन-सुवास

भव्य भारती की वीणा से निकला एक अरुण-लय !
तिमिर-कुंज के स्वर्ण क्षितिज पर हुआ प्रथम ज्ञानोदय !

धर्म और पंथ–

–पं० सुखलाल संघवी

प्रथम अर्थात् धर्म मे अन्तर्दर्शन होता है। वह आत्मा के अन्दर से उत्पन्न होता है, वहीं स्थिर रहता है और मनुष्य को उसी ओर आकृष्ट करता है। जब कि दूसरे अर्थात् पंथ में बहिर्दर्शन होता है। वह बाह्य वातावरण तथा देखा-देखी से उत्पन्न होता है, इसलिए बाहर की ओर आकृष्ट करता है और मनुष्य को बाहर की तरफ देखने मे रोक रखता है।

धर्म गुणजीवी और गुणावलम्बी है। वह आत्मा के गुणो पर रहता है। पंथ रूपजीवी और रूपावलम्बी है। उसका आधार बाह्य रूप रंग और ऊपरी आडम्बर है। वह वेश, कपड़ो का रग, पहनने की रीति, पास रखने के साधन तथा उपकरणो की ओर विशेष रुचि दिखलाता है तथा उन्ही का आग्रह कराता है।

धर्म में एकता और अभेद के भाव उठते हैं और समानता की तरगें उछलती है। पंथ मे भेद और विषमता के दरारे पड़ती और बढ़ती जाती है। धर्म में मनुष्य दूसरो के साथ भेदभाव भूलकर अभेद की ओर झुकता है। दूसरे के दु:ख मे अपना सुख भूल जाता है, या यो कहना चाहिए कि उसके सुख दु:ख कोई अलग वस्तु नही रहते। दूसरो के सुख दु ख ही उसके सुख दु:ख बन जाते हैं। पंथ में मनुष्य अपनी वास्तविक अभेदभूमि को भूल कर भेद की तरफ अधिकाधिक झुकता जाता है। दूसरे का दु ख उस पर असर नही करता। अपने सुख के लिए वह लालायित रहता है। अथवा यो कहना चाहिए कि उस मनुष्य के सुख दु:ख दुनिया के सुख दु:खों से सर्वथा अलग हो जाते है। इसमें मनुष्य को अपना और पराया ये दो शब्द पद पद पर याद आते है। धर्म में स्वाभाविक नम्रता होने के कारण मनुष्य अपने को छोटा और हलका समझता है। उसमें अभिमान सरीखी कोई बात ही नहीं होती। चाहे जितने गुण तथा सम्पत्ति प्राप्त हो जाय वह अपने को सब से छोटा ही देखता है। धर्म मे ब्रह्म अर्थात् सच्चे जीवन की झांकी होने से, उसकी व्यापकता के सामने मनुष्य को अपना व्यक्तित्व हमेशा छोटासा प्रतीत होता है। पंथ में इससे उल्टा है। इसमें गुण और वैभव न होने पर भी मनुष्य अपने को दूसरो से बड़ा मानता है और दूसरों से मन-वानेका प्रयत्न करता है। उसमें यदि नम्रता होती है तो वह बनावटी होती है। उस

मनुष्य को सदा अपने बड़प्पन का खयाल बना रहता है। उसकी नम्रता बड़प्पन का पोषण करने के लिए होती है सच्चे जीवन की झांकी न होने के कारण गुणों की अनन्तता तथा अपनी पामरता का भान न होने के कारण पंथ में पड़ा हुआ मनुष्य अपनी लघुता का अनुभव नहीं कर सकता। वह लघुता का केवल दिखावा करता है।

धर्म में सत्य की दृष्टि होती है। उसमें सभी तरफ देखने तथा जानने का धैर्य होता है। सभी पक्षों को सह लेने की उदारता होती है। पंथ में ऐसा नहीं होता। उसमें सत्याभास की दृष्टि होती है। वह सम्पूर्ण सत्य को अपने ही पक्ष में मान लेता है इसलिए दूसरी तरफ देखने तथा जानने के लिए उसका झुकाव ही नहीं होता। विरोधी पक्षों को सहने अथवा समझने की उदारता उसमें नहीं होती।

धर्म में अपना दोष दर्शन मुख्य होता है और दूसरो के गुणो का दर्शन मुख्य होता है। पंथ में इससे उल्टा है। पंथवाला दूसरो के गुणो की अपेक्षा दोष ही अधिक देखता है और अपने दोषों की अपेक्षा गुणों को ही अधिक देखता है। अपने ही गुणों का बखान करता रहता है। उसकी आँखों में अपने दोष आते ही नही।

धर्म में केवल चारित्र पर ध्यान दिया जाता है। जाति, लिंग, उमर, वेश, चिह्न, भाषा तथा दूसरी बाह्य वस्तुओ के लिए उसमें स्थान नही है। पंथ में इन बाह्य वस्तुओं पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। अमुक व्यक्ति किस जाति का है? पुरुष है या स्त्री? उमर क्या है? वेश कैसा है? कौन सी भाषा बोलता है? किस प्रकार उठता बैठता है? पंथ मे इन्हीं बातो पर ध्यान दिया जाता है। इन्हीं को मुख्य मान कर चारित्र को गौण कर दिया जाता है। बहुत बार ऐसा होता है कि जिस जाति, लिंग, उमर, वेश या चिह्न की पंथविशेष के अनुयायिओ में प्रतिष्ठा नही है उन्हे धारण करके कोई अच्छे चारित्रवाला व्यक्ति भी आ जाय तो वे लोग उस की तरफ ध्यान नही देते। कई बार तो उसे अपमानित करके निकाल तक देते हैं।

धर्म में सारा संसार एक ही चौका है। छोटे छोटे चौके न होने के कारण उसमें छुआछूत या घृणाद्वेष की बात ही नही है। यदि कोई बात बुरी समझी जाती है तो यह कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना पाप ही बुरा लगता है। पंथमें चौकेबाजी इतनी जबर्दस्त होती है कि हर एक बात में छुआछूत की गंध आती है। इसी कारण पंथवालों की नाक अपने पाप की दुर्गन्ध तक नही पहुँचती। उन्हे जितनी दुर्गन्ध अपने पंथ से बाहरवालों से आती है उतनी अपने पाप से नहीं। स्वयं जिसे स्वीकार कर लिया वही उन्हें सुगन्धित लगता है। अपना पकड़ा हुआ रास्ता ही श्रेष्ठ दिखता है। उसके सिवाय सभी बदबूदार तथा सभी मार्ग अपने से घटिया मालूम पड़ते हैं।

संक्षेप में कहा जाय तो धर्म मनुष्य को दिन रात पुष्ट होनेवाले भेदभाव के संस्कारो से निकाल कर अभेद की तरफ धकेलता है। पंथ इन संस्कारो को अधिकाधिक पुष्ट करता है। यदि दैवयोग से कोई अभेद की तरफ आवे तो पंथ को सन्ताप होता है। धर्म में दुनिया के छोटे बडे झगड़े, जर, जोरू, जमीन, छुटपन, बडप्पन आदि के सब तकरार शान्त हो जाते है। पंथ में धर्म के नाम और धर्म की भावना पर ही झगड़े खड़े हो जाते हैं। इसमें ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि झगड़े के विना धर्म की रक्षा ही नही हो सकती।

धर्म और पंथ का अन्तर समझने के लिए पानी का उदाहरण लें तो पंथ ऐसा पानी है जो समुद्र, नदी, तालाब, कुआ आदि मर्यादाओ से भी अधिक संकुचित होकर हिन्दुओ के पानी पीने के घडे मे पड़ा हुआ है। किसी दूसरे व्यक्ति के छूते ही इसके अपवित्र एव भ्रष्ट हो जाने का डर है। धर्म आकाश से गिरते हुए वर्षा के पानी सरीखा है। इसके लिए कोई स्थान या व्यक्ति ऊँचा नीचा नही है। इसमें एक जगह एक स्वाद और दूसरी जगह दूसरा स्वाद नही है। इसमे रूप रग का भी भेद नही है। प्रत्येक व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकता है और पचा सकता है। पंथ हिन्दुओ के घड़े के पानी सरीखा होता है। उसके लिए अपने सिवाय दूसरे सब पानी अस्पृश्य होते है। उसे अपना स्वाद और अपना ही रूप अच्छा लगता है। प्राणान्त होनेपर भी पन्थ दूसरो के घडे को छूने से रोकता है।

पन्थ यद्यपि धर्म मे से ही उत्पन्न होता है और अपने को धर्म का प्रचारक मानता है किन्तु हमेशा धर्म का घात ही करता रहता है। जैसे जीवित रुधिर तथा मांस में से उगा हुआ नख जैसे जैसे बढ़ता जाता है वैसे वैसे रुधिर और मास को भी नुकसान पहुँचाता है। इस लिए जब बढे हुए नख को काट दिया जाता है तभी हाड पिंजर सुरक्षित रहते है। इसी प्रकार धर्म से अलग पड़ा हुआ पंथ, चाहे वह धर्म मे से ही पैदा हुआ हो, जब काट कर साफ कर दिया जाता है तभी मानवसमाज सुखी होता है। यहां यह प्रश्न होता है कि धर्म और पन्थ में किसी प्रकार का मेल है या नही, और यदि है तो किस तरह? इसका उत्तर सरल है। जीवित नख को कोई नही काटता। यदि वह कट जाय तो दुःख होता है। रुधिर और मास की रक्षा को भी धक्का पहुं-चता है। वे सडने लगते है। इसी प्रकार पंथ मे यदि धर्म का जीवन हो तो हजार पंथ भी बुरे नही है। जितने मनुष्य है, चाहे उतने पंथ हो जाँय फिर भी लोगों का कल्याण ही होगा। क्योंकि इस मे प्रकृतिभेद और दूसरी विशेषताओ के अनुसार हजारों भिन्नताएँ होने पर भी क्लेश नही होगा, [illegible] बना रहेगा। अभिमान नही होगा, नम्रता बनी रहेगी। शत्रुभाव नहीं होगा, मित्रता कायम रहेगी। उत्तेजितपना नही होगा, क्षमाभाव स्थिर रहेगा। पंथ पहले थे, अब है

और आगे रहेंगे। उनमें सुधारने या करने लायक इतना ही है कि उससे अलग पड़े हुए धर्म के तत्त्व को फिर से उसमें डाल दिया जाय। हम किसी भी पंथ को मानें किन्तु उसमें धर्म के तत्त्वों को सुरक्षित रखते हुए ही उसका अनुसरण करें। अहिंसा के लिए हिंसा न करें। सत्य के लिए असत्य न बोलें। पंथ में धर्म के प्राण फूकने की शर्त यही है कि हमारी दृष्टि सत्य का आग्रह करनेवाली बन जाय। संक्षेप में सत्याग्रही के लक्षण इस प्रकार है--

(१) स्वयं जिस बात को मानते या करते हो उसकी पूरी समझ होनी चाहिए। अपनी समझ पर इतना विश्वास होना चाहिए कि दूसरे को स्पष्टता और दृढ़ता के साथ समझा सके।

(२) अपनी मान्यता के विषय में हमारी समझ तथा हमारा विश्वास यथार्थ है, इसकी कसौटी यही है कि दूसरे को समझाते समय हमें तनिक भी आवेश या क्रोध न आवे। दूसरे को समझाते समय अपनी मान्यता की विशेषता के साथ यदि कुछ त्रुटियाँ भी मालूम पड़े तो उन्हें भी विना संकोच स्वीकार करता जाय।

(३) जिस प्रकार अपनी दृष्टि समझाने का धैर्य चाहिए, उसी प्रकार दूसरे की दृष्टि समझने के लिए भी पूरी उदारता तथा तत्परता होनी चाहिए। एक वस्तु के विषय में जितने पक्ष तथा जितने दृष्टिकोण हो सकें सभी की समानता करके बलाबल जानने की वृत्ति होनी चाहिए। इतना ही नही यदि अपना पक्ष निर्बल और भ्रान्त मालूम पडे तो उसका त्याग करने में इतनी प्रसन्नता होनी चाहिए जितनी वीकार करते समय भी न हुई थी।

(४) सम्पूर्ण सत्य देश, काल अथवा सस्कारो से सीमित नही होता। इसलिए प्रत्येक पहलू में जो खंडसत्य रहा हुआ है, उन सबका समन्वय करने की वृत्ति होनी चाहिए।

पंथ में धर्म नही है, इसीलिए पन्थ समाज और राष्ट्र के लिए घातक बने हुए हैं। जहाँ समाज और राष्ट्र की एकता का प्रश्न आता है वही पर निष्प्राण पंथ आडे आ जाते है। धर्मजनित पंथों की सृष्टि तो मानव समाज तथा विश्व-मात्र को एक करने के लिए हुई थी। इस कार्य को करने का पंथ दावा भी करते हैं। किन्तु हम देख रहे है कि पन्थ ही हमारे एक होने और मिलने में रोड़ा अटका रहे हैं। पंथ का अर्थ और कुछ नही है। उसका अर्थ है, धर्म के नाम पर उत्पन्न तथा पुष्ट हुआ हमारे मानसिक संकुचितपन का मिथ्याभिमान। जब लोक कल्याण या राष्ट्रकल्याण के लिए एक सामान्यसी बात को प्रचलित करना होता है तो पंथ के जहरीले और संकुचित संस्कार आकर कहते है-सावधान! तुम ऐसा नहीं कर सकते। ऐसा करोगे तो धर्म रसातल में चला जाएगा। लोग क्या समझेंगे और क्या कहेंगे? कोई दिगम्बर या श्वेताम्बर

या अन्य कोई अपने पक्ष की तरफ से चलनेवाले झगड़े में भाग न ले अथवा पैसा होने पर भी उस झगड़े के फंड में दान देने से इन्कार करे, न्यायालय में प्रभाव होने पर भी साक्षी न बने तो उसका पंथ उस के लिए क्या करेगा ? मुसलमानों का सारा जत्था हिन्दू मंदिर के पास से ताजिया ले जा रहा हो और कोई सच्चा मुसलमान हिन्दुओं की भावना न दुखाने के उद्देश्य से दूसरे रास्ते जाने को कहे या गोहत्या करने की मनाही करे तो उस मुसलमान के साथ पंथवाले कैसा व्यवहार करेंगे ? एक आर्यसमाज का सभ्य कभी सच्ची दृष्टि से मूर्ति के सामने बैठ जाय तो उसका समाज-पथ उसके लिए क्या करेगा ? इस प्रकार पथ सत्य और एकता के आड़े आ रहे हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि हम स्वयं तमय संस्कार के शस्त्र से सत्य और एकता के साथ द्रोह कर रहे हैं। इसीलिए पंथ का अभिमान करनेवाले तथा बड़े बड़े मानेजानेवाले धर्मगुरु, पंडित या पुरोहित कभी आपस में नहीं मिल सकते। वे कभी एकरस नहीं हो सकते। जब कि साधारण मनुष्य आसानी से मिल सकते हैं। आप देखेंगे कि एकता और लोककल्याण का दावा करनेवाले पथ के गुरु ही एक दूसरे से अलग अलग रहते हैं। यदि ये धर्मगुरु एक हो जाँय अर्थात् एक दूसरे का आदर करने लगें, साथ मिल कर काम करें और झगड़े को पैदा ही न होने दें तो समझना चाहिए कि अब पंथ में धर्म आ गया है।

हमारा कर्तव्य है पंथों में धर्म को लावें। यदि ऐसा न हो सके तो पंथों को मिटा दें। धर्मशून्य पथ की अपेक्षा विना पंथ का मनुष्य या पशु होना भी लोकहित की दृष्टि से अधिक अच्छा है। इसमें किसी को विवाद नहीं हो सकता।

[अनु० इन्द्रचन्द्र, एम० ए०]

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥"

—हरिभद्र

मेरा महावीर में न पक्षपात है और न कपिल आदि में द्वेष। जिसके भी वचन युक्तिसिद्ध हों उसीको मानना चाहिए।

महावीर–

–डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

महावीर जीवन के क्षेत्र में महान् वीर थे। उनका प्रदर्शित मार्ग मानसिक विजय, आत्मसंयम, धृति और प्रेम का मार्ग है। देशों की विजय और बुद्धि के क्षेत्र में कई प्रकार की विजय अपना चमत्कार रखती है, किन्तु उसका रस कुछ दिन बाद फीका पड़ जाता है और उसका प्रभाव भी मात्रा में स्वल्प और कुछ ही दिन टिकनेवाला होता है। किन्तु महावीर ने अपने ही जीवन की प्रयोगशालामें जिस प्रकारकी विजय प्राप्त की और जिस प्रकार से मन की बिखरी हुई वृत्तियों को दृढ़ता से समेट लिया, वह तो हरएक के लिये संभव है यदि उसकी प्राप्ति के लिये उसका आधा भी सीधा-सच्चा प्रयत्न किया जाय जितना हम दूसरे सांसारिक कार्यों के लिये करते हैं। भगवान् महावीर के सीधे मेरुदण्ड में एवं उनके ध्यान की शक्ति और धीर प्रशांत मुखमुद्रा में हम युग-युगों का संदेश देख सकते हैं। जिस क्षण भी हम स्वयं अपने मन की बागडोर संयम के मार्ग की ओर मोड़ देते हैं उसी क्षण हम उस लोक के नागरिक बनने की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, जिस लोक को महावीर ने अपने सधे हुए ध्यान से विशाल और बोधगम्य बनाया। वस्तुतः मानवीय सृष्टि में यदि कोई वस्तु स्थायी मूल्य रखती है और मनुष्य के बुझे हुए मन को पुनःपुनः उत्साह और आनन्द से भर सकती है, तो वह मनुष्य के दैवी गुण ही हैं जो सुन्दर विचार और सुन्दर चरित्र के रूप में हमारे चारों ओर नित्य नया तानाबाना बुनते रहते हैं। ज्ञान और चरित्र, इन दोनों का मेल ही जीवन की समस्या का सच्चा समाधान है। इन्हीं रत्नों को महावीर ने विचारों के बृहत् मंथन से प्राप्त किया। ज्ञान और चरित्र का जीवन में समन्वय यह नितांत मानवीय घटना है। इस सीधी बात में चमत्कार का थोड़ा सा भी अंश नहीं है। लेकिन, मनुष्य मानवीय तत्त्वों को भी चमत्कार कह-कर अपने से दूर हटाने का अभ्यासी बन गया है। महावीर जिस लोक के नागरिक हैं, वह मनुष्यों का लोक है। वह लोक अत्यन्त उदार है। ज्ञान और चरित्र की साधना जिसके जीवन में मिलती है वही उस लोक का योग्य अधिकारी है। धर्म के ऊपरी आडम्बर बहुत हो सकते हैं किन्तु तत्त्वचिन्तन की दृष्टि से महापुरुषों की वह पंक्ति जिस में महावीर का विशिष्ट स्थान है, बहुत लम्बी है। और जब हम महापुरुषों की उस श्रेणी में अन्य अनेक मानवों का स्वागत करने के लिये अपने

मन के द्वार को उन्मुक्त खोल देते है तो हम अपना, अपने आचार्य का और विश्व में ज्ञान का जो नित्य अधिष्ठातृ देवता है, इन तीनों का गौरव बढ़ाते हैं। हम मे से प्रत्येक की स्थिति उस किसान की ऐसी होनी चाहिये जो अपने खेत में अन्न उत्पन्न करने के लिये घोर परिश्रम करता हुआ केवल अपनी ही ओर देखता है और अपने ऊपर ही निर्भर रहता है, लेकिन जब उसके कोठार अन्न से भर जाते हैं तब उन्हें बिना भेदभाव के सब मनुष्यों के लिये खोल देता है। इसी प्रकार हममें से प्रत्येक को ज्ञान और चरित्र-साधन की कला सीखनी है। उसमें किया हुआ परिश्रम केवल हमारा ही होगा, लेकिन उसके फल मे सब का साझा होगा। यही मानव धर्म का सच्चा मार्ग है, इसीमें मानवीय विचारों की अनेक धाराएँ एकत्र मिलती है।

*

समयं गोयम, मा पमायए

[१]

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोवं चिट्ठइ लबमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम, मा पमायए॥

कुशाकी नोक पर स्थित ओस की बूंद की तरह मानव जीवन क्षणस्थायी है। अत गौतम, क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

[२]

दुल्लहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवागकम्मुणो समयं गोयम, मा पमायए।

चिरकाल के बाद भी मनुष्य जन्म का मिलना बड़ा दुर्लभ है क्योंकि पुराने कर्मों का फल दुनिवार होता है। गौतम, क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

[३]

धम्मं पि हु सद्दहंतया दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया, समयं गोयम, मा पमायए॥

धर्म की श्रद्धा होने पर भी धर्म का आचरण बड़ा कठिन है। संसार में धर्म श्रद्धालु भी काम भोग के प्रलोभना में मूर्च्छित रहते हैं। अत हे गौतम, क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

अध्यात्म-समाजवाद–

—पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

भारत को राजनैतिक स्वतन्त्रता मिलने के बाद जिन परिस्थितियों का निर्माण हो रहा है उन्हें देखते हुए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम जैन संस्कृति के मूल तत्त्वों पर विचार करें और देखें कि वे तत्त्व वर्तमान परिस्थितिको सम्हालने में कहाँ तक उपयोगी हो सकते हैं।

यों तो जैनसाहित्य में ग्रन्थों की कमी नहीं है पर सांस्कृतिक दृष्टि से जिस पर अधिक दृष्टि जानी चाहिये वह है भगवान कुन्दकुन्दका समयप्राभृत। इस समय वर्गवादमूलक अध्यात्मवाद और भौतिक समाजवादको विफल करने का हमारे पास एक ही मार्ग है और वह है अध्यात्म समाजवाद। भगवान कुन्दकुन्द ने अपने इस ग्रन्थराज में इसी तत्त्व का सुन्दरता से निरूपण किया है। सच पूछा जाय तो जैन संस्कृति की यह आत्मा है।

तत्काल वर्तमान समस्याओंका हल समाजवाद माना जाने लगा है। अधिकतर लोगोंका यह ख्याल होता जा रहा है कि इसे स्वीकार किये बिना सब प्रकार की बुराइयों का दूर किया जाना असम्भव है। इसमें सन्देह नहीं कि उनका यह ख्याल बहुत कुछ अंशोंमें सही है, क्योंकि इस समय ईश्वरवाद, वर्गवाद और आर्थिक विषमता ने मानवसमाजको इतनी बुरी तरह जकड रखा है कि जिससे उसे सांस लेने तकका अवसर नहीं मिलता। इस तन्त्रजालमें किस प्रकार निकला जा सकता है इसका उसे ज्ञान ही नहीं है। ये बुराइयाँ मानव समाजका कोढ़ है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं। मार्क्स ने धर्म को अफीम कहा है इसका कारण यही है। उसने देखा कि ये बुराइयाँ धर्म के नाम पर प्रचारित की जाती हैं और जनता को पथभ्रष्ट किया जाता है। ईश्वर तो है ही नहीं। यदि वह होता तो विश्व की इतनी दुरवस्था क्यों होती? क्यों हिन्दुस्तान और पाकिस्तान बनते? क्यों मानव मानव में इतना अन्तर होता? क्यों गरीबी और अमीरीका भेद होता? सच पूछा जाय तो मार्क्सने मनुष्यकी बुद्धिपर लगे हुए तालेको खोल दिया है और प्रत्येक मनुष्यको स्वतन्त्र भावसे सोचने का अवसर प्रदान किया है।

किन्तु उसकी व्यवस्थामें एक दोष है। मार्क्सवाद जहाँ आर्थिक विषमताके दूर करनेका प्रयत्न करता है तथा इस व्यवस्थाके आधारभूत ईश्वरवाद और वर्गवाद को जड़मूलसे उखाड़ फेंकता है वहाँ वह जीवन संशोधन की बात को

सर्वथा भुला देता है। यह तो कट्टरसे कट्टर मार्क्सवादी को भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जो भी व्यवस्था की जाती है वह मानव जीवन को सुखी बनाने के लिये ही की जाती है। इसके बिना उसका कोई मूल्य नहीं। पर क्या इतने मात्र से जीवनमें आई हुई भीतरी और बाहिरी सब प्रकारकी बुराइयोंका अन्त हो जाता है यह एक गम्भीर और मार्मिक प्रश्न है जिसका समाधान मार्क्सवादके आधारसे होना कठिन है। इसलिये इसका समाधान पानेके लिये जब हम मार्क्सवादके सिवा अन्यत्र दृष्टिपात करते हैं तो हमारी दृष्टि अध्यात्म-समाजवादके ऊपर जाती है। हम देखते हैं कि इसमें मार्क्सके वे सब सिद्धान्त तो निहित हैं ही जिनका उसने केपिटल (Capital) नामक पुस्तकमें विचार किया है। साथ ही उसमें जीवन संशोधन के मूल आधारों और उसकी तात्त्विक प्रक्रियापर भी गहराईसे विचार किया गया है।

अध्यात्म-समाजवाद को दूसरे शब्दों में 'अध्यात्म समतावाद' भी कह सकते हैं। इसका व्यापक से व्यापक अर्थ है जड़ चेतन सबकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करना और कार्यकारण भावको सहयोग प्रणाली के आधार पर स्वीकार करके व्यक्ति की स्वतन्त्रताको आंच न आने देना।

यह वर्तमान कालीन अव्यवस्थाका समुचित उत्तर है। इसमें एक ओर जहाँ आत्माकी स्वतंत्रता स्वीकार की गई है वहाँ दूसरी ओर जड़ तत्त्वोंकी स्वतन्त्र सत्ताको भी नहीं भुलाया गया है। यह मुकम्मिल स्वतन्त्रताकी पूरी गारंटी हो जाती है। अन्तरंग समस्या है व्यक्तिगत उन्नति और बहिरंग समस्या है परस्परके सम्बन्ध की। यह दोनों का सुन्दरतम हल उपस्थित करता है।

जैसा कि हम देखते हैं विश्व अनेक तत्त्वोंका समुदाय है। इसमें जड़ चेतन सभी तत्त्व मौजूद हैं। उनके सहयोग और सम्मिश्रण से ही इसकी निर्बाध गति चल रही है। इसमें क्या जड़ और क्या चेतन एक भी तत्त्व परतन्त्र नहीं है। सभी अपनी अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहे हैं। ऐसी हालत में यह मानना 'मैं बड़ा हूँ वह छोटा है, यह मेरा भोग्य है मैं उसका भोक्ता हूँ, यह अछूत है मैं छूत हूँ, मैं स्वामी हूँ वह सेवक है, मैं राजा हूं वह प्रजा है, मैं राव हूं वह रंक है' निरा अज्ञान है, अधिकतर ये विकल्प जीवनमें आई हुई कमजोरी के कारण होते हैं। जिन्होंने कमजोरी पर विजय पाई है वे इनसे सदा मुक्त रहते हैं। कमजोरी से हमारा तात्पर्य राग द्वेष और मोहसे है। विश्व में जितनी भी समस्याएँ उग्ररूप धारण किये हुए हैं या जो नई नई समस्याएँ सामने आ रही हैं उनका एकमात्र कारण यह राग, द्वेप और मोह ही तो हैं। इसीके कारण विश्वको ये दिन देखने पड़ रहे हैं।

अध्यात्म-समाजवादका आन्तररूप जितना निर्मल और वस्तुस्पर्शी है उसका बाह्यरूप भी उतना ही मोहक और सब प्रकारकी कल्पित विषमताको दूर करनेवाला

है। यह समत्वकी भावनाओंमेंसे प्रसूत होकर जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अपनी छाप छोड़ता जाता है। यह ऐसी विषमताको जीवनकी चीज नहीं मानता जिसे हम ऊपर से स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ छूत-अछूत समस्याको लिया जा सकता है। वैदिक धर्मके प्रभावसे कुछ ऐसा प्रघात पड़ गया है जिससे कुछ भाई छूत और कुछ भाई अछूत माने जाने लगे हैं। जो छूत माने जाते हैं उनके साथ मानवता का व्यवहार किया जाता है, उन्हें बैठने के लिये उचित स्थान दिया जाता है और मन्दिर आदि में प्रवेश करने पर रोका नही जाता। किन्तु जो अछूत माने जाते है उन्हें न तो अपने पास बैठने दिया जाता है,न मन्दिरमें जाने दिया जाता है और न स्पर्श ही किया जाता है। लघुशंकाके बाद हाथ धोने से काम चल जाता है पर उनका स्पर्श हो जाने पर सचेल स्नान की आवश्यकता पड़ती है। कुत्ते बिल्ली के छू जानेपर किसी प्रकारकी बुराई नही मानी जाती पर उनके छू जाने पर सारा धर्म कर्म बिगड़ जाता है। वे तिर्यचोंसे भी बदतर मान लिये गये हैं।

यह समस्या देश के सामने हजारो वर्ष से उपस्थित है। इस कारण देश को जो हानि उठानी पड़ी है वह अवर्णनीय है। इस सामाजिक विषमता के परिणामस्वरूप ही देशको अनेक भागो में बटना पड़ा है। पंजाब और बंगाल का हत्याकाण्ड इसीका परिणाम है फिर भी भारतीयों की आखें नही खुल रही हैं। माना कि वे जब अशुचि अवस्थामें हो तब उनसे दूर रहना चाहिये पर स्नान करने के बाद जब वे स्वच्छ कपड़े पहिन लेते हैं तब ऐसी कौन सी बाधा रह जाती है जिससे उन्हें स्पर्श नही किया जाता ?

जहा तक वैदिक धर्मावलम्बियोंका सवाल है यह बात कुछ कुछ समझमें भी आती है कि वे अपने ही समाजके एक अगंको अपनेसे जुदा रखें, क्यो कि इस धर्मका मुख्य आधार है सामाजिक विषमता। वे जन्मना वर्णव्यवस्था पर जोर भी इसी कारणसे देते हैं और उच्चत्व तथा नीचत्व का आधार कर्मको मानते हैं। वेद और वेदानुमोदित स्मृति उनका मुख्य धर्मशास्त्र है। इसके अनुसार मनुष्यको अपने अपने वर्णकी प्राप्ति जन्मसे होती है। वे ब्राह्मणत्व आदि जाति को नित्य मानते है इसलिये जिस व्यक्ति से जिस जाति का समवाय सम्बन्ध हो जता है वह जीवन भर उसी जातिका बना रहता है। अनेक प्रयत्न करने पर भी उसकी जाति नही बदलती। ब्राह्मण चाहे जितने भ्रूणहत्या, चोरी हिंसा आदि निम्नतम पाप करे इससे वह कभी भी ब्राह्मणसे अब्राह्मण नही हो सकता और शूद्र चाहे जितने सदाचार पालन आदि उच्चतम कर्म करे इससे वह कभी भी शूद्र से अशूद्र नही हो सकता।

पर जैन धर्मानुयायियोंने तीर्थंकरोंके उपदेशों को भुलाकर परधर्मको कैसे स्वीकार कर लिया है यह बात जरा भी समझमें नहीं आती। जैन तत्त्वज्ञान

उन्हें क्या आज्ञा देता है यह बात उन्हें आख खोल कर देखनी चाहिये। वे चालू व्यवस्था के व्यामोहमें पड़कर खींजे नही किन्तु इसके वास्तविक कारणो पर जांय। वे देखे कि क्यों हम अपने ही समान एक भाईको छूत और दूसरे भाईको अछूत मानते है। एक भाईमें ऐसी कौनसी विशेषता है जिससे वह छूत माना जाता है और दूसरे भाईमे उसकी क्या कमी है जिसमें वह अछूत माना जाता है। यदि सचमुचमें वे अन्तर्दृष्टि होकर देखेंगे तो उन्हें मालूम पड़ेगा कि यह केवल हमारे राग, द्वेष और मोहका विपाक है जो हमसे ऐसा मनवा रहा है। उन भाईयो मेऐसी छूत और अछूतपने की कोई निसानी नही है, दोनो ही समान हैं। यह मालूम पड़ने पर कि यह अछूत है हम ग्लानि करने लगते हैं, परन्तु इसके पहले ऐसा कुछ भी भाव नही होता। इसलिये आवश्यकता अपने इन विकारोको त्यागने की है। इन विकारोके दूर हो जाने पर यह समस्या सुतरां सुलझ जाती है। हममें वह समानता का भाव आने लगता है जिसकी आज विश्वको आवश्यकता है और जिसका निर्देश हजारो क्या लाखो वर्ष पहले जैन तीर्थंकरोने कर दिया था। उन्होने स्पष्ट घोषणा की थी कि धर्म तो पशुओं तकके लिये है वह मनुष्य मनुष्यमे अन्तर कैसे कर सकता है? यही सबब है कि उनकी सभाओंमे सबको समानभावसे आने दिया जाता था और सब उनके उपदेशोंसे लाभ उठानेके लिये स्वतन्त्र थे।

कहा यह जाता है कि वे संस्कारहीन हैं अत उनके सम्पर्क से सदाचारके लोप होनेका भय है। पर इस युक्तिवादमें कोई तथ्य नही। यह भाव केवल अपने जीवनकी कमजोरीको व्यक्त करनेवाला है। वैसे देखा जाय तो सम्पर्क तो उनके साथ बना हुआ है ही और उसके बिना काम भी नही चलता। केवल छूनेका परहेज करके बैठे हैं और ऐसा मान लिया है कि यह न छूना ही धर्म है। धर्मकी यह कितनी उथली परिभाषा है। जिस धर्म का उपदेश जीवनमे आये हुए विकारको दूर करके अपने स्वभावकी ओर लेजाने के लिये दिया गया था वह धर्म स्वय विकारीभाव मे चरितार्थ हो रहा है। हमने अपने मिथ्या अभिनिवेशके वशीभूत होकर धर्मके स्वरूपकी दिशा ही बदल दी है। इस व्यवहार द्वारा या तो हम रेतमेसे तेल निकालना चाहते है या रात्रिको दिन बनाना चाहते है। और मजा यह कि गालियां देते हैं मार्क्सवादको। मार्क्सवाद हमारी इन भूलों का ही तो फल है। यदि हम चाहते है कि अध्यात्म-समाजवाद जीवित रहे तो हमे उसके अनुसार अपना जीवन भी बनाना होगा। हमें इस सकुचित मनोवृत्ति को छोड़ कर विस्तृत आधारसे विचार करना होगा।

यदि थोडी देरको यह मान भी लिया जाय कि वे सस्कारहीन है तो भी हमारा कर्तव्य उनसे पृथक् रहनेका नही होना चाहिये। हमे विश्वास और दृढ़ता के साथ उनके जीवनको सुधारनेका प्रयत्न करना चाहिये. उन्हें मन्दिरमे आने देना चाहिये और तीर्थंकरोके उपदेशो द्वारा उनके चालू जीवनको बदलनेका प्रयत्न

करना चाहिये। इसके लिये हम ईसाई मिसनरियोंसे काफी शिक्षा ले सकते हैं। जिन भारतवर्षीय ईसाईयोंका हम लोग आदर करते हैं उन्हें बैठने के लिये कुर्सी देते हैं वे कल भंगी और चमार ही तो थे। फिर वे आज ऐसे कैसे बन गये? एक सहवास और सदुपदेश ही तो इसका कारण है।

यदि भारतवर्षने जैन तत्त्वज्ञानके आधारसे इस समस्याको सुलझानेका प्रयत्न किया होता तो इसमें सन्देह नहीं कि इस समस्याके हल होनेमें जरा भी देर नहीं लगती। जैनधर्मने कर्मके आधारसे उच्चता और नीचता माननेकी कभी भी शिक्षा नहीं दी है। वह तो गर्भज मनुष्यमात्र में समान योग्यता मानता है। कर्मसे न कोई ऊंच होता है और न कोई नीच। उच्चता और नीचताका यदि कोई आधार है भी तो वह आन्तरिक परिणति ही है जो किसी भी मनुष्य के हो सकती है। इसके लिये जाति पातिका बन्धन आवश्यक नहीं है। सच तो यह है कि स्वयं जैनियोंने इस महान् तत्त्वज्ञानको तिलांजलि दे दी है और जिस जाति पाति या सामाजिक उच्चत्व और नीचत्वका विरोध करनेके लिये उनके पूर्वजों ने अनेक संकटोंका सामना किया था आज वे ही उन बुराईयों के पुजारी बन रहे हैं। क्या हम आशा करें कि आजके जैन बन्धु अपने इस उदार और वस्तुस्पर्शी तत्त्वज्ञानकी ओर समुचित ध्यान देंगे। मेरा तो विश्वास है कि यदि उन्होंने इस ओर ध्यान दिया और इसके अनुसार आचरण किया तो एक छूत-अछूत समस्या ही क्या विश्व की अन्य समस्याएं भी हल हो सकती हैं।

साधारणत. विश्वके सामने छूत-अछूत समस्याके सिवा दूसरी मुख्य समस्या आर्थिक विषमता की है। इस समय विश्वमें जो संघर्ष दिखलाई दे रहा है उसका मूल कारण यही है। इस कारण विश्व स्पष्टत दो गुटों में बटता जा रहा है। यदि हम अध्यात्म समाजवादके आधारसे इस समस्याको भी सुलझानेका प्रयत्न करते हैं तो इसमें सन्देह नहीं कि यह समस्या आसानीसे सुलझ जाती है। अध्यात्म समाजवादके सिद्धान्तानुसार कोई भी मनुष्य आवश्यकता से अधिक का संचय नहीं कर सकता क्यों कि संचय करना और संचित द्रव्यका अपनेको स्वामी मानना कषायका परिणाम है किन्तु वह इसकी शिक्षा नहीं देता। उसके अनुसार तो प्रत्येक मनुष्यको परिग्रहका त्याग या परिमाण कर लेना चाहिये क्योंकि परिग्रह पर है और वह मोक्षमार्गमें बाधक है।

जैसी कि तीर्थंकरोंकी शिक्षा है तदनुसार स्वावलम्बन ही जीवनका सार है। विना स्वालम्बनके कोई भी मनुष्य आत्मधर्मका अभ्यासी नहीं हो सकता। यह दूसरी बात है कि कोई मनुष्य इसे पूरी तरह से जीवनमें उतारने का अभ्यास करता है और कोई अशंतः। पर धर्मात्मापनकी यह कसौटी है कि वह स्वावलम्बनके साथ जीवन वितानेका प्रयत्न करे। अब देखना यह है कि जो उत्तरोत्तर अधि-

काधिक परिग्रहके संचयमें लगा रहता है वह क्या स्वावलम्बनका अभ्यासी कहा जा सकता है। सच पूंछा जाय तो ऐसा मनुष्य धर्मका द्रोही होना चाहिये। इसे स्वावलम्बी अर्थात् धर्मात्मा मानना तो त्रिकालमें भी सम्भव नहीं है। धर्म का वस्तुमें ममकार और अहंकार करनेके साथ तीव्र विरोध है। जहा पर वस्तुमे ममकार और अहंकार है वहां धर्म नहीं और जहा धर्म है वहा पर वस्तुमे ममकार और अहंकार नहीं। इसलिये परिग्रहकी प्राप्ति धर्मका फल न मान कर कषायका ही परिणाम मानना चाहिये। यही सबब है कि तीर्थकरोने इसके त्यागका उपदेश दिया है। और यह बतलाया है कि जो व्यक्ति जीवनमें आये हुए विकारके कारण परिग्रहका पूर्ण त्याग नही कर सकता वह उसका परिमाण अवश्य कर ले। उसका कर्तव्य है कि वह आवश्यकतामे अधिकका संचय न करे।

हम देखते है कि विश्व यदि इन शिक्षाओंके अनुसार काम करने लगे तो इस समस्याके हल करनेमें थोडी भी देर न लगे और तब राज्यको इस समस्याके सुलझाने में अपनी शक्ति न लगानी पडे।

तीसरी समस्या स्त्रियो की है। स्त्रियोंका भी समाजमें वही स्थान होना चाहिये जो पुरुषोका है। वे किसी भी बातमें पुरुषोसे हीन नही है। यह नही हो सकता कि पुरुष उत्तरोत्तर विकारको प्रश्रय देते जाय और वे जीवन भर अविकारी बनी रहे। कौन मनुष्य विकार पर विजय पाता है और कौन नही यह व्यक्तिका प्रश्न है। समाजका निर्माण तो व्यक्तियो के जीवन मे आई हुई कमजोरी के फलस्वरूप समझौतेके रूप मे ही किया जाता है। यह तो कमजोरियोंको स्वीकार करता है। कमजोरियोका उच्छेद करना इसका काम नही। समाज और धर्म में यही अन्तर है। इसलिये जहातक समाजका प्रश्न है हमें वही अधिकार स्त्रियोके भी मानने चाहिये जो पुरुषोंको प्राप्त है।

ये है अध्यात्म-समाजवादकी शिक्षाएँ। अध्यात्म-समाजवाद अध्यात्म-मूलक समाजवादका संक्षिप्त रूप है। इसमें अध्यात्म शब्द व्यक्ति की स्वतंत्रताका सूचक है और समाजवाद सहयोग प्रणाली के आधार पर स्वीकृत कार्यकारण भावको सूचित करता है। कही कहीं इसे अध्यात्मवाद भी कहा गया है। इसके द्वारा जहां हम एक ओर विकारोको दूर करने में समर्थ होते है वहां दूसरी ओर परस्पर के समझौते द्वारा विकारो पर नियन्त्रण स्थापित करते है। इसके स्वीकार करने से व्यक्ति तो प्रतिष्ठित होता ही है पर समाजको भी अपने व्यवहारकी दिशा निश्चित करनेमें सहायता मिलती है। ऐसा सर्वोपयोगी है यह अध्यात्म-समाजवाद। मेरी समझसे यदि विश्व अतीतमें की गई भूलों पर विजय पाना चाहता है तो उसे इसके स्वीकार करनेमें जरा भी हिचकिचाहट नही होनी चाहिये। हम उस दिनकी प्रतीक्षामें है जिस दिन इस भावनाको चरितार्थ होते हुए देखेंगे।

———०○———

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्-

—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी

भारतीय धर्म-साधना का इतिहास बहुत जटिल है। साधारणतः इस धर्म-मत का अध्ययन करने के लिये वैदिक, बौद्ध, और जैन साहित्य का अध्ययन किया जाता है। अब तक हमारे पास जो भी पुराना साहित्य उपलब्ध है वह आर्य-भाषाओं में लिखित साहित्य ही है फिर चाहे वह संस्कृत में लिखा गया हो या पाली में या प्राकृत में। परन्तु एक बार यदि हम भारतीय साहित्य को सावधानी से देखें और भारतीय जनसमूह को ठीक ठीक पहचानने की कोशिश करें तो साफ मालूम होगा कि केवल आर्यभाषाओं में लिखित साहित्य कितना भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हो इस देश की जनता के विश्वासों और धर्म साधनाओं की जानकारी के लिये वह पर्याप्त बिलकुल नहीं है। आर्यों की पूर्ववर्ती और परवर्ती अनेक आर्येतर जातियाँ इस देश में रहती हैं और उनमें से अधिकांश धीरे धीरे आर्य भाषाभाषी होती गई हैं। इन जातियों की अपनी पुरानी भाषाएँ क्या थीं और उन भाषाओं में उनका लिखित या अलिखित साहित्य कैसा था, यह जानने का साधन हमारे पास बहुत कम बच रहा है। यह तो अब माना जाने लगा है कि आर्यों से भी पहले इस देश में महान् द्रविड सभ्यता वर्तमान थी, उस सभ्यता के अनेक महत्त्वपूर्ण उपादान बाद में भारतीय धर्म-साधना के अविच्छेद्य अंग बन गये हैं, पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। द्रविड़ सभ्यता का सबंध सुदूर मिस्र और बैबिलोनिया तक स्थापित किया जा सका है और यद्यपि अब धीरे धीरे पंडितों का विश्वास होता जा रहा है कि द्रविड जाति (रेस) की कल्पना कल्पना-मात्र ही नहीं है पर एक समृद्ध आर्य पूर्व द्रविड़ सभ्यता की धारणा और भी पुष्ट हुई है।

इधर निषाद या कोल-भाषाओं के अध्ययन से एक बिलकुल नई बात की ओर पंडित मंडली का ध्यान आकृष्ट हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि इन कोल भाषा-भाषी लोगों की जो अब तक जंगली समझ कर उपेक्षा की गई थी वह एकदम अनुचित और निराधार है। इन भाषाओं का सबंध आस्ट्रेलिया और एशिया में फैली हुई अनेक जनभाषाओं से स्थापित किया गया है और यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि आज के हिंदू समाज में अनेक ऐसी जातियाँ हैं जिनका मूल निषाद (आस्ट्रो-एशियाटिक या आस्ट्रिक) जातियों में खोजना पड़ेगा। हमारे अनेक नगरों के नाम इस भाषा से लिये गये हैं, खेती बारी के औजार और अन्य उपयोगी शब्दों के नाम इन भाषाओं के आर्यरूप हैं और हिंदू धर्म में श्रद्धा और सम्मान पानेवाले बहुतसे विश्वास मूलतः निषाद जातियोंके हैं। प्रो० सिल्वांलेवी और उन प्रज़ुलुस्की आदि शिष्यों ने जिन थोड़े से भाषाशास्त्रीय तत्त्वों का रहस्य उद्‌घाटन

किया है उनके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि हमारे अनेक धर्म-विश्वासों का मूल भी इन जातियों में खोजा जा सकता है।

पिछले कुछ वर्षों में सभी आर्येतर विश्वासों को द्रविड विश्वास कह देने की प्रवृत्ति बढ़ गई है। इस प्रकार शिव और विष्णु की पूजा भी द्रविड विश्वास है, पुनर्जन्म और कर्मफल में विश्वास भी द्रविड सभ्यता की देन है और वैराग्य और कृच्छ्र तप पर जोर देना भी द्रविड विश्वास है। पर अब इस प्रकार की बातों की अधिक छानबीन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है। सभी आर्य-पूर्व और आर्येतर विश्वास द्रविड विश्वास ही नहीं हैं और भी कोई बात हो सकती है। सभी आर्यपूर्व और आर्येतर विश्वासों का मूल खोजना कठिन है।

हमारे देश के इतिहास का एक बहुत बडा विरोधाभास यह है कि अपेक्षाकृत नये ग्रन्थ अपेक्षाकृत पुरानी बातों को भी बता सकते हैं। इस प्रकार कूर्मपुराण की रचना छान्दोग्य उपनिषद् के बाद में हुई है परन्तु इसीलिये यह जरूरी नहीं कि कूर्मपुराण में कही हुई सभी बातें छान्दोग्य में कही हुई सभी बातों से नई ही हों। हो सकता है कि इस पुराण में संगृहीत कुछ बातें छान्दोग्य से भी पहले की हों। जैन आगमों का संकलन बहुत बाद में हुआ है पर इसीलिये यह नहीं कहा जा सकता कि इन आगमों में संकलन काल के पूर्व की बातें नहीं हैं। यही नहीं, यह भी हो सकता है कि एक अत्यन्त परवर्ती हिन्दी पुस्तक में किसी अत्यन्त पुरानी परम्परा का विकृत रूप उपलब्ध हो जाय। इस विरोधाभास का कारण क्या है, यह हमें अच्छी तरह जान लेना चाहिये।

जैसा कि बताया गया है कि इस देश में अनेक आर्यपूर्व जातियाँ थीं। उनकी अपनी भाषाएँ थीं और अपने विश्वास थे। आर्यों को इन जातियों से पर्याप्त संघर्ष करना पड़ा था। पुराणों में असुरों, दैत्यों और राक्षसों के साथ इन प्रचण्ड संघर्षों की कथा मिल जाती है। यह इतनी पुरानी बात है कि इन संघर्षशील जातियों को देवयोनिजात मान लिया गया है। कुछ पंडित ऐसा विश्वास करने लगे हैं कि विश्वव्यापी जलप्रलय के पूर्व की ही ये घटनाएँ होंगी। इस महाप्रलय का वर्णन सभी देशों के साहित्य में पाया जाता है, भारतीय साहित्य में तो है ही। कहा जाता है कि इस महाप्रलय में बहुत कुछ नष्ट हो गया है और बची हुई मानवजाति को नये सिरे से समारयात्रा शुरू करनी पड़ी। इस जलप्रलय के पूर्व की सभी जातियों को 'देवता' मान लिया गया है। उनमें जो ज्यादा तामसिक मानी गई उन्हें राक्षस असुर आदि पुराने नामों से ही पुकारा गया पर इन शब्दों से अर्थ दूसरा ही लिया गया। इन तामसिक शक्तियों को भी देवयोनिजात मानकर इनमें अनेक अद्भुत गुणों की कल्पना की गई। मैं स्वयं इस मत को संदेह की दृष्टि से ही देखता हूँ पर इसमें संदेह नहीं कि ये संघर्ष बहुत पुराने और प्रायः भूले हुए जमाने के परंपरालब्ध कथानक हैं।

ये जातियाँ धीरे धीरे आर्य भाषाभाषी होती गई है। कुछ तो अन्त तक आर्यभाषी नही बन सकी और पहाडों, जंगलों और दूरवर्ती स्थानों में आश्रय लेकर अपनी भाषा और धर्मविश्वासों को कथंचित् जिलाये रख सकी। जो लोग आर्य-भाषाभाषी हुए उन्होंने अपने विश्वासों को आर्यभाषा के माध्यम से कहना शुरू किया। इन वेद-बाह्य धर्म-साधनाओं का संस्कृत मे आना बहुत बडे विचार संघर्ष का कारण हुआ। सन् इसवी की प्रथम सहस्त्राब्दी मे ही इस संघर्ष का आभास मिलने लगता है। सातवीं, आठवी शताब्दी में तो किसी मत को वेदबाह्य कहकर लोकचक्षु में हीन करने की प्रवृत्ति अपने पूरे चढ़ाव पर मिलती है और उसकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र होकर प्रकट हुई है।

इस प्रतिक्रिया को न तो हम श्रमण संस्कृति का प्रभाव कह सकते है और न इसे वेदसम्मत मत कहने का ही कोई बहाना है। यह स्पष्ट रूप से वेदविरोधी है। हम इसे वेदबाह्य श्रमणेतर संस्कृति कहना चाहें तो कोई हानि नही है।

साधारणत: वेदबाह्य भारतीय धर्म का प्रसंग उठने पर बौद्ध और जैन मतों की बात ही स्मरण की जाती है। परन्तु एक अन्य भावधारा भी इस देश में काफी प्रबल थी जो वेदबाह्य भी थी और श्रमणसंस्कृति से भिन्न थी। इस वेदबाह्य श्रमणेतर संस्कृति के विषय में अभी विशेष आलोचना नही हुई है क्योंकि एक तो इसका साहित्य बहुत कम बच पाया है, दूसरे जो साहित्य बचा भी है उस पर परवर्ती काल का रंग भी चढ़ गया है।

विक्रम की सातवीं आठवी शताब्दी के बाद हिन्दू आचार्यो में एक ही विशिष्ट प्रवृत्ति पाई जाती है। वे किसी मत को जब हेय और नगण्य सिद्ध करना चाहते है तो उसे वेदबाह्य या श्रुतिविरोधी घोषित कर देते है। सातवीं आठवीं शताब्दी के बाद धीरे धीरे इस वेदबाह्य और श्रुतिविरोधी घोषित किये गये सम्प्रदायो में अपने को वैदिक और श्रुतिसम्मत कहने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये सबसे अचूक अस्त्र यह समझा गया है कि जो व्यक्ति वेद-बाह्य कहे उसी को वेदबाह्य कहकर छोटा बना दिया जाय। शंकराचार्य ने पाशुपतों को वेदबाह्य कहा था और बाद में शंकर को 'प्रच्छन्न बौद्ध' कहाने का अपजस भोगना पड़ा। परवर्ती साहित्य में एकमत का आचार्य विरोधी दूसरे मत को प्राय: ही वेदबाह्य कह देता है।

परन्तु जहां कुछ मत अपने को वेदसम्मत सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे वहीं कुछ ऐसे भी मत थे जो अपने को खुल्लमखुल्ला वेदविरोधी मानते रहे। कापाल, लाकुल, वाममार्गी तथा अन्य अनेक शाक्त और शैव मत अपने को केवल वेदविरोधी ही नहीं मानते रहे बल्कि वेदमार्ग को निम्नकोटि का भी समझते रहे। इनके ग्रथों में प्रत्येक वेदविहित मत को और नैतिक आदर्श को हीन बनाया गया है। और अत्यन्त धक्कामार भाषा में आक्रमण किया गया है।

यद्यपि अन्त तक ये मत अपना वेदविरोधी स्वर कायम नही रख सके। शुरू शुरू में इनके धक्कामार और तिलमिला देनेवाले वचनो की पारमार्थिक व्याख्या की गई और बादमें उन्हें विशुद्ध श्रुतिसम्मत मार्ग सिद्ध किया गया।

उत्तर की अनेक जातियाँ और अनेक सम्प्रदाय इन आर्यपूर्व सभ्यताओ की स्मृति वहन करती आ रही है। इन सम्प्रदायो के अध्ययन से हमें अनेक भूली बातों की जानकारी प्राप्त होगी।

यह समझना ठीक नही कि वर्तमान युग में प्रचलित लोकजाति और लोक-कथानक तथा विभिन्न जातियो और सम्प्रदायो की रीतिरस्म हमें केवल वर्तमान की ही बात बता सकते है। हो सकता है कि ये हमें घने अन्धकार को भेद सकने योग्य प्रकाश दें और हम अतीत के कुज्झटिकाच्छन्न काल मे पैठ सकें।

मनुष्य के उत्थान पतन का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। न जाने कितने मूलो से मनुष्य ने अपना धर्म-विश्वास सञ्चय किया है। जातिगत और सम्प्रदायगत संकीर्णताओ से जर्जरित काल मे यदि हम जान सकें कि मनुष्य कितना ग्रहणशील प्राणी है, वह किस निर्मंमता के साथ संस्कृति के साथ चिपटे हुए सड़े छिलको को फेंकता आया है और किस दुर्वार शक्ति से अन्य श्रेणियों के सत्य को ग्रहण करता आया है तो यह कम लाभ नहीं है। भारतीय धर्म साधना का इतिहास इस दिशा में बहुत सहायक है।

हमारा वैदिक बौद्ध, और जैन साहित्य बहुत विशाल है। बहुत बड़े देश और बहुत दीर्घ काल को व्याप्त करके यह साहित्य लिखा गया है। देश और काल का प्रभाव इस पर सर्वत्र है। इनके निपुण अध्ययन से तत्कालीन अन्य मतो का भी कुछ आभास पाया जाता है। यह भी पता चलता है कि किस प्रकार ये मत अन्य मतो से प्रभावित होकर नया रूप ग्रहण करते आये है। जो लोग धर्ममत को अनादि और सनातन मानते हैं वे भूल जाते हैं कि सभी धर्म-विश्वास बदलते रहे है, कभी कभी उनके स्थान पर एकदम नवीन विश्वास ने प्रतिष्ठा पाई है और कभी कभी उनमें थोड़ा संस्कार हुआ है और उन्हें नया रूप प्राप्त हो गया है।

शास्त्र में कहा है 'धर्मस्य तत्त्वं निहित गुहायाम्' यह कथन ऐतिहासिक अर्थ में सत्य है। केवल धर्मग्रन्थों के अध्ययन से हम नही समझ सकते कि हमारे विश्वासो का वर्तमान रूप किस प्रकार प्राप्त हुआ है। और भी पारिपार्श्विक परिस्थितियो का ज्ञान होना चाहिये। पुरातत्त्व, भाषाविज्ञान, नृतत्त्वविज्ञान और इतिहास की अविच्छिन्न धारा का ज्ञान भी आवश्यक है। नाना स्तरों में विभाजित हमारी सम्पूर्ण जनता ही हमारे अध्ययन का मुख्य साधन है। धर्म का तत्त्व और भी गहराई में है। वह सचमुच ही गुहा में निहित है। उस अंध-तिमिरावृत गुहा में जो भी प्रकाश पहुँचा सके वही धर्म साधना के विद्यार्थी के लिये सम्माननीय है।

---००---

अन्तिम अभिनय–

[कहानी] —'इन्द्र' एम. ए.

आषाढ़भूति की अवस्था अभी छोटी ही थी। बुद्धि में तीव्रता थी, स्वभाव में नटखटपन और अंगों में कोमलता। मुनिव्रत ले लेने पर भी ये बातें निर्मूल नहीं हुई थीं। कभी कभी बालसुलभ चञ्चलता का उभार आ जाता और शरारत करने को जी मचल उठता। यौवन के पदार्पण के साथ साथ हृदय में वासना की लहर भी उठने लगी। यद्यपि ऐसा कोई कार्य नहीं किया जिससे वे संयमभ्रष्ट कहे जाते किन्तु कभी कभी मन को वश में रखना कठिन हो जाता। वे उस दशा में नहीं पहुँचे थे जब विकार के हेतु उपस्थित होने पर भी मन विकृत नहीं होपाता। संयम में उत्साह था किन्तु कभी कभी उदासीनता भी आजाती।

अपने गुरु आचार्य धर्मरुचि के साथ विचरते हुए वे राजगृही आये। राजगृही मगध की राजधानी थी। विविध प्रकार के कलाकार, बड़े बड़े व्यापारी तथा विद्वान् उसकी शोभा को बढ़ा रहे थे। वहीं नाट्याचार्य विश्वकर्मा अपनी मण्डली के साथ रहते थे। अभिनय कला के लिये यह मण्डली दूर दूर तक प्रसिद्ध थी। विश्वकर्मा अभिनेता तथा अभिनेत्रियों के साथ चुनाव तथा शिक्षण में बड़े पटु थे। उनकी दो कन्यायें थीं–रम्भा और शची। दोनों सुन्दरी थीं और नृत्यकला में प्रवीण।

आषाढ़भूति भिक्षा के लिये घूमते हुए आचार्य विश्वकर्मा के घर पहुँचे। भिक्षा में एक लड्डू मिला। बाहर आकर आषाढ़भूति ने सोचा—"एक लड्डू से क्या होगा। यह तो आचार्य के हिस्से में आयगा। उनके बाद उपाध्याय का नम्बर है। फिर गणावच्छेदक का। तब कहीं बारी आएगी।" उसने काने का रूप बनाया। एक लड्डू और मिल गया। फिर कुबड़े का और फिर कोढ़ी का। दो लड्डू और मिल गये।

विश्वकर्मा ऊपर बैठा हुआ आषाढ़भूति के रूप परिवर्तन को देख रहा था। उसने सोचा—यह साधु रूप बदलने में बड़ा कुशल है। यदि हमारी नाट्य-मण्डली में सम्मिलित हो जाय तो रुपया बरसने लगे।

वह नीचे उतरा। मुनि को बड़े आदर के साथ फिर घर में ले गया और लड्डुओं से पात्र भर दिया। दोनों कन्याएँ समीप ही खड़ी थीं। साधु की दृष्टि उन पर पड़ी और उनकी साधु पर।

आषाढ़भूति विश्वकर्मा के घर प्रायः आने लगे। कन्याओं से वार्तालाप भी

होने लगा। विश्वकर्मा ने कोई आपत्ति न की। उनकी तो एकमात्र इच्छा थी आषाढभूति किसी प्रकार नाटचमण्डली में सम्मिलित हो जायें।

आषाढ़भूति खिचे जा रहे थे। आत्मनियंत्रण शिथिल पड़ रहा था। बार बार मन को समझाते। रात्रि को प्रतिज्ञा कर के सोते कि अब कभी उधर नही जाऊँगा। किन्तु दूसरे दिन भिक्षाका समय होते ही वह शिथिल पड़ जाती। पैर अपने आप उधर चल पडते। सौंदर्य का आकर्षण विवेक बुद्धि को ग्रस लेना चाहता था। कई बार गुरु तथा अपने व्रत का ध्यान आया। पतन के भीषण परिणाम भी दिखाई दिये। वे रुकना चाहते थे किन्तु उसमें समर्थ न हो रहे थे। उनकी दशा उस व्यक्ति के समान थी जो पहाड़ पर से गिर रहा है। सामने भीषण गर्त है। आखें खुली हुई है। चाहता है, रुक जाऊं। किन्तु रुक नही सकता। वे विष के प्याले को पी रहे थे। चाहते थे, न पिऊं। किन्तु उसे ओठों से अलग करने की शक्ति न थी। मनुष्य जब तक पैर जमाए खड़ा रहता है, अपने आप को नही फिसलने देना, नहीं फिसलता। किन्तु जैसे ही एक पैर फिसला फिर सम्हलना असम्भव नही तो कठिन अवश्य हो जाता है।

आषाढभूति फिसल चुके थे। नहीं सम्हल सके। एक दिन कन्याओं ने विवाह का प्रस्ताव रखा। वे अस्वीकार न कर सके। धर्म और व्रत का ध्यान आया। गुरु के उपदेश याद आये किन्तु व्यर्थ सिद्ध हुए। यह बात नही थी कि वे धर्म को व्यर्थ मानते थे। उसके प्रति रुचि अब भी वर्तमान थी। किन्तु वे अपने को विवश अनुभव कर रहे थ और बलात् विपरीत दिशा में खिचे जा रहे थे।

उपाश्रय मे जाकर उन्होने रजोहरण, वस्त्र, पात्र आदि साधु के चिह्न गुरु के चरणो में रख दिये और बिदा होने की अनुमति मांगी। गुरु ने बहुत समझाया। वे चुपचाप सुनते रहे। अन्त में कहा—"भगवन्! मुझे क्षमा कीजिये। मैं थका हुआ पथिक हूँ। छाया देखकर पैर भारी हो गये है। अब बिना विश्राम किए आगे न बढ सकूंगा। मैं प्रयत्न करूँगा कि यह विश्राम मेरी प्रगति को सदा के लिए न रोक दे। यह भी सभव है कि यह उसे द्विगुणित कर दे। नवीन उत्साह और नया बल प्राप्त करके मैं वर्षों के मार्ग को दिनो में पूरा कर लूँगा।

गुरु से बिदा लेकर आषाढ़भूति विश्वकर्मा के घर चले आये। दोनो कन्याओं से विवाह कर लिया। विलासिता मे दिन कटने लगे किन्तु वासना उनके विवेक को पूरी तरह न ढक सकी। कभी कभी पुराने संस्कार जाग उठते और वर्तमान जीवन फीका सा मालूम पडने लगता। मर्यादा का बांध सर्वथा न टूटा था। पत्नियों का आग्रह होने पर भी कभी मदिरापान नही किया। कभी मांस सेवन नही किया। जब गुरु का उपदेश याद आता तो आत्मग्लानि सी होने लगती।

मानवस्वभाव एक पहेली है। उसके लिये अप्राप्य वस्तु में जितना आकर्षण है उतना प्राप्य वस्तु में नहीं। अप्राप्ति की अवस्था में मनुष्य जिसके लिये सर्वस्व अर्पित करने को उद्यत रहता है, प्राप्त होने पर वही साधारण सी बन जाती है। सारा आकर्षण, सारा सौन्दर्य, सारा माधुर्य पता नहीं कहाँ विलुप्त हो जाता है। तो क्या ये सब बातें छलना हैं। मरुमरीचिका है ? किन्तु प्रगति का बीज भी इन्हीं में सन्निहित है। यदि ये न हों तो मनुष्य जहाँ खड़ा है, वहीं रह जाय। यदि प्यासे हरिण को मरीचिका में जल का भान न हो तो वह क्यों दौड़े। छलना तो वह उसके लिए है जो जल पीकर प्यास बुझाना चाहता है। जिसने प्यास से व्याकुल होकर दौड़ते रहना ही अपना लक्ष्य बना लिया है उसके लिये वह यथार्थ है, उसके लिए तो जलाशय ही छलना है।

आषाढ़भूति जिस समय मुनि थे, गार्हस्थ्य में आकर्षण प्रतीत होता था। अब विवाह कर लिया तो मुनिव्रत याद आता था। पता नहीं, मनुष्य ने वर्तमान अवस्था में सन्तुष्ट रहना क्यों नहीं सीखा ? सतत अतृप्ति उसके स्वभाव में अन्तर्हित है। सन्तोष का उपदेश उस पर कृत्रिम आवरण भले डाल दे किन्तु वह स्थायी स्वभाव नहीं बनता।

विश्वकर्मा मानव स्वभाव के अच्छे पारखी थे। आषाढभूति की यह दुविधा उनसे छिपी न रही। कन्याओं को अच्छी तरह समझा दिया कि इनके साथ बर्ताव करने में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। कोई भी ऐसा प्रसंग नहीं आने देना चाहिए जिससे इनकी विरक्ति बढ़ जाय। इनके सामने न तो कोई बीभत्स दृश्य आना चाहिए जिससे इन्हें ग्लानि उत्पन्न हो और न कोई ऐसी उलझन उपस्थित होनी चाहिये जिससे ये घबरा जायें। कन्याएँ पिता के आदेश का पूर्णतया पालन करने लगी और प्रतिदिन इस प्रकार सचेष्ट रहने लगी जिससे आषाढ़भूति उत्त-रोत्तर अधिक आकृष्ट होता जाय।

आचार्य विश्वकर्मा की नाट्यमण्डली चमक उठी। आषाढ़भूति का अभिनय देखने के लिए जनता टूट पड़ती थी। लोग दूर दूर से चलकर आते। भावों की अभिव्यक्ति, अंगों का परिचालन, नेपथ्य, उक्ति, प्रत्युक्ति आदि सभी बातों में उत्कृष्टता थी। दोनों कन्याएँ साथ रहती। आषाढभूति नायक होते तो शची नायिका और रम्भा प्रतिनायिका। उनके कारण अभिनय और भी आकर्षक बन जाता।

एक दिन राजगृह के तत्कालीन राजा सिंहरथ ने अभिनय देखने की इच्छा प्रकट की। सिंहरथ अधेड़ अवस्था के क्षत्रिय नरेश थे। शृंगार की अपेक्षा वीर और शान्त रस को अधिक पसन्द करते थे। उन्होंने आचार्य विश्वकर्मा को

एक प्राचीन कहानी सुनाई जो शान्तरस प्रधान थी और स्त्री पात्रों से शून्य थी। उसी कथावस्तु के आधार पर नाटक रचकर अभिनय करना था।

विश्वकर्मा और आषाढ़भूति ने परिश्रम से नाटक तैयार किया। पात्रों को अभ्यास कराया और निश्चित तिथि पर सन्ध्या समय अभिनय के लिये राज दरबार में पहुँच गए।

शर्वा और रम्भा ने उसे छुट्टी का दिन समझा। सोचा—आज आषाढ़भूति अकेले गए हैं। राज दरबार में नाटक है। रात समाप्त होने से पहले क्या लौटेंगे। आज अपने मन की इच्छा पूर्ण कर ली जाय। दोनों ने जी भर कर मदिरा-पान किया। मांस खाया। बहुत दिनों से रुकी हुई लालसा को तृप्त किया। नशे में मतवाली होकर दोनों ऊपरवाले कमरे में सो रहीं। न वस्त्रों की सुधबुध रही और न किसी बात की।

अचानक राजसभा में एक दूत आया और उसने शत्रु द्वारा किए गए आक्रमण की सूचना दी। राजा तथा सभी अमात्य चिन्ता में पड़ गए। नाटक का कार्य-क्रम स्थगित कर दिया गया। सभी अभिनेता अपने अपने घर चले गये।

आषाढ़भूति सीधा ऊपरवाले कमरे में पहुँचा। दोनों बेसुध सो रही थीं। शरीर से वस्त्र हटे हुए थे। मुंह में झाग निकल रही थी। सारे कमरे में दुर्गन्ध फैल रही थी। वह नग्न रूप आषाढ़भूति को बहुत ही बुरा लगा। मन में आया—क्या अस्पष्टता का नाम ही सौंदर्य है? वही रूप जब वस्त्र और आभूषणों से आवृत होकर, कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट, मेरे सामने आता था, कितना आकर्षक प्रतीत होता था। कितना मोहक था। वही अनावृत रूप में कैसा वीभत्स प्रतीत होता है? सौंदर्य का असली स्थान कहाँ है? ऐसा कौन सा तत्त्व है जिससे सौंदर्य का स्रोत उद्भूत होता है। जो समीप पहुँचने पर अधिकाधिक तृप्ति और आनन्द को प्राप्त करता है। जो चकाचौंध के कारण दूर से ही सुन्दर प्रतीत होता है वह तो मरीचिका है, गन्धर्वनगर है। वास्तविक जलाशय तो ज्यों ज्यों समीप जाओ, अधिक शक्ति प्रदान करता है। अन्दर प्रवेश करने पर और भी अधिक। जो समीप आने पर विराग और निराशा के रूप में परिणत हो जाय वह मिथ्या है, भ्रम है, अयथार्थ है। मैंने इस अयथार्थ के लिये कितने नाच नाचे। अपने को कितना गिराया! मैं इसके पीछे पागल हो गया। उसका हृदय आत्मग्लानि से भर गया।

आषाढ़भूति को नींद नहीं आई। प्रातः होते ही उसने जाने का विचार प्रकट किया।

विश्वकर्मा सदा सशङ्क रहता था। आषाढ़भूति को उद्विग्न देख कर उसने कन्याओं से सारा हाल पूछा। प्रमाद के लिए उसने भर्त्सना की तथा उसे किसी प्रकार

मना लाने के लिए कहा। साथ में यह भी कह दिया, यदि वह किसी प्रकार न माने तो उससे अपनी आजीविका का प्रबन्ध करने के लिए कहना।

कन्याओं ने सब तरह से प्रयत्न किया। हाव भाव दिखाए, रूठी, गिड़-गिड़ाई, उपभुक्त विषयभोगों की स्मृति दिलाई, अपनी भूल पर पश्चाताप किया, क्षमा मांगी किन्तु आषाढ़भूति निश्चल रहे। अन्त में कन्याओं ने आजीविका की बात छेड़ी। बोली—"हम दोनों आपकी विवाहिता स्त्रियाँ हैं। आपके चले जाने पर हमारा भरण पोषण कौन करेगा ? हमारी आजीविका के लिये भी तो कोई प्रबन्ध होना चाहिए।"

आषाढ़भूति अटक गए। उत्तरदायित्व को पूरा किए बिना आत्म साधना अधूरी है। मन में अपने संकल्प को दृढ़ रखते हुए आषाढ़भूति धन संचय का उपाय करने लगे।

एक नाटक की रचना की। नाम रखा—'बिदा।' प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत राज्य सिंहासन पर बैठे। विजय यात्रा की। छह खण्डों पर राज्य स्थापित किया। चौदह रत्न तथा नौ निधियों के स्वामी बने। शीशमहल बनाया। राजसी वेश में सजधज कर उसमें प्रवेश किया। एक अँगूठी नीचे गिर पड़ी। अँगुली की चमक जाती रही। वह निस्तेज और मलिन सी दीखने लगी। यह क्या ? क्या सारी शोभा अँगूठी की थी ! इस औपाधिक और अस्थायी सौन्दर्य के लिए प्रफुल्लित होना अज्ञानता है। विचार के साथ साथ वैराग्य भावना बढ़ती गई। दूसरे आभूषण उतार कर देखा। जिस अंग का आभूषण उतारा जाता, वही फीका पड़ जाता। मुकुट उतार कर देखा। सिर की वह शोभा न रही। हीरे के हार उतारे। छाती निस्तेज हो गई। वैराग्य भावना उत्कृष्ट होती गई। अस्थायी वस्तुओं का मोह दूर हो गया। वहीं आत्म-साक्षात्कार हो गया। वे घर बार छोड़ कर चल पड़े। साथ में पांच सौ राजकुमार दीक्षित हो गये।

इसी कथावस्तु पर आषाढ़भूति ने सुन्दर नाटक रचा। योग्य पात्रों का चुनाव करके उचित शिक्षा दी। रंगमंच तैयार किया गया। अभिनय की तिथि निश्चित हो गई।

अभिनेता के रूप में आषाढभूति की ख्याति दूर दूर तक फैली हुई थी। यह उसका अन्तिम नाटक था। लम्बे समय से तैयारियाँ हो रही थीं। देखने के लिये बड़े बड़े राजा तथा सेठ आए। सभास्थान खचाखच भर गया।

आषाढ़भूति स्वयं नायक था। भरत का अभिनय वही कर रहा था। लोग

देख देख कर चकित हो रहे थे। पारितोषिक के रूप में आभूषण तथा मोहरों की बर्षा हो रही थी।

अन्तिम दृश्य आया। शीशमहल के परदे खिच गए। चक्रवर्ती भरत के रूप में आषाढभूति का प्रवेश हुआ। चारो ओर विशाल दर्पण थे। दिव्य वेश-भूषा के कारण सारा मंच जगमगा उठा। राजकीय ऐश्वर्य और प्रभुत्व के अभिमान मे भरे हुए भरत नपे तुले कदमो के साथ घूमने लगे। अपना दिव्य प्रतिबिम्ब देख-कर वे बार बार प्रफुल्लित हो उठते।

इतने में अँगूठी गिरी। अँगुली निस्तेज हो गई।

"यह क्या ? क्या सारा सौन्दर्य इसी का था ! भरत ने आश्चर्य और व्याकुलता के साथ कहा।

क्रमश- दूसरे आभूषण उतारे। अंग फीके पड़ने गए। सारा शरीर निष्प्रभ हो गया। मुकुट भी उतार दिया। ललाट का तेज समाप्त हो गया।

भरत ने स्वगत के रूप मे कहा—यह क्या ! मैं जिस चकाचौंध पर प्रसन्न हो रहा था वह क्षण भर मे विलुप्त हो गई। क्या मैं इसी पर मुग्ध था ? मुकुट उतारते ही सारा तेज चला गया। क्या सारा तेज इसी मुकुट का है ? मेरा अपना कुछ नही है ? यह वेशभूषा तो अस्थायी है, कृत्रिम है। यह मुझे सदा सुन्दर नहीं रख सकती। भौतिक वस्तुएं कितनी परिवर्तनशील हैं। पल भर में कुछ का कुछ हो गया। सारा संसार अनित्य है। हाथी, घोडे पदाति तथा रथ सभी अनित्य है। अन्त समय मे वे मुझे न बचा सकेंगे। मेरा साम्राज्य, मेरे महल, प्राकार, दुर्ग सभी नश्वर है। मेरा यह शरीर भी नश्वर है। एक आत्मा नित्य है। क्यो न मै आत्मा को प्राप्त करू ? यदि शाश्वत सुख चाहिए तो आत्मा को प्राप्त करना होगा। भौतिक वस्तुओं स नाता तोडना होगा। उन्हें बिदा देनी होगी।"

उसी समय उसे बोध प्राप्त हो गया। उसी वेश में रंगमंच से बाहर निकलने लगा। पीछे पीछे पाँच सौ राजकुमार थे।

मगध-सम्राट् ने कहा—भगवन् ! अब तो नाटक समाप्त हो गया। आप कहाँ जा रहे हैं।

"जहाँ भरत चक्रवर्ती गए हैं। हमारा नाटक वही पहुँचने पर समाप्त होगा।" आषाढ़भूति वापस न लौटे।

——००——

अनेकान्तदर्शन का सांस्कृतिक आधार-

-प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

भारतीय विचार परम्परामें स्पष्टतः दो धाराएँ हैं। एक धारा वेदको प्रमाण माननेवाले वैदिक दर्शनोंकी है और दूसरी वेदको प्रमाण न मानकर पुरुषानुभव या पुरुषसाक्षात्कारको प्रमाण माननेवाले श्रमण सन्तों की। यद्यपि चार्वाकदर्शन भी वेदको प्रमाण नहीं मानता किन्तु उसने आत्माका अस्तित्व जन्मसे मरण पर्यन्त ही स्वीकार किया है। उसने परलोक पुण्य-पाप-मोक्ष जैसे आत्म-प्रतिष्ठित तत्त्वोंको तथा आत्मसंशोधक चारित्र आदि की उपयोगिता स्वीकृत नहीं की है अतः अवैदिक होकर भी वह श्रमणधारामें सम्मिलित नहीं किया जा सकता। श्रमणधारा वैदिक परम्पराको न मानकर भी आत्मा, जडभिन्न ज्ञानसन्तान, पुण्य-पाप, परलोक, निर्वाण आदिमें विश्वास रखती है अतः पाणिनिकी परिभाषाके अनुसार आस्तिक है। वेदको या ईश्वरको जगत्कर्ता न माननेके कारण श्रमणधारा को नास्तिक कहना उचित नहीं है, क्योंकि किसी एक परम्पराको न माननेके कारण यदि श्रमण नास्तिक कहे जाते हैं तो श्रमणपरम्पराको न माननेके कारण वैदिक भी मिथ्यादृष्टि आदि विशेषणोंसे पुकारे जा सकते हैं।

श्रमणधाराका सारा तत्त्वज्ञान या दर्शन विस्तार जीवनशोधन या चारित्र-वृद्धिके लिए हुआ था। वैदिक परम्परामें तत्त्वज्ञानको ही मुक्तिका साधन माना है जब कि श्रमणधारामें चारित्रको। वैदिक परम्परा वैराग्य आदि से ज्ञानको पुष्ट करती है और विचारशुद्धि करके मोक्ष मान लेती है जब कि श्रमणपरम्परा कहती है कि उस ज्ञान या विचारका कोई मूल्य नहीं जो जीवनमें न उतरे। जिसकी सुवाससे जीवन सुवासित न हो। वह ज्ञान या विचार मस्तिष्कके व्यायामसे अधिक कुछ भी महत्त्व नहीं रखते। जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका आद्य सूत्र है—"सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" (तत्त्वार्थसूत्र १।१) अर्थात सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी आत्मपरिणति मोक्षका मार्ग है। यहाँ मोक्षका साक्षात् कारण चारित्र है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो उस चारित्रके परिपोषक हैं। बौद्ध परम्पराका अष्टाङ्ग मार्ग भी चारित्रका ही विस्तार है। तात्पर्य यह कि श्रमणधारामें ज्ञानकी अपेक्षा चारित्रका ही अन्तिम महत्त्व रहा है और प्रत्येक विचार और ज्ञानका उपयोग चारित्र अर्थात् आत्मशोधन या जीवनमें सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिए किया गया है। श्रमणसन्तोंने तप और साधनाके द्वारा वीतरागता प्राप्त की और उसी परमवीतरागता समता या अहिंसाकी उत्कृष्ट ज्यो-

तिको विश्वमें प्रचारित करनेके लिए विश्वतत्त्वोंका साक्षात्कार किया। इनका साध्य विचार नहीं आचार था, ज्ञान नहीं चारित्र था, वाग्विलास या शास्त्रार्थ नहीं, जीवन शुद्धि और संवाद था। अहिंसा का अन्तिम अर्थ है जीवमात्रमें—चाहे, वह स्थावर हो या जंगम, पशु हो या मनुष्य, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय या शूद्र, गोरा हो या काला, एतद्देशीय हो या विदेशी—देश काल शरीराकारके आवरणोंसे परे होकर समत्वदर्शन। प्रत्येक जीव स्वरूपसे चैतन्यशक्तिका अखण्ड शाश्वत आधार है। कर्म या वासनाओंके कारण वृक्ष कीड़ा मकोड़ा पशु और मनुष्य आदि शरीरों को धारण करता है पर अखण्ड चैतन्यका एक भी अंश उसका नष्ट नहीं होता वह वासना या राग द्वेषादि के द्वारा विकृत अवश्य हो जाता है। मनुष्य अपने देश काल आदि निमित्तोंसे गोरे या काले किसी भी शरीरको धारण किए हो, अपनी वृत्ति या कर्मके अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र किसी भी श्रेणीमें उसकी गणना व्यवहारमें की जाती हो, किसी भी देशमें उत्पन्न हुआ हो, किसी भी सन्तका उपासक हो, वह इन व्यावहारिक निमित्तोंसे ऊँच या नीच नहीं हो सकता। किसी वर्ण विशेषमें उत्पन्न होनेके कारण ही वह धर्मका ठेकेदार नहीं बन सकता। मानवमात्रके मूलतः समान अधिकार है। न केवल मानवके किन्तु पशु कीड़े-मकोड़े वृक्ष आदि प्राणियोंके भी। अमुक प्रकार की आजीविका या व्यापारके कारण वह किसी मानवाधिकारसे वंचित नहीं हो सकता। यह मानवसमत्वभावना या प्राणिमात्र-समताकी उत्कृष्ट सत्त्वमैत्री अहिंसाके विकसित रूप है। श्रमणसन्तोंने यही कहा कि एक मनुष्य किसी भूखण्ड पर या अन्य भौतिक साधनोंपर अधिकार कर लेनेके कारण जगत्में महान् एतावता दूसरोंके निर्दलनका जन्मसिद्ध अधिकारी नहीं हो सकता। किसी वर्णविशेषमें उत्पन्न होनेके कारण दूसरोंका शासक या धर्मका ठेकेदार नहीं हो सकता। भौतिक साधनोंकी प्रतिष्ठा बाह्यमें कदाचित् हो भी पर धर्मक्षेत्रमें प्राणिमात्रको एक ही भूमिपर बैठना होगा, हरएक प्राणीको धर्मकी शीतल छायामें समान भावसे सन्तोषकी साँस लेनेका सुअवसर है। व्यक्ति आत्मसमत्व वीतरागत्व या अहिंसाके विकाससे महान् हो सकता है न कि जगत्में विषमता फैलानेवाले हिंसक परिग्रहके संग्रहसे। आदर्श त्याग है न कि संग्रह। इस तरह जाति, वर्ण, रंग, देश, आकार, परिग्रहसंग्रह आदि विषमतम और संघर्षके कारणोंसे परे होकर प्राणिमात्रको समत्व, अहिंसा और वीतरागताका पावन सन्देश इन श्रमण-सन्तोंने उस समय दिया जब यज्ञ आदि क्रियाकाण्ड एक वर्गविशेषकी जीविकाके साधन बने हुए थे। स्वर्गके टिकिट कुछ गाय, सोना और स्त्रियोंकी दक्षिणासे प्राप्त हो जाते थे, धर्मके नामपर गोमेध अजामेध क्वचित् नरमेध तक का खुला बाजार था, जातिगत उच्चत्व नीचत्वका विष समाजशरीरको दग्ध कर रहा था, अनेक प्रकारसे सत्ताको हथयानेके षड़यन्त्र चालू थे। उस बर्बर युगमें मानवसमत्व या प्राणिमैत्रीका उदारतम सन्देश इन युगधर्मी सन्तोंने नास्तिकताका मिथ्या

लांछन सहते हुए भी दिया और भ्रान्त जनताको सच्ची समाज रचनाका मूल-मन्त्र बताया।

पर, यह अनुभवसिद्ध बात है कि अहिंसाकी स्थायी प्रतिष्ठा मनःशुद्धि और वचनशुद्धिके बिना नहीं हो सकती। हम भले ही शरीरसे दूसरे प्राणियोंकी हिंसा न करें पर यदि वचनव्यवहार और चित्तगत विचार विषम या विसंवादी हैं तो कायिक अहिंसा पल ही नहीं सकती। अपने विचार अर्थात् मतको पुष्ट करनेके लिए ऊँच-नीच शब्द बोले जायँगे और फलतः हाथापाईका अवसर आए बिना न रहेगा। भारतीय शास्त्रार्थो का इतिहास अनेक हिंसाकाण्डोंके खूनी पन्नोंसे रंगा हुआ है। अतः यह आवश्यक था कि अहिंसाकी सर्वाङ्गीण प्रतिष्ठाके लिए विश्वका यथार्थ तत्त्वज्ञान हो और विचारशुद्धिमूलक वचनशुद्धिकी जीवनव्यवहारमें प्रतिष्ठा हो। यह संभव ही नहीं है कि एक वस्तुके सम्बन्ध में परस्पर विरोधी मतवाद चलते रहें, अपने पक्षके समर्थनके लिए उचित अनुचित शास्त्रार्थ होते रहें, पक्षप्रतिपक्षोंका संगठन हो, शास्त्रार्थ में हारनेवालेको तेलकी जलती कड़ाहीमें जीवित तल देने जैसी हिंसक होड़ें भी लगें, फिर भी परस्पर अहिंसा कायम रहे!

भगवान् महावीर एक परम अहिंसक सन्त थे। उनने देखा कि आजका सारा राजकारण धर्म और मतवादियोंके हाथमें है। जबतक इन मतवादोंका वस्तुस्थितिके आधारसे समन्वय न होगा तबतक हिंसाकी जड़ नहीं कट सकती। उनने विश्वके तत्त्वोंका साक्षात्कार किया और बताया कि विश्वका प्रत्येक चेतन और जड़ तत्त्व अनन्तधर्मोंका भण्डार है। उसके विराट् स्वरूपको साधारण मानव परिपूर्णरूपमें नहीं जान सकता। उसका क्षुद्रज्ञान वस्तुके एक एक अंशको जानकर अपनेमें पूर्णताका दुरभिमान कर बैठा है। विवाद वस्तुमें नहीं है, विवाद तो देखने वालोंकी दृष्टिमें है। काश, ये वस्तुके विराट् अनन्तधर्मात्मक या अनेकात्मक स्वरूपकी झांकी पा सकते। उनने इस अनेकान्तात्मक तत्त्वज्ञानकी ओर मतवादियोंका ध्यान खींचा और बताया कि देखो, प्रत्येक वस्तु अनन्तगुण पर्याय और धर्मोंका अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनाद्यनन्त सन्तान-स्थिति की दृष्टिसे नित्य है, कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता जब विश्वके रङ्गमञ्चसे एक कणका भी समूल विनाश हो जाय। साथ ही प्रतिक्षण उसकी पर्यायें बदल रही हैं, उसके गुण-धर्मोंमें सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है। अतः वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्त गुण, शक्ति, पर्याय और धर्म प्रत्येक वस्तुकी निजी सम्पत्ति है। इनमेंसे हमारा स्वल्प ज्ञानलव एक एक अंशको विषय करके क्षुद्र मतवादोंकी सृष्टि कर रहा है। आत्माको नित्य सिद्ध करनेवालोंका पक्ष अपनी सारी शक्ति आत्माको अनित्य सिद्ध करनेवालोंकी उखाड़पछाड़में लगा रहा

है तो अनित्यवादियोंका गुट नित्यवादियोंको भला बुरा कह रहा है। महावीरको इन मतवादियोंकी बुद्धि और वृत्तिपर तरस आता था। वे बुद्धकी तरह आत्म-नित्यत्व और अनित्यत्व, परलोक और निर्वाण आदिको अव्याकृत कहकर बौद्धिक तमकी सृष्टि नहीं करना चाहते थे। उनने इन सभी तत्त्वोंका यथार्थ स्वरूप बताकर शिष्योंको प्रकाश में लाकर उन्हें मानससमताकी समभूमिपर ला दिया। उनने बताया कि वस्तुको तुम जिस दृष्टिकोणसे देख रहे हो वस्तु उतनी ही नहीं है उसमें ऐसे अनन्त दृष्टिकोणोंसे देखे जानेकी क्षमता है. उसका विराट् स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है उसका ईमानदारीसे विचार करो वह भी वस्तुमें विद्यमान है। चित्तसे पक्षपातकी दुरभि-सन्धि निकालो और दूसरेके दृष्टिकोणको भी उतनी ही प्रामाणिकतासे वस्तुमें खोजो वह वहीं लहरा रहा है। हाँ, वस्तुकी सीमा और मर्यादा का उल्लंघन नहीं होना चाहिए। तुम चाहो कि जड़में चेतनत्व खोजा जाय या चेतनमें जड़त्व, तो नहीं मिल सकता। क्योंकि प्रत्येक पदार्थके अपने अपने निजी धर्म निश्चित हैं। मैं प्रत्येक वस्तुको अनन्तधर्मात्मक कह रहा हूँ सर्वधर्मात्मक नहीं। अनन्त धर्मोंमें चेतनके संभव अनन्त धर्म चेतनमें मिलेंगे तथा अचेतनगत संभव धर्म अचेतनमें। चेतनके गुणधर्म अचेतनमें नहीं पाए जा सकते और न अचेतनके चेतनमें। हाँ, कुछ ऐसे सामान्य धर्म भी हैं जो चेतन और अचेतन दोनोंमें साधारण रूपसे पाए जाते हैं। तात्पर्य यह कि वस्तुमें बहुत गुंजाइश है। वह इतनी विराट् है जो हमारे तुम्हारे अनन्त दृष्टिकोणोंसे देखी और जानी जा सकती है। एक क्षुद्र-दृष्टिके आग्रहपूर्वक दूसरेकी दृष्टिका तिरस्कार करना या अपनी दृष्टिका अहंकार करना वस्तुके स्वरूपकी नासमझीका परिणाम है। हरिभद्रसूरिने लिखा है कि—

"आग्रही बत निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
क्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्।"

अर्थात् आग्रही व्यक्ति अपने मतपोषणके लिए युक्तियां ढूंढता है, युक्तियों को अपने मतकी ओर ले जाता है पर पक्षरहित मध्यस्थ व्यक्ति युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूप को स्वीकार करनेमें अपनी मतिकी सफलता मानता है। अनेकान्त दर्शन भी यही सिखाता है कि युक्तिसिद्ध वस्तुस्वरूपकी ओर अपने मतको लगाओ न कि अपने निश्चित मतकी ओर, वस्तु और युक्तिकी खींचातानी करके उन्हें बिगाड़नेका दुष्प्रयास करो, और न कल्पनाकी उड़ान इतनी लम्बी लो जो वस्तुकी सीमाको ही लांघ जाय। तात्पर्य यह कि मानस समताके लिए यह वस्तुस्थितिमूलक अनेकान्त तत्त्वज्ञान अत्यावश्यक है। इसके द्वारा इस नरतनधारीको ज्ञात हो सकेगा कि वह कितने पानीमें है, उसका ज्ञान कितना स्वल्प है, और वह किस दुरभिमानसे हिंसक मतवादका सर्जन करके मानवसमाजका

अहित कर रहा है। इस मानस अहिंसात्मक अनेकान्त दर्शनसे विचारोंमें या दृष्टिकोणोंमें कामचलाऊ समन्वय या ढीला ढीला समझौता नहीं होता किन्तु वस्तुस्वरूपके आधारसे यथार्थ तत्त्वज्ञानमूलक समन्वयदृष्टि प्राप्त होती है।

डॉ० सर राधाकृष्णन् इंडियन फिलासफी (जिल्द १ पृ० ३०५-६) में स्याद्वादके ऊपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि-- "इससे हम केवल आपेक्षिक अथवा अर्धसत्यका ही ज्ञान हो सकता है, स्याद्वादसे हम पूर्ण सत्यको नहीं जान सकते। दूसरे शब्दोंमें--स्याद्वाद हमें अर्धसत्योंके पास लाकर पटक देता है और इन्हीं अर्धसत्योंको पूर्णसत्य मान लेनेकी प्रेरणा करता है, परन्तु केवल निश्चित अनिश्चित अर्धसत्योंको मिलाकर एकसाथ रख देनेसे वह पूर्णसत्य नहीं कहा जा सकता। आदि।"

क्या सर राधाकृष्णन् यह बतानेकी कृपा करेंगे कि स्याद्वादने निश्चित अनिश्चित अर्धसत्योंको पूर्णसत्य माननेकी प्रेरणा कैसे की है? हाँ, वह वेदान्तकी तरह चेतन और अचेतनके काल्पनिक अभेदकी दिमागी दौड़में अवश्य शामिल नहीं हुआ, और न वह किसी ऐसे सिद्धान्तका समन्वय करनेकी सलाह देता है जिसमें वस्तुस्थितिकी उपेक्षा की गई हो। सर राधाकृष्णन्को पूर्णसत्य वह काल्पनिक अभेद या ब्रह्म इष्ट है जिसमें चेतन अचेतन मूर्त अमूर्त सभी काल्पनिक रीतिसे समा जाते हैं। वे स्याद्वादकी समन्वयदृष्टिको अर्धसत्यों के पास लाकर पटकना समझते हैं। पर जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपतः अनन्तधर्मात्मक है तब उस वास्तविक नतीजेपर पहुंचने को अर्धसत्य कैसे कह सकते हैं। हाँ वह उस प्रामाणविरुद्ध काल्पनिक अभेदकी ओर वस्तुस्थितिमूलक दृष्टिसे नहीं ले जा सकता। वैसे संग्रहनयकी एक चरम अभेदकी कल्पना जैनदर्शनकारोंने भी की है और उस परमसंग्रहनयकी अभेद दृष्टिसे बताया है कि 'सर्वमेकं सदविशेषात्' अर्थात् जगत् एक है, सद्रूपसे चेतन और अचेतनमें कोई भेद नहीं है। पर यह एक कल्पना है क्योंकि ऐसा एक सत् नहीं है जो प्रत्येक मौलिक द्रव्यमें अनुगत रहता हो। अतः यदि सर राधाकृष्णन्को चरम अभेदकी कल्पना ही देखनी है तो वे परमसंग्रहनयके दृष्टिकोणमें देख सकते है, पर वह केवल कल्पना होगी, वस्तुस्थिति नहीं। पूर्णसत्य तो वस्तुका अनेकान्तात्मक रूपसे दर्शन ही है न कि काल्पनिक अभेदका दर्शन।

इसी तरह प्रो० बलदेव उपाध्याय इस स्याद्वादसे प्रभावित होकर भी सर राधाकृष्णन्का अनुसरण कर स्याद्वादको मूलभूततत्त्व (एक ब्रह्म ?) के स्वरूपकके समझनेमें नितान्त असमर्थ बतानेका साहस करते हैं। इनने तो यहाँ तक लिख दिया है (भारतीय दर्शन पृ० १७३) कि "इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थके बीचोंबीच तत्त्वविचारको कतिपय क्षणके लिए विश्रम्भ तथा विराम

देनेवाले विश्रामगृहसे बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।" आप चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शनको उस काल्पनिक अभेद तक पहुंचना चाहिए। पर स्याद्वाद जब वस्तु विचार कर रहा है तब वह परमार्थ सत् वस्तुकी सीमाको कैसे लाँघ सकता है ? ब्रह्मैकवाद न केवल युक्तिविरुद्ध ही है पर आजके विज्ञानसे उसके एकीकरणका कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नहीं होता। विज्ञानने एटम तक विश्लेषण किया है और प्रत्येककी अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। अतः वस्तुकी अनेकान्तात्मक सीमापर पहुंचाकर यदि स्याद्वाद बुद्धिको विराम देता है तो यह उसका भूषण ही है। दिमागी अभेदसे वास्तविक स्थितिकी उपेक्षा करना मनोरञ्जनसे अधिक महत्त्वकी बात नहीं हो सकती।

इसी तरह श्रीयुत हनुमन्तराव एम० ए० ने अपने एक लेखमें लिखा है कि स्याद्वाद सरल समझौतेका मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्णसत्यतक नहीं ले जाता आदि। ये सब एकही प्रकारके विचार हैं, जो स्याद्वादके स्वरूपको न समझनेके या वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेके परिणाम हैं। मैं पहिले लिख चुका हूँ कि महावीरने देखा कि—वस्तु तो अपने स्थानपर अपने विराट् रूपमें प्रतिष्ठित है उसमें अनन्तधर्म जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते हैं अविरुद्ध भावसे विद्यमान हैं, पर हमलोगों की दृष्टिमें विरोध होनेसे उसकी यथार्थ स्थितिको नहीं समझ पा रहे हैं। जैन-दर्शन वास्तवबहुत्ववादी है। वह दो पृथक् सत्ता वस्तुओंको व्यवहारके लिए कल्पनासे अभिन्न कह भी दे पर वस्तुकी निजी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहता। जैन दर्शन एक व्यक्तिका अपने गुण-पर्यायोंसे वास्तविक अभेद मानता है पर दो व्यक्तियोंमें अवास्तविक अभेदको नहीं मानता। इस दर्शनकी यही विशेषता है जो यह परमार्थसत् वस्तुकी परिधिको नहीं लांघकर उसकी सीमामें ही विचार करता है। और मनुष्योंको कल्पनाकी उड़ानसे विरकर वस्तुकी ओर देखनेको बाध्य करता है। जिस चरम अभेद तक न पहुंचनेके कारण अनेकान्तदर्शनको सर राधाकृष्णन् जैसे विचारक अर्धसत्योंका समुदाय कहते हैं उस चरम अभेदको भी अनेकान्तदर्शन एक-व्यक्तिका एक धर्म मानता है वह उन अभेद कल्पकोंको कहता है कि वस्तु इससे भी बडी है अभेद तो उसका एक धर्म है। दृष्टिको और उदार तथा विशाल करके वस्तुके पूर्णरूपको देखो उसमें अभेद एक कोनेमें पड़ा होगा और अभेदके अनन्तों भाई बन्धु उसमें तादात्म्य हो रहे होंगे। अतः इन ज्ञानलवधारियोंको उदारदृष्टि देनेवाले तथा वस्तुकी झांकी दिखानेवाले अनेकान्त दर्शनने वास्तविक विचारकी अन्तिम रेखा खींची है। और यह सब हुआ है मानस समतामूलक तत्त्वज्ञानकी खोजमें। जब इस प्रकार वस्तुस्थिति ही अनेकान्तमयी या अनन्तधर्मात्मिका है तब सहज ही मनुष्य यह सोचने लगता है कि दूसरा वादी जो कह रहा है उसकी सहानुभूतिसे समीक्षा होनी

चाहिए और वस्तुस्थितिमूलक समीकरण होना चाहिए। इस स्वीयस्वल्पता और वस्तु-अनन्तधर्मताके वातावरणसे निरर्थक कल्पनाओंका जाल टूटेगा और अहंकारका विनाश होकर मानससमताकी सृष्टि होगी, जो अहिंसाका संजीवनबीज होगा।

इस तरह मानससमताके लिए अनेकान्तदर्शन ही एकमात्र स्थिर आधार हो सकता है। जब अनेकान्तदर्शनसे विचारशुद्धि हो जाती है तब स्वभावतः वाणीमें नम्रता और परसमन्वयकी वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। वह वस्तुस्थितिको उल्लंघन करनेवाले शब्दका प्रयोग ही नहीं कर सकता। इसीलिए जैनाचार्यों ने वस्तुकी अनेकधर्मात्मकता का द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता बताई है। शब्दोंमें यह सामर्थ्य नहीं है जो वस्तुके पूर्णरूपको युगपत् कह सके। वह एक समयमें एक ही धर्मको कह सकता है। अतः उसी समय वस्तुमें विद्यमान शेष धर्मोंकी सत्ताका सूचन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दका प्रयोग किया जाता है। 'स्यात्' के 'सुनिश्चित दृष्टिकोण' 'निर्णीत अपेक्षा' ये ही अर्थ हैं 'शायद, संभव, कदाचित्' आदि नहीं। 'स्यादस्ति' का वाच्यार्थ है 'स्वरूपादिकी अपेक्षासे वस्तु है ही' न कि 'शायद है' 'संभव है' या 'कदाचित् है' आदि। संक्षेपतः अनेकान्तदर्शन जहाँ चित्तमें समता, मध्यस्थभाव, वीतरागता, निष्पक्षपातता का उदय करता है वहाँ स्याद्वाद वाणीमें निर्दोषता लानेका पूरा अवसर देता है। इस तरह अहिंसाकी परिपूर्णता और स्थायिताकी प्रेरणाने मानसशुद्धिके लिए अनेकान्तदर्शन और वचनशुद्धिके लिए स्याद्वाद जैसी निधियोंको भारतीय संस्कृतिके कोषागारमें दिया। बोलते समय वक्ताको सदा यह ध्यान रहना चाहिए कि जो वह बोल रहा है वस्तु उतनी ही नहीं है वस्तु बहुत बड़ी है उसके पूर्णरूप तक शब्द नहीं पहुंच सकते। इसी भावको जतानेके लिए वक्ता 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करता है। 'स्यात्' यह शब्द विधिलिङ्में निष्पन्न होता है जो अपने वक्तव्यको निश्चित रूपमें उपस्थित करता है न कि संशय रूपमें। जैन तीर्थकरोंने इस तरह सर्वाङ्गीण अहिंसाकी साधनाका वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकारका प्रत्यक्षानुभूत मार्ग बताया। उनने पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही साथ पदार्थोंके देखनेका उनके ज्ञान करनेका उनके स्वरूपको वचनसे कहनेका नया वस्तुस्पर्शी तरीका बताया। इस अहिंसक दृष्टिसे यदि भारतीय दर्शनकारोंने वस्तुका निरीक्षण किया होता तो भारतीय जल्पकथाका इतिहास रक्तरंजित न हुआ होता, और धर्म तथा दर्शनके नाम पर मानवताका निर्दलन नहीं होता। पर अहंकार और शासनभावना मानवको दानव बना देती है। फिर धर्म और मतका 'अहम्' अतिदुर्निवार होता है। परन्तु युग युगमें ऐसे ही दानवोंको मानव बनानेके ही लिए अहिंसक सन्त इसी समन्वय दृष्टि इसी समताभाव और इसी सर्वाङ्गीण अहिंसाका सन्देश देते आए हैं। यह जैन दर्शनकी ही विशेषता है

जो वह अहिंसाकी तह तक पहुंचनेके लिए केवल धार्मिक उपदेश तक ही सीमित नहीं रहा अपितु वास्तविक स्थितिके आधारसे दार्शनिक गुत्थियोंको सुलझानेकी मौलिकदृष्टि भी खोज सका। न केवल दृष्टि ही किन्तु मन वचन और काय मन तीनों द्वारोंसे होनेवाली हिंसाको रोकनेका प्रशस्ततम मार्ग भी उपस्थित कर सका।

आज डॉ० भगवान्दासजी जैसे मनीषी समन्वय और सब धर्मोंकी मौलिक एकताकी आवाज बुलन्द कर रहे हैं। वे वर्षोंसे कह रहे हैं कि समन्वयदृष्टि प्राप्त हुए बिना स्वराज्य स्थायी नहीं हो सकता, मानव मानव नहीं रह सकता। उन्होंने अपने 'समन्वय' और 'दर्शनका प्रयोजन' आदि ग्रन्थोंमें इसी समन्वय-तत्त्वका भूरि भूरि प्रतिपादन किया है। जैन ऋषियोंने इस समन्वय (स्याद्वाद) सिद्धान्त पर ही संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे हैं। इनका विश्वास है कि जबतक दृष्टिमें समीचीनता नहीं आयगी तबतक झगड़े और संघर्ष बने रहेंगे। नए दृष्टिकोणसे वस्तुस्थिति तक पहुंचना ही जीवनको विसंवादसे हटाकर उसे संवादी बना सकता है। यही जैनदर्शनकी भारतीय संस्कृतिको देन है। आज हमे जो स्वातन्त्र्यके दर्शन हुए वह इसी अहिंसाका पुण्य फल है, और विश्वमे भारतका मस्तक यदि कोई ऊंचा रख सकता है तो यह निरुपाधि अहिंसा भावना ही।

[भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित न्यायविनिश्चय-विवरण की प्रस्तावना का एक अंश]

*

समयं गोयम, मा पमायए

[१]

परिजूरइ ते सरीरयं केसा पंडुरया हवंति ते।
से सव्वबले य हायई समयं गोयम, मा पमायए॥

तुम्हारा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। सिर के बाल पक कर श्वेत हो गए हैं। सब प्रकार का बल क्षीण हो रहा है। अत: गौतम क्षणमात्र भी प्रमाद न कर।

[२]

तिण्णोसि अण्णवं महं किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए समयं गोयम, मा पमायए॥

तू विशाल संसारसागर तैर चुका। अब किनारे आकर क्यों अटक रहा है? उस पार पहुंचने के लिए पूरी शक्ति से शीघ्रता कर। गौतम, क्षणभर भी प्रमाद न कर।

अश्लील मूर्तियाँ—एक पहलू

- श्री वृन्दावनलाल वर्मा

सातवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक जो मूर्तियाँ मध्य और उत्तर भारतमें मिलती हैं, उनके दो भाग किए जा सकते हैं—एक, विभिन्न देवताओं की नाना प्रकार की मुद्राओं का; दूसरा, जैन मूर्तियों का जिनकी मुद्रा प्रायः ध्यान की है।

एक लक्षण उनका सार्वभौम और व्यापक है—वे सब सुन्दर आकृतिवाली हैं।

ध्यानावस्थित मूर्तियाँ प्रत्येक देखनेवाले को एक बड़ा सन्देश देती हैं। राग-द्वेष, मदप्रमाद और आत्म-प्रवञ्चनों से बचने के लिए, पूर्ण शान्ति की उपलब्धि के लिए, शून्य-ध्यान में निरत होना। उस निराकार शून्य में से जो चमत्कार प्राप्त हो सके अथवा जिस आत्मा परमात्मा से भेंट हो सके उसकी चर्चा शास्त्रों और पुराणों में है, परन्तु उसकी पहली भेंटों को जिन लोगों ने पाया वे सिद्धरूप में इन ध्यानावस्थित मूर्तियों के इधर उधर श्रद्धाञ्जलि भेंट करते हुए मूर्त किए गए हैं। जीवन की कठोर कठिनाइयों और आर्थिक तथा मानसिक विषमताओं से त्राण पाने के लिए ये मूर्तियाँ अपनी ध्यानावस्था की ओर संकेत करती हैं।

परन्तु मूर्तिकारों और कल्पना-प्रेरकों का एक समुदाय इतने से सन्तोष नहीं पाता। वह अपने देवताओं को दुःख-नाशक और कष्टत्राता समझता है और उनके हाथों में चक्र, गदा, खड्ग और त्रिशूल देखता है। इस समुदाय के कलाकार भी वैराग्य के विरोधी नहीं हैं, परन्तु जीवन के सौन्दर्य को अपनी मूर्तियों में निर्मित करते हैं और उनकी अर्चना करके सौन्दर्य और रक्षा की कामना करते हैं।

एक तीसरा समुदाय और है। वह न तो इस जीवन को माया मानता है और न वैराग्य को मूल्यवान। वह वैराग्य को घृणा की दृष्टि से देखता है। उसको वर्तमान जीवन और जन्म के आगे कुछ भी नहीं दिखलाई पड़ता। परन्तु जीवन के कष्टों और वैषम्यों से पलायन वह भी करता है। अथवा, कदाचित् जिस कल्पना और कलाका वह पुजारी और धुनी है अपनी मूर्तियों में वह उसकी पराकाष्ठा उपस्थित करता है—वह यह समुदाय है जिसने अत्यन्त कलापूर्ण, परन्तु साथ ही अत्यन्त अश्लील मूर्तियों का निर्माण किया है।

ये तीनों प्रकार की अधिकांश मूर्तियाँ हैं इन्हीं छः सौ सात सौ वर्षों के युग की। इस युग में हमारे जीवन के इतिहास में क्या हो रहा था ?

एक ओर राजा और सामन्त अपने अपने राज्यों और रजवाड़ों को पुष्ट करने

या दूसरो के हडप करने में तत्पर थे, दूसरी ओर इनकी मुठभेड़ो के बीच में नीचे स्तर की जनता कुट पिसकर नीचे स्तर से ऊपर नही आ पा रही थी—मध्यम श्रेणी बन ही नही पा रही थी। दूसरी ओर विचारवान और भावुक संघर्षोको अपरिहार्य और अनिवार्य समझकर वैराग्य—या पलायन ?—में घुलते जाते थे। परन्तु अधिकांश जनता जीवन के तकाजो और उसकी चिनौतियो के सामने झुककर अपना मोटाझोटा आमोद प्रमोद मनाती रही और जीवन-संघर्षो और जीवन-पीड़ाओ से मुक्ति पाने के लिए इन सब देवताओ से वरदान मागती रही।

अश्लील मूर्तियो के बनाने वाले न तो इस जनता के प्रतिनिधि है और न उस युग के आचरण या नैतिकता के प्रतीक। परन्तु उनका एक महत्त्वपूर्ण समूह अवश्य रहा होगा जो खजुराहो (बुंदेलखंड) और भुवनेश्वर तथा पुरी (उडीसा) मे इस प्रकार की मूर्तिया को बेखटके बना सका। आज भी सुन्दरता अश्लीलता से होड लगाती है और शताब्दियों से लगाती आई है।

कहा तो शक्ति, सद्भावना, तेजस्विता वर्चस्व और साथ ही विलक्षण सौम्य के समन्वय की, कालिञ्जर अजयगढ़ और खजुराहो की शिवमूर्तियाँ और कहा अश्लीलता का भाडार य !

परन्तु जब और जिन्होने ये मूर्तियाँ बनाई तब क्या उन्होने इनको अश्लील समझा होगा ? मुझ को सन्देह है।

तन्त्र-ग्रन्थ क्यो लिखे गए ? क्या वे वैराग्यका प्रतिपादन करते है ? नाम ग्रन्थका महानिर्वाण तन्त्र है परन्तु क्या उसमें निर्वाण और महानिर्वाण की ही सामग्री है ?

फिर भी कोई नही कह सकता कि तन्त्रकारो ने जीवन को समझने की कोशिश नही की। तन्त्र तो विज्ञानियों का मार्ग है—और कहा जाता है कि ये मूर्तियाँ तान्त्रिकों की कल्पना का परिणाम है।

मेरा सुझाव है कि ये मूर्तियाँ वैराग्य-धारा के प्रति निश्शब्द किन्तु प्रचण्ड विरोध और प्रतिवाद है, जीवन के सूनेपन धक्कामुक्की खींचातानी और वैषम्य से पलायन है। इस प्रकार की विचार धारा वालो के लिए एक स्तब्ध और प्रबल साकार दिग्दर्शन है—जीवन और सौन्दर्य से भेंट करो। परन्तु उसके उपरान्त ? उसके उपरान्तमे इस प्रकार के विचारवालो का या तो कोई पक्का विश्वास ही नही, या है तो उसकी उनको परवाह नहीं। वे सोचते होंगे, जो थोड़े से पल खुशी के है, उनको दुनियाँ भर की चिन्ताओ में क्यों मटियामेट करो ?

यह मत जनता का न होते हुए भी उसको सह्य हुआ, नही तो या तो ये मूर्तियाँ बन ही न पाती, या बनने पर नष्ट कर दी जाती।

जनता का मन बार बार वैराग्य की अतिशयता के विरुद्ध मचमचाता रहा।

श्रमण महावीर का संघ–

–प्रो० दलसुख मालवणियाँ

श्रमण भगवान् महावीर ने जब उपदेश देना प्रारम्भ किया तब जैन संघ अर्थात् पार्श्वनाथ के अनुयायियों की दशा अनुन्नत थी। अन्यथा तीर्थ का पुनस्संघटन करना उनके लिये अनिवार्य न होता और न वे तीर्थंकर ही कहलाते। "भगवती" और अन्य आगमो में ऐसे कई उल्लेख दृष्टिगोचर होते है जिनसे विदित होता है कि पार्श्वनाथ के संघ के कई प्रभावशाली व्यक्ति अपना पूर्वगृहीत श्रमणचारित्र छोड़ कर भगवान् महावीर के संघ मे सम्मिलित हुए और पुनर्दीक्षित भी हुए है। मूल आगम में पार्श्वनाथ के कई श्रावकों का दर्शन आता है किन्तु उसके किसी श्रावक द्वारा भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट बारह व्रतों के पुनःस्वीकार का उल्लेख नही मिलता। ऐसा क्यों हुआ, इसके कारणो की विद्वानों को खोज करनी चाहिए।

आगम अपने मूलरूप मे सर्वथा विद्यमान है यह समुचित रूप मे नहीं कहा जा सकता। अत एव यह भी सभव है कि ऐसे उल्लेख कुछ रहे भी हो तब भी हमारे सामने नही आए है। किन्तु एक बात की ओर विद्वानों का ध्यान दिलाना अत्यावश्यक है। संकलनकर्ता ने पार्श्वनाथ के श्रावको के भी बारह व्रत होने की बात लिखी है, अत उनके मत मे व्रतों का पुनर्ग्रहण अनावश्यक सिद्ध होता है, क्योंकि पार्श्व-साधुओं का चातुर्याम था इसलिए पचयाम मे पुनर्दीक्षा अनावश्यक समझी गई। यदि पार्श्व और महावीर दोनो के मत मे श्रावकों के बारह ही व्रत थे ऐसा जब संकलनकर्ता का मन्तव्य है तब अपने उसी मन्तव्य के कारण वे श्रावको के पुनर्व्रतग्रहण की बात को न लिखें तो उसमें कोई असंगति नही जान पडती। वस्तुत. पार्श्व के श्रावकों के लिए वे ही बारह व्रत संभव हो सकते है या नही इस प्रश्न की चर्चा मैने अन्यत्र की है। यह शंका उपस्थित की जा सकती है कि पार्श्व के मत से जब महाव्रत या याम चार ही थे तब अणुव्रत पांच कैसे होगे? कोई यह कहे कि पार्श्व के चार याम नहीं किन्तु पांच ही याम या महाव्रत थे तो उसकी बात ऐतिहासिक तथ्य से रहित ही होगी। क्योंकि पालित्रिपिटक मे निर्ग्रन्थों को चातुर्याम वाला कहा है।

वह उसको किसी शास्त्र अथवा सिद्धान्त का रूप न दे सकी। उसने इन मूर्तियों की कला में अपने विद्रोह का प्रचण्ड रूप देखा। वह उसको सहती रही, और शायद अपने विद्रोह की सफलता पर इन शताब्दियों में मुस्कराती रही।

और अब तो ये मूर्तियाँ इतिहास और पुरातत्त्व के विद्यार्थी के लिए अध्ययन और कल्पना की सामग्री हैं। केवल सह्य ही नहीं है, वरन् रक्षणीय भी।

चूर्णि आदि ग्रन्थों में उपलब्ध भगवान् महावीर के चरित्र को देखने से यह निश्चय होता है कि जो जैन संघ उनके सामने उपस्थित था उसमें आमूल परिवर्तन कर देना उनके लिए अनिवार्य था। यही कारण है कि उन्होंने अपने नए अनुयायी बनाए और उनका एक संघ स्थापित किया और पुराने पार्श्वानुयायियों को उस नये संघ में सम्मिलित किया। कई पार्श्वानुयायी रह गये जो उनके नये संघ में कभी भी प्रविष्ट नहीं हुए। उन्हीं को लक्ष्य करके व्यवहृत 'पासत्थ' शब्द शिथिला-चारियों के लिए आगम में रूढ़ हो गया।

पालित्रिपिटक में किसी व्यक्ति को बौद्ध संघ में शामिल करने की पद्धति समय समय पर कैसे परिवर्तित हुई है उसका स्पष्ट शब्द चित्र है। किन्तु जैनागमों में इस प्रकार का क्रमिक विकासी चित्र उपलब्ध नहीं होता।

जैनागमों में जो श्रमणों की कथाएं आती हैं उनको देखने के बाद इस विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि भगवान् के उपदेश को सुनकर भगवान् के सामने उपस्थित होकर वंदन करके वे भगवान् से प्रार्थना करते थे कि 'हे भगवन्, आपका उपदेश मुझे अच्छा लगा है, उसमें मेरी रुचि है, विश्वास है, श्रद्धा है, मैं तदनुसार पुरुषार्थ करके बन्धनमुक्त होने की इच्छा रखता हूँ। हे भगवन्, आपने जो कुछ कहा है वह तथ्य है। मैं बड़ों की आज्ञा लेकर आपके शरण में रह कर आपकी आज्ञानुसार चलना चाहता हूँ।'

इसका उत्तर भगवान् देते थे कि—'हे देवानुप्रिय जैसे सुख हो करो, प्रतिबन्ध मत करो।'

इतनी प्राथमिक बातचीत होने के बाद वह व्यक्ति अपने माता पिता की आज्ञा लेता था और माता पिता को साथ लेकर भगवान् के पास जाता था। माता पिता ही भगवान् के सम्मुख प्रस्ताव रखते थे कि हमारे प्रियपुत्र को अब संसार में रति नहीं रह गई है अतएव आप इसे दीक्षित करें। भगवान् की अनुमति मिलने पर आभूषणादि सब कुछ उतार कर वह व्यक्ति अपने केशों का लुंचन करता था। और फिर भगवान् के पास आकर तीन बार प्रदक्षिणा पूर्वक वंदन नमस्कार करके पुनः भगवान् से प्रार्थना करता था कि 'हे देवानुप्रिय, मैं आपके पास प्रव्रजित होना चाहता हूँ।' तब भगवान् उनको प्रव्रजित करते थे। प्रव्रज्या की विधि क्या कुछ थी इसका तो पता नहीं लगता। प्रव्रजित करके भगवान् नवदीक्षित से कहते कि हे देवानुप्रिय! संयम से चलना, बैठना, खाना, बोलना और सर्वप्राण, भूत, जीव तथा सत्त्वों के विषय में संयम से रहना। इस विषय में थोड़ा सा भी प्रमाद नहीं करना।'

जो स्वयं बड़े होते थे वे बिना किसी की आज्ञा के ही भगवान् के पास दीक्षित होते थे। श्रमणों के विषय में यह भी उल्लेख मिलता है कि वे पाँच महाव्रतों को स्वीकार करते थे और सामायिकादि एकादश अंगों का अध्ययन करते थे।

कथाओं से जो प्रव्रज्याविधि फलित होती है उसका वर्णन मैंने दे दिया है। अब अन्य साधनों से इस विधि में जो विस्तार मालूम होता है उसका भी निर्देश करना आवश्यक है।

'चत्तारिमंगल' का जो पाठ है वह सूचित करता है कि अरिहंत, सिद्ध, साधु और धर्म इन चारों को मंगल मान कर उन्ही की शरण ली जाती होगी। प्रतिक्रमण के क्रम से मालूम होता है कि सर्वप्रथम दर्शन श्रद्धा को स्वीकार किया जाता होगा। तदनुसार सामायिक और फिर पाँच महाव्रतो का अंगीकरण होता होगा। सामान्यरूप से प्राचीन शास्त्रों के आधार से प्रव्रज्या विधि के विषय में इतना जाना जा सकता है। हरिभद्र के समय में प्रव्रज्याविधि ने जो रूप लिया था उसका वर्णन उनके ग्रन्थों में विस्तार से है। जिज्ञासु को देख लेना चाहिए।

जैन संघ में उपासक के प्रवेश की क्या विधि थी उसका वर्णन विस्तार से "उपासक दशांग" में मिलता है। वह शरण में आने के बाद सम्यक्त्व और फिर क्रमशः बारह व्रतों को अपनी मर्यादा के अनुसार स्वीकार करता था। उपासक दशांग में प्रत्येक व्रत के विषय में विस्तार से वर्णन है। जिज्ञासु को वही देख लेना चाहिए।

भगवान् महावीर के श्रमण संघ में सभी वर्णो के व्यक्तियो के लिए स्थान था। पूज्यता दीक्षा पर्याय के अनुसार होती थी। राजकुमार भी यदि नवदीक्षित होता तो पूर्वदीक्षितो को उसे नमस्कार करना पड़ता था। श्रेणिक के पुत्र मेघकुमार की कथा से ज्ञात होता है कि उसके राजकुमार होने पर भी श्रमण संघ में उसे कुछ भी विशेष सुविधाएँ नहीं मिली। इस कारण उसे बुरा भी लगा किन्तु भगवान् ने उसके मन के खेदका समाधान कर दिया। कई राजाओं ने भी भगवान् के श्रमण संघ में प्रवेश किया था। श्रेणिक के कई पुत्र और पौत्रो ने भी दीक्षा ली थी। तत्कालीन अन्यतीर्थिक संन्यासियों ने भी भगवान् के शासन को स्वीकार करना उचित समझा था।

भगवान् महावीर के श्रमण संघ में ११ गणधर थे, और वे सभी ब्राह्मण थे। शास्त्र परम्परानुसार ये प्रकाण्ड वैदिक पंडित समझे जाते थे किन्तु वस्तुतः वेद का रहस्य तो उन्होंने भगवान् महावीर से ही सीखा और इसीलिए भगवान् के शिष्य बन गये। वे सभी अपने सैकड़ों शिष्यो के साथ ही भगवान् से दीक्षित हुए थे, अतएव वे सभी सहज भाव से गणधर हो गये। इन ब्राह्मणों के अलावा अन्य सोमिलादि और भगवान् के ब्राह्मण माता पिता भी उनके पास दीक्षित हुए थे। वैश्यों में से कई गाथापति, श्रेष्ठी और अमात्य आादि ने दीक्षा ली थी।

अर्जुनमाली जैसे निम्न जाति के लोगों ने भी श्रमण संघ में स्थान पाया था। इतना ही नहीं किन्तु हरिकेश जैसे चाण्डाल मुनि की कथा से तो स्पष्ट ज्ञात होता

है कि वह श्रमण परम्परा के तत्त्वज्ञान और आचारोमें इतना पारंगत हो गया था कि उसने याज्ञिक ब्राह्मणो का मन्त्र यज्ञादि का रहस्य बताकर उन्हें हिंसक यज्ञो से विरत किया था। बेबीलोन के राजकुमार आर्द्रकुमार भी भगवान् से प्रव्रजित हुए थे।

श्रमणीसंघ में भी सभी वर्णो की स्त्रियां सम्मिलित थी। श्रेणिक राजा की कई पत्नियों ने दीक्षा ली थी। कोसंबी के राजा के पिता की बहन जयंती तो जैन शास्त्रों में इतनी निपुण थी कि भगवान से किये गये उनके प्रश्नों का आज भी महत्त्व समझा जाता है।

उपासक और उपासिका संघ में भी सभी वर्णों के लोग थे। सद्दालपुत्र कुम्भकार प्रथम गोशालक का अनुयायी था किन्तु भगवान् ने जब नियतिवाद का युक्तिपूर्वक खण्डन किया तब वह और उसकी पत्नी दोनो प्रभुके उपासक बन गए। सुलसा नामक रथवाहक नाग की पत्नी तो उपासिकाओं में मुख्य मानी गई है और भावी तीर्थंकरो में उसका भी समावेश है।

भगवान् महावीर का संघ, बिहार, बंगाल और संयुक्त प्रान्त में सर्वत्र फैला हुआ था। राजगृह, नालन्दा, वैशाली, चम्पा, कपिलपुर, अयोध्या, बनारस, कोसंबी, वीतभय, श्रावस्ती, इत्यादि नगरों में जैनसंघ प्रबल था।

संघ में श्रमणों का स्थान उच्च होने पर भी यदि कोई श्रमण उपासक से अनुपयुक्त व्यवहार नहीं करता तो यदि ज्ञात होने पर क्षमा माँग लिया करता था। सबमें बड़े गणधर गौतम श्रमण ने आनन्द उपासक की भगवान् की आज्ञा होने पर क्षमा मांगी थी ऐसा उल्लेख उपासक दशांग में है। यह सूचित करता है कि संघ में पद का महत्त्व नहीं किन्तु चारित्र और सत्य का महत्त्व था। पर आज तो पद की ही विशेषता रह गई है।

संघ के विषय में अन्य भी कई ज्ञातव्य बातें है जैसे कि संघ के मुखिया के कर्तव्य, संघ में शामिल व्यक्तियों का आपस में व्यवहार, संघ के शासक की प्रणाली आदि— इन विषयो पर कभी आगे लिखा जायगा।

—००—

और तू ?–

–श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

–नाम तो उसके कई है, पर लाड़ में मै उसे आदम कहता हूँ।

–आज कल उसकी दिनचर्या इस प्रकार है–

–सुबह से सोनेतक वह गंगाकी बही धारा मे खूटे गाड़ता है। खूटा रखता है और मूगरी उठाता है कि उसे ठोके, पर खूँटा है कि बह जाता है।

–कभी कभी वह बायें हाथ मे खूँटा पकडे रहता है कि दॉयें मे उसे ठोके। ठोकता है कि खूँटा नीचे उतर जाता है और वह खिल पड़ता है कि चलो, एक तो ठुका, अब वह आगे बढे, पर तभी देखता है कि सामने ही कुछ दूर पर वह खूटा उचक आया और बहा जा रहा है।

–यो ही दिन ढल जाता है, रात आ पड़ती है, आदम सो जाता है। आकाश मुस्कराता है, प्रभात फूटता है, और आदम अपने खूँटे और मूगरी लेकर अपनी जगह आ डटता है।

–उसकी चाह है कि इस प्रवाह पर खूटे थमे और वह उनके सहारे अपना तम्बू तानकर आराम से उसमें सोये। सोये कि सोया ही रहे।

–तट पर जाता तो भी उसे देखता है कि हँस पड़ता है और हंस पड़ता है कि आकाश उससे पूछता है––"और तू ?"

साम्राज्य का अभिशाप-

–रामगोपाल सिंह चौहान

[भारत पर सिकन्दर के आक्रमण से पूर्व पंजाब, संयुक्तप्रान्त, राजपूताना, और विहार प्रान्त में गणतन्त्र का बोलबाला था। ये गणराज्य अपनी सार्व-जनिक शासनपद्धति द्वारा अपने देश का राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक प्रबन्ध करते थे। निश्चय ही उनके जीवित रहते एकच्छत्र साम्राज्य की महती आकांक्षा का स्वरूप साकार नहीं हो सकता था। कुटिल चाणक्य की मेधा ने एकच्छत्र साम्राज्य की रूपरेखा गढ़ी और उसे साकार रूप दिया चन्द्रगुप्त की दुधारी खड्ग ने। इन गणतन्त्रों की जनवादी परम्परा के अन्त की कहानी निश्चय दारुण है। आज इतिहास की गति ने जनवाद की उस परम्परा को फिर जीवित सबल एवं व्यापक बना दिया है। 'साम्राज्य का अभिशाप' के छोटे से केनवेसपर इस कहानी का थोड़ा सा आभास आ जाता है।

काल की गति के साथ-साथ दृश्यों का अंकन चलाने के हेतु स्टेज पर प्रकट-प्रदर्शन तथा छाया प्रदर्शन दोनों शैलियों का प्रयोग किया गया है। पूरे प्रदर्शन में ध्वनि प्रभाव (साउन्ड एफेक्ट) तथा नेपथ्य मे वाद्य-ध्वनि का दर्शक पर प्रभाव डालने के लिए विशेष महत्त्व है।-ले०]

(वीणा की मन्द मधुर झंकार)

(नेपथ्य से)

सूत्रधार–मानव इतिहास का वह काल जब विजित-विजेता, दास-स्वामी, राजा-प्रजा, शासक-शोषित का वर्गसंघर्ष मातृसत्ताक के तथा पितृसत्ताक के सन्धि-काल से स्त्रीपुरुष के अधिकार मे आरम्भ हो कर मानव युग के साथ साथ डग भरता हुआ बढ़ रहा था–मानव बस्तियाँ सरिताओं के सुरम्य तटों पर, हरे भरे कछारों मे उठ खड़ी हुई थी–कृषि से उनका जीवन संयत ढांचे से ढल कर समाज का रूप धारण कर चुका था। अनेक अन्य उद्योगों का आविर्भाव होने लगा था; और राजनैतिक गठन के सूत्रों–वर्णाश्रम धर्म तथा अन्य स्मृति आदि का प्रतिपादन हो चुका था–सिकन्दर के आक्रमण से पहले यह व्यवस्था पूरी तरह जड़ पकड़ चुकी थी और तभी उसके बाद सिकन्दर के आक्रमण के समय चाणक्य ने प्रथमवार समाज को सुझाया एकछत्र साम्राज्य का स्थापन और रही सही

मानव की पुरानी स्वतंत्रताका समूल नाश—मानव इतिहास के उसी काल में—

(वीणा की मन्द मधुर झंकार)

(स्टेजपर) (प्रथम दृश्य)

(एक वन प्रान्तर)

चाणक्य—देश पर शूद्रों की प्रभुता—निम्नवर्ग का अभिजात कुलों पर शासन ! पाप घोर पाप ! अभिजात कुल का शासन जन्मसिद्ध अधिकार है। आदि काल से वह शासन करता आया है। यह कैसी विडम्बना है ?

(वीणा की विषाद मय झंकार)

चाणक्य—(उद्विग्न टहलते हुए) यह मैं सहय नहीं कर सकता......बदलूँगा ! अवश्य बदलूँगा—इस शासन को !....

(वीणा की तीव्र झंकार—बन्द)

चाणक्य—आज हमारे समाज के नियम-बन्धन हमारे ब्राह्मणों की ही कमजोरी के कारण शिथिल पड़ गये हैं। अन्यथा हो सकता था यह शूद्र राज्य ? और ऊपर से व्यंग यह कि ब्राह्मण राक्षस और कात्यायन ही उसके मंत्री ! (उद्विग्न हो हथेली मलता है)——ब्राह्मण ने आदि से ही दृढ़ता के साथ राजदंड धारण किया है—क्षत्रियों को अपना साधन बना कर !—और ये राक्षस और कात्यायन..मूर्ख नितान्त मूर्ख....वज्र मूर्ख....नहीं नहीं मूर्ख नहीं मूर्ख नही, मक्कार...धूर्त ! निम्न कुल का शासन चलाना चाहते हैं जिनका नियमन हमारे पूर्वजों ने शासित होने के ही लिए किया है। अभिजात वर्ग के सुख, वैभव, विलास और ऐश्वर्य के भारवाहन !

(वीणा के विषादमय स्वर—)

चाणक्य—वर्णाश्रम धर्म का निर्माण ही इस हेतु हुआ कि —जो जिसका कार्य है वह उसे करे और इसी कारण ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र वर्णों में समाज का गठन किया गया। राज्य शासन जीवन का कार्य है।

(वीणा की तीव्र झंकार—(बंद—)

(वीणा का विषव स्वर—)

चाणक्य—(एक शिला पर बैठ जाते हैं) आज उस गठन की शिथिलताको दूर करना ही है। यह समाज की माँग है। समाज की सारंगी बेसुरी हो रही है, उसे ताल, सुर, लय में लाने के लिए उसकी कीली उमेठना आवश्यक है—अन्यथा सारंगी के तार टूट कर बिखर जायेंगे—(खड़े हो जाते हैं)—बिखरे से तो हैं ही। देश आज भी तो अनेक छोटे छोटे गणराज्यों में तथा अन्य राज्यों में बिखरा पड़ा है—सिकन्दर तभी तो आकर एक के बाद दूसरे को भूलुंठित कर

गौरवशाली भारत पर –जिसकी ख्याति दूर देश और यूनान तक में व्याप्त थी– एक व्यंग विडम्बनाकी गहरी छाँय छोड़ कर लौट गया।.....आज भी इन गण-राज्यों की बढ़ती शक्ति मे मुझे शासित वर्ग का और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय, शासकवर्ग का वर्ग संघर्ष मूतिमान सामने दिखायी दे रहा है।...........

(वीणा की तीव्र झंकार–(बंद)–)

चाणक्य–यही समय है जब प्रकृति के प्रसार मे भी काले मेघ घुमड़े है, उनका तूफान बवडर का आगमन हो रहा है। यही समय है अपने विचार वट को रोपने का जिसके नीचे भारत का प्राचीन सामाजिक गठन सुचालित हो।

(बन्द)

सूत्रधार–साम्राज्यवाद का प्रथम प्रवर्तक कुटिल कौटिल्य बड़ा ही अभूतपूर्व व्यक्ति था। एक बार बचपन मे जब ज्योतिषी उसके भावी का लेखा जोखा कर बताने आये थे–

(छाया मे) (द्वितीय दृश्य)

चाणक्य के पिता–ज्योतिषी जी जरा इस बच्चे के भविष्य पर विचार कीजिये।

ज्योतिषी–(विचारते हुए) इस बालक के दाँत ऐसे है कि....यह निश्चय ही बड़ा प्रतिभाशाली व्यक्ति होगा; क्योंकि इसके दाँतों की गठन ऐसा ही योग बैठाती है।

चाणक्य–मै प्रतिभाशाली हूँगा नि:सन्देह। पर इन दाँतों के कारण नही वरन् अपने बुद्धि बल से, अपनी मेधा से, पौरुषसे.....मैं नहीं चाहता कि यह कहा जाय कि मै इन दाँतो के कारण प्रतिभावान् बना अतः–

(पास पेड़ एक पत्थर के टुकड़े से आग निकली, दांत तोड़ देता है–)

(वीणा का परिवर्तनकारी स्वर–)

सूत्रधार–और इस घटना के कुछ काल बाद जब चाणक्य बड़ा हो गया था–

(छाया मे)

(एक खेत मे उगे कुशो को एक हाथ से उखाड़ता है, और दूसरे से उसमें मट्ठा डालता जाता है–

चाणक्य–इन कुशों की यह हिम्मत की पददलित हो कर भी मेरे मार्ग के अवरोधक बनें।......क्यो न हो! ब्राह्मण की सत्ता ही लय हो गयी है, पर नहीं! मै उखाड़ूँगा इन्हें समूल उखाड़ूँगा–

सूत्रधार–और भीमकाय विकराल साम्राज्यवाद का प्रारम्भक कुटिल

कौटिल्य कुश उखाड़ता है समूल—और निम्नवर्ग के शासन को भी समूल नष्ट करने की प्रेरणा ग्रहण करता है।

(वीणा का परिवर्तनकारी स्वर—)

सूत्रधार—और उसी समय चन्द्रगुप्त—

(स्टेजपर) तृतीय दृश्य

(एक वन प्रान्तर)

चन्द्रगुप्त—मेरी महत्त्वाकांक्षा है कि एक छत्रसाम्राज्य, दारायबाहु के समान साम्राज्य। सिकन्दर ने भारत की बिखरी शक्ति को कड़ी कड़ी को कुचल डाला उन्हें भूलुंठित कर दिया। मै उन्हें एक सबल शृंखला में पिरोकर एक सबल साम्राज्य का निर्माण करूंगा, महापद्मनन्द को मगध की गद्दी से उतारकर।.... मुझे यह करना ही होगा।.....ऐसा करना नितान्त आवश्यक है। भारतका एक सबल साम्राज्य बनेगा ही .....इन बिखरे राज्यो और गणतन्त्रो की समाधि पर.....और निश्चय ही मै धोऊँगा भारत के राजनैतिक पटल से सिकन्दर के आक्रमण चिन्हों को—

सूत्रधार—और चाणक्य की अमानवीय प्रतिशोध भावना तथा साम्राज्य स्वप्न को योग मिल गया चन्द्रगुप्त की प्रबल साम्राज्य की महत्त्वाकांक्षा का। कुटिल मेधा और सबल बाहुओं का योग—और भारत मे प्रथम एकच्छत्र साम्राज्य परम्परा की नींव पड़ी, गणराज्यों के जनवादी शासन की समाधि पर—)

(वीणा का सृजनकारी स्वर—)

(चाणक्य और चन्द्रगुप्त)

(स्टेजपर—चतुर्थ दृश्य)

चाणक्य—चन्द्रगुप्त !

चन्द्रगुप्त—महात्मन् !

चाणक्य—तुमने कुछ देखा ! जाना !.....समझा !

चन्द्रगुप्त—क्या महात्मन् !

चाणक्य—नियति नटी का खिलवाड़ !

चन्द्रगुप्त—कैसा खिलवाड़ ?

चाणक्य—मै अपने पूर्वजों का स्वप्न साकार और सत्य होते देख रहा हूँ।

चन्द्रगुप्त—कैसा स्वप्न ?

चाणक्य—जो जिस योग्य है उसको उसकी सीमा में रखने का।

चन्द्रगुप्त—किस प्रकार ?

चाणक्य—हमारे पूर्वज ऋषियों ने जब मानवसमाजको कृषि और

व्यवसाय के साँचे में ढाल कर गतिमय किया था, तब उसे सुचारुरूप से शासित करने की आवश्यकता अनुभव कर वर्णाश्रम धर्म का निर्माणकर शासन भी नियमित किया था—राजा बनाया और स्वयं बने उसके संचालक, राज दंड-धारी, उसके नियमनकर्त्ता। निम्न वर्ग रहा शासित। पर मानव प्रकृति संघर्ष-शील है—यह निम्न-वर्ग शासितवर्ग सदैव शासन का विरोध करता रहा और आज हम उसका मूर्तिमान रूप देख रहे हैं। शूद्र महापद्मनन्द! और देख रहे हैं अपने गण राज्य की आज भी अभिजात कुल के प्रति व्यंग है, हमारे ऋषियों के प्रति व्यंग है। युग विडम्बना!—

चन्द्रगुप्त— और.....फिर महात्मन्..........?

चाणक्य— और.......और अब आवश्यकता है एकच्छत्र साम्राज्य की, जो इनको जिनका समाज के आदि काल में नियम नहीं हुआ है शासित रहने के लिए—जो आज नियम न मान समानता का राग गाते हैं—एक सबल एकच्छत्र साम्राज्य शृंखला में नाथने की, ताकि भविष्य में ये ऐसा दुःसाहस न कर सकें।........समझे तुम!

चन्द्रगुप्त—हाँ, महर्षि!

चाणक्य—छोटे छोटे राज्यों और गणों में भारत शक्ति बिखरी होने के कारण ही सिकन्दर भारत के गौरव ललाट पर कलंक लगाने में समर्थ हुआ।

चन्द्रगुप्त—तो महर्षि, मुझे क्या आज्ञा है?

चाणक्य—इस कलंक को धोना होगा।

चन्द्रगुप्त—कैसे?

चाणक्य—आज हम दोनों का योग—मेरी मेधा और तुम्हारे बाहुबल का योग—अभिजात कुल के साम्राज्य की दृढ़ प्रस्थापना—और सदैव के लिए निम्न वर्ग की शक्ति कुचलने के लिए ही हुआ है।.. ...यही नियति का खिलवाड़ है!.....नहीं नहीं खिलवाड़ नहीं! नियति का सुन्दर संयोग है।......तुम्हें पहले पश्चिमोत्तरप्रदेश के बिखरे गणराज्यों को एक साम्राज्य सूत्र में नाथना होगा और फिर नन्दवंश का काल बनकर इस मगध नन्द राज्य को भूलुंठित कर उस पर छा जाना होगा।...... तुम ईंधन प्रस्तुत करो मैं अग्नि प्रज्वलित करूंगा—तुम साधन बनो मैं साधक! समझे!

चन्द्रगुप्त—हाँ, महात्मन्!

चाणक्य—जाओ! कार्य निरत हो।

(वीणा का परिवर्तनमय स्वर—)

(बन्द)

सूत्रधार—और चन्द्रगुप्त निरत हो गया, उन्हीं जनवादी मालव कठ, क्षुद्रक

और अष्टम्ब आदि गण राज्यों की समाधि पर अपने साम्राज्य की भव्य इमारत खड़ी करने; जिन्होंने थोड़े दिन पूर्व ही, जब सिकन्दर सिन्धुनद द्वारा स्वदेश लौट रहा था, यवन विजयवाहिनी का पद पद पर, चप्पे चप्पे पर, मार्ग रोका, सबल मोर्चा प्रस्तुत किया था,

(पंचम दृश्य)

(स्टेज पर)

पर्वतेश्वर—तुम लोगों ने कुछ सुना !

अवीर्य—क्या ?

पर्वतेश्वर—चन्द्रगुप्त की साम्राज्य लिप्सा के सम्बन्ध मे।.....सम्भावित संकट आज साकार रूप में हमारे सामने उपस्थित है। सिकन्दर की साम्राज्य शलाखें तो हमने मोड़ दीं लेकिन अब........

विजयसेन—लेकिन अब क्या ? सिकन्दर की यवन वाहिनी की धार हमने मोड़ी और हम चन्द्रगुप्त की भी इस महत्त्वाकांक्षा को धराशायी करेंगे।

अजितसेन—करेंगे तो निश्चय ! पर समय की यह कैसी विडम्बना है !

विजयसेन—विडम्बना कैसी ? यह रोदन, रोदन ठीक नहीं ! यह कायरों का काम है। साम्राज्य की तो यह नीति ही होती है, जनशक्ति को स्वायत्त करना। साम्राज्य चक्र का यह नियम है कि उसके शासन की बागडोर दिन पर दिन और कड़ी होती जाती है और बेचारे शासित दिन पर दिन त्रस्त लेकिन यह भी न भूलो कि जो वस्तु जितनी सख्त होगी टूटेगी भी वह अवश्य।

अवीर्य—हाँ ! बात तो ठीक है तुम्हारी, विजय !

विजयसेन—और साम्राज्य——देखा नहीं तुमने सिकन्दर की साम्राज्य लिप्सा का नृत्य ! क्या सुनी नहीं तुमने दारायबाहु के साम्राज्य के कृत्यों की कहानी—सदैव मानव रक्त से अपने भवन का निर्माण करता है, जिसमें पलता है—एकाधिकार, शोषण, दासता और व्यक्तिगत प्रभुता, और शासितों के लिए त्रास, दुख, दैन्य और प्रताड़ना।

अजितसेन—नहीं ! हम कभी अपने जनवाद की अपनी स्वतंत्रता की समाधि न बनने देंगे। चाहे, क्षुद्रक, कठ, अष्टम्ब, सभी नत मस्तक हो जाँय पर मालव गण कभी उसकी अधीनता स्वीकार न करेंगे। हम उससे युद्ध करेंगे।

पर्वतेश्वर—हाँ ! हाँ ! हम उससे निश्चय युद्ध करेंगे। कई कंठ—हम उससे युद्ध करेंगे !

अवीर्य—हाँ यह तो निश्चय है, कि हम उससे युद्ध करेंगे। पर, हमें यह भी तो सोचना होगा कि उससे युद्ध करने के लिए हमारे पास उतने साधन कहाँ है ?

हमारी सैन्य शक्ति भी उतनी अब नहीं। अन्य गण भी एक के बाद एक उसके सामने नत मस्तक होते जा रहे हैं।

विजयसेन–फिर भी हम युद्ध करेंगे। अपनी स्वतंत्रता के लिए, अपने के लिए, हम अपने प्राण उत्सर्ग करना जानते हैं।

कई कंठ–हम निश्चय उससे युद्ध करेंगे।

कई कंठ–हम निश्चय उससे युद्ध करेंगे।

(वीणा की तीव्र झंकार)

(बंद)

सूत्रधार–और……केवल मालव गणने जनवाद की परम्परा की रक्षा मे अपने प्राणों की आहुति दी। पर चन्द्रगुप्त की साम्राज्य तृष्णा के सामने, उसकी सबल सेना के सामने मस्तक न झुकाया। उनको अपनी मातृभूमि छोड़ने पर विवश होना पड़ा, अपनी स्वतंत्रता की रक्षा मे दर दर भटकना पड़ा, समूचे मालव राष्ट्र को–और उधर चन्द्रगुप्त पश्चिमोत्तर सीमा के समस्त गणों की स्वतन्त्रता का हरण कर सिकन्दरके आक्रमण के सारे चिन्ह नष्ट कर महापद्मनंद की ओर मुड़ा। चाणक्य की कुटिल मेधा उसके साथ थी और उसकी सबल बाहुओं ने नन्द साम्राज्य की डगमग भित्ति को ढा उसको स्वायत्त कर लिया।

(वीणा का परिवतनकारी स्वर)

(छठा दृश्य)

(मौर्य दरबार–)

चन्द्रगुप्त–महात्मन्! आप की अकाट्य दूरदर्शी मेधा धन्य है। आप के तर्क बेजोड़ है। आपकी बुद्धि का ही पराक्रम है कि आज निम्न कुलीय नन्द वंश का अन्त हो गया। अब भविष्यपथ तथा कार्य का निर्देश कीजिए।

चाणक्य–वीर चन्द्र! यह काल घोर द्वन्द्व का काल है। भावों और कर्मों दोनो के क्षेत्र मे। महापद्मनन्दका शासन अभिजात कुल–ब्राह्मण और क्षत्रियों की शक्ति पर एक कटु व्यंग्य था अतः उसका अंत इस युग का अति आवश्यक कार्य था, जिसे पूरा कर निश्चय ही हमने अपनी प्राचीन परम्परा तथा युग की माँग को पूरा किया है।

चन्द्रगुप्त–अब आगे के लिए आज्ञा महात्मन्!

चाणक्य–मै शक्ति का उपासक हूँ। मेरे वैद्यक मे आज के रुग्ण मानव समाज के लिए केवल एक औषधि है शक्तिशाली साम्राज्य। और उसके लिए और उसकी शक्ति की अभिप्राप्ति के लिए साम्राज्य विरोधी मानव के रक्तासंव की मादकता–वीर तुम दिग्विजय करो। साम्राज्य का भाल मुकुट होगा हिमाचल और पद पखारेगी अगाध सागर की किल्लोलमयी लहरें।

साम्राज्य का दंड होगा एकाधिकार, वैतनिक शासकों, चरों, सेना, दंडनायक, महाबलाधिकृत, आदि की सबल शृंखला, और उस सूत्रका केन्द्र होगा राजा।

वीणा – (बन्द) – ढोल, झांझ, – मार्चिग (ट्यून–)

सूत्रधार–और······चन्द्रगुप्त की विजयवाहिनी ने मौर्य साम्राज्य की पताका सारे देशपर लहरा दी,–उधर मालव गण अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए अवन्ती पहुंचे,जहां विदेशी शकों ने अधिकार कर रक्खा था। उनके हाथों से अवन्ती प्रदेश को स्वतन्त्र कर उन्होंने फिर विदेशी के विरुद्ध अपनी देशभक्ति की परम्परा निभाई, वहाँ जनवादी मालवगण राज्य की स्थापना की, और आज भी वह प्रदेश उसी गणराज्य के नाम पर मालव नाम से प्रख्यात है।

(वीणा का सृजनकारी स्वर–)

(सातवाँ दृश्य)

(मालव गण की बैठक)

विक्रम मालवाध्यक्ष–मालवगणवासियो ! हमने अन्त तक साम्राज्यके सामने सिर न झुकाया, और आज हम एक विदेशी शासन की नीव उखाड़ कर यहाँ पुनः स्वतंत्र मालवगण की स्थापना कर रहे हैं। हमारी परम्परा रही है जनवाद, सब की समानता, मानव मानव के रूप मे, जो ही वस्तुतः सही विधान है आदि प्रकृति का और भविष्य मे भी मानव समस्याओं का भी इसी से समाधान होगा। हम इसी परम्परा को निभायेंगे, उसके लिए जीयेंगे और उसीके लिए मरेंगे। आज से इस प्रदेश का नाम मालव प्रदेश होगा,और भविष्यमें आनेवाली सन्तानों को हमारे अपने गण और जनवाद की रक्षा के लिए प्राण उत्सर्ग को सदैव स्मरण रखने के लिए हम इस गण की ओर से 'मालव संवत्' का आरम्भ करते हैं।

मालवगण की –जय

जनवाद की –जय

(वीणा का मन्द मधुर विकासशील स्वर–)

सूत्रधार–और...तभीसे इस अमानवी साम्राज्यकी नींव पड़ी और सबल-मालव जनवाद की। साम्राज्य और जनवाद का वह संघर्ष विभिन्न युगों में विभिन्न परिस्थितियोंमें निरन्तर चलता रहा और आज बीसवीं सदी मे जनवाद और साम्राज्यवाद का संघर्ष अपने अन्तिम सीढ़ी पर है जब साम्राज्यवाद की हार निश्चित हो चुकी है, और जनवाद का भविष्य उज्ज्वल, प्रकाशवान् है। और निश्चय ही शासक और शासित का वह वर्ग संघर्ष साम्राज्य और जनवाद के संघर्ष का शीघ्र अन्त होगा, वर्ग रहित समाज-जनवाद के सही रूप का प्रतिष्ठापन होगा। मरणोन्मुख साम्राज्यवाद अपनी अन्त्येष्टि की बाट जोह रहा है, और जनवाद की विजय मालव गण की परम्परा की जय निश्चित है।

——०० ——

अरे मन, मत परिग्रह कर–

–श्री हुकमचन्द बुखारिया 'तन्मय'

[१]

सभी अधिकृत स्वजीवन के लिए हैं,
कि जीवन जो सुलभ क्षण के लिए है;
उलझ भौतिक, क्षणिक दुःखों-सुखों में
मत परस्पर व्यर्थ विग्रह कर !
अरे मन ! मत परिग्रह कर !!

[२]

सगति जल तू सरित का, विश्व तट है,
सदा चिर स्थैर्य–तट-जड़का प्रकट है;
कि तट का और जल का साथ क्षणभर,
मत चिरन्तन का दुराग्रह कर !
अरे मन, मत परिग्रह कर !!

[३]

तुझे जग-प्राप्य जितने द्रव्य सारे,
स्पष्ट, पर स्वेद से सम्भाव्य सारे;
कि संग्रह रक्त-शोषण नहीं तो क्या ?
मत परिश्रम पर उपग्रह कर !
अरे मन, मत परिग्रह कर !!

भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ

—पं० इन्द्रचन्द्र वेदान्ताचार्य एम० ए०

जीवन का अर्थ है परिवर्तन या विकास। मृत्यु का अर्थ है स्थिरता। व्यक्ति में जितना अधिक जीवन होता है उतना ही उसका झुकाव परिवर्तन की ओर रहता है। वह सौन्दर्य का उपासक होता है और सौन्दर्य का अर्थ है प्रतिक्षण नवीनता की प्राप्ति। इसे अस्थिरता नहीं कहा जा सकता। जब जीवन का रस सूख जाता है, किसी वस्तु के प्रति आकर्षण नहीं रहता, कहीं शान्ति नहीं मिलती, व्यक्ति स्वयं यह नहीं जानता कि मै किसे खोज रहा हूँ उस अवस्था का नाम है अस्थिरता। जहाँ नई नई अनुभूतियों के कारण उत्तरोत्तर रस की वृद्धि होती जाती है, उसका नाम है जीवन। वही कवियों का रस है दार्शनिकों का ब्रह्म है और संस्कृतियों का प्राण है। बालक अपने खिलौने को प्रतिदिन नए रूप में देखना चाहता है। जिस दिन उसे कोई नया रूप नहीं मिलता उसी दिन आकर्षण कम हो जाता है। शनैः शनैः वह उसे सर्वथा भूल जाता है। इसके विपरीत वृद्ध पकड़ी हुई वस्तु को नहीं छोड़ना चाहता। बालक जीवन की उपासना करता है, वृद्ध जड़ की।

संस्कृतियों का भी यही हाल है। जिस संस्कृति में जीवन के तत्त्व जितने अधिक होंगे उसमें उतनी ही परिवर्तनशीलता रहेगी। जीवित व्यक्ति को नवीन रक्त का निर्माण करने के लिए नए भोजन की आवश्यकता होती है। मृत को नहीं होती। नए नए तत्त्वों को अपनाने पर भी उसकी एकता बनी रहती है। इसी प्रकार संस्कृति नई नई व्यवस्थाओं को अपनाती जाती है फिर भी उसकी एकता बनी रहती है। उस एकता का आधार उसके आदर्श होते हैं। संस्कृति एक बहती धारा है। आज के जलकण आज के साथ ही बह जाएंगे। वे दूसरे दिन की धारा का निर्माण नहीं कर सकते। दूसरे दिन के लिए नए जलकण अपेक्षित हैं।

वस्तुतः देखा जाय तो संस्कृति अर्थात् संस्कार का अर्थ ही विकास है। जहाँ यह क्रिया बन्द हो गई है वह संस्कृति नहीं है। प्राणी वही है जिसमें श्वास प्रश्वास की क्रिया चल रही है। शव को प्राणी नहीं कह सकते। किन्तु लोग शव को भी पकड़े रहते हैं। उसे स्नान कराते हैं, नए कपड़े पहिनाते हैं, उसकी सद्गति के लिए विविध संस्कार करते हैं। अस्थियों को गंगा में बहाते हैं। इसी प्रकार ऐसी जनता भी होती है जो संस्कृति के शव को पकड़े रहती है।

ज्यों ज्यों गरमी बढ़ती है, बादल बनते जाते हैं। जब वह निश्चित मर्यादा

पर पहुँचती है, पानी बरसना प्रारम्भ होता है। सभी को शान्ति मिलती है। किन्तु बरसा हुआ दुबारा नहीं बरसता। प्रत्येक बार नया पानी चाहिए। पानी के बरसते ही उसमें मिट्टी मिलनी प्रारम्भ हो जाती है। नदियों द्वारा विभिन्न प्रदेशों को हरा भरा करता हुआ वह समुद्र में पहुँचता है और वहाँ जाकर खारा हो जाता है। फिर उसका कोई उपयोग नहीं रहता। किन्तु वह भी सूर्य की किरणों द्वारा बाष्प बनकर फिर बरस सकता है। इसी प्रकार परिस्थिति से उत्तप्त जनता नवनिर्माण का वातावरण तैयार करती है। उत्ताप जब अपनी सीमा पर पहुँच जाता है तो कोई महापुरुष नई व्यवस्था लेकर आगे आता है। किन्तु वह नई व्यवस्था जिस दिन व्यवहार में आती है उसी दिन से उसमें मालिन्य आना प्रारम्भ हो जाता है। कुछ दिन बाद फिर नई व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पुरानी व्यवस्था सर्वथा त्याज्य हो जाती है। किन्तु उसे त्याग और तपस्या द्वारा नया रूप देने की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती है। नवीनता का अर्थ यह नहीं है कि किसी ऐसी वस्तु का अस्तित्व में आना जो पहले कभी न थी। इसका अर्थ है एक ही तत्त्व का अनन्त में विलीन होकर नए नए रूपों में प्रकट होना। पुरातन आदर्श ही नवीन परिस्थिति में नवीन रूप धारण करते रहते हैं।

किन्तु कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो एक बार बरसे हुए पानी को पकड़ कर बैठ जाते हैं। उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, मिट्टी मिल जाती है तो वे कीड़ों और मिट्टी को भी पानी का आवश्यक तत्त्व मानने लगते हैं। उसे शुद्ध करने में वे मानते हैं कि जल का रूप नष्ट हो जाएगा। नए बादलों के नए जल को वे धर्मविरुद्ध कहते हैं। बरसे हुए जल में भी वे अपने अपने पोखरों में संचित जल को विशेष महत्त्व देते हैं। अपने पोखरे के मिट्टी तथा कीड़ों से भरे हुए गन्दे पानी के सामने वे अनन्त आकाश में विचरते हुए निर्मल जल को अपवित्र मानते हैं। इसी प्रकार दूसरों के पोखरों को भी वे भ्रष्ट मानते हैं। उन्हें दूसरों के कीड़े दिखाई देते हैं, अपने नहीं। जब आकाश में जलधर घिरते हैं और गर्जने लगते हैं तो उन्हें भय होता है कहीं ये बरस कर उनके पोखरे के पानी को अपवित्र न कर दें। धर्म और संस्कृति के नाम पर प्राचीन रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के संरक्षण की मनोवृत्ति प्रत्येक समाज में पाई जाती है। वह उसके विकास को रोक देती है।

ऊपर लिखी गई बातों को ध्यान में रखकर हमें भारतीय संस्कृति की गतिविधि का अध्ययन करना है और उसके वर्तमान तत्त्वों का विश्लेषण करना है। हमें यह विचार करना है कि भारतीय मस्तिष्क ने वर्णाश्रम धर्म या श्रौतस्मार्त धर्म के नाम से जिस परम्परा को अपनाया उसके मूल में क्या है और जिस परम्परा को नास्तिक कह कर ठुकराया जाता है उसका मूल क्या है। यहाँ मैं यह स्पष्ट

कर देना चाहता हूँ कि मेरा लक्ष्य पुस्तकविशेष या सम्प्रदायविशेष नहीं है। वेदों से लेकर आज तक का हमारा साहित्य दोनों परम्पराओं का निदर्शक है। वेदों और उपनिषदों में नास्तिक कही जानेवाली परम्परा के तत्त्व विद्यमान हैं, जैन तथा बौद्धों पर ब्राह्मण संस्कृति की छाप है। व्यक्ति और समाज, प्रेय और श्रेय, अभ्युदय और निःश्रेयस, अधिभूत और अध्यात्म, असुर और देव आदि शब्दों के द्वारा इन विचारधाराओं का दिग्दर्शन प्राचीन काल से होता आ रहा है। मैं यही बताना चाहता हूँ कि किस प्रकार एक संस्था प्रगतिशील तत्त्वों पर अधिष्ठित है और दूसरी प्रतिगामी तत्त्वों पर। एक की व्यवस्था प्रणाली प्राचीन होने पर भी आदर्श नए हैं और सदा नए रहेंगे। दूसरी के आदर्श भौतिक हैं, अतएव नश्वर हैं।

इन दो धाराओं को 'समण' और 'ब्राह्मण' इन दो शब्दों से प्रकट किया जाता है। 'समण' शब्द प्राकृत का है। उसके संस्कृत रूप तीन होते हैं—श्रमण समन, शमन। समण या श्रमण संस्कृति का आधार इन तीन शब्दों पर है। श्रमण शब्द 'श्रम्' धातु से बना है। इसका अर्थ है परिश्रम करना। यह शब्द इस बात को प्रकट करता है कि व्यक्ति अपना विकास अपने ही परिश्रम द्वारा कर सकता है। सुख दुःख, उत्थान पतन सभी के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है। समन का अर्थ है समता भाव अर्थात् सभी को आत्मवत् समझना। सभी के प्रति समभाव रखना। दूसरों के प्रति व्यवहार की कसौटी आत्मा है। जो बात अपने को बुरी लगती है वह दूसरे के लिए भी बुरी है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' यही हमारे व्यवहार का आधार होना चाहिए। समाज-विज्ञान का यही मूलतत्त्व है। किसी के प्रति राग या द्वेष न करना। शत्रु और मित्र को बराबर समझना। जातपात तथा अन्य भेदों को न मानना। शमन का अर्थ है अपनी वृत्तियों को शान्त रखना। इस प्रकार व्यक्ति तथा समाज का कल्याण श्रम, सम और शम इन तीनों तत्त्वों पर आश्रित है। यह समण संस्कृति का निचोड़ है। श्रमण संस्कृति इसका संस्कृत में एकाङ्गी रूपान्तर है। ब्राह्मण संस्कृति की धुरी 'ब्रह्म' है। इसका अर्थ है यज्ञ, पूजा, स्तुति तथा ईश्वर। ब्राह्मणसंस्कृति इन्हीं चार तत्त्वों के चारों ओर घूमती है।

पहली धारा में धर्म का स्वरूप अहिंसा, संयम और तप है तथा धर्म स्वयं मंगल है अर्थात् अपने आप में साध्य है, स्वयं सुख है, किसी बाह्य सुख का कारण नहीं है। भौतिक सम्पत्तियों के स्वामी देवता उस धर्मात्मा के चरणों पर लोटते हैं[1]। समण संस्कृति सभी प्राणियों के सुख पूर्वक जीने के अधिकार को स्वीकार करती है।

---

१ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥—दशवैकालिक १-१।

वह मानती है सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है, सुख अच्छा लगता है, दुःख प्रतिकूल है[1]। किसी का अधिकार छीनना पाप है। जो लोग आत्मसुख के लिए अथवा सगे सम्बन्धी या दूसरे व्यक्तियों को प्रसन्न करने के लिए किसी जीव को मारते है, उसे कष्ट पहुँचाते है या किसी प्रकार तंग करते है वे सभी अज्ञान और मोह मे फंसे हुए है। उन्हे अपने किए का फल भोगना पड़ेगा[2]—यहा परमेश्वर या अन्य कोई व्यक्ति दुःखो से छुटकारा नही दिला सकता, न कोई किसी का उद्धार कर सकता है। जीव स्वयं उत्क्रान्ति करता है। वह अपने परिश्रम द्वारा विकास की चरम सीमा तक पहुँच सकता है। कोई स्थान किसी जाति या व्यक्ति विशेष के लिए निश्चित और दूसरे के लिए वर्जित नहीं है। प्रत्येक जीव ईश्वर बन सकता है। उस पद को प्राप्त करने के पश्चात् परस्पर किसी प्रकार का भेद नहीं रहता। प्रत्येक जाति और लिंग ही नही, प्रत्येक प्राणी के लिए विकास का मार्ग खुला है। सभी को विकास की समान सुविधा प्राप्त है। प्राणियो मे जन्मकृत कोई अन्तर नहीं है। यदि है तो वह विकास भूमि अर्थात् गुणस्थान का। आत्म विकास के पथ मे जो प्राणी जितना बढा हुआ है वह उतना ही उच्च है, फिर चाहे वह शूद्र हो या ब्राह्मण, राजा हो या रंक, स्त्री हो या पुरुष। यहा प्राणियो के सुख और दुख किसी के वरदान और अभिशाप पर अवलम्बित नहीं है। इसीलिए न तो किसी को प्रसन्न करने के लिए साधना की आवश्यकता है और न किसी के प्रकोप को दूर करने के लिए अनुष्ठान की। यहा साधना का लक्ष्य है आत्मविकास और पूजा का लक्ष्य है दूसरे को आदर्श मान कर उसके गुणो का आधान। सुख और दुःखों का कर्ता तथा विकर्ता स्वयं आत्मा है। आत्मा ही मित्र है, आत्मा ही शत्रु है। आत्मा वैतरणी नदी है, आत्मा कूट शाल्मली वृक्ष है; आत्मा कामधेनु है। आत्मा नन्दनवन है।[3] श्रद्धा का एक स्थान तो है किन्तु उसका अर्थ किसी व्यक्ति या पुस्तक मे अन्धविश्वास नही है। श्रद्धा के नाम पर बुद्धि को तिलाञ्जलि नही दी गई है। यहा श्रद्धा का अर्थ है गुणानुराग और दृढ़ निश्चय। आध्यात्मिक क्षेत्र मे उसका अर्थ है एकमात्र सत्य में विश्वास, किन्तु सत्य किसी व्यक्ति विशेष की वाणी या पुस्तक विशेष मे सीमित नहीं है। मोक्ष जीवन का चरम लक्ष्य है किन्तु उसका अर्थ आत्मगुणो के विकास के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

१—सव्वे पाणा पियाउआ, सुहसाया, दुक्खपडिकूला ।।—आयारंग—१—२—३।

२—आचारांग १—१—१ ।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्त च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ ।।

३—अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वण ।।—उत्तराध्ययन २०—३६—३७।

दूसरी धाराका अभिव्यञ्जक 'शर्मन्' शब्द भी है। यह शृ धातु से बना है। इसका अर्थ है हिंसा करना। अमरकोश की टीका में इसकी व्युत्पत्ति की गई है –"शृणात्यशुभम्।" अर्थात् जो अशुभ की हिंसा करे। किन्तु अशुभ की कसौटी क्या है? जो हमारे स्वार्थ के विपरीत है वह अशुभ है। उसे नष्ट कर डालने का हमारा अधिकार है, इसी भावना को आधार बनाकर शर्मन् संस्कृति का प्रारम्भ होता है। "मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि" का विधान तो है किन्तु यज्ञ में की गई हिंसा को हिंसा ही नहीं माना गया। यज्ञ क्या है? पुत्र,धन, साम्राज्य, अप्सराएं आदि भोगविलास के साधन प्राप्त करने के लिए किया गया व्यक्तिविशेष का अनुष्ठान। यज्ञ का शब्दार्थ उत्सर्ग अर्थात् त्याग किया जाता है किन्तु वह दूसरे प्राणी का त्याग है। श्रमिक और परिग्रही में यही अन्तर है। श्रमिक अपने ही परिश्रम द्वारा सुख प्राप्त करता है, परिग्रही दूसरे के परिश्रम द्वारा। यज्ञ में प्राणों का त्याग पशु करता है और सुख मिलता है यजमान को। श्रमण परम्परा में सुख वही प्राप्त कर सकता है जो स्वयं त्याग एवं तपस्या करता है। इसमें दूसरे का अधिकार छीन कर अपने सुखोंकी दुनिया नहीं बसाई जाती। ब्राह्मण परम्परा में व्यक्ति अपने उद्धार के लिए सदा परमुखापेक्षी रहा है। देवी, देवता, ईश्वर, ग्रह, नक्षत्र आदि सैकड़ों तत्त्व ऐसे हैं जो व्यक्ति के भाग्य पर नियन्त्रण करते हैं। यदि सुख चाहिए तो इन सब को प्रसन्न करना पड़ेगा। इन्हें प्रसन्न करने की विधियाँ भी चित्र विचित्र है, किन्तु एक बात सर्वत्र अनुगत है–ब्राह्मणभोज और दक्षिणा बिना कोई अनुष्ठान नहीं हो सकता। जीव कितना ही परिश्रम करे किन्तु ईश्वर नहीं बन सकता। इन्द्रासन सब से बड़ा पद है जिसे मनुष्य प्राप्त कर सकता है। उसे प्राप्त करने के दो उपाय है–सौ अश्वमेध या भगवान की आराधना। दोनों उपाय अमोघ है किन्तु उनमें चालाकी के लिए पर्याप्त स्थान है। जब कोई व्यक्ति इनमें से किसी उपाय द्वारा इन्द्रासन प्राप्त करना चाहता है तो इन्द्र भागा भागा शेषशायी भगवान् के पास जाता है और अपनी पदरक्षा के लिए प्रार्थना करता है। भगवान् उलझन में पड़ जाते हैं —भक्त की इच्छा पूर्ण करें या इन्द्र की पदरक्षा करें। इन्द्र अधिकार सम्पन्न व्यक्ति है। इसलिए अन्त में उसी की पदरक्षा के लिए चालाकी चली जाती है। राजा बलि सौ यज्ञों द्वारा इन्द्रासन प्राप्त करना चाहता है। भगवान् उसके अनुष्ठान में विघ्न डाल देते हैं। कुम्भकर्ण तपस्या द्वारा इन्द्रासन प्राप्त करना चाहता है। भगवान् को प्रकट होकर 'वर वृणीष्व' कहना पड़ता है किन्तु ऐसी माया रची जाती है। कि उसके मुह से इन्द्रासन के स्थान पर निद्रासन निकल जाता है। भला भगवान् को क्या पड़ी कि भक्त की इच्छा पर ध्यान दें। वे तो चाहते ही थे कि वह किसी प्रकार चूक जाय। शीघ्र 'तथास्तु' कहकर अन्तर्हित हो गए। भक्त को वर देकर भगवान् ने अपनी भक्त-

वत्सलता भी दिखा दी और इन्द्र का काम भी बन गया। भगवान् जानते थे कि रावण जरासन्ध आदि वर प्राप्त करने के पश्चात् जनता पर अत्याचार करेंगे। उनकी बुरी मंशा को जानते हुए भी वर देना पड़ा। ये कथाएं पौराणिक हैं। इन की ऐतिहासिक सत्यता के विषय में विवाद हो सकता है। किन्तु कहानियों का आधार सत्य घटनाकी अपेक्षा विश्वास अधिक होता है। ऐसी कहानियों से उन विश्वासों का पता लगता है जो ब्राह्मण परम्परा की देन हैं। उन्हीं के आधार पर कहानियों का निर्माण हुआ है। इनके मूल में भौतिक या पाशविक बलका प्रभुत्व छिपा हुआ है।

यज्ञ द्वारा भी स्वर्ग सभी नहीं प्राप्त कर सकते। शूद्रों का उसमें अधिकार नहीं है। उनके लिए वेदाध्ययन भी वर्जित है। तथाकथित उच्चवर्ण वालों की सेवा के अतिरिक्त उनका कोई अधिकार नहीं है। वेदवाक्य प्रभुसम्मत शब्द है। उसे अक्षरशः मानना ही धर्म है। बुद्धि या 'क्यों' के लिए कोई स्थान नहीं है। ब्राह्मण यदि गुणहीन और दुराचारी है तब भी वह पूज्य है। शूद्र गुणी और सदाचारी भी ताड़न का अधिकारी है। यहा मोक्ष नाम की कोई वस्तु नहीं है। मनुष्य का चरम लक्ष्य स्वर्ग है। स्वर्ग का अर्थ है धन, धान्य, अप्सराए, साम्राज्य आदि भौतिक सम्पन्नता। जीने का अधिकार उसी को है जो सम्पन्न है। शेष उसीकी सुखसामग्री हैं।

ब्राह्मण परम्परा में यह मनोवृत्ति प्रारम्भ से ही रही है कि जिस सिद्धान्त या व्यक्ति को प्रभावशाली देखा, और देखा कि जनता उस ओर झुक रही है तो उस व्यक्ति को अवतारों मे स्थान दे दिया और उस सिद्धान्त को अपने ही किसी ऋषि या वेदवाक्य द्वारा प्रतिपादित कहकर टाल दिया। परिणामस्वरूप जनता का विरोध शान्त हो गया और वे फिर अपनी पुरानी डफली बजाने लगे। बुद्ध की ओर स्वाभाविक बढ़ती हुई श्रद्धा को देखकर उन्हे अवतारों में स्थान दे दिया गया। किन्तु जब हम दूसरी ओर बुद्ध के उपदेशों को नास्तिकता कहकर बदनाम किया जाना और दूसरी प्रकार का प्रबल विरोध देखते हैं तो इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि उनकी अवतारों में गणना एक कुशलता है जिसके द्वारा बढ़ते हुए विरोध को कुछ शान्त किया जा सके। परिग्रही स्वार्थ का ध्यान रखता है। नाम की उसे विशेष चिन्ता नहीं होती। यदि 'गान्धी मिल' नाम रखने से उसका कपड़ा अधिक खपने लगता है और जनता तथा सरकार का असन्तोष मिट जाता है तो उसे अपना नाम हटाने मे कोई आपत्ति नहीं होगी। किन्तु इस बात का वह बहुत ध्यान रखता है कि उसके मुनाफे मे कोई कमी न होने पावे।

ब्राह्मण संस्कृति में अल्प संख्यकवर्ग दूसरे वर्ग के मानवीय अधिकारों को कुचल कर अपनी स्वार्थ पूर्ति करता रहा है। बुद्ध ने उस कुचले हुए वर्ग में अपने अधि-

कार प्राप्त करने की चेतना जाग्रत की। जनता उनकी ओर झुक गई। उसी समय बुद्ध को अवतारों में स्थान मिल गया। बुद्ध ने शोषण का जो नंगा रूप जनता के सामने रखा था उस पर परदा पड़ गया। जनता का ध्यान दूसरी ओर चला गया। कटुता कम हो गई। शोषण फिर उसी तरह चलने लगा। इसी प्रकार की जिज्ञासावृत्ति को शान्त करनेके लिए वेदान्त, सांख्य न्याय और उच्च कोटि की दार्शनिक चर्चा को भी महत्व दिया गया, किन्तु केवल चर्चा के लिए। जीवन के लिए नही। चर्चा के समय ब्राह्मण और शूद्र में एक ही आत्मा है किन्तु घर में आने पर नही। परिग्रहवाद का यह दूसरा रूप है, जो सभा सोसाइटी तथा व्याख्यानों मे गरीबो के प्रति सहानुभूति प्रकट करता है। समाजवाद तथा दूसरे सिद्धान्तों की प्रशसा करता है किन्तु उन्हें घर में नही आने देना चाहता। जनता के मस्तिष्क को शान्त और उलझाए रखने के लिए ये सभी परिग्रहवाद के आविष्कार है।

उत्तरकालीन प्रभाव–

अब हमें थोड़ा सा इस बात पर विचार करना है कि ब्राह्मणयुग की इस व्यवस्था का राष्ट्र के ऊपर क्या प्रभाव पड़ा और उन बीजो ने पल्लवित होकर क्या रूप धारण किया।

राष्ट्र की विशृंखलता–

वर्णव्यवस्था और शूद्रो के प्रति घृणा ने एक ऐसी मनोवृत्ति को जन्म दिया कि जो व्यक्ति खान, पान, छूआछूत, आदि में जितना संकुचित है वह उतना ही उत्कृष्ट है। परिणामस्वरूप भेद रेखाएं बढ़ती गई, जिससे हमारा राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो गया। "आठ कनौजिए, नौ चूल्हे" इस मनोवृत्ति का परिणाम है।

नैतिकता की उपेक्षा–

कोई व्यक्ति दुराचारी हो, जुआरी हो, चोर हो, सभी दृष्टियों से पतित हो किन्तु छूआछूत को निभाता रहे तो समाज में उसके लिए कोई दण्ड नही है। जिस दिन वह छूआछूत के बन्धनों को थोडा सा भी शिथिल करता है उसी दिन जातिबहिष्कृत कर दिया जाता है। कलकत्ते की एक घटना है—"किसी ब्राह्मण के चौके को एक सिक्ख ने छू दिया। ब्राह्मण देवता आगबबूला होकर चिल्लाने लगे–मैंने रण्डीबाजी की, जुआ खेला, चोरी की, जेबें कतरी, तरह तरह से लोगो को ठगा किन्तु अपना धर्म भ्रष्ट नही होने दिया।" वास्तविक धर्म और नैतिकता की उपेक्षा और बाह्याचार में धर्म की मान्यता उसी युग की देन है।

धर्म का क्रयविक्रय–

जैन और बौद्धों के प्रबल विरोध के कारण हिंसाप्रधान यज्ञ अब कम हो गए हैं किन्तु वह मनोवृत्ति अब भी बनी हुई है। अब भी धर्म उसी प्रकार दुकानदारी बना हुआ है। ब्राह्मण को पैसे दिए और सभी प्रकार के धर्म हो सकते हैं। व्यापार

में मुनाफा चाहिए तो किसी ब्राह्मण से पाठ करवा लीजिए। किसी आपत्ति से छुटकारा पाना है तो पाठ करवा लीजिए। इतना ही नहीं यदि आप अपने पूर्वजों के पास कोई वस्तु भेजना चाहते हों तो वह ब्राह्मणों को दे दीजिए। ब्राह्मण अब भी इस लोक और परलोक के बीच सम्बन्ध जोड़ने वाले बने हुए हैं। अब भी धनवान् को स्वर्गप्राप्ति के लिए स्वयं कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं है।

बुद्धि की उपेक्षा--

वेदों के प्रामाण्य ने युक्ति के मार्ग को बन्द कर दिया। यह माना जाने लगा कि धर्म के क्षेत्र में बुद्धि का कोई स्थान नहीं है। परिणाम स्वरूप वेदों का नाम लेकर गन्दी से गन्दी बातों का प्रचार होने लगा। ब्रह्मसूत्र में तर्क को अप्रतिष्ठित कहा है। शङ्कराचार्य सरीखे समर्थ विद्वान् भी उसी तर्क को मानते हैं जो श्रुति के अनुकूल है। श्रुति और युक्ति का परस्पर विरोध होने पर वे श्रुति को प्रधानता देते हैं।

पङ्गु भक्तिवाद--

देवताओं की कल्पना ने भक्तिवाद को जन्म दिया और उसका आधार आदर्श-वाद न रह कर आराध्य की प्रसन्नता बन गया। भक्त का कर्तव्य माना गया कि वह उचित या अनुचित सभी उपायों से अपने आराध्य को प्रसन्न रखे। परिणाम-स्वरूप भगवान् को प्रसन्न करने के लिए दुराचार फैलने लगा।

भाग्यवाद--

यज्ञ और ईश्वर के सर्वनियन्तृत्व ने पुरुषार्थ की भावना को धक्का पहुँचाया। यह माना जाने लगा कि भगवान की जो इच्छा होगी वही होगा। मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता। निर्बलता की इस भावना ने उस अकर्मण्य सम्प्रदाय को जन्म दिया जो "सब के दाता राम" कह कर अकर्मण्यता का प्रचार करता है। सूरदास का पद भी इसी का समर्थक है--

> "जब लग गज बल अपनो राख्यो नेक सर्यो नहीं काम।
> निर्बल ह्वै बलराम पुकार्यो, धाए आधे नाम।
> सुनेरी मैंने निर्बल के बल राम।"

शूद्र और स्त्रियों के प्रति घृणा--

ब्राह्मणों ने अपने श्रेष्ठत्व का जो प्रचार किया उसका परिणाम पारस्परिक घृणा हुआ। तुलसीदास सरीखे भावुक कवि को भी गुणवान् शूद्र की अपेक्षा पतित ब्राह्मण को श्रेष्ठ कहने में सकोच नहीं हुआ। स्त्री और शूद्रों को सदा ताड़न का अधिकारी कह डाला और ब्राह्मणों को पूजा का।

----००----

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी संघवी–

–डॉ० सातकरि मुखर्जी

[श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस में पं० सुखलाल जी के चित्रोद्‌घाटन के अवसर पर डा० सातकरि मुखर्जी, आशुतोष प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, कलकत्ता विश्व-विद्यालय के भाषण का कुछ अंश]

....हमें बहुत पहले ही अपने ऐसे प्रसिद्ध विद्वानों का, जिन्होंने भारतीय संस्कृतिकी प्रदीप–शिखाको अपनी रचनाओं द्वारा एवं विद्यार्थियों में ज्ञानकी तीव्र साधना उत्पन्न करके चिर-प्रज्वलित रखा है, सार्वजनिक सभाओं मे सम्मान करना था सौभाग्यवश आज हम भारत के एक ऐसे दार्शनिक विद्वान् को श्रद्धांजलि देनेके लिए उपस्थित हुए है, जिसने भारतीय परम्परा द्वारा पुनीत दरिद्र-जीवन स्वीकार किया है। एक निर्दय समालोचक को भी इसमें चापलूसी, जिसका आखिरी उद्देश्य स्वार्थसिद्धि है, की बदबू नहीं मिलेगी। आज हम एक मनुष्य का सम्मान कर रहे है जो मात्र एक विद्वान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। हम जानते है कि हमारे राज्याधिकारियों पर उनका कुछ भी प्रभाव नहीं है। अतएव वे हमारी आर्थिक समृद्धि मे सहायक नहीं हो सकते। स्वयं धनहीन होने के कारण वे हमारी या ऐसी दूसरी संस्थाओं को आर्थिक सहायता नहीं दे सकते। अतएव अपना आजका उद्देश्य केवल विद्वत्पूजा है।

...भारतीय प्रतिभा ने अज्ञान को कभी आश्रय नहीं दिया। साम्प्रदायिकता या संकीर्ण जातीयता ज्ञान का मौलिक रूप नहीं है। ज्ञान सर्वदा सर्वग्राही है। भारतीय संस्कृति की दृष्टि सदा से सर्वग्राही रही है। हम अपनी जातीय प्रतिभा बिना खोए विश्व का सारा ज्ञान संगृहीत कर सकते है। पाश्चात्य नई संस्कृति को बटोरने में हमे अपनी सर्वग्राहिता को खोना नहीं है। हम अणुबाम के रहस्य को सीखेंगे एवं अपने आविष्कार व शोधों में पाश्चात्य देशों से भी आगे बढ़ेंगे। परन्तु उसका उपयोग दुर्बल जातियों को लूटने में या उन पर आधिपत्य जमाने में नहीं करेंगे। हम विश्व को दिखायेंगे कि शक्ति एवं समृद्धि का उपयोग मानव जाति की आध्यात्मिक उन्नति में होना चाहिए। हमें विश्व को यह दिखाना पड़ेगा कि भौतिक समृद्धि ही एकमात्र पुरुषार्थ नहीं है। मनुष्य केवल आर्थिक नहीं है। आर्थिक समृद्धि व राजनैतिक स्वतंत्रता

परम पुरुषार्थ नहीं है, प्रत्युत वे आध्यात्मिक जीवन के प्रत्यवायों को हटाने के साधन मात्र है। अतएव मानव जाति के भौतिक सुखो को ही एक मात्र एवं आखिरी परमार्थ समझने वाले नये धर्म से हमें दूर रहना चाहिए। दुर्भाग्य वश यही साम्यवादी नये धर्म का सन्देश है। वह गहराई तक अपनी जड़ों का विस्तार कर रहा है एवं मनुष्य के पशु संस्कारो पर उसका अदम्य प्रभाव भी है। भौतिक आधारों पर प्रतिष्ठित होने के कारण वह नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यो को, जिनका विकास मनुष्य जाति ने सदियों से क्रमशः विकसित अपनी प्राचीनसंस्कृति के आधार पर किया है, अवहेलना करने मे नहीं हिचकती। दरिद्रता एव व्याधियोकेनिवारण मे मनुष्य जीवन को भौतिक दृष्टि से सुखी एवं निराकुल बनाने का यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिए। परन्तु हमें सदा इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए कि यह जीवन बौद्धिक, नैनिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों के विकास का एक साधन मात्र है, एव इन शक्तियों का उपयोग हमे सच्ची आत्मोन्नति के लिए करना है--यही भारतीय संस्कृति का अमर सन्देश है। किसी तरहके भौतिक प्रलोभनों से हमें इस सत्य से च्युत नहीं होना चाहिए। हमें यह समझना चाहिए कि आध्यात्मिक उन्नति भौतिक समृद्धि का परम उपादेय फल है।

हमारे जो विद्वान, चिन्तक एवं दार्शनिक, पुरातन परम्पराओं मे पले हैं वे प्राचीन भारतीय संस्कृति के जीवन्त उदाहरण हैं। यह सत्य है कि हमारे प्राचीन परम्पराओं मे पले हुए अधिकाश विद्वान् अपेक्षित उच्च कोटि तक नही पहुंच पाये हैं। परन्तु उन स्वल्पसख्यक विद्वानोके जिन्होने अपने चरित्र व कृतियोमें उस आदर्श को मूर्त रूप दिया है, उनमे पं० सुखलालजी एक प्रमुख प्रतिनिधि है। मै यहाँ उनके चरित्र एवं विद्वत्ता सम्बन्धी कुछ ऐसे अंगो पर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं, जो उन्हें अधिकाश विद्वानोंसे अलग करते है एवं एक स्वतंत्र श्रेणी मे स्थापित करते हैं। सौभाग्यवश इन अन्धकारमय दिनों में भी पण्डित जी के कुछ ऐसे साथी एवं सहकर्मी है जो उनके साथ मिलकर एक अनोखा ज्ञानसम्प्रदाय बनाये हुए हैं।

उनकी असाधारण विद्वत्ता सुविदित है। उनके दार्शनिक महाग्रन्थो के समीक्षात्मक संस्करण, लेखको की भ्रान्तियो से भरे हुए पाठों मे से शुद्ध पाठों का उनके चुनाव एवं उनके जटिल अंगो पर प्रकाश डालने वाले टीका-टिप्पण उनके भारतीय दर्शनों के सूक्ष्म अंगों पर पूर्ण प्रभुत्व के परिचायक है। भारतीय चिन्तन की विभिन्न शाखाओं की विचारपद्धति पर उनका पूर्ण आधिपत्य प्रशंसनीय है। पण्डित सुखलालजी ने विद्वत्ता एवं पारगामी दृष्टिका एक ऐसा उदाहरण उपस्थित किया है जिसका अनुकरण करना कुछ कठिन है। चिन्तन-

भाषाविषयक सूक्ष्मता, मौलिक तत्त्वों को ग्रहण करनेवाली बुद्धि, विभिन्न पहलुओं पर अपूर्व प्रभुत्व, पद-पदार्थविषयक सूक्ष्मविवेक–जिन्हें एक निपुण विद्वान् की बुद्धि भी सरलतासे ग्रहण नहीं कर सकती–उन पर पण्डित सुखलालजी का पूर्ण अधिकार है। मै ऐसे अधिक विद्वानों से परिचित नहीं हू जिनकी तुलना इन विषयों मे पण्डितजी से की जा सके।

उनकी विशेषता यह है कि भारतीय चिन्तनधाराओं के विभिन्न युगों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का व्यापक ज्ञान उन्हें प्राप्त है। उनके मनश्चक्षु के सामने वैदिक, उपनिषद, बौद्ध, जैन एवं अन्यान्य उत्तरकालीन दार्शनिक विकासो का चित्र स्पष्ट अंकित है, एवं इन संस्कृतियो के परस्पर तार्किक एवं मनोवैज्ञानिक सम्बन्धविषयक उनका विशदीकरण हमे प्रायः स्वीकार करना पड़ता है। उन्होंने प्राचीन भारतीय चिन्तनधारा के परस्पर अमिट भेदमे जो अभेद का दर्शन किया है वह मुझे और भी चकित करता है। उन्होंने परस्पर भेद के मूल कारणों को भी प्रदर्शित किया ह। उनके संस्करणो की लम्बी प्रस्तावनाएं एक एक स्वतंत्र महानिबन्ध हैं, जो एक विद्वान् को किसी विश्वविद्यालय की उच्चतम उपाधि के लिए योग्य प्रमाणित कर सकतीं ह। वे प्रस्तावनाएं उनकी ऐतिहासिक पारंगत दृष्टि की द्योतक हैं। जिस दृष्टि का उद्भव भारतीय चिन्तनधाराओं के वास्तव ज्ञान एवं मूल्यांकन से होता है। यदि वह व्यवसायी ऐतिहासिक, जो कालगणना मे अपना गौरव समझता है, शान्तिपूर्वक भारतीय चिन्तन-जीवन के परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन करे, जिसका पण्डितजी ने विशदीकरण किया है, तो शायद उसे अधिक लाभ होगा। भारतका वास्तविक इतिहास वे ही लिख सकते हे, जो जातिके अन्तर्जीवनको समझ सकते हे। मात्र बाह्य घटनाओं का क्रमिक काल निर्णय प्रायः एक भ्रमात्मक चित्र उपस्थापित करता है। मुझे विश्वास है कि हमारा भविष्यत् ऐतिहासिक अपेक्षित परिश्रम से नही डरेगा। एवं पण्डित जी की विद्वत्तापूर्ण कृतियां उसमे पथ प्रदर्शन करेगी।

पण्डितजी की विद्वत्ता का सब से महत्त्वपूर्ण अश कौन सा है–यह निर्णय करना मेरे लिए असम्भव सा प्रतीत होता है। न्याय एवं मीमांसा के सूक्ष्म दार्शनिक युक्तिवाद पर उनका प्रभुत्व उतना ही गम्भीर है जितना कि बौद्ध एवं जैन दर्शनों के विषय मे। उनके किसी एक अंश को महत्त्व देना मेरे लिए अत्यन्त कठिन है। उनकी लिखित कृतियां उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ताका एक अंश मात्र है। उनके व्याकरण, अलंकार एवं काव्य विषयक ज्ञान को प्रकट होने का अवसर ही नहीं मिला है। अतएव वे स्वयं प्रकाशित विद्वत्ता से कितने ऊंचे है। उनका ज्ञान बहुमुखी है। अत्यधिक आश्चर्यजनक बात तो यह है कि वह बहुमुखी ज्ञान प्रत्यक विषय में उतना ही गम्भीर है। भारत को ऐसे समर्थ बुद्धिशाली

व्यक्ति से गौरवान्वित होना चाहिए। मुझे भय है कि शायद ही मैं उनकी विद्वत्ता के शतांशका मूल्यांकन करने में भी समर्थ हुआ हूं।

चारित्र की दृष्टि से वे असाधारण हैं। जब मैं उनकी बौद्धिक महत्ता से उनकी नैतिक महत्ता की तुलना करता हूं तो चकित रह जाता हूं। वे प्रसिद्धि नहीं चाहते। उनके प्रशंसकों को उनका गुणगान करने का अवसर ही वे नहीं आने देते। वैयक्तिक सम्मानका उनके मन में कोई आदर नहीं है। चापलूसी से कोई उन्हें जीत नहीं सकता, चाहे वह चापलूसी सच्ची ही क्यों न हो। मात्र सत्यका विजय एवं ज्ञान की लिप्सा ही उनके प्रिय विषय हैं। यदि किसी मनुष्य का परिचय साथियों से किया जाता है, तो किसी विद्वान् का परिचय उसके विद्यार्थियों से ही किया जाना चाहिए। पण्डित सुखलाल जी के किसी विद्यार्थी से आप मिलिए एवं उसकी परीक्षा कीजिए। आप अवश्य उसमें निःस्वार्थ ज्ञान-प्रेम पाएंगे। मैंने अपने अनुभवसे देखा है कि उनके विद्यार्थी सांसारिक समृद्धि के प्रति उदासीन एवं जिज्ञासु होते हैं। ऐसी सफलता को वर्तमान शिक्षामण्डल शायद असम्भव समझता है।

पण्डितजी इच्छापूर्वक दरिद्रता का जीवन यापन करते हैं। आजीवन अविवाहित रह एवं निरवद्य ब्रह्मचर्य पालन करते हुए वे अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम बनाये हुए हैं। यह उनकी समझ में नहीं आता कि विद्यार्थी धन के पीछे क्यों दौड़ते हैं। कभी कभी उनका मानदण्ड हमें अत्यन्त कठोर लगता है। परन्तु इससे उन्हें एक अमूल्य सुविधा प्राप्त हुई है। वह यह कि वे धनिक या प्रभावशाली व्यक्तियों के अनुगामी नहीं हैं। हमें यथाशक्ति उनके मानदण्ड को जीवन में उतारने की कोशिश करनी चाहिए, फिर भले ही हम उनके योग्य नहीं बन सकें।

पण्डित सुखलालजी अत्यन्त स्पष्टभाषी हैं। किसी व्यर्थ रीति या रिवाजों के प्रभाव से वे सत्य से पीछे नहीं हटते। इस डर से कि सरलता से प्रशंसा चाहने वाले किसी धनिक व्यक्ति या किसी महत्त्वाकाङ्क्षी विद्वान को वह अप्रीतिकर होगा। अतएव वैसे धनिक, जो अपने कार्यों के या मिथ्या विचारों के अनुमोदन की अपेक्षा रखते हैं, या दुर्बल मनोवृत्ति वाले विद्वान् हैं—वे उनसे दूर रहते हैं। वे किसी हालत में अपना मानदण्ड नीचा नहीं करते। वे चाहते हैं कि विद्यार्थी को संस्कृत का पूरा ज्ञान हो तथा मूल ग्रंथों का सूक्ष्म अध्ययन हो। मूल ग्रन्थों का अध्ययन बिना किये मात्र ग्रंथसूचियों व उद्धरणों का संग्रह वे पसन्द नहीं करते, यद्यपि दुर्भाग्यवश हमारे आधुनिक गवेषक विद्वान् प्रायः ऐसा ही करते हैं।

पण्डित जी एक स्वतंत्र चिन्तक हैं। तत्त्व-पक्षपात उनका स्वभाव है। वे मनोरंजक मतों से कदापि प्रभावित नहीं होते। वे किसी का पक्ष नहीं लेते पर

साथ ही साथ न्याय व सत्य पर प्रतिष्ठित किसी भी पक्ष का समर्थन करने को भी वे सदैव तैयार रहते हैं। वे अपने सम्प्रदायवालों की परम्परा व रीति रिवाजोंकी अनुचित प्रशंसा करके उनकी भी चापलूसी नहीं करते। मात्र इस लिए कि वे जैन मतों से विरुद्ध है, वे जनेतर मतों की निन्दा नहीं करते। पण्डित सुखलालजी मात्र धनिको का अनुगमन नहीं करते, इतना ही नहीं पर जैन धर्म के रक्षकों की शिथिलता व गलतियों के लिए, समालोचना करते हैं। अतएव यह कोई आश्चर्यकर घटना नहीं कि जैन सम्प्रदाय या दूसरे किसी विद्याकेन्द्र ने सार्वजनिक सभाओं में उनको सम्मानित नहीं किया। हम जानते हैं कि पण्डित जी हमारी श्रेणी के साधारण शिक्षकों की दुर्बलता से परे है, जो अपनी विद्वत्ता का मूल्यांकन चाहते हैं। स्वयं पण्डित जी का दृष्टिकोण कुछ भी हो पर अभी तक हमने जो उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित नहीं की–कर्तव्य की इस अवहेलना से हम मुक्त नहीं हो सकते। जैन सम्प्रदाय एवं भारतीय चिन्तनके विद्यार्थी पण्डितजी के चिर ऋणी हैं। मै विद्याश्रम के कार्यकर्ताओं को उनकी दूरदर्शिता के लिए बधाई देता हूं। उन्होंने अखिल भारत के गौरव निःस्पृह पण्डितजी का सम्मान करने का आयोजन किया है। यदि पण्डितजी ने विक्रमादित्य या भोजराज के समय मे जन्म लिया होता तो उन्हे किसी सम्पत्ति से वञ्चित नहीं रहना पड़ता। यह एक अच्छी बात है कि हमने नई दिशा ली है। मात्र प्रारम्भ समझना चाहिए। हम इसे अंत न मान ले। जैन-विद्या मे रस लेनेवालों का यह कर्तव्य है कि उपयुक्त उपायोंसे उनकी स्मृति अमर करे। मै ऐसे एक या दो उपायों का उल्लेख कर सकता हूं। हमे उनके नामसे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे एक अध्यापक-पद स्थापित करना चाहिए। एवं उनके पवित्र नाम से एक कालेज स्थापित करना चाहिए। उनके सम्मानार्थ एक संगमर्मरकी मूर्ति स्थापित करनी चाहिए। इन उपायों से हम यह दिखा सकते हैं कि वर्तमान भारत एक विद्वान् को भी राजनैतिक नेताओं के बराबरी का स्थान दे सकता है। मै यह जानता हूं कि जहां तक पण्डितजी का वैयक्तिक प्रश्न है यह सब बाते अत्यन्त गौण है। वे अपनी कृतियो द्वारा अपने को अमर किये हुए हैं। पर जब तक हम उनकी विद्वत्ता के अनुरूप एक वैसा महान् कीर्तिस्तम्भ स्थापित नही करते, हमारे बाद की पीढ़ी हमे नास्तिको की पीढ़ी के नाम से पुकारे बिना नहीं रहेगी।

———o o———
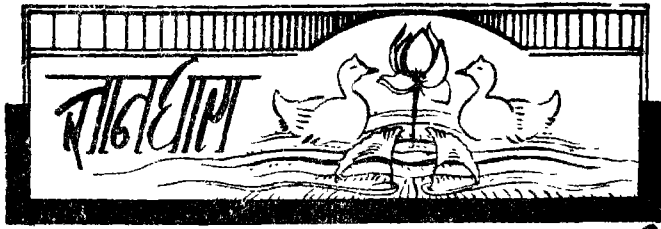
भाषा का रूप— * —बैजनाथसिंह 'विनोद'

जब हम कहते हैं कि श्रेणी विभक्त समाज में संस्कृति नैतिकता और धर्म श्रेणीका अनुगमन करते हैं, तो कुछ लोग इस सत्यका विरोध करते हैं। किन्तु उनके विरोधके बावजूद उनके कर्मोंसे इस तथ्य का समर्थन ही होता है कि संस्कृति, नैतिकता और धर्म शासक-श्रेणीका अनुगमन करते हैं। अभी हमारे सामनेकी बात है कि हिन्दी को जनसाधारणकी भाषा कहकर, जनसाधारणका नाम लेकर राष्ट्रभाषा के आसन पर बैठाने का आन्दोलन चला। यह आन्दोलन चल ही रहा था कि भारतवर्ष को राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त हो गयी। राजनीतिक स्वाधीनता के साथ ही भारतवर्ष की चिर-प्राचीन शासक और शोषक श्रेणी सामन्तों और ब्राह्मणों की है। आजके औद्योगिक विकासके युगमें इसके अन्दर उद्योगपतियोंका भी स्थान हो जाता है। भारतवर्ष की राजनीतिक स्वाधीनताके बाद इसी श्रेणी के लोगोंने राष्ट्रभाषाके लिए दूसरा नारा दिया—"संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो। इस आन्दोलन के जनक सामन्त और ब्राह्मण ही हैं। हिन्दू महासभाके मुख्य नेता श्री सावरकर के टेलीफोन का नाम हो गया "दूरयन्त्र ध्वनि।" पूना विश्वविद्यालय ने (जिसकी स्थापना राजनीतिक स्वाधीनता के बाद हुई) अपने यहा से पाली प्राकृत और अपभ्रंश को बहिष्कृत कर दिया। डॉ० कैलाशनाथ काटजूने चोटी का जोर लगाकर कहा—'संस्कृत राजभाषा हो।" डॉ० अमरनाथ झा ने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का मन्त्रोच्चार किया। देशी रजवाड़ो पूंजीपतियों ने इस आन्दोलन का समर्थन किया। जमींदारों की फौज इस आन्दोलन के पीछे खड़ी हो गयी। इसी श्रेणी के पास प्रेस और प्रचार के सभी साधन हैं। अपने साधनों के बलपर यह श्रेणी ऊर्ध्व कंठ से संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का ऐसा नारा लगा रही है कि उसके अन्दर दूसरी आवाज दब जाती है। यही कारण है कि डॉ० रघुवीर जैसे व्यक्तिको भारतीय विधान के मसविदे को हिन्दी रूप देनेका काम सरकार ने दिया। और इस व्यक्तिने संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के जोशमें

विधान के मसविदे का ऐसा अनुवाद किया कि उसे शायद वही समझ सकता है। यदि किसी वास्तविक जनतन्त्रवादी देश में विधानका मसविदा ऐसी भाषा में छपता, तो उस सरकार को जनता कटघरे में ला खड़ा करती और ऐसे व्यक्ति को कभी भी जनता का पैसा नही दिया जाता और उसे बरखास्त भी कर दिया जाता। पर यहाँ की तो बात ही निराली है। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के पीछे शासक-शोषक श्रेणी का स्वार्थ है। यह स्वार्थ इस प्रकार है जिससे पहले यह धारणा बनती है कि भारतवर्ष की सम्पूर्ण सांस्कृतिक सम्पदा संस्कृत में ही है, भारतीय संस्कृति, वैदिक संस्कृति है और भारतीय संस्कृति के लिए वर्ण-व्यवस्था आवश्यक है। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी के पीछे यह भावधारा काम करती है कि संस्कृत ब्राह्मणोंकी भाषा है, ब्राह्मणो द्वारा संरक्षित है, और संस्कृत में सांस्कृतिक सम्पदा है, इसलिए ब्राह्मणो का प्राधान्य स्वीकार करो। संस्कृतनिष्ठ हिन्दी की भावधाराके प्रचार का ठोस नतीजा निकलता है, 'स्टेटस् को'—जैसी की तैसी स्थिति कायम रखना। और इसी में है शासक और शोषक श्रेणीका हित।

अपने स्वार्थ के लिए यह शासक और शोषक श्रेणी इतिहास को भी विकृत करती है। इस श्रेणी के प्रचारक कहते फिर रहे है कि प्राचीन भारत मे संस्कृत जनसाधारण की भाषा थी। पता नही, भारतीय संस्कृति के ये 'संरक्षक' बुद्ध और महावीर को—बौद्ध और जैन धर्म को—किस संस्कृति के अन्दर गिनते है? महावीर ने कहा है कि श्रमणो को जनपदविहार के समय देशी भाषाओं का ज्ञान होना चाहिए। (बृहत् कल्पभाष्य) बुद्धने भी स्थानीय भाषामे उपदेश का विधान किया है। यदि संस्कृत जनसाधारण की भाषा होती अथवा संस्कृत को भी लोग समझते होते तो महावीर और बुद्ध ऐसा क्यों कहते? यही नही, यदि संस्कृत राष्ट्रभाषा अथवा राजभाषा होती, तो अशोकके शिलालेख—जो जनसाधारण के लिए ही थे—संस्कृत में ही होते। पर ऐसा नही है। इससे इतना सिद्ध है कि मौर्यकाल तक संस्कृत राजभाषा भी नही थी। यही नही आचारागचूर्णि (पृ० २५५) समवायाग (पृ० ५७) और विभग अट्ठकथा (पृ० ३८७) से सिद्ध है कि पाली, प्राकृत और अर्धमागधी प्राचीन भारत की जनभाषा थी, इन्ही भाषाओं को सर्वसाधारण जन समझते थे। संस्कृत भाषामे सर्वप्रथम कथा-ग्रन्थ लिखनेवाले महाकवि सिद्धर्षिने अपने उपमितिभवप्रपंच नामक कथा-ग्रन्थके उपोद्घातमें कहा है कि संस्कृत और प्राकृत भाषाओमें से "दुर्विदग्ध" लोगो के हृदयमे संस्कृतके लिए ही अधिक स्थान है। प्राकृत भाषा यद्यपि सर्वसाधारण की समझ में आती है और कर्णमधुर भी है फिर भी 'दुर्विदग्धो' को वह प्रिय नही है, (पर चूंकि "दुर्विदग्धो" का ही समाज पर प्राधान्य था) इसलिए उनके मनोरंजनके लिए, उन्होंने संस्कृतमे ग्रन्थ रचे। आगे चलकर दुर्विदग्धो ने षड़यन्त्र और हत्याके द्वारा प्रथम शताब्दिके उत्तरार्धमें राजसत्ता पर

अधिकार कर लिया। इसलिए पुष्यमित्रके कालमें ही हम सर्वप्रथम संस्कृत को राजभाषाके रूपमें पाते हैं। फिर आगे चलकर जिस सम्राट्के हाथ भारतीय गणतन्त्रों के खूनसे रंगे हैं, जिसने वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था को ठोस रूप में जमाकर भारतीय समाज को पतन के कगारपर ला खडा किया, उस सम्राट् समुद्रगुप्तने संस्कृतको राजभाषाके रूपमें अपनाया और उसके वंशजोंने उसकी (इस जनवाद-विरोधी) परम्परा को आगे बढ़ाया। और आज जब कि राजसत्ता भारतीयोके हाथमें पुन. आ गयी, तो उन्ही "दुर्विदग्धों" की परम्पराके लोगोंने जनभाषाके समर्थक महात्मा गान्धी की हत्या की और करायी, तथा उन्ही "दुर्विदग्धों" की परम्पराके लोग (चाहे वह काग्रेसके नेता ही क्यो न हों) आज गान्धीजी की सम्पूर्ण साधनाओके विरुद्ध "संस्कृतनिष्ठ हिन्दी" का नारा लगा रहे है।

शोषक और शासक श्रेणीने संस्कृतको न केवल राजभाषा के आसनपर बैठाया, बल्कि इस श्रेणीने पाली और प्राकृत के विरुद्ध प्रचार भी किया। जिस तरह अंग्रेजी राजने भारतवर्ष की राजभाषा के स्थान पर अंग्रेजी को प्रतिष्ठित कर आजकी जनभाषाओका अपकार किया, उसी तरह भारतीय शासक–शोषक श्रेणीने (सामन्तवाद ने) संस्कृतको राजभाषाके आसन पर बैठाकर प्राचीन भारतकी जनभाषा पाली और प्राकृतके विरुद्ध वातावरण बना दिया। आगे चलकर धीरे-धीरे पाली और प्राकृत का अपभ्रंश के रूपमे रूपान्तर हो गया। किन्तु शासक-शोषक श्रेणीके प्रत्येक पक्षपात के बावजूद भी संस्कृत कभी जन-भाषा न हो सकी। इसका एक सबसे बडा प्रमाण है कि छठवी शतीसे लेकर दसवीं शती तकके सभी सन्तों–चौरासी सिद्धों, नाथपथ के प्रचारकों और स्वयम्भू आदि कवियोंने–अपभ्रंश में ही अपनी रचनाएं कीं। अपभ्रंश की एक सबसे बडी विशेषता थी कि उसमें प्रचलित किसी भी शब्दका बहिष्कार नही किया गया। इसका प्रमाण १२०० शतीके हेमचन्द्र रचित देशी नाममाला के शब्द-संग्रह से मिलता है। इसको देखने से पता चलता है कि अपभ्रंश मे ऐसे शब्द है, जो तद्भव भी नहीं है और तत्सम भी नहीं है। इसके अन्दर आर्यसमूह के बाहरके शब्द हैं, आँस्ट्रिक शब्द हैं, चीनी शब्द है और ऐसे भी शब्द है जिनके सम्बन्ध द्रविड़ भाषा मे है। इसी अपभ्रंश से हिन्दी, बंगाली, महाराष्ट्री और गुजराती का जन्म हुआ। अतः संस्कृतनिष्ठ हिन्दीके आन्दोलनमें न ऐतिहासिक सत्य है और न वैज्ञानिक तथ्य है। 'संस्कृतनिष्ठ हिन्दी' के पीछे हिन्दी में चलित विदेशी शब्दो को बहिष्कृत करने की साम्प्रदायिक मनोवृत्ति और मुल्लापन भी है, जिसका प्रमाण डॉ० रघुवीर की देखरेख में अनूदित भारतीय विधान के मसविदे की वर्तमान प्रति और डॉ० रघुवीर की शब्दावली है। अतः 'संस्कृतनिष्ठ हिन्दी' से हिन्दी की प्रकृति नष्ट होती है, उसकी अपनी ध्वनि और स्वाभाविकता का खात्मा होता है।

इस तरह 'संस्कृतनिष्ठ हिन्दी' के सांस्कृतिक आन्दोलन के पीछे शासक और शोषक श्रेणी का स्वार्थ है, अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थितिको कायम रखनेके लिए उसने यह आन्दोलन चलाया है। संस्कृत ने कभी भी जनभाषा अथवा राष्ट्र-भाषा का स्थान नहीं लिया। वह सदैव शासक और शोषक श्रेणी की भाषा रही है। संस्कृत के अलावा पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और देशी भाषाओं में भी विपुल भारतीय सांस्कृतिक सम्पदा है--बल्कि इन्ही भाषाओं से जनताके मनकी बनावट का ठीक ठीक पता चलता है। इसलिए 'संकृतनिष्ठ हिन्दी' आन्दोलन ऐतिहासिक दृष्टि से भी गलत है। हिन्दी की प्रकृति संस्कृत की अपेक्षा अपभ्रंश के अधिक निकट है। इसलिए भाषाविज्ञान की दृष्टि से 'संस्कृतनिष्ठ हिन्दी' का आन्दोलन हिन्दी विघातक है। अत: किसी भी दृष्टि से 'सस्कृतनिष्ठ हिन्दी' का आन्दोलन बुरा है, इसके अन्दर आदि मे लेकर अन्त तक जहर भरा है। प्रत्येक समझदार व्यक्ति को 'संस्कृतनिष्ठ हिन्दी' के आन्दोलनका सख्त से सख्त विरोध करना चाहिए।

["जनवाणी" मई १९४९]

*

भगवान् महावीरका ही धर्म विश्वरक्षा कर सकेगा—

आचार्य काका कालेलकर द्वारा महावीर जयन्ती पर इन्दौर में दिया गया भाषण—

जब जब मैं भगवत महावीर या उनके जैन धर्म की प्रशंसा करता हूँ तब लोग मुझसे पूछते है कि आप तो ब्राह्मण हैं जैन धर्म की प्रशसा क्यों करते हैं? मैं केवल उनको इतना ही उपदेश देता हूँ कि महावीरमें आस्तिकता की पराकाष्ठा थी। वेद कहते है--वेद को जो नही मानेगा वह नास्तिक, परन्तु मेरा तो निश्चय है कि वेद तो ग्रन्थ है. शास्त्र नही। मैं किसी भी प्रश्न में शास्त्र को प्रमाणभूत मानता हूँ ग्रन्थको नही। मान्यता के प्रश्न की अपेक्षा आचरण का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। मैं तो इस प्रकार व्याख्या करता हूं कि जो अपने आपमें विश्वास रक्खे और आत्मप्रेरणानुसार कार्य करे वही है आस्तिक और जो न करे वह नास्तिक।

मैं भगवान् महावीर को परम आस्तिक मानता हूं। श्रीभगवान् महावीर ने केवल मानव जातिके लिए ही नही पर समस्त प्राणीगण के विकासके लिए अहिंसा का प्रचार किया, और उसका आरंभ भी क्रम से किया, परिवार, जाति, समाज, राष्ट्र और सम्पूर्ण विश्वपर उसकी छाया डाली, उनके हृदय में प्राणीमात्र के कल्याण की भावना सदैव ज्वलंत थी और इसीलिए वे विश्वकल्याण का प्रशस्त मार्ग स्वीकार कर सके।

भ० महावीर, ऐसे युगमे जन्मे थे कि जब मानव मानव के रक्त का प्यासा था। भगवान् ने अहिंसा का जो अत्युच्च आदर्श जनता के समक्ष उपस्थित किया वह केवल युग के लिए ही नही परन्तु युग युग के लिए था, वे भविष्यत्काल के द्रष्टा थे अतः वे जान सके थे कि हजारो वर्षो तक अहिंसा का कैसा प्रभाव रहेगा। मै दृढ़ता के साथ कह सकता हूँ कि उनके अहिंसा के सिद्धान्त से ही विश्वकल्याण तथा शान्ति की स्थापना होगी. उन्होंने प्रचार किया कि अहिंसा मानव जीवन के साथ जुडी हुई है। अहिंसा को सिद्ध करनेके लिए सच्चा मार्ग तप का है जो भगवान् ने भी स्वीकार किया था। प्रत्येक धर्म के प्रवर्त्तको ने अहिंसा और तप को प्रधान स्थान दिया है। मन पर विजय करना, वासना का त्याग करना, लोभ, काम, क्रोधादि शत्रुओ पर अधिकार प्राप्त करना ही तप है। भगवान् महावीर भलीभाति जानते थे कि मनुष्य अल्पज्ञ है पर साथ ही शक्तिमान् भी है। अत उन्होने अहिंसा और तप के लिए सीढ़िया बनाई। तदर्थ व्यवहार धर्म का निर्देश किया. परंतु अपने लोगो ने मूल वस्तु को एक तरफ रख दिया, गौण वस्तु को पकड़ लिया। भगवान् महावीर के ही अनुयायी आज बैंक बैलेन्स बढ़ाने मे अनुरक्त है। अमेरिका मे 'क्वेकर्स' सब से अधिक दयावान् और श्रद्धालु कहे जाते है. परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि अमेरिका मे सर्वाधिक श्रीमान् भी वे ही है। अहिंसाधर्मी बन कर शोषण द्वारा हिंसा करना यह भगवान् महावीर के आदर्श अनुयायी को कदापि शोभा नही देता। ऐसे धनिक लोग अक्सर कहा करते है कि खूब धनोपार्जन करो, और बाद मे दान देकर धर्म भी करो। परन्तु यह प्रणालिका उचित नही है। दान तो अपरिग्रही बनने का और मोह का परित्याग करने का मार्ग सिखलाता है। दूसरोको विशेष रूप मे लूट कर थोडा दान करने मे किसी भी हेतु की सिद्धि नही होती। परन्तु अब अकिंचनों का भगवान् जाग्रत हुआ है अब वह किसी को भी धनवान् नही होने देगा। बुद्धिमान् अंग्रेज लोग सतर्क हो गए और उन्होने अपना मस्तक सलामत रखा, अब पूंजीपतियो की वारी आई है उन्हे भी सावधान हो जाना चाहिए। यदि वे अपने अस्तित्व की रक्षा करना चाहते है तो शोषणजनित हिंसा का त्याग करना ही होगा। प्रत्येक मनुष्य को मानना होगा कि मानव के कल्याण में मेरा कल्याण है। मानव समाज एक है। मै नही कहता कि आप धनार्जन करना छोड़ दें पर मै तो चाहता हूँ कि आप अपना हृदय बदल दें। अमेरिका, चीन, इंगलैण्ड और लन्दन की जनता समझ ले कि हम सब भाई है तो विश्व एक हो सकता है?

जैन समाजविषयक मुझे आश्चर्य तो इस बात का है कि अनेकान्त दृष्टि सम्पन्न समाज में इतने झगड़े क्यों? समता भाव तो भगवान् महावीर के धर्म का मूल

है। साम्प्रदायिक बाड़ोकी परम्परा यदि लुप्त होगी तब ही भगवान् का धर्म जोर-शोर से प्रचारित किया जा सकेगा, क्षमादृष्टि रखकर विश्वावलोकन करना ही उपादेय है। क्षमा, संयम, तप और सत्य ये सब अहिंसा के स्तम्भ हैं।

बिना परिश्रम किये हम अहिंसक नहीं बन सकेंगे। जीवनविषयक जितने आरम्भ-समारम्भ हैं वे तो करने ही होंगे। पर उनमें दूसरे के शोषण द्वारा यदि हमारा निर्वाह होगा तो वह हिंसा कही जायगी। अहिंसा की साधना बड़ी कठिन है। एक ओर पौद्गलिकभाव खींचतान करता है तो दूसरी ओर आत्मा सचेत बनता है। शरीर प्रथम विचार करता है आत्मा उत्कर्ष का चिन्तन करता है। दूसरों का हित हृदय में रहने से आत्मा धार्मिक श्रद्धावान् बनता है।

क्षुधा जाग्रत हो तब भोजन करना यह तो स्वाभाविक है। परन्तु खुद को भूख लगे तब दूसरा कोई तो भूखा नहीं रह जाता है यह सोचना ही धर्म है। जड़ और चेतन के बीच जो सम्बन्ध प्रतिदिन चला करता है उसमें आत्मा को विजयी बनाने का मार्ग त्याग, तप और अहिंसा ही है।

जैनधर्म में स्पर्शास्पर्श या वर्णव्यवस्था का भेद नहीं है यह कलंक तो हिन्दू धर्म में है। जैनों को इस बात से दूर रहना चाहिए, और भगवान् महावीर का धर्म भी यही कहता है। आज देखते हैं तो पता चलता है कि सब राष्ट्र युद्ध से पृथक् रहना चाहते हैं, पर साथ ही साथ युद्ध की सामग्री भी पूरे जोर से जुटाते फिरते हैं। आज की मानवता को युद्ध के दावानल से मुक्त रखने का एकमात्र उपाय भगवान् महावीर की अहिंसा ही है।

इस प्रयत्न का विशेष दायित्व भगवान् महावीर के सच्चे अनुयायियों पर है और मुझे पूर्ण विश्वास है कि जैन समाज भगवान् महावीर के धर्म को मानवता का धर्म, विश्वबन्धुत्व का आदर्श बना, विश्व कल्याण करने में शक्तिमान होगा।

["जैन" १५ मई]

*

भारत की भावी संस्कृति— * —मुनि कान्तिसागर

वर्षों की पराधीनता के बाद भारत ने राजनैतिक मुक्ति पाई। अतः भारत का उत्तरदायित्व पूर्वापेक्षया अब बहुत बढ़ गया है। भारतीय स्वाधीनता के बाद प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हजारों के बलिदानों के बाद प्राप्त की गयी स्वतंत्रता की रक्षा कैसे की जाय। भारत प्रारंभकाल से ही बुद्धिजीवी राष्ट्र रहा है। सैनिक शक्ति हमारी रक्षा भले ही परिस्थितिवश कर सके

परन्तु जहाँ तक पारस्परिक एक अग्रिम रक्षा का प्रश्न है वह नहीं कर सकती। विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि किसी भी देश का भावी उत्थान एवं स्थायी संरक्षण उसके सर्वांगीण साँस्कृतिक तत्वों के अध्ययन, मनन, अन्वेषण और आचरण पर ही निर्भर है। इन्हीमें जन जीवन उन्नयन के तत्व अन्तर्निहित हैं। संस्कृति विहीन कोई भी राष्ट्र, जाति या समाज, अपनी भौतिक अस्तित्व भी अधिक समय तक नहीं टिका सकते। तब आध्यात्मिकता की तो बात ही क्या कही जाय। एक समय था जब सम्पूर्ण भारतीय जीवन साँस्कृतिक वायुमण्डल से ओतप्रोत था। जनता ने त्याग, संयम और तपोबल से अपनी समाजमूलक संस्कृति एवं सभ्यता को न केवल भारत में ही उच्च स्थान पर परिस्थापित किया था अपितु बृहत्तर भारत से भी उपर्युक्त तत्वों का प्रसार कर मानव मात्र को साँस्कृतिक एकता के सुदृढ़ सूत्रों में आबद्ध कर रखा था। जैसा कि वर्तमान काल में तत्तत्स्थानों में उपलब्ध होने वाले प्रस्तर आदि ध्वंसावशेषो से फलित होता है। इसी कारण संसार के तत्वचिन्तकों ने भारत को बहुत प्राचीन काल से ही गुरु के रूप में ही माना है। आज हमारे सामने सबसे कड़ी और जलती हुई समस्या यह है कि इस गौरवपूर्ण स्थान के सम्मान की प्रतिष्ठा की रक्षा हम ऐसे किन साधनों द्वारा करें जिनसे न केवल जनकल्याण वाँछनीय परम्परा की ही रक्षा करें अपितु स्वतंत्रता के जागरण द्वारा ऐसा कार्य करें जिनसे संस्कृति के नाम पर विश्व में फैले हुए स्वार्थपोषक मानवीय तत्वों के स्थान पर शुद्ध, सात्विक और प्रेरक भावनाओं को प्रसारित करें, जिनसे मानव मानव का शोषण रुके। सचमुच में यह कार्य कुछ तो कठिन अवश्य है पर उपेक्षणीय नहीं। इसकी उपेक्षा में ही हमारी संस्कृति की मृत्यु के तत्व हैं। यह कार्य उन राजनैतिक नेताओं की शक्ति से बाहर है, प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य हो जाता है कि वे भारत की प्राचीन परम्परा को पहचानें, एक तदनुकूल जीवन का निर्माण करें। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके उत्तरदायित्व का अधिक बोझ भारत के बुद्धिजीवी कलाकारों पर है। वे अपने वर्षों की चिरसाधित लेखनी से ऐसे तत्व दे सकते हैं जो भारतीय संस्कृति में प्रगतिशील तत्वों का समावेश कर सकते हैं। साथ ही साथ उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय जगत् तक पहुँचावें। इस पंक्ति को मैं सकारण लिख रहा हूँ क्योंकि यह कहा जा सकता है कि और कुछ पुराण-पंथी लोग माने बैठे हैं कि प्राचीन साहित्य में संस्कृति के महत्व की गौरवगाथा, उसकी नैतिक परम्परा का विशद विवेचनात्मक उल्लेख किया गया है और संस्कृति वही है जिसमें सामयिक परिवर्तन न हो। उनका प्राचीनता के मोह के कारण यह भी विश्वास जड़ जमाए हुए है कि संस्कृति में स्थायित्व नहीं मानेंगे तो वह परिवर्तित होते होते न जाने हमें समाज

के किस स्तर पर पहुँचावेगी। हमें इन्हीं दो बातों पर अपने विचार प्रस्तुत करने हैं।

समस्या उलझी हुई है। इसे भिन्न भिन्न प्रकारकी शास्त्रीय व्याख्याओं द्वारा नहीं सुलझाया जा सकता, क्योंकि संस्कृति शब्द स्वयं इतना उलझा हुआ है कि इसकी सर्वांग- पूर्ण व्याख्या किसी के लिये भी असम्भव भले ही न हो पर कठिन अवश्य है। हमारा निश्चित मत है कि आजका समाज जिसे संस्कृति मान बैठा है वह एक प्रकार का भ्रम है। संस्कृति किसे कहते हैं इसे समझने के लिये यदि बुद्धि वाद से काम लेते हैं तो समस्या सरलता से सुलझ सकती है। संस्कृति गतिशील वस्तु है। वह गत्यात्मक है स्थिरात्मक नहीं। संस्कृति संघर्षों में उत्पन्न होती है; युद्ध करती है, लड़ती है पर मरती नहीं। संस्कृति वही है कि जिसमें भिन्न भिन्न जातियाँ एवं उसकी जनता के आध्यात्मिक और भौतिक चिर साधनाओं के विकास की परिस्थिति परिलक्षित हों। संस्कृति प्रत्येक युग में अमानवीय तत्वों में संघर्ष करती है। और युग की आवश्य-कताओं के अनुसार मानव जाति के विकास में सहायक होती है। उसमें प्रेरणा एवं स्फूर्ति का प्रवेश कराती है। यदि संस्कृति का अन्तिम साध्य एक हो एवं तदुपायों में सामयिक परिवर्तन होते रहें तो संस्कृति में विकृति नहीं आ सकती। ऐसी स्थिति में जब कि प्रत्येक युग का मानव समाज अपनी अलग अलग परम्परा रखता है—यह कैसे हो सकता है कि हम प्राचीनता से चिपके रहें और संस्कृति को अपरिवर्तनीय तत्व मान लें। अस्तु

संस्कृति के नाम पर खून की नदियाँ बही हैं, मानव का सभी दृष्टि से शोषण भी संस्कृति के ही नाम पर हुआ है। इतिहास इस बात का साक्षी है परम्परा के प्रति मोह तब ही हो सकता है जब वह समीचीन हो। समीचीनता और संस्कृति में कितना साम्य है। गत डेढ़ सौ वर्षों का इतिहास और उसकी संस्कृति को हम देखें तो हमें मानना पड़ेगा कि प्रत्येक युग में सामयिक परिस्थितियों के अनुसार हो वह जीवित रही है।

भावी भारत का निर्माण साँस्कृतिक तत्वों के आधार पर होने जा रहा है। हम देखते हैं कि स्वार्थी लोग या कुछ पेटू पंडितों ने यह खुले आम घोषित कर रक्खा है कि वैदिक संस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। हमारी समझ में यह एकमात्र अहंकार जन्य बौद्धिक तत्वों का विकृत परिणाम मात्र है। संस्कृति जैसे व्यापक शब्द को संकुचित करना ही उसकी हत्या करना है। वे इस प्रकार की अनर्गल बातें फैला कर भावी भारत को साम्प्रदायिक सूत्र में बांधना चाहते हैं। जिस साम्प्रदायिक यज्ञ में बापू जैसे महात्मा का बलिदान हुआ फिर भी स्वार्थियों के हृदय में परिवर्तन न हुआ देख कर उनपर बड़ी दया आती है जो भारतीय

संस्कृति पर साम्प्रदायिक कलुषित भावनाओं की छाप लगाये बैठे हैं। भारतीय संस्कृति को वैदिक संस्कृति कहना सरासर मूर्खता भले ही न हो, पर बुद्धिमत्ता तो अवश्य ही नहीं है। हम भारतीय संस्कृति के बहुत प्राचीन इतिहास पर न तो यहाँ कुछ कहना चाहते है और न यहाँ उसकी विवक्षा ही है। तथापि इतना हम अवश्य कहेंगे कि उन्हे इस बात का खूब ध्यान रखना चाहिये कि अब भारत में साम्राज्यवाद को प्रश्रय देनेवाली राजनीति, समाजनीति या संस्कृति पनप नहीं सकती। मानव अपने अधिकारों को समझने लगा है। वह संस्कृति के नाम पर बौद्धिक साम्राज्यवाद की शृंखला में बँध नहीं सकता। दूसरा यह भी है कि भारत एक ऐसा महादेश शुरू से रहा है जहाँ पर अनेक जातियों ने आकर निवास किया। आज भी भारत मे हिन्दू, मुसलमान, पारसी, जैन और बौद्ध आदि धर्मावलंबी निवास करते है जिन पर भारतीय संस्कृति के नाम पर जबरदस्ती से वैदिक संस्कृति कैसे लादी जा सकती है ?

भावी भारत का मानव समाज अपनी समाजगत परिस्थितियों को देखकर अपनी प्राचीन परम्परा के तथाकथित अखंडनीय तत्त्वो को सर्वांगरूप से नहीं अपना सकता। वह चाहता है समाजमूलक संस्कृति का नव निर्माण हो। वह ऐसी संस्कृति को चाहता है जिसमे मानव कृत ऊँच-नीच भाव न हों। वह चाहता है आत्मलक्षी संस्कृति को, जिसमें वर्णव्यवस्था जैसी मानव-घातिनी प्रथा का स्थान न हो। स्त्री, शूद्रों का जिसमे समान अधिकार हो। एक ही व्यक्ति धर्म के नाम पर अपनी धार्मिक स्वार्थों की पूर्ति के लिये न तो मानवता का बलिदान दे सके एवं न धर्म के ही नाम पर साम्राज्यवाद का ही पोषण कर सके। एक प्रकार की संस्कृति ही भावी भारत की संस्कृति हो सकती है। वह संस्कृति श्रमणों की है। यह विषय इतना महान् तथा विवादास्पद है कि इस पर काफी विस्तार से विचार प्रकट करना अत्यावश्यक है जो मैं किसी समय अवश्य करूँगा। इस समय तो सीमित स्थान होने के कारण इतना इंगित मात्र ही कर सकता हूँ जो आशा है कि समस्या का खाका पाठक के सामने उपस्थित कर सकेगा।

——०० ——

साहित्य समीक्षा

तत्त्वार्थवृत्ति-

—तत्त्वार्थसूत्र की श्रुतसागरी टीका। प्रकाशक श्री अयोध्याप्रसाद जी गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ काशी। सम्पादक प्रो० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य और सहसम्पादक पं० उदयचन्द्रजी सर्वदर्शनाचार्य, एम० ए०। पृ० सं० १०६ + ५४८। छपाई उत्तम। कीमत १६) कापड़ी जिल्द।

प्रस्तुत संस्करण के चार भाग हे—प्रस्तावना, मूल ग्रन्थ, हिन्दी सार और परिशिष्ट। प्रस्तावना लेखक प्रो० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य है और हिन्दी सार लेखक पं० उदयचन्द्रजी एम० एम० हैं।

जैसा कि नाम से विदित है तत्त्वार्थवृत्ति तत्त्वार्थसूत्र की टीका है। इसके लेखक श्रुतसागर सूरि है। यद्यपि इन्होंने और भी अनेक टीकाएँ व ग्रन्थ लिखे है, पर उनमें से बहुतोंमे तलस्पर्शी ज्ञान की कमी दिखाई देती है। यह इनका साहस ही समझिए कि किसी विषय का सर्वांगीण ज्ञान न होते हुए भी उस पर इन्होंने लिखने का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत टीका का भी यही हाल है। इसमे ऐसी अनेक भूले हुई हैं जो निर्विवादरूप से सिद्धान्तविरुद्ध कही जा सकती हैं। कुछ का निर्देश न्यायाचार्य जी ने अपनी प्रस्तावना मे स्वयं किया है। फिर भी बहुतसी सैद्धान्तिक भूलो का निर्देश करना छूट गया है। उदहरणार्थ—असंयत सम्यग्दृष्टियो की संख्या बतलाते हुए जो खुलासा किया गया है वह आगम-विरुद्ध है। यह हो सकता है कि यह सख्या मनुष्य सासादन सम्यग्दृष्टि आदि की हो पर सामान्य सासादन सम्यग्दृष्टि आदि की वह सख्या कथमपि नही हो सकती। सामान्य से इन गुणस्थानवालो की सख्या तो पल्य के असख्यातवें भाग प्रमाण होती है जिसका उल्लेख प्रारम्भ में स्वयं श्रुतसागर सूरिने भी किया है। तब भी उनसे यह भूल हुई है। मुख्यतया यह टीका सर्वार्थसिद्धि के आधार से लिखी गई है।

हिन्दी सार और परिशिष्टो के विषय मे इतना लिखना ही पर्याप्त है कि इनके कारण प्रस्तुत संस्करण की उपयोगिता बढ गई है। जहाँ तक हिन्दी सार के लिखने में संयम से काम लिया गया है। जो भूले मूल टीकामे हुई है वे यदि हिन्दी सार लिखते समय न दुहराई जाती तो उत्तम होता। इससे आगे के लिये उनकी परम्परा नही चलती।

ग्रन्थ का सम्पादन उत्तम हुआ है। इस संस्करण की सब से बड़ी विशेषता प्रस्तावना है। यह एक ओर विचारकों को नई सामग्री प्रस्तुत करती है और दूसरी ओर जीवन के प्रत्येक स्पन्दन में समाये हुए मिथ्यात्व पर परिणामकारी प्रहार करती है।

इसमें सर्व प्रथम भगवान् महावीर के समकालीन छह अन्य तैर्थिकों के विचारों का सकलन किया गया है। यह बौद्ध साहित्य और जैन आगमों के आधार से लिखी गयी है। इससे भगवान् महावीर के समय में किस प्रकार वेदबाह्य धाराएँ काम कर रही थीं इसका पता तो लग ही जाता है साथ ही उनका जैन तत्त्वज्ञान में किस प्रकार समन्वय किया गया है इसका भी पता लग जाता है।

इसके आगे जैन तत्त्वज्ञान के विविध अङ्गों की चर्चा करते हुए सम्यग्दर्शन के विषय में जो कुछ भी लिखा गया है वह पाठकों का ध्यान अपनी ओर सहज ही आकर्षित कर लेता है। मुझे ये सब प्रकरण बहुत ही प्रिय लगे हैं। बहुत समय से मैं इस दिशा में प्रयत्न कर रहा था। धर्म और कर्म जैसे उपयोगी विषयों पर मैंने कुछ लिखा भी था। मुझे प्रसन्नता है कि न्यायाचार्य जी ने इन विषयों को आगे बढाया है। आज का मनुष्यसमाज परिभाषाओं से जकड़ा हुआ है। वह उनके भीतर छिपे हुए तत्त्वज्ञान की ओर रचमात्र भी ध्यान नहीं देता। और प्रकारान्तर से मिथ्यात्व का ही पोषण करता रहता है। न्यायाचार्य जी ने 'सम्यग्दर्शन का सम्यग्दर्शन' आदि विविध प्रकरण लिख कर उसी मिथ्यात्व का पर्दाफास किया है। हम उनकी इस सफल लेखनी को बधाई देते है। फिर भी मैं उनके नियतिवाद के विषय में लिखे गये विचारों से सहमत नहीं हूँ। मेरे खयाल से नियतिवाद जैन तत्त्वज्ञान का एक परिणामकारी अंग है। मेरी उनसे एक नम्र सूचना तो है ही कि वे इस विषय पर और गहराई से विचार करें। वे देखें कि निमित्त को प्रधानता देने पर वस्तु की स्वतन्त्रता का क्या स्थान रह जाता है। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' यह वस्तु के स्वभाव का उद्घोष है और नियतिवाद इसमें अन्तर्निहित है जो मनुष्य की बुद्धि को बाहर से खींच कर भीतर की ओर ले जाता है। इसमें अव्यभिचारी कार्यकारणभाव की मीमांसा करने में बड़ी सहायता मिलती है।

इसके आगे स्याद्वाद की चर्चा करते हुए न्यायाचार्य जी ने जो विविध भ्रमों का सयुक्तिक निरसन किया है वह सराहनीय है। वास्तव में अन्य विद्वान् जैन तत्त्वज्ञान का अभ्यास न करके विविध प्रकार के आक्षेप किया करते हैं। यह दोष सैकड़ों वर्षों से चालू है। शंकराचार्य जैसे विद्वान् भी इस दोष से अछूते नहीं बचे हैं। जैन तत्त्वज्ञान के अभ्यासी विद्वानों को मैदानमें आकर न्यायाचार्य जी के इस उपक्रम का अनुकरण करना चाहिये। तभी यह दूषित परम्परा बन्द की जा सकेगी।

सम्पादकीय

पत्र की नीति—

यह जनतन्त्रका युग है। हमने अपनी खोई हुई निधिको हजारों वर्ष बाद पुनः प्राप्त किया है। यद्यपि श्रमण तीर्थंकरोंने हजारों क्या लाखों वर्ष पहले हमें जीवननिर्माणकी आधारभूत व्यक्तिस्वातन्त्र्य और जनतन्त्रकी व्यापक शिक्षाएं दी थीं किन्तु सदा काल उन्हें हम याद न रख सके। सामन्तवादी संस्कृतिके मोहमें फंसकर हमने उन्हें कभीका भुला दिया है। अब हमारे ऊपर पुनः नया दायित्व आया है। उस दायित्वका निर्वाह करनेके लिये उसके अनुरूप हमें बनना ही होगा। इसके बिना न तो विश्व में शान्ति और सुव्यवस्था ही कायम हो सकती है और न व्यक्ति जीवनसंशोधनके कार्यमें ही अग्रसर हो सकता है।

माना कि देशमें आज भी ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है जो जनतन्त्रवादका चोगा पहिन कर आतंकप्रधान सामन्तवादी मनोवृत्तिसे काम ले रहे हैं। वे कहीं धर्मका, कहीं समाजका और कहीं जनमतका नाम लेकर पुरानी परम्पराओंको यथावत् कायम रखना चाहते हैं। वे नहीं चाहते कि जो भी आज दलित और शोषित हैं उन्हें ऊंचा उठने दिया जाय।

कांग्रेस सरकार जो जनतन्त्र और असाम्प्रदायिक राज्यका उद्घोष करती है वह भी कभी कभी इन सामन्तवादियोंके झांसेमें आ जाती है। उसने स्वतन्त्रता प्राप्तिके पूर्व जिन महान् और उदार प्रतिज्ञाओंको किया था उन्हें अब वह भूलती जा रही है। वह प्रत्येक वर्ग और सम्प्रदायको खुश रखनेकी नीति बरतने लगी है। स्वराज्य प्राप्त हुए करीब दो वर्ष होनेको आये हैं पर अभी तक न तो हरिजनोंके समान अधिकारकी समस्या सुलझ पाई है और न ही सामन्तवादी

पूरी प्रस्तावना देखने के बाद मैं यह दृढ़तापूर्वक कह सकता हूं कि न्यायाचार्य जी प्रस्तावना लिखने में सफल रहे हैं। मेरी राय है कि ज्ञानपीठ इसे पुस्तक रूप में प्रकाशित करा दे। इससे जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार में बड़ी सहायता मिलेगी। ज्ञानपीठ ऐसे प्रकाशन के लिये बधाई का पात्र है।

—फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

मनोवृत्तिका अन्त हो सका है। सरकारी कर्मचारियों और पुलिसका रवैया भी पूर्ववत् चालू है। इन सब बातोंके रहते हुए वर्तमान व्यवस्थाका अन्त कैसे हो सकेगा इसमें सन्देह होने लगा है।

यद्यपि स्थिति ऐसी है फिर भी हमें घबड़ाना नहीं है। हमें वस्तुस्थितिका निर्देश करते हुए विश्वको जीवन-यापन और जीवन संशोधनकी कलामें निपुण बनानेका प्रयत्न करते रहना है। हमें दृढ़ता और साहसके साथ उस मार्गपर चलना है जिसका श्रमण तीर्थंकरोंने अपने पुनीत उपदेशों द्वारा निर्देश किया था। हम विश्वको ऐसा देखना चाहते हैं जिसमें न कोई ऊँच रहे और न कोई नीच न कोई शासक रहे और न कोई शोषित, न कोई धनी रहे और न कोई निर्धन। किन्तु सभी मानवतनधारी प्राणीमात्र स्वतन्त्रता पूर्वक अपने आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों प्रकारके जीवनका निर्माण कर सकें। हो सकता है कि इस कार्यमें अनेक प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित की जाँय पर हमें उन्हें धैर्यपूर्वक सहकर अपने उद्दिष्ट कार्यमें लगे रहना है। ऐसा करते हुए, हम भय, आशा, स्नेह और लोभ वश उक्त मार्गसे विरत न हो जाँय यही हमारी कामना है।

श्रमण तीर्थंकरोंकी शिक्षा है कि न कोई किसीका बिगाड़ कर सकता है और न कोई किसीका सुधार ही कर सकता है। विश्वमें जितने तत्त्व हैं वे सब स्वतन्त्र और शक्तिसम्पन्न हैं। उनका प्रत्येक समयका परिणमन उन्हींके आधीन है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थके परिणमनमें केवल निमित्तमात्र हो सकता है। इसलिये हम किसीके कर्ता हैं इस अहंकारको छोड़कर ही हम यह कार्य करना है। हमें सदा सजग और सावधान होकर इन शिक्षाओंको हृदयंगम करते हुए ही आगे बढ़ना है।

यों तो देशमें अनेक पत्र पत्रिकाएँ निकलती हैं परन्तु उनमेंसे बहुतोंकी नीति साम्प्रदायिक है। बहुतोंकी धुंधली और अस्पष्ट है। ऐसे पत्रका प्राय अभाव ही है जो श्रमण संस्कृतिका ठीक तरहसे प्रतिनिधित्व करता हो। यही सोच कर ज्ञानोदय मासिक पत्रके संचालनका निर्णय किया गया है।

इसके द्वारा हम श्रमणोंकी सांस्कृतिक शिक्षाओंका प्रचार करना चाहते हैं। हमारा विश्वास है कि वर्तमान युगके निर्माणमें उनकी अत्यधिक आवश्यकता है।

पत्रका उद्देश्य और व्यवहार क्षेत्र व्यापक और उदार होकर भी उसका सीधा सम्बन्ध श्रमणधाराके मुख्य अंग जैन समाजसे भी रहेगा। हमें इस समाजके नेताओंकी दृष्टिको भी सम्यक् बनानेका लघु प्रयत्न करना है। जिससे वे मूल जैनदृष्टिको समझकर आजके युगमें उसका उपयोग मानवसमत्व, अहिंसा और अपरिग्रहके प्रचारमें करनेकी दिली चेष्टा करने लगें। हम अवान्तर साम्प्रदायिक

बातोंकी ऐसी चरचा इस पत्रमें नहीं करना चाहेंगे जिससे व्यर्थकी कटुता और उत्तेजना बढ़े। साधारणतया जैन सामान्य भूमिकाके निर्माणकी ओर ही हमारा कदम होगा।

हम चाहेंगे कि इतिहास पुरातत्त्व सम्बन्धी लेखोंमें परखंडन, आक्षेप, विक्षेप, आदि अंश न रहकर शिष्ट भाषामें स्ववक्तव्य ही मुख्य रूपमें रहे।

सामाजिक चरचाओं में हम विवाह का सैद्धान्तिक विवेचन, उसका क्षेत्र, मन्दिर, संस्था, शिक्षा आदि सभी अङ्गोंका मूल जैनदृष्टिसे विवेचन करनेका प्रयास करेंगे।

शास्त्रीय विवेचनमें हम उस मूल अध्यात्म दृष्टिको केन्द्रमें रखनेकी पूरी कोशिश करेंगे जिससे महावीर तीर्थंकर बने और जिसका कुन्दकुन्द आदि युग प्रधान आचार्योंने सैद्धान्तिक विवेचन किया।

आजके परिवर्तित युगमें हमारी पूजापद्धति मन्दिरसंस्था त्यागीसंस्था शिक्षासंस्था और सामाजिक सभाओंकी क्या गतिविधि होनी चाहिए इसका साकार निरूपण भी हमारी कर्तव्य सीमामें है।

पत्र किसी भी प्रकार के वादविवादमें अपनेको नहीं उलझाएगा। उसका कार्य तो अपनी मूल दृष्टिको स्पष्टतः प्रतिपादन करना ही होगा।

राजनैतिक क्षेत्रमें हम जैनसमाज की ओरसे संस्कृति विरुद्ध प्रतिनिधित्व करनेवालोंकी समीक्षा के साथ ही साथ सही मार्ग और जैनदृष्टिका प्रतिपादन करेंगे।

आशा है हमारे इस कर्तव्यमार्गमें सभी संस्कृति प्रेमियोंका हर तरह सहयोग मिलेगा जिससे हम अपनी इस सेवाको लोकहितमें अधिकाधिक लगा सकें और आजके त्रस्त मानवको श्रमणधाराके सम, शम और श्रमकी पुनीत संजीवनी दे सकें।

*

नम्र निवेदन–

अधिकतर जैन पत्रों में ऐसी चर्चा है कि श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर महाराज ऐसे कानून बनने के विरोध में आंशिक उपवास कर रहे हैं जो हरिजनोंको जैन मन्दिर में जाने का अधिकार दिलाता है। जहाँ तक हमने शास्त्रीय दृष्टि से उपवास के विषय में विचार किया है मुनि या तो आत्मसंशोधन के लिए उपवास करते हैं अथवा संघ या संघके किसी व्यक्ति में आई हुई बुराई को दूर करने के लिए उपवास करते हैं। यह बात बिल्कुल ही समझ में नहीं आती कि शास्त्रीय मर्यादा के ज्ञाता आचार्य महाराज इस कारण से उपवास करते होंगे। हम तो इसे उनका अवर्णवाद मानते हैं और जो पत्र ऐसा प्रचार करते हैं वे इस दोष के भागी माने जाने चाहिये।

जो लौकिक दृष्टि से हरिजन या अछूत माने जाते हैं वे भी आत्मधर्म को स्वीकार कर सकते हैं और उसका आचरण कर उसी भव से मोक्ष के पात्र भी बन सकते हैं, इसलिये वे जिनमन्दिर मे नही जा सकते यह तो प्रश्न ही नही उठता। फिर भी जिन बन्धुओके मनमे शका है और जो शास्त्रीय मर्यादा का ख्याल न कर लौकिक रूढ़ियो को ही शास्त्र मान बैठे हैं वे अपना विरोध प्रकट कर सकते हैं और आवश्यकता पडने पर अपनी श्रद्धा के अनुसार उसका प्रचार भी कर सकते हैं। पर इसके लिये आचार्य महाराज का आलम्बन लेना हम उचित नही मानते। यह बहुत गलत तरीका है। इससे शास्त्रीय मर्यादा के भंग होने का भय है। हम आशा करते हैं कि भविष्य मे कोई भी पत्र इस प्रकार के प्रचार को प्रोत्साहन नही देगा।

और यदि पत्रो का यह प्रचार सही हो तो हमारा आचार्य महाराज से नम्र निवेदन है कि वे अपने इस निर्णय पर पुनः विचार करे। यदि वे शास्त्रीय दृष्टि से इस विषय का निर्णय करने की कृपा करेंगे और रूढ़ि पर ध्यान न देगे तो हमे विश्वास है कि वे अपने उक्त निर्णय को तत्काल बदल देंगे।

कदाचित् आचार्य महाराज का यही मत बना रहे कि हरिजनो को जैन मन्दिरो मे जाने की आज्ञा नही दी जा सकती है तो भी वे अपने उक्त निर्णय पर पुनः विचार करे, क्योकि यह निर्णय उनकी वृद्धावस्था को देखते हुए हानिकर तो है ही साथ ही विश्व की और खास कर भारतवर्ष की बदलती हुई परिस्थिति को देखते हुए जैन संस्कृति की मूल भावनाओ को भी ठेस पहुचानेवाला है। हमे विश्वास है कि हमारे इस नम्र निवेदन पर समाज के कर्णधार और आचार्य महाराज गम्भीरता-पूर्वक विचार करेंगे।

चित्र-परिचय

यह जैन प्रतिमा श्रीयुत कन्हैयालाल श्रीमाल, राजगृह के संग्रह मे सुरक्षित है। कला की दृष्टि से यह मूर्ति अनुपम है। चारों ओर खड्गासनस्थ जो जिन-प्रतिमाएँ हैं वे चौबीस तीर्थंकरों की हैं। मध्य भाग में विशाल, सौम्य मुद्रावाली प्रतिमा भगवान् ऋषभदेव स्वामी की है। स्कंध प्रदेश पर केशावली और निम्न स्थान मे वृषभ के चिन्ह स्पष्ट बने हुए हैं। मस्तक पर जो गुच्छा-सा दीखता है वह इस बात का प्रमाण है कि इस प्रतिमा का निर्माण काल ११ वीं से तेरहवीं शती के बाद का नही हो सकता, और इसमें अष्ट प्रातिहार्य स्पष्ट उत्कीर्णित हैं। प्रतिमा के चरणके निम्न भाग मे श्रावक और श्राविका का प्रतीक है। जैसा कि अन्य जैन मूर्तियां मे भी वर्तमान रहता है।

——०○——

'ज्ञानोदय' के विषय में

१. 'ज्ञानोदय' प्रत्येक माह के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित होगा।

२. पत्र-व्यवहार में अपनी ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।

३. किसी भी माह से ग्राहक बन सकते हैं।

४. आलोचनार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजनी चाहिए।

५. पत्र में शिष्ट साहित्यिक विज्ञापन ही लिए जायँगे।

६. श्रमण संस्कृति के तत्त्वों को व्यवहारोपयोगी बनाने के लिए तत्सम्बन्धी शंकाओंका समाधान भी यथासंभव किया जायगा। पाठक शंकाएँ सम्पादक को भेज सकते हैं।

मुद्रक और प्रकाशक–**अयोध्याप्रसाद गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।**

भार्गव भूषण प्रेस, बनारस

भारतीय ज्ञानपीठ काश

अगस्त १९४९ [२] वीर नि० २४७५

उद्देश्य–व्यक्तिस्वातन्त्र्य-मूलक श्रमण संस्कृति के सन्देश द्वारा श्रम, शम और सम–स्वावलम्बन शान्ति और समता–का सार्वजनीन उद्बोधन।

*

सम्पादक–मुनि कान्तिसागर : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

'ज्ञानोदय' के विषय में–

१. 'ज्ञानोदय' प्रत्येक माह के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२. पत्र-व्यवहार में अपनी ग्राहक संख्या अवश्य लिखिये।
३. किसी भी माह से ग्राहक बन सकते हैं।
४. आलोचनार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजनी चाहिए।
५. पत्र में शिष्ट साहित्यिक ही विज्ञापन लिए जाते हैं।
६. श्रमण संस्कृति के तत्त्वों को व्यवहारोपयोगी बनाने के लिए तत्सम्बन्धी शंकाओंका समाधान भी यथासंभव किया जायगा। पाठक शंकाएँ सम्पादक को भेज सकते हैं।

*

'ज्ञानोदय' की सेवा आप तीन प्रकार से कर सकते हैं—

१. उद्देश्य के अनुकूल लेख, कहानी, कविता आदि भेजकर।
२. स्वयं ग्राहक बनकर और अन्य बन्धुओं को बनाकर।
३. अपने बन्धुओं और मित्रों के बीच प्रचार करके।

*

वार्षिक ६) * **एकप्रति ||=)**

'ज्ञानोदय' कार्यालय

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

'ज्ञानोदय' पर अभिमत

श्री १०८ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी–

"ज्ञानोदय आया, बहुत ही उत्तम है। कालान्तर में इसकी विशेष उन्नति होगी। जनता अपनावेगी।"

आचार्य जिनविजय मुनि–

"ज्ञानोदय सुन्दर है। आकार और प्रकार दोनों दृष्टि से अच्छा है।"

श्री राहुल सांकृत्यायन–

"इतनी उदार श्रमणसंस्कृति की पत्रिका की बड़ी आवश्यकता थी।"

श्री बा० गा० खेर, प्रधानमन्त्री बम्बई प्रान्त–

"ज्ञानोदय में आपने हरिजनों को जैन मंदिर में प्रवेश का अधिकार बताने की प्रगतिशील दृष्टि रखी यह पढ़कर बड़ी खुशी हुई। अखिल जैन समाज में इस दृष्टि का प्रसार हो यह ही प्रार्थना है।"

पं० नाथूराम जी प्रेमी बंबई–

"ज्ञानोदय की पाठ्य सामग्री काफी अच्छी है। मैंने इतनी अच्छी की कल्पना नहीं की थी।"

श्री सिद्धराज ढड्ढा, मन्त्री राजस्थान प्रान्त जयपुर–

"आप लोगों के हाथ में पत्र की नीति साम्प्रदायिक नही होगी इस बात का भरोसा है। आपका प्रयत्न सफल हो।"

श्री प्रभाकर माचवे–

"बहुत सुन्दर है, विशेषत: भारतीय संस्कृति का दो दृष्टिकोण वाला लेख।"

श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, सम्पादक 'विकास'–

"ज्ञानोदय देखकर जी मे सुख हुआ।"

श्री अजितप्रसाद एडवोकेट लखनऊ–

"जैन मासिक पत्रों में यह सर्वोत्तम प्रयास है।"

श्री मोहनसिंह सेंगर, सं० नया समाज, कलकत्ता–

"अंक की सामग्री छपाई-सफाई और सम्पादन सुन्दर है।"

ज्ञानोदय

इस अंक में–

आगामी अंक में पढ़िए–

जैनधर्म की अहिंसा अनिलकुमार मुखर्जी

अशोक की नीति और आधुनिक युग–डॉ० राजबलि पाण्डे

श्रमण संस्कृति–प्रो० विमलदास जैन एम० ए०

कर्मविषयक भ्रान्ति का निराकरण–फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

कालिदास के नाटकों में शृङ्गारक तत्त्व–देवेन्द्रकुमार जैन एम० ए०

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

वर्ष १ * काशी, अगस्त १९४९ * अंक २

श्रमण संस्कृति

"जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाण।
न हणइ न हणावेइ य समणमई तेण सो समणो॥"

—अनु० गा० ३।

जिस प्रकार मुझे दुःख अच्छा नहीं लगता उसी तरह सभी जीवों को। यह समझकर जो न स्वयं हिंसा करता है और न करवाता है अर्थात् सभी प्राणियों मे समबुद्धि रखता है वह श्रमण है।

"णत्थि य से कोइ वेसो पिओ अ सव्वेसु चेव जीवेसु।
एएण होइ समणो एसो अन्नोवि पज्जाओ॥"

—अनु० गा० ४

जो किसी से द्वेष नहीं करता, जिसे सभी जीव समान भाव से प्रिय है वह श्रमण है। श्रमण सुमना होता है।

"सो समणो जइ सुमणो भावेण जइ ण होइ पावमणो।
सयणे अ जणे य समो समो अ माणावमाणेसु॥"

—अनु० गा० ६।

जिसका हृदय सदा प्रफुल्लित है, जो कभी भी पापचिन्ता नहीं करता। जो स्वजन और अन्यजन, मान और अपमान में बुद्धि का सन्तुलन रखता है वह श्रमण है।

अशोक-स्तम्भ के प्रति–

–कलाकार सूरज

ओ शिलाखण्ड, ओ शिलालेख,
मेरे अतीत के चिर प्रतीक।
तुझ में जीवन के स्वर्ण गान
है, छिपे हुए कितने अलीक।

तुम मौन बने संगम समीप,
युग-युग मे निश्चल खड़े निडर।
लेकर अतीत की गाथाएँ,
ओ शिलाखण्ड देखते किधर।

आये कितने गामन-झझा
सघर्षों का तूफान लिये।
तुम देख रहे अपनी लय मे,
मद-मस्ती का अभियान लिये।

त्यागी अशोक के दिव्य-ज्ञान,
तुम चिर प्रतीक, तुम चिर नवीन,
मुखरित करते हो मौन बने,
बौद्धिक-युग की गाथा प्रवीन।

मेरे अतीत के कनक-कमल,
ओ विश्व सिन्धु मे खिले अमर।
वे गुह्य काल की नवल किरण,
लिपटी तुझ मे है मुखर-प्रखर।

भारत संस्कृति की अमिट रेख
हो खींच रहे नयनो समीप।
तुम प्रिय अशोक के भाव पलट,
कर खड़े हुए जन-मन महीप।

नवभारत के अभिमान अहो,
दीनों दलितो के प्राण खण्ड,
दे दो आशीष तनिक मुझ को,
भारत वैभव के शिला-खण्ड।

——००——

वर्णव्यवस्था का आन्तर रहस्य-

-पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

अन्य देशों से भारतवर्ष की स्थिति सर्वथा भिन्न है। वैदिक धर्म की कृपा से यहां का मानव समाज मुख्यतः चार वर्णों और अनेक जातियों व उपजातियों में विभक्त हो गया है जब कि अन्य देशों में ऐसा कोई विभाग नहीं दिखाई देता है। हजारों वर्षों से भारतवर्ष की कमजोरी और परतन्त्रता का एक कारण यह भी है। इस जातीय चढ़ाओढ़ ने देश के नैतिक बल का तो नाश किया ही है साथ ही वह भौगोलिक दृष्टि से एक हो कर भी भीतर से अनेक भागों में बँट गया है।

इधर कांग्रेस की बागडोर सम्हालने के बाद महात्मा गांधी ने जीवन में श्रम, शम और सम की प्रतिष्ठा करने के लिये कुछ कुछ समान भूमिका तैयार करने का प्रयत्न किया था और अंशतः वे उसमें सफल भी हुए थे, किन्तु कांग्रेस की वर्तमान नीति इतनी कमजोर और लचर है जिससे तत्काल इस समस्या का हल होना कठिन ही दिखाई देता है। कांग्रेस हरिजनों का जीवनस्तर तो सुधारना चाहती है पर वह शेष तीन वर्णों में आये हुए अन्तर को दूर करने के लिये कुछ भी प्रयत्न नहीं कर रही है। इससे देश के सामाजिक जीवन मे थोड़ा बहुत सुधार हो कर भी उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हो सकेगा।

भारतीय साहित्य का आलोडन करने से ज्ञात होता है कि देश की वर्तमान सामाजिक व्यवस्था का मुख्य आधार मनुस्मृति है। उसमें चार वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा से बतला कर उनके अलग अलग कर्तव्य निश्चित किये गये हैं। इसके अनुसार अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रतिग्रह ये ब्राह्मणों के कर्तव्य हैं, प्रजाकी रक्षा, दान, पूजा, अध्ययन और इन्द्रियों के विषयों में अनासक्ति ये क्षत्रियों के कर्तव्य हैं, पशुओं की रक्षा, दान, पूजा अध्ययन, वाणिज्य, धन की वृद्धि करना और कृषि ये वैश्यों के कर्तव्य हैं तथा असूया रहित हो कर ब्राह्मण आदि तीन वर्णों की सेवा करना यह शूद्रों का कर्तव्य है।

मनुस्मृति में दूसरे वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मण को अनिर्बन्ध अधिकार दिये गये हैं। चरित्रबल में हीन होने पर भी वे सब से श्रेष्ठ मान लिये गये हैं।

साधारणतः जैन पुराणों में भी चार वर्णों की चर्चा देखने को मिलती है। आदि पुराण में बतलाया है कि युग के आदि में भगवान ऋषभदेव ने गुण कर्म के

अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णों की स्थापना की थी। इस व्यवस्था के अनुसार जो शस्त्र धारण कर आजीविका करते थे वे क्षत्रिय इस नाम से अभिहित किये गये थे, जो खेती, व्यापार और पशुओं का पालन कर आजीविका करते थे वे वैश्य इस नाम से अभिहित किये गये थे और जो क्षत्रियों व वैश्यों की सुश्रूषा कर आजीविका करते थे वे शूद्र इस नाम से अभिहित किये गये थे।

आदिपुराण के अनुसार ब्राह्मण वर्ण की स्थापना ऋषभदेव ने नहीं की थी किन्तु कुछ काल बाद उनके प्रथम पुत्र भरत ने व्रती श्रावकोंको ब्राह्मण संज्ञा दी थी और उन्हें ब्राह्मण वर्ण का कहा था।

इसी प्रकार बौद्ध परम्परा मे भी चार वर्णो का उल्लेख देखने को मिलता है। धम्मपद में एक गाथा आई है। उसका आशय यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये नाम अलग अलग कर्म के अनुसार रखे गये थे। यह गाथा जैन आगम उत्तराध्ययन सूत्रमें भी पाई जाती है। यद्यपि वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध मे जैन और बौद्ध परम्परा का आशय एक है पर वैदिक परम्परा से उसमे मौलिक अन्तर है।

वैदिक परम्परा के अनुसार प्रत्येक वर्ण की प्राप्ति जन्म से होती है। जो जिस वर्ण में उत्पन्न होता है उसे जीवन भर उस वर्ण के कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है। उसका यही स्वधर्म है। चार पुरुषार्थों मे उल्लिखित धर्म पुरुषार्थ भी यही है। मोक्ष पुरुषार्थ इससे भिन्न है। इस व्यवस्था के अनुसार दान का स्वीकार और अध्यापन ये कार्य ब्राह्मण ही कर सकता है। अन्य तीन वर्ण के लोग न तो दान ले सकते है और न अध्यापन कार्य ही कर सकते है। शूद्र तो शुश्रूषा करने के सिवा और किसी बात का अधिकारी माना ही नहीं गया है। अध्ययन, दान और पूजा ये कार्य ऐसे है जो ब्राह्मणों के सिवा क्षत्रिय और वैश्य भी कर सकते है पर शूद्र को इन कार्यो के करने का भी अधिकार नहीं दिया गया है। वे सदा मूर्ख और पंगु बने रहे इसकी पूरी व्यवस्था की गई है।

यों तो अब वैदिक परम्परा के अनुसार की गई व्यवस्था का अन्त हो रहा है। शूद्रों को वे सब अधिकार मिल रहे है जो उनसे छीन लिये गये थे। वे अब मन्दिर जा सकते है, अध्ययन अध्यापन का कार्य कर सकते है, आदर सत्कार मे हिस्सा बटा सकते है, सब के साथ बराबरी से बैठ कर भोजन, पान कर सकते है, सदाचार का स्वयं पालन कर सकते है और दूसरों से इस का पालन करा सकते है। उनके प्रति ब्राह्मण धर्म ने जो घृणा पैदा की थी वह अब दूर होने लगी है। अब अधिकतर लोग यह समझने लगे है कि जैसे हम मनुष्य है वैसे वे भी मनुष्य हैं। हमसे उनमें कोई अन्तर नहीं है। फिर भी अभी ऐसे कितने ही मनुष्य शेष है जो

इन परिवर्तनों का विरोध कर रहे हैं और अपनी पुराणी प्रभुता को जीवित रखना चाहते हैं। किन्तु अब स्थिति इतनी अधिक बदल गई है जिससे देश का पीछे लौटना असम्भव है। वे राजा, जो इस व्यवस्था को दृढ़मूल करने में सहायक थे अब धूलिधूसरित हो कोने मे पड़े सिसक रहे हैं। सामन्तों और परिग्रहवादियों की भी यही दशा होनेवाली है और आशा है कि निकट भविष्य में ईश्वर को भी अपराधियों के कठघरे मे ला कर खड़ा किया जायगा। अब उसके नाम पर निकलनेवाली विज्ञप्तियों को सुननेवाला कोई नहीं रहेगा। सब उसे उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि से देखने लगेंगे। अब तो ऐसे समाज का उदय हो कर ही रहेगा जिसमे सब को समान रूप से विकास करने का अवसर मिलेगा।

इतने विवेचन से यद्यपि यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक परम्परा के अनुसार जो वर्णव्यवस्था चालू है वह सर्वथा अनुपयुक्त है। उससे मानव समाज का न तो कभी कल्याण हुआ है और न हो सकता है। फिर भी विश्व में किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था ही न हो यह हमारा मत नहीं है। पश्चिमीय देशोंमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन शब्दों का व्यवहार न भी किया जाता हो तो भी वहां कोई न कोई व्यवस्था तो है ही। हम ऐसी ही व्यवस्थाके पक्षपाती हैं जिससे मानव समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अनुभव करने मे पूर्ण समर्थ हो। इसमे सन्देह नहीं कि पहिले हम आदिपुराण के अनुसार जिस व्यवस्था का निर्देश कर आये हैं उसमे बहुत कुछ अंश मे यह गुण मौजूद है।

आदि पुराणमे वर्ण व्यवस्था का निर्देश करते हुए प्रारम्भ मे जो छह कर्म बतला आये हैं, वे हैं—असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प। इन छहोंमे पूजा, दान अध्ययन, अध्यापन और प्रतिग्रह इनका अन्तर्भाव नहीं होता। असिकर्म आदि आजीविका के साधन हैं और पूजा आदि धर्म के साधन हैं। वर्ण व्यवस्था मे मुख्यता आजीविका की है धर्मकी नहीं। वर्ण का अर्थ है बाहिरी रूप रग। जिससे बाहरी रंग ढंग की पहिचान होती है वह वर्ण है और जिससे आत्मा की आन्तर परिणति जानी जाती है वह धर्म है। वर्ण और धर्म मे यही अन्तर है। आदिपुराण के अनुसार की गई वर्ण व्यवस्था को समझने के लिये इस अन्तर को जानना जरूरी है। उसमें किसी के वैयक्तिक अधिकार पर कुठाराघात न हो इस बात पर पूरा ध्यान रखा गया है। इसके अनुसार जो जब जिस कर्म को करता है उस समय वह उस वर्ण का माना जाता है। आजीविका के साधन बदल जाने पर वर्ण भी बदल जाता है। वर्ण कोई भी हो पर दान का लेना देना, अध्ययन अध्यापन करना और पूजा करना ये कार्य किसी के लिये वर्जित नहीं हैं। केवल इतनी विशेषता है कि ब्राह्मण इस संज्ञा की प्राप्ति में चारित्र भी निमित्त है। इसीसे उसका कोई भी कर्म

निश्चित नहीं किया गया है। वह अपने चारित्र का अविरोधी कोई भी कर्म कर सकता है। क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र जो भी श्रावक व्रत को स्वीकार करता है वह ब्राह्मण वर्ण का कहलाने लगता है।

माना कि उत्तरकालवर्ती कुछ आचार ग्रन्थों में अनेक दूषित परम्पराओं ने प्रवेश पा लिया है और अधिकतर विद्वान् उनके अनुसार वर्तन करना ही धर्म समझने लगे हैं। आज जैन संघ में जो विविध मत दिखाई देते हैं वे इसी के परिणाम हैं। पर यदि वे किंचित् विवेक से काम लें तो उन्हें अपने मत के बदलने में जरा भी देर न लगे। उन्हें केवल इतना ही विवेक करना है कि ब्राह्मण कहे जाने वाले मनुष्य से शूद्र कहे जाने वाले मनुष्य में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार एक मनुष्य का पगड़ी बाँधना और दूसरे मनुष्य का टोपी पहिनना यह रुचि का प्रश्न है, इससे उन दोनों मनुष्यों की आन्तर योग्यता में कोई अन्तर नहीं आता। उसी प्रकार बाह्य परिस्थितिवश कर्मभेद से भी मनुष्यों की आन्तर योग्यता में कोई अन्तर नहीं आता। दोनों ही मोक्ष के अधिकारी हैं और दोनों ही स्वर्ग नरक आदि के भी अधिकारी हैं। अतः यही निश्चित होता है कि मनुष्यका वर्ण अर्थात् व्यवसाय कुछ भी क्यों न हो इससे वह अन्य मनुष्यों से किसी भी बात में न तो हीन ही समझा जा सकता है और न ऊंच ही।

जैन परम्परा के अनुसार वर्ण व्यवस्था का यह आन्तर रहस्य है। हम समझते हैं कि आज का मानव समुदाय इस प्रकार की व्यवस्था करने में पूरी तरह हाथ बँटायेगा।

———०० ———

"कम्मुणा बभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"

—उत्तरा०

कर्म अर्थात् आचार-व्यवहार से ही ब्राह्मण, कर्म से ही क्षत्रिय, कर्म से ही वैश्य तथा कर्म से ही शूद्र होता है।

जैनधर्म का प्राण–

—पण्डित सुखलाल संघवी

ब्राह्मण और श्रमण परंपरा–

अभी जैनधर्म नाम से जो आचार-विचार पहचाना जाता है वह भगवान् पार्श्वनाथ के समय में खास कर महावीर के समय में निग्गंठ धम्म–निर्ग्रन्थ धर्म नाम से भी पहचाना जाता था, परन्तु वह श्रमण धर्म भी कहलाता है। अंतर है तो इतना ही है कि एकमात्र जैन धर्म ही श्रमण धर्म नहीं है, श्रमण धर्म की और भी अनेक शाखायें भूतकाल में थीं और अब भी बौद्ध आदि कुछ शाखायें जीवित है। निर्ग्रन्थ धर्म या जैन धर्म में श्रमण धर्म के सामान्य लक्षणों के होते हुए भी आचार-विचार की कुछ ऐसी विशेषतायें है जो उसको श्रमण धर्म की अन्य शाखाओं से पृथक् करती है। जैन धर्म के आचार विचार की ऐसी विशेषताओं को जानने के पूर्व अच्छा यह होगा कि हम प्रारंभ में ही श्रमण धर्म की विशेषताको भली भाँति जान लें जो उसे ब्राह्मण धर्म से अलग करती है।

भारतीय प्राचीन संस्कृति का पट अनेक व विविध रंगी है, जिसमें अनेक धर्म परंपराओं के रंग मिश्रित है। इसमें मुख्यतया ध्यान मे आनेवाली दो धर्म परंपरा है—(१) ब्राह्मण (२) श्रमण। इन दो परंपराओं के पौर्वापर्य तथा स्थान आदि विवादास्पद प्रश्नों को न उठा कर, केवल ऐसे मुद्दों पर थोड़ी सी चर्चा की जाती है, जो सर्व संमत जैसे है तथा जिनसे श्रमण धर्म की मूल भित्ती को पहचानना और उसके द्वारा निर्ग्रन्थ या जैन धर्म को समझना सरल हो जाता है।

वैषम्य और साम्य दृष्टि–

ब्राह्मण और श्रमण परंपराओं के बीच छोटे बड़े अनेक विषयों में मौलिक अंतर है, पर उस अंतर को संक्षेप में कहना हो तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्राह्मण–वैदिक परंपरा वैषम्य पर प्रतिष्ठित है, जब कि श्रमण परंपरा साम्य पर प्रतिष्ठित है। यह वैषम्य और साम्य मुख्यतया तीन बातों में देखा जाता है:– (१) समाजविषयक (२) साध्यविषयक और (३) प्राणी जगत् के प्रति दृष्टि विषयक। समाज विषयक वैषम्य का अर्थ है कि समाज रचनामें तथा धर्माधि-

कार में वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व व मुख्यत्व तथा इतर वर्णों का ब्राह्मण की अपेक्षा कनिष्ठत्व व गौणत्व। ब्राह्मण धर्म का वास्तविक साध्य है अभ्युदय, जो ऐहिक समृद्धि राज्य और पुत्र पशु आदि के नाना[1] विध लाभों में तथा इन्द्र पद, स्वर्गीय सुख आदि नानाविध पारलौकिक फलों के लाभों मे समाता है। अभ्युदय का साधन मुख्यतया यज्ञधर्म अर्थात् नानाविध यज्ञ है। इस धर्म मे पशु पक्षी आदि की बलि अनिवार्य मानी गई है और कहा गया है कि वेदविहित हिंसा धर्म का ही हेतु है। इस विधान मे बलि किये जाने वाले निरपराध पशु पक्षी आदि के प्रति स्पष्टतया आत्मसाम्य के अभाव की अर्थात् आत्मवैषम्य की दृष्टि है। इसके विपरीत उक्त तीनों बातों मे श्रमण धर्म का साम्य इस प्रकार है। श्रमण धर्म समाज मे किसी भी वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व न मान कर गुण-कर्मकृत ही श्रेष्ठत्व व कनिष्ठत्व मानता है, इसलिए वह समाज रचना तथा धर्माधिकार में जन्मसिद्ध वर्णभेद का आदर न करके गुण कर्म के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्था करता है। अतएव उसकी दृष्टि में सद्गुणी शूद्र भी दुर्गुणी ब्राह्मण आदि से श्रेष्ठ है, और धार्मिक क्षेत्र मे योग्यता के आधार पर हर एक वर्ण का पुरुष या स्त्री समान रूप से उच्च पद का अधिकारी है। श्रमण धर्म का अंतिम साध्य ब्राह्मण धर्म की तरह अभ्युदय न होकर निःश्रेयस है। निःश्रेयस का अर्थ है कि ऐहिक पारलौकिक नानाविध सब लाभों का त्याग सिद्ध करने वाली ऐसी स्थिति, जिसमे पूर्ण साम्य प्रकट होता है और कोई किसी से कम योग्य या अधिक योग्य रहने नहीं पाता। जीव जगत् के प्रति श्रमण धर्म की दृष्टि पूर्ण आत्म साम्य की है, जिसमे न केवल पशु-पक्षी आदि या कीट पतंग आदि जन्तु का ही समावेश होता है किन्तु वनस्पति जैसे अति क्षुद्र जीव वर्ग का भी समावेश होता है। इसमे किसी भी देहधारी का किसी भी निमित्त से किया जाने वाला वध आत्मवध जैसा ही माना गया है और वध मात्र को अधर्म का हेतु माना है।

ब्राह्मण परंपरा मूल मे 'ब्रह्मन्' के आसपास शुरू और विकसित हुई है, जब कि श्रमण परम्परा 'सम'-साम्य, शम और श्रम के आस पास शुरू एवं विकसित हुई

---

[1] "कर्मफलबाहुल्याच्च पुत्रस्वर्गब्रह्मवर्चसादिलक्षणस्य कर्मफलस्यासंख्येयत्वात् तत्प्रति च पुरुषाणा कामबाहुल्यात् तदर्थः श्रुतेरपि को यत्नः कर्मसूपपद्यते।"— तैत्ति० १-११। शाकरभाष्य (पूना आप्टेकर कं०) पृ० ३५३। यही बात "परिणामतापसंस्कारैः गुणवृत्तिविरोधात्" इत्यादि योगसूत्र तथा उसके भाष्य में कही है। साख्यतत्त्वकौमुदी में भी है जो मूल कारिका का स्पष्टीकरण मात्र है।

है। ब्रह्मन् के अनेक अर्थों में से प्राचीन दो अर्थ इस जगह ध्यान देने योग्य है। (१) स्तुति, प्रार्थना, (२) यज्ञ यागादि कर्म। वैदिक मंत्रों एवं सूक्तों के द्वारा जो नानाविध स्तुतियाँ और प्रार्थनायें की जाती है वह ब्रह्मन् कहलाता है। इसी तरह वैदिक मंत्रों के विनियोग वाला यज्ञ यागादि कर्म भी ब्रह्मन् कहलाता है। वैदिक मंत्रों और सूक्तों का पाठ करने वाला पुरोहित वर्ग और यज्ञ यागादि कराने वाला पुरोहित वर्ग ही ब्राह्मण है। वैदिक मंत्रो के द्वारा की जाने वाली स्तुति-प्रार्थना एवं यज्ञ यागादि कर्म की अति प्रतिष्ठा के साथ ही साथ पुरोहित वर्ग का समाज मे एवं तत्कालीन धर्म में ऐसा प्राधान्य स्थिर हुआ कि जिससे वह ब्राह्मण वर्ग अपने आपको जन्म से ही श्रेष्ठ मानने लगा और समाज में भी बहुधा वही मान्यता स्थिर हुई जिसके आधार पर वर्णभेद की मान्यता रूढ़ हुई और कहा गया कि समाजपुरुष का मुख ब्राह्मण है और इतर वर्ण अन्य अंग है। इसके विपरीत श्रमण धर्म यह मानता मनवाता था कि सभी सामाजिक स्त्री-पुरुष सत्कर्म एवं धर्म पद के समान रूप से अधिकारी है। जो प्रयत्नपूर्वक योग्यता लाभ करता है वह वर्ग एवं लिंग भेद के बिना ही गुरुपद का अधिकारी बन सकता है। यह सामाजिक एवं धार्मिक समता की मान्यता जिस तरह ब्राह्मण धर्म की मान्यता से बिलकुल विरुद्ध थी उसी तरह साध्यविषयक दोनों की मान्यता भी परस्पर विरुद्ध रही। श्रमण धर्म ऐहिक या पारलौकिक अभ्युदय को सर्वथा हेय मान कर निःश्रेयस को ही एक मात्र उपादेय मानने की ओर अग्रसर था और इसीलिए वह साध्य की तरह साधनगत साम्य पर भी उतना ही भार देने लगा। निःश्रेयस के साधनों में मुख्य है अहिंसा। किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार से हिंसा न करना यही निःश्रेयस का मुख्य साधन है, जिसमें अन्य सब साधनों का समावेश हो जाता है। यह साधनगत साम्यदृष्टि हिंसा प्रधान यज्ञ यागादि कर्म की दृष्टि से बिलकुल विरुद्ध है। इस तरह ब्राह्मण और श्रमण धर्म का वैषम्य और साम्यमूलक इतना विरोध है कि जिससे दोनों धर्मों के बीच पद पद पर संघर्ष की संभावना है, जो सहस्रों वर्षों के इतिहास मे लिपिबद्ध है। यह पुराना विरोध ब्राह्मण काल में भी था और बुद्ध एवं महावीर के समय मे तथा इसके बाद भी। इसी चिरंतन विरोध के प्रवाह को महाभाष्यकार पतंजलि ने अपनी वाणी मे व्यक्त किया है। वैयाकरण पाणिनि ने सूत्र में शाश्वत विरोध का निर्देश किया है। पतंजलि 'शाश्वत' --जन्मसिद्ध विरोध वाले अहि-नकुल, गोव्याघ्र जैसे द्वन्द्वों के उदाहरण देते हुए साथ साथ ब्राह्मण-श्रमण का भी उदाहरण देते है[1]। यह ठीक है कि हजार प्रयत्न

---

१. महाभाष्य २.४.९।

करने पर भी अहि-नकुल या गो-व्याघ्र का विरोध निर्मूल नहीं हो सकता, जब कि प्रयत्न करने पर ब्राह्मण और श्रमण का विरोध निर्मूल हो जाना संभव है और इतिहास में कुछ उदाहरण ऐसे उपलब्ध भी हुए हैं जिनमें ब्राह्मण और श्रमण के बीच किसी भी प्रकार का वैमनस्य या विरोध देखा नहीं जाता। परंतु पतंजलि का ब्राह्मण श्रमण का शाश्वत विरोध विषयक कथन व्यक्तिपरक न होकर वर्गपरक है। कुछ व्यक्तियाँ ऐसी संभव हैं जो ऐसे विरोध से परे हुई हैं या हो सकती हैं परंतु सारा ब्राह्मण वर्ग या सारा श्रमण वर्ग मौलिक विरोध से परे नहीं है यही पतंजलि का तात्पर्य है। 'शाश्वत' शब्द का अर्थ अविचल न हो कर प्रावाहिक इतना ही अभिप्रेत है। पतंजलि से अनेक शताब्दिओं के बाद होने वाले जैन आचार्य हेमचंद्र ने भी ब्राह्मण-श्रमण उदाहरण देकर पतंजलि के अनुभव की यथार्थता पर मुहर लगाई है[1]। आज इस समाजवादी युग में भी हम यह नहीं कह सकते कि ब्राह्मण और श्रमण वर्ग के बीच विरोध का बीज निर्मूल हुआ है। इस सारे विरोध की जड़ ऊपर सूचित वैषम्य और साम्य की दृष्टि का पूर्व पश्चिम जैसा अन्तर ही है।

परस्पर प्रभाव और समन्वय—

ब्राह्मण और श्रमण परंपरा परस्पर एक दूसरेके प्रभाव से बिलकुल अछूता नहीं है। छोटी मोटी अनेक बातों मे एक का प्रभाव दूसरे पर न्यूनाधिक मात्रा में पड़ा हुआ देखा जाता है। उदा० श्रमण धर्म की साम्यदृष्टिमूलक अहिंसा भावना का ब्राह्मण परंपरा पर क्रमशः इतना प्रभाव पड़ा है कि जिससे यज्ञीय हिंसा का समर्थन केवल पुरानी शास्त्रीय चर्चाओं का विषय मात्र रह गया है, व्यवहार में यज्ञीय हिंसा लुप्त सी हो गई है। अहिंसा व "सर्वभूतहिते रतः" सिद्धांत का पूरा आग्रह रखने वाली सांख्य, योग, औपनिषद, अवधूत, सात्वत आदि जिन परंपराओं ने ब्राह्मण परंपरा के प्राणभूत वेद विषयक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के पुरोहित व गुरु पद का आत्यंतिक विरोध नहीं किया वे परंपरायें क्रमशः ब्राह्मण धर्म के सर्वसंग्राहक क्षेत्र में एक या दूसरे रूप में मिल गई है। इसके विपरीत जैन बौद्ध आदि जिन परंपराओं ने वैदिक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के गुरु पद के विरुद्ध आत्यंतिक आग्रह रक्खा वे परंपराएँ यद्यपि सदा के लिए ब्राह्मण धर्म से अलग ही रही है फिर भी उनके शास्त्र एवं निवृत्ति धर्म पर ब्राह्मण परंपरा की लोकसंग्राहक वृत्ति का एक या दूसरे रूप में प्रभाव अवश्य पड़ा है।

---

१. सिद्धहैम० ३.१.१४१।

श्रमणपरंपरा के प्रवर्तक–

श्रमण धर्म के मूल प्रवर्तक कौन कौन थे, वे कहाँ कहाँ और कब हुए इसका यथार्थ और पूरा इतिहास अद्यावधि अज्ञात है पर हम उपलब्ध साहित्य के आधार से इतना तो निःशंक कह सकते हैं कि नाभिपुत्र ऋषभ तथा आदि विद्वान् कपिल ये साम्य धर्म के पुराने और प्रबल समर्थक थे। यही कारण है कि उनका पूरा इतिहास अंधकार-ग्रस्त होने पर भी पौराणिक परंपरामें से उनका नाम लुप्त नहीं हुआ है। ब्राह्मण-पुराण ग्रंथों में ऋषभ का उल्लेख उग्र तपस्वी के रूप में है सही पर उनकी पूरी प्रतिष्ठा तो केवल जैन परंपरा में ही है, जब कि कपिल का ऋषि रूप से निर्देश जैन कथा साहित्य में है फिर भी उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा तो सांख्य परंपरा में तथा सांख्यमूलक पुराण ग्रंथों मे ही है। ऋषभ और कपिल आदि द्वारा जिस आत्मौपम्य भावना की और तन्मूलक अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा जमी थी उस भावना और उस धर्म की पोषक अनेक शाखा-प्रशाखायें थीं जिनमे से कोई बाह्य तप पर, तो कोई ध्यान पर, तो कोई मात्र चित्तशुद्धि या असंगता पर अधिक भार देती थी, पर साम्य या समता सबका समान ध्येय था।

जिस शाखा ने साम्यसिद्धि मूलक अहिंसा को सिद्ध करने के लिए अपरिग्रह पर अधिक भार दिया और उसी में से *अगार–गृह–ग्रंथ* या परिग्रहबंधन के त्याग पर अधिक भार दिया और कहा कि जब तक परिवार एवं परिग्रह का बंधन हो तब तक कभी पूर्ण अहिंसा या पूर्ण साम्य सिद्ध हो नहीं सकता, श्रमण धर्म की वही शाखा निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके प्रधान प्रवर्तक नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ ही जान पड़ते हैं।

वीतरागता का आग्रह–

अहिंसा की भावना के साथ साथ तप और त्याग की भावना अनिवार्य रूप से निर्ग्रन्थ धर्म मे ग्रथित तो हो ही गई थी परंतु साधकों के मन मे यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि बाह्य तप और बाह्य त्याग पर अधिक भार देने से क्या आत्मशुद्धि या साम्य पूर्णतया सिद्ध होना संभव है ? इसी के उत्तर मे से यह विचार फलित हुआ कि राग द्वेष आदि मलिन वृत्तियों पर विजय पाना ही मुख्य साध्य है। इस साध्य को सिद्धि जिस अहिंसा, जिस तप या जिस त्याग से न हो सके वह अहिंसा, तप या त्याग कैसा ही क्यों न हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से अनुपयोगी है। इसी विचार के प्रवर्तक 'जिन' कहलाने लगे। ऐसे जिन अनेक हुए हैं। सच्चक, बुद्ध, गोशालक और महावीर ये सब अपनी-अपनी परम्परा में जिन रूप से प्रसिद्ध रहे है

परंतु आज जिनकथित जैन धर्म कहने से मुख्यतया महावीर के धर्म का ही बोध होता है जो राग द्वेष के विजय पर ही मुख्यतया भार देता है। धर्म विकास का इतिहास कहता है कि उत्तरोत्तर उदय मे आने वाली नयी नयी धर्म की अवस्थाओं में उस उस धर्म की पुरानी अविरोधी अवस्थाओं का समावेश अवश्य रहता है। यही कारण है कि जैन धर्म निर्ग्रन्थ धर्म भी है और श्रमण धर्म भी है।

श्रमण धर्म की साम्यदृष्टि—

अब हमें देखना यह है कि श्रमण धर्म की प्राणभूत साम्य भावना का जैन परंपरा में क्या स्थान है? जैन श्रुत रूप से प्रसिद्ध द्वादशांगी या चतुर्दश पूर्व में 'सामाइय'—'सामायिक' का स्थान प्रथम है, जो आचारांग सूत्र कहलाता है। जैनधर्म के अंतिम तीर्थंकर महावीर के आचार विचार का सीधा और स्पष्ट प्रतिबिम्ब मुख्यतया उसी सूत्र मे देखने को मिलता है। इसमें जो कुछ कहा गया है उस सब मे साम्य, समता या सम पर ही पूर्णतया भार दिया गया है।' 'सामाइय' इस प्राकृत या मागधी शब्द का संबंध साम्य, समता या सम से है। साम्य-दृष्टिमूलक और साम्य दृष्टि पोषक जो जो आचार विचार हो वे सब सामाइय -सामायिक रूप से जैन परंपरा मे स्थान पाते हैं। जैसे ब्राह्मण परंपरा मे संध्या एक आवश्यक कर्म है वैसे ही जैन परंपरा मे भी गृहस्थ और त्यागी सब के लिए छः आवश्यक कर्म बतलाये हैं जिनमें मुख्य सामाइय है। अगर सामाइय न हो तो और कोई आवश्यक सार्थक नहीं है। गृहस्थ या त्यागी अपने अपने अधिकारानुसार जब जब धार्मिक जीवन को स्वीकार करता है तब तब वह 'करेमि भंते! सामाइयं' ऐसी प्रतिज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि हे भगवन्! मै समता या समभाव को स्वीकार करता हूँ। इस समता का विशेष स्पष्टीकरण आगे के दूसरे ही पद में किया गया है। उसमे कहा है कि मै सावद्ययोग अर्थात् पाप व्यापार का यथाशक्ति त्याग करता हूँ। 'सामाइय' की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण सातवीं सदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उस पर विशेषावश्यकभाष्य नामक अति विस्तृत ग्रंथ लिख कर बतलाया है कि धर्म के अंगभूत श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ही सामाइय हैं।

सच्ची वीरता के विषय में जैनधर्म, गीता और गांधीजी—

सांख्य, योग और भागवत जैसी अन्य परंपराओं में पूर्व काल से साम्यदृष्टि की जो प्रतिष्ठा थी उसीका आधार लेकर भगवद्गीताकार ने गीता की रचना की है। यही कारण है कि हम गीता में स्थान स्थान पर समदर्शी,

साम्य, समता जैसे शब्दों के द्वारा साम्यदृष्टि का ही समर्थन पाते हैं। गीता और आचारांग की साम्य भावना मूल में एक ही है, फिर भी वह परंपरा भेद से अन्यान्य भावनाओं के साथ मिलकर भिन्न हो गई है। अर्जुन को साम्य भावना के प्रबल आवेग के समय भी भैक्ष्य जीवन स्वीकार करने से गीता रोकती है और शस्त्रयुद्ध का आदेश करती है, जब कि आचारांग सूत्र अर्जुन को ऐसा आदेश न कर के यही कहेगा कि अगर तुम सचमुच क्षत्रिय वीर हो तो साम्यदृष्टि आने पर हिंसक शस्त्रयुद्ध नहीं कर सकते बल्कि भैक्ष्यजीवनपूर्वक आध्यात्मिक शत्रु के साथ युद्ध के द्वारा ही सच्चा क्षत्रियत्व सिद्ध कर सकते हो।[1] इस कथन की द्योतक भरत-बाहुबली की कथा जैन साहित्य मे प्रसिद्ध है, जिसमें कहा गया है कि सहोदर भरत के द्वारा उग्र प्रहार पाने के बाद बाहुबली ने जब प्रतिकार के लिए हाथ उठाया तभी समभाव की वृत्ति प्रकट हुई। उस वृत्ति के आवेग में बाहुबली ने भैक्ष्य जीवन स्वीकार किया पर प्रतिप्रहार करके न तो भरत का बदला चुकाया और न उससे अपना न्यायोचित राज्यभाग लेने का सोचा। गांधीजी ने गीता और आचारांग आदि मे प्रतिपादित साम्य भाव को अपने जीवन में यथार्थ रूप से विकसित किया और उसके बल पर कहा कि मानव संहारक युद्ध तो छोड़ो, पर साम्य या चित्तशुद्धि के बल पर ही अन्याय के प्रतिकार का मार्ग भी ग्रहण करो। पुराने संन्यास या त्यागी जीवन का ऐसा अर्थ विकास गांधीजीने समाज में प्रतिष्ठित किया है।

साम्यदृष्टि और अनेकान्तवाद—

जैन परंपरा का साम्य दृष्टि पर इतना अधिक भार है कि उसने साम्य दृष्टि को ही ब्राह्मण परंपरा मे लब्धप्रतिष्ठ ब्रह्म कहकर साम्यदृष्टिपोषक सारे आचार विचार को 'ब्रह्मचर्य -'बम्भचेराई' कहा है, जैसा कि बौद्ध परंपरा ने मैत्री आदि भावनाओ को ब्रह्मविहार कहा है। इतना ही नहीं पर धम्मपद[2] और शांति पर्व की तरह जैन ग्रंथ[3] मे भी समत्व धारण करनेवाले श्रमण को ही ब्राह्मण कहकर श्रमण और ब्राह्मण के बीच का अंतर मिटाने का प्रयत्न किया है।

साम्यदृष्टि जैन परंपरा में मुख्यतया दो प्रकार से व्यक्त हुई है—(१) आचार मे (२) विचार मे। जैन धर्म का बाह्य-आभ्यन्तर, स्थूल-सूक्ष्म सब आचार साम्य दृष्टि मूलक अहिंसा के केन्द्र के आस पास ही निर्मित हुआ है। जिस आचार के द्वारा अहिंसा की रक्षा और पुष्टि न होती हो ऐसे किसी भी आचार

१. आचारांग १-५-३।
२. ब्राह्मण वर्ग २६।
३. उत्तराध्ययन. २५।

को जैन परंपरा मान्य नहीं रखती। यद्यपि सब धार्मिक परंपराओं ने अहिंसा तत्त्व पर न्यूनाधिक भार दिया है पर जैन परंपरा ने उस तत्त्व पर जितना भार दिया है और उसे जितना व्यापक बनाया है उतना भार और उतनी व्यापकता अन्य धर्म परंपरा में देखी नहीं जाती। मनुष्य, पशु पक्षी कीट पतंग और वनस्पति ही नहीं बल्कि पार्थिव जलीय आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जन्तुओं तक की हिंसा से आत्मौपम्य की भावना द्वारा निवृत्त होने के लिए कहा गया है।

विचार में साम्य दृष्टि की भावनापर जो भार दिया गया है उसी में से अनेकान्त दृष्टि या विभज्यवाद का जन्म हुआ है। केवल अपनी दृष्टि या विचार सरणी को ही पूर्ण अन्तिम सत्य मान कर उस पर आग्रह रखना यह साम्य दृष्टि के लिए घातक है। इसलिए कहा गया है कि दूसरों की दृष्टि का भी उतना ही आदर करना जितना अपनी दृष्टि का। यही साम्य दृष्टि अनेकान्तवाद की भूमिका है। इस भूमिका में से ही भाषाप्रधान स्याद्वाद और विचारप्रधान नयवाद का क्रमशः विकास हुआ है। यह नहीं है कि अन्यान्य परंपराओं मे अनेकान्त दृष्टि का स्थान ही न हो। मीमांसक और कापिल दर्शन के उपरांत न्याय दर्शन में भी अनेकांतवाद का स्थान है। बुद्ध भगवान् का विभज्यवाद और मध्यममार्ग भी अनेकान्त दृष्टि के ही फल हैं, फिर भी जैन परंपरा ने जैसे अहिंसा पर अत्यधिक भार दिया है वैसे ही उसने अनेकान्त दृष्टि पर भी अत्यधिक भार दिया है। इसलिए जैन परंपरा में आचार या विचार का कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिस पर अनेकान्त दृष्टि लागू न की गई हो या जो अनेकान्त दृष्टि की मर्यादा से बाहर हो। यही कारण है कि अन्यान्य परंपराओं के विद्वानों ने अनेकांत दृष्टि को मानते हुए भी उस पर स्वतंत्र साहित्य रचा नहीं है, जब कि जैन परंपरा के विद्वानों ने उसके अंगभूत स्याद्वाद नयवाद आदि के बोधक और समर्थक विपुल स्वतंत्र साहित्य का निर्माण किया है।

अहिंसा—

हिंसा से निवृत्त होना ही अहिंसा है। यह विचार तब तक पूरा समझ म आ नहीं सकता जब तक यह न बतलाया जाय कि हिंसा किस की होती है और हिंसा कौन और किस कारण से करता है और उसका परिणाम क्या है। इसी प्रश्न को स्पष्ट समझाने की दृष्टि से मुख्यतया चार विद्यायें जैन परंपरामें फलित हुई हैं—(१) आत्मविद्या (२) कर्मविद्या (३) चारित्रविद्या और (४) लोकविद्या। इसी तरह अनेकांत दृष्टि के द्वारा मुख्यतया श्रुतविद्या और प्रमाण विद्या का निर्माण व पोषण हुआ है। इस प्रकार अहिंसा, अनेकांत और तन्मूलक विद्यायें ही जैन धर्म का प्राण है जिस पर आगे संक्षेप में विचार किया जाता है।

आत्मविद्या और उत्क्रान्तिवाद—

प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वीगत, जलगत या वनस्पतिगत हो या कीट पतंग पशु पक्षी रूप हो या मानव रूप हो वह सब तात्त्विक दृष्टि से समान है। यही जैन आत्मविद्या का सार है। समानता के इस सैद्धान्तिक विचार को अमल में लाना—उसे यथासंभव जीवन व्यवहारके प्रत्येक क्षेत्र में उतारने का अप्रमत्त भाव से प्रयत्न करना यही अहिंसा है। आत्मविद्या कहती है कि यदि जीवन-व्यवहार में साम्य का अनुभव न हो तो आत्म साम्य का सिद्धान्त कोरा वाद मात्र है। समानता के सिद्धान्त को अमली बनाने के लिए ही आचारांग सूत्र के अध्ययन में कहा गया है कि जैसे तुम अपने दुःख का अनुभव करते हो वैसा ही पर दुःख का अनुभव करो। अर्थात् अन्य के दुःख का आत्मीय दुःख रूप से संवेदन न हो तो अहिंसा सिद्ध होना संभव नहीं।

जैसे आत्म समानता के तात्त्विक विचार में से अहिंसा के आचार का समर्थन किया गया है वैसे ही उसी विचार में से जैन परंपरा में यह भी आध्यात्मिक मंतव्य फलित हुआ है कि जीवगत शारीरिक मानसिक आदि वैषम्य कितना ही क्यों न हो पर आगंतुक है—कर्ममूलक है, वास्तविक नहीं है। अतएव क्षुद्र से क्षुद्र अवस्था में पड़ा हुआ जीव भी कभी मानवकोटि में आ सकता है और मानव-कोटिगत जीव भी क्षुद्रतम वनस्पति अवस्था में जा सकता है, इतना ही नहीं बल्कि वनस्पति जीव विकास के द्वारा मनुष्य की तरह कभी सर्वथा बंधनमुक्त हो सकता है। ऊँचनीच गति या योनि का एवं सर्वथा मुक्तिका आधार एक मात्र कर्म है। जैसा कर्म, जैसा संस्कार या जैसी वासना वैसी ही आत्मा की अवस्था, पर तात्त्विक रूप से सब आत्माओं का स्वरूप सर्वथा एक-सा है जो नैष्कर्म्य अवस्था में पूर्ण रूप से प्रकट होता है। यही आत्मसाम्यमूलक उत्क्रान्तिवाद है।

सांख्य, योग, बौद्ध आदि द्वैतवादी अहिंसा समर्थक परम्पराओं का और और बातों में जैन परंपरा के साथ जो कुछ मतभेद हो पर अहिंसाप्रधान आचार तथा उत्क्रान्तिवाद के विषय में सबका पूर्ण ऐकमत्य है। आत्माद्वैतवादी औपनिषद परंपरा अहिंसा का समर्थन समानता के सिद्धान्त पर नहीं पर अद्वैत के सिद्धान्त पर करती है। वह कहती है कि तत्त्व रूप से जैसे तुम वैसे ही अन्य सभी जीव शुद्ध ब्रह्म—एक ब्रह्मरूप हैं। जो जीवों का पारस्परिक भेद देखा जाता है वह वास्तविक न होकर अविद्यामूलक है। इसलिए अन्य जीवों को अपने से अभिन्न ही समझना चाहिये और अन्य के दुःख को अपना दुःख समझ कर हिंसा से निवृत्त होना चाहिये।

द्वैतवादी जैन आदि परंपराओं के और अद्वैतवादी परंपरा के बीच अंतर केवल इतना ही है कि पहली परंपराएँ प्रत्येक जीवात्माका वास्तविक भेद मान कर भी उन सब में तात्त्विक रूप से समानता स्वीकार करके अहिंसा का उद्बोधन करती है, जब कि अद्वैत परंपरा जीवात्माओं के पारस्परिक भेद को ही मिथ्या मान कर उनमें तात्त्विक रूप से पूर्ण अभेद मान कर उसके आधार पर अहिंसा का उद्बोधन करती है। अद्वैत परंपरा के अनुसार भिन्न भिन्न योनि और भिन्न भिन्न गतिवाले जीवों मे दिखाई देने वाले भेद का मूल अधिष्ठान एक शुद्ध अखंड ब्रह्म है, जब कि जैन जैसी द्वैतवादी परंपराओं के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा तत्त्व रूप से स्वतंत्र और शुद्ध ब्रह्म है। एक परंपरा के अनुसार अखंड एक ब्रह्म में से नानाजीव की सृष्टि हुई है जब कि दूसरी परंपराओं के अनुसार जुदेजुदे स्वतंत्र और समान अनेक शुद्ध ब्रह्म ही अनेक जीव है। द्वैतमूलक समानता के सिद्धान्त में से ही अद्वैत-मूलक ऐक्य का सिद्धान्त क्रमशः विकसित हुआ जान पड़ता है परंतु अहिंसा का आचार और आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवाद अद्वैतवाद में भी द्वैतवाद के विचार के अनुसार ही घटाया गया है। वाद कोई भी हो पर अहिंसा की दृष्टि से महत्त्व की बात एक ही है कि अन्य जीवों के साथ समानता या अभेद का वास्तविक संवेदन होना ही अहिंसा की भावना का उद्गम है।

कर्मविद्या और बंध-मोक्ष–

जब तत्त्वतः सब जीवात्मा समान है तो फिर उनमे परस्पर वैषम्य क्यों, तथा एक ही जीवात्मा मे कालभेद से वैषम्य क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में से ही कर्म-विद्या का जन्म हुआ है। जैसा कर्म वैसी अवस्था यह जैन मान्यता वैषम्य का स्पष्टीकरण तो कर देती है, पर साथ ही साथ यह भी कहती है कि अच्छा या बुरा कर्म करने एवं न करने में जीव ही स्वतंत्र है, जैसा वह चाहे वैसा सत् या असत् पुरुषार्थ कर सकता है और वही अपने वर्तमान और भावी का निर्माता है। कर्मवाद कहता है कि वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर और भविष्य का निर्माण वर्तमान के आधार पर होता है। तीनों काल की पारस्परिक संगति कर्मवाद पर ही अवलंबित है। यही पुनर्जन्म के विचार का आधार है।

वस्तुतः अज्ञान और रागद्वेष ही कर्म है। अपने पराये की वास्तविक प्रतीति न होना अज्ञान या जैन परंपरा के अनुसार दर्शन मोह है। इसी को सांख्य बौद्ध आदि अन्य परंपराओं में अविद्या कहा है। अज्ञान-जनित इष्टानिष्ट की कल्पनाओं के कारण जो जो वृत्तियां, या जो जो विकार पैदा होते है वही संक्षेप में राग द्वेष

कहे गये हैं। यद्यपि राग द्वेष ही हिंसा के प्रेरक हैं पर वस्तुतः सब की जड़ अज्ञान--दर्शन मोह या अविद्या ही है, इसलिए हिंसा की असली जड़ अज्ञान ही है। इस विषय में आत्मवादी सब परंम्पराएँ एकमत हैं।

ऊपर जो कर्म का स्वरूप बतलाया है वह जैन परिभाषा में भाव कर्म है और वह आत्मगत संस्कार विशेष है। यह भावकर्म आत्मा के इर्दगिर्द सदा वर्तमान ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भौतिक परमाणुओं को आकृष्ट करता है और उसे विशिष्ट रूप अर्पित करता है। विशिष्ट रूप प्राप्त यह भौतिक परमाणु पुंज ही द्रव्यकर्म या कार्मण शरीर कहलाता है जो जन्मान्तर में जीव के साथ जाता है और स्थूल शरीर के निर्माण की भूमिका बनता है। ऊपर ऊपर से देखने पर मालूम होता है कि द्रव्यकर्म का विचार जैन परंपरा की कर्मविद्या में है, पर अन्य परंपरा की कर्मविद्या में वह नहीं है, परन्तु सूक्ष्मता से देखने वाला जान सकता है कि वस्तुतः ऐसा नहीं है। सांख्य-योग, वेदान्त आदि परंपराओं में जन्मजन्मान्तर गामी सूक्ष्य या लिंग शरीर का वर्णन है। यह शरीर अन्तःकरण, अभिमान मन आदि प्राकृत या मायिक तत्वों का बना हुआ माना गया है जो वास्तव में जैन परंपरासंमत भौतिक कार्मण शरीर के ही स्थान में है। सूक्ष्य या कार्मण शरीर की मूल कल्पना एक ही है। अन्तर है तो उसके वर्णन प्रकार में और न्यूनाधिक विस्तार में एवं वर्गीकरण मे, जो हजारों वर्ष से जुदा जुदा विचार-चिंतन करने वाली परंपराओं में होना स्वाभाविक है। इस तरह हम देखते है तो आत्मवादी सब परंपराओं में पुनर्जन्म के कारण रूप से कर्मतत्व का स्वीकार है और जन्मजन्मान्तरगामी भौतिक शरीररूप द्रव्यकर्म का भी स्वीकार है। न्याय वैशेषिक परंपरा जिसमें ऐसे सूक्ष्म शरीर का कोई खास स्वीकार नहीं है उसने भी जन्मजन्मान्तरगामी अणुरूप मन को स्वीकार करके द्रव्य कर्म के विचार को अपनाया है।

पुनर्जन्म और कर्म की मान्यता के बाद जब मोक्ष की कल्पना भी तत्वचिंतन में स्थिर हुई तब से अभी तक की बंध मोक्षवादी भारतीय तत्त्वचिंतकों की आत्मस्वरूप-विषयक मान्यताएँ कैसी कैसी हैं और उनमें विकासक्रम की दृष्टि से जैन मन्तव्य के स्वरूप का क्या स्थान है, इसे समझने के लिये संक्षेप मे बंधमोक्षवादी मुख्य मुख्य सभी परंपराओं के मंतव्यों को नीचे दिया जाता है। (१) जैन परंपरा के अनुसार आत्मा प्रत्येक शरीर में जुदा जुदा है। वह स्वयं शुभाशुभ कर्म का कर्ता और कर्म के फल—सुखदुःख आदि का भोक्ता है। वह जन्मान्तर के समय स्थानान्तर को जाता है और स्थूल देह के अनुसार संकोच विस्तार धारण करता है। यही मुक्ति पाता है और मुक्तिकाल में सांसारिक सुख-दुःख ज्ञान-अज्ञान आदि का शुभाशुभ कर्म आदि भावों से सर्वथा छूट जाता है। (२) सांख्य योग परंपरा के अनुसार

आत्मा भिन्न भिन्न है पर वह कूटस्थ एवं व्यापक होने से न कर्म का कर्ता, भोक्ता, जन्मान्तरगामी, गतिशील है और न तो मुक्तिगामी ही है। उस परंपरा के अनुसार तो प्राकृत बुद्धि या अन्तःकरण ही कर्म का कर्ता, भोक्ता, जन्मान्तरगामी, संकोच-विस्तारशील, ज्ञान-अज्ञान आदि भावों का आश्रय और मुक्ति काल में उन भावों से रहित है। सांख्य योग परंपरा अन्तःकरण के बंधमोक्ष को ही उपचार से पुरुष मान लेती है। (३) न्यायवैशेषिक परंपरा के अनुसार आत्मा अनेक है, वह सांख्य योग की तरह कूटस्थ और व्यापक माना गया है फिर भी वह जैन परंपरा की तरह वास्तविक रूप से कर्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त भी माना गया है। (४) अद्वैत-वादी वेदान्त के अनुसार आत्मा वास्तव में नाना नहीं पर एक ही है। वह सांख्य योग की तरह कूटस्थ और व्यापक है अतएव न तो वास्तव में बद्ध है और न मुक्त। उसमें अन्तःकरण का बंधमोक्ष ही उपचार से माना गया है। (५) बौद्धमत के अनुसार आत्मा या चित्त नाना है; वही कर्ता, भोक्ता, बंध और निर्वाण का आश्रय है। वह न तो कूटस्थ है, न व्यापक, वह केवल ज्ञान क्षण परंपरा रूप है जो हृदय इन्द्रिय जैसे अनेक केन्द्रों से एक साथ या क्रमशः निमित्तानुसार उत्पन्न व नष्ट होता रहता है।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्टतया सूचित होता है कि जैन परंपरा संमत आत्मस्वरूप बंधमोक्ष के तत्त्वचिंतकों की कल्पना का अनुभवमूलक पुराना रूप है। सांख्ययोग संमत आत्मस्वरूप उन तत्त्वचिंतकों की कल्पना की दूसरी भूमिका है। अद्वैतवाद संमत आत्मस्वरूप सांख्ययोग की बहुत्वविषयक कल्पना का एक स्वरूप में परिमार्जनमात्र है, जबकि न्यायवैशेषिक संमत आत्मस्वरूप जैन और सांख्ययोग की कल्पना का मिश्रणमात्र है। बौद्धसंमत आत्मस्वरूप जैन कल्पना का ही तर्कशोधित रूप है।

एकत्वरूप चारित्रविद्या—

आत्मा और कर्म के स्वरूप को जानने के बाद ही यह जाना जा सकता है कि आध्यात्मिक उत्क्रान्ति में चारित्र का क्या स्थान है। मोक्षतत्त्वचिंतकों के अनुसार चारित्र का उद्देश आत्मा को कर्म से मुक्त करना ही है। चारित्र के द्वारा कर्म से मुक्ति मान लेने पर भी यह प्रश्न रहता ही है कि स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मा के साथ पहले पहल कर्म का संबंध कब और क्यों हुआ या ऐसा संबंध किसने किया? इसी तरह यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मतत्त्व के साथ यदि किसी न किसी तरह से कर्म का संबंध हुआ मान लिया जाय तो चारित्र के द्वारा मुक्ति सिद्ध होने के बाद भी फिर कर्म संबंध क्यों नहीं होगा? इन दो प्रश्नों

का उत्तर आध्यात्मिक सभी चिंतकों ने लगभग एक सा ही दिया है। सांख्य-योग हो या वेदान्त, न्यायवैशेषिक हो या बौद्ध इन सभी दर्शनों की तरह जैन दर्शन का भी यही मंतव्य है कि कर्म और आत्मा का संबंध अनादि है क्योंकि उस संबंध का आदिक्षण सर्वथा ज्ञानसीमा के बाहर है। सभी ने यह माना है कि आत्मा के साथ कर्म–अविद्या या माया का संबंध प्रवाह रूप से अनादि है फिर भी व्यक्ति-रूप से वह संबंध सादि है क्योंकि हम सबका ऐसा अनुभव है कि अज्ञान और राग-द्वेष से ही कर्मवासना की उत्पत्ति जीवन में होती रहती है। सर्वथा कर्म छूट जाने पर जो आत्मा का पूर्ण शुद्ध रूप प्रकट होता है उसमें पुनः कर्म या वासना उत्पन्न क्यों नहीं होती इसका खुलासा तर्कवादी आध्यात्मिक चिंतकों ने यों किया है कि आत्मा स्वभावतः शुद्धि-पक्षपाती है। शुद्धि के द्वारा चेतना आदि स्वाभाविक गुणों का पूर्ण विकास होने के बाद अज्ञान या रागद्वेष जैसे दोष जड़ से ही उच्छिन्न हो जाते हैं अर्थात् वे प्रयत्नपूर्वक शुद्धि को प्राप्त ऐसे आत्मतत्त्व में अपना स्थान पाने के लिए सर्वथा निर्बल हो जाते हैं।

चारित्र का कार्य जीवनगत वैषम्य के कारणों को दूर करना है, जो जैन परि-भाषा में 'संवर' कहलाता है। वैषम्य के मूल कारण अज्ञान का निवारण आत्मा की सम्यक् प्रतीति से होता है और रागद्वेष जैसे क्लेशों का निवारण माध्यस्थ्य की सिद्धि से। इसलिए आन्तर चारित्र में दो ही बातें आती हैं। (१) आत्म-ज्ञान–विवेक-ख्याति (२) माध्यस्थ्य या रागद्वेष आदि क्लेशों का जय। ध्यान, व्रत, नियम, तप, आदि जो जो उपाय आन्तर चारित्र के पोषक होते हैं वे ही बाह्य चारित्र रूप से साधक के लिए उपादेय माने गये हैं।

आध्यात्मिक जीवन की उत्क्रान्ति आन्तर चारित्र के विकासक्रम पर अवलंबित है। इस विकासक्रम का गुणस्थान रूप से जैन परंपरा में अत्यंत विशद और विस्तृत वर्णन है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति क्रम के जिज्ञासुओं के लिए योगशास्त्रप्रसिद्ध मधुमती आदि भूमिकाओं का बौद्धशास्त्रप्रसिद्ध सोतापन्न आदि भूमिकाओं का, योगवासिष्ठप्रसिद्ध अज्ञान और ज्ञान भूमिकाओं का, आजीवक-परंपरा प्रसिद्ध मंद-भूमि आदि भूमिकाओं का और जैन परंपरा प्रसिद्ध गुणस्थानों का तथा योगदृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन बहुत रसप्रद एवं उपयोगी है, जिसका वर्णन यहाँ संभव नहीं। जिज्ञासु अन्यत्र प्रसिद्ध लेखों से जान सकता है।

मैं यहाँ उन चौदह गुणस्थानों का वर्णन न करके संक्षेप में तीन भूमिकाओं का ही परिचय दिये देता हूँ, जिनमें गुणस्थानों का समावेश हो जाता है। पहिली भूमिका

१. "भारतीय दर्शनोमां आध्यात्मिक विकासक्रम–पुरातत्त्व १-पृ० १४९।

है बहिरात्म, जिसमें आत्मज्ञान या विवेकख्याति का उदय ही नहीं होता। दूसरी भूमिका अन्तरात्म है जिसमें आत्मज्ञान का उदय तो होता है पर रागद्वेष आदि क्लेश मंद होकर भी अपना प्रभाव दिखलाते रहते हैं। तीसरी भूमिका है परमात्म। इसमें रागद्वेष का पूर्ण उच्छेद होकर वीतरागत्व प्रकट होता है।

लोकविद्या—

लोकविद्या में लोक के स्वरूप का वर्णन है। जीव—चेतन और अजीव—अचेतन या जड़ इन दो तत्त्वों का सहचार ही लोक है। चेतन-अचेतन दोनों तत्त्व न तो किसी के द्वारा कभी पैदा हुए हैं और न कभी नाश पाते हैं फिर भी स्वभाव से परिणामान्तर पाते रहते हैं। संसार काल में चेतन के ऊपर अधिक प्रभाव डालने वाला द्रव्य एक-मात्र जड़-परमाणुपुंज-पुद्गल है, जो नानारूप से चेतन के संबंध में आता है और उसकी शक्तियों को मर्यादित भी करता है। चेतन तत्त्व की साहजिक और मौलिक शक्तियाँ ऐसी हैं जो योग्य दिशा पाकर कभी न कभी उन जड़ द्रव्यों के प्रभाव से उसे मुक्त भी कर देती हैं। जड़ और चेतन के पारस्परिक प्रभाव का क्षेत्र ही लोक है और उस प्रभाव से छुटकारा पाना ही लोकान्त है। जैन परंपरा की लोकक्षेत्र-विषयक कल्पना सांख्ययोग, पुराण और बौद्ध आदि परंपराओं की कल्पना से अनेक अंशों में मिलती जुलती है।

जैन परंपरा न्यायवैशेषिक की तरह परमाणुवादी है, सांख्ययोग की तरह प्रकृतिवादी नहीं है तथापि जैन परपरा संमत परमाणु का स्वरूप सांख्यपरंपरासंमत प्रकृति के स्वरूप के साथ जैसा मिलता है वैसा न्यायवैशेषिकसमत परमाणु स्वरूप के साथ नहीं मिलता, क्योंकि जैन समत परमाणु सांख्यसंमत प्रकृति की तरह परिणामी है, न्यायवैशेषिक संमत परमाणु की तरह कूटस्थ नहीं है। इसीलिए जैसे एक ही सांख्यसंमत प्रकृति पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि अनेक भौतिक सृष्टियों का उपादान बनती है वैसे ही जैनसंमत एक ही परमाणु पृथ्वी, जल, तेज आदि नानारूप में परिणत होता है। जैन परंपरा न्यायवैशेषिक की तरह यह नहीं मानती कि पार्थिव, जलीय आदि भौतिक परमाणु मूल में ही सदा भिन्न जातीय हैं। इसके सिवाय और भी एक अन्तर ध्यान देने योग्य है। वह यह कि जैनसंमत परमाणु वैशेषिक संमत परमाणु की अपेक्षा इतना अधिक सूक्ष्म है कि अंत में वह सांख्यसंमत प्रकृति जैसा ही अव्यक्त बन जाता है। जैन परंपरा का अनंत परमाणु-वाद प्राचीन सांख्यसंमत पुरुष बहुत्वानुरूप प्रकृतिबहुत्ववाद [१] से दूर नहीं है।

---

१. षड्दर्शनसमुच्चय-गुणरत्नटीका-पृ०-९९। "मौलिकसांख्या हि आत्मानमात्मानं प्रति पृथक् प्रधानं वदन्ति। उत्तरे तु सांख्या सर्वात्मस्वपि एकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः।"

जैनमत और ईश्वर

जैन परंपरा सांख्ययोग मीमांसक आदि परंपराओं की तरह लोक को प्रवाह रूपसे अनादि और अनंत ही मानती है। वह पौराणिक या वैशेषिक मत की तरह उसका सृष्टिसंहार नहीं मानती। अतएव जैन परंपरा में कर्ता संहर्ता रूपसे ईश्वर जैसी स्वतंत्र व्यक्ति का कोई स्थान ही नहीं है। जैन सिद्धान्त कहता है कि प्रत्येक जीव अपनी अपनी सृष्टि का आप ही कर्ता है। उसके अनुसार तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव मे ईश्वरभाव है जो मुक्ति के समय प्रकट होता है। जिसका ईश्वरभाव प्रकट हुआ है वही साधारण लोगों के लिए उपास्य बनता है। योगशास्त्रसंमत ईश्वर भी मात्र उपास्य है, कर्ता संहर्ता नहीं, पर जैन और योगशास्त्र की कल्पना में अंतर है। वह यह कि योगशास्त्रसंमत ईश्वर सदा मुक्त होने के कारण अन्य पुरुषों से भिन्न कोटि का है; जबकि जैनशास्त्र संमत ईश्वर वैसा नहीं है। जैनशास्त्र कहता है कि प्रयत्नसाध्य होने के कारण हर कोई योग्य साधक ईश्वरत्व लाभ करता है और सभी मुक्त समानभाव से ईश्वररूप से उपास्य हैं।

श्रुतविद्या और प्रमाणविद्या–

पुराने और अपने समय तक मे ज्ञात ऐसे अन्य विचारकों के विचारोंका तथा अपने स्वानुभवमूलक अपने विचारों का सत्यलक्षी संग्रह ही श्रुतविद्या है। श्रुतविद्या का ध्येय यह है कि सत्यस्पर्शी किसी भी विचार या विचारसरणी की अवगणना या उपेक्षा न हो। इसी कारण से जैन परंपरा की श्रुतविद्या नव नव विद्याओ के विकास के साथ विकसित होती रही है। यही कारण है कि श्रुतविद्या मे संग्रह नयरूप से जहां प्रथम सांख्यसंमत सदद्वैत लिया गया वहीं ब्रह्माद्वैत के विचारविकास के बाद संग्रहनय रूप से ब्रह्माद्वैत विचार ने भी स्थान प्राप्त किया है। इसी तरह जहां ऋजुसूत्र नयरूप से प्राचीन बौद्ध क्षणिकवाद संग्रहीत हुआ है वहीं आगे के महायानी विकास के बाद ऋजुसूत्र नयरूप से वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन चारों प्रसिद्ध बौद्ध शाखाओं का संग्रह हुआ है।

अनेकान्त दृष्टि का कार्यप्रदेश इतना अधिक व्यापक है कि इसमे मानव जीवन की हितावह ऐसी सभी लौकिक लोकोत्तर विद्यायें अपना अपना योग्य स्थान प्राप्त कर लेती है। यही कारण है कि जैन श्रुतविद्या मे लोकोत्तर विद्याओं के अलावा लौकिक विद्याओं ने भी स्थान प्राप्त किया है।

प्रमाणविद्या मे प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि ज्ञान के सब प्रकारों का, उनके साधनों का तथा उनके बलाबल का विस्तृत विवरण आता है। इसमे भी अनेकान्त दृष्टि का ऐसा उपयोग किया गया है कि जिससे किसी भी तत्त्वचिंतक के यथार्थ विचार की अवगणना या उपेक्षा नहीं होती, प्रत्युत ज्ञान और उसके साधन से संबंध रखने वाले सभी ज्ञान विचारों का यथावत् विनियोग किया गया है।

यहाँ तक का वर्णन जैन परंपरा के प्राणभूत अहिंसा और अनेकान्त से संबंध रखता है। जैसे शरीर के बिना प्राण की स्थिति असंभव है वैसे ही धर्मशरीर के सिवाय धर्मप्राण की स्थिति भी असंभव है। जैन परंपरा का धर्मशरीर भी संघ-रचना, साहित्य, तीर्थ, मन्दिर आदि धर्मस्थान, शिल्पस्थापत्य, उपासनाविधि, ग्रंथसंग्राहक भांडार आदि अनेक रूप विद्यमान है। यद्यपि भारतीय संस्कृति विरासत के अविकल अध्ययन की दृष्टि से जैनधर्म के ऊपर सूचित अंगों का तात्त्विक एवं ऐतिहासिक वर्णन आवश्यक एवं रसप्रद भी है तथापि वह प्रस्तुत निबंधकी मर्यादा के बाहर है। अत एव जिज्ञासुओं को अन्य साधनो के द्वारा अपनी जिज्ञासा को तृप्त करना चाहिये।

———○○———

कोशा—

—पोद्दार रामावतार 'अरुण'

[नवम नन्द के समय पाटलिपुत्र की गणिकाओं में कोशा एक प्रधान और परम सुन्दरी थी। सम्पूर्ण मगध में इसकी कीर्ति फैली हुई थी। श्वे० जैन आचार्य श्री स्थूलिभद्र मुनि ने इसकी चित्रशाला में चातुर्मास यापन किया था। इनको विचलित करने में 'कोशा' ने अपनी ओर से कुछ भी कमी न रखी, पर आत्मिक साधना में अनुरक्त मुनि के रोम पर भी प्रभाव न पड़ा। बल्कि उनकी वाणी और चारित्र से गणिका प्रभावित हुई और उसने आर्हत धर्म अंगीकार किया। इसी महत्त्व-पूर्ण घटना पर बिहार के तरुण कवि 'अरुण' एक काव्य प्रस्तुत करने जा रहे हैं। इसका एक अंश यहाँ पर साभार दे रहे हैं। —सम्पा०]

गंगा के तट से तनिक दूर
पाटलीपुत्र की प्रिय गणिका
कोशा के उपवन में वसन्त लहराता,
चंचल समीर के संग-संग अँगड़ाता,
कोकिल के मधु स्वर में अनंग-सा गाता,
कलिका के उर में मादकता भर जाता !
लतिकाएँ उसको घेर-घेर,
देतीं अपनी माया बिखेर,
पर वसन्त लेता अपना मुख फेर-फेर !
उड़ती सुगन्ध की धूल
फूल हिलते अलि के अनुकूल
आती हैं रह-रह कर हिलोर
आते रहते हैं यों झकोर—
दिन-रात-प्रात
हिल जाते तरु के पात-पात !
आते जनगण संध्या वेला
करने दर्शन नित कोशा के

हँस पड़ते हैं चुपके-चुपके
दो नयन मृदुल अभिलाषा के !
रवि की स्वर्णिम किरणें अनन्त
लहरोंकी शोभा बन जातीं
जीवन के बहते गीतो पर
अपनी सुषमाएँ फैलातीं !
वह रूप-राशि,
सौन्दर्य-शरद के, आँगन की पूर्णिमा विमल
सुन्दरता की मधुरिमा नवल
स्वप्निल निकुंज-नर्त्तकी चपल
रजनी के पहले आ जाती
साधना-महल से निकल, बाग के ऊँचे टीले पर चढ़ कर
अरुणिमा मिलन मे मुसकाती !
फिर तारो के झिल मिल प्रदीप
बन जाते संध्या के सिगार
वह आती फूलो के घर मे
औ शान्त सरोवर के जल पर
दासी समेत नौका लेकर करती विहार !
बज उठती हैं आकुल वीणा,
झंकृत हो जाते तार-तार !
सुन लेता शशि मन की पुकार
चाँदनी चमन मे मुसकाती
डगमग नौका पर मन्द-मन्द कोशा गाती !
इतने मे रग महल सुन्दर
शत शत जन गण से भर जाता
मृदु दीप श्रेणियाँ हँस पड़तीं
आनन्द-सिन्धु-मन लहराता !
सब आए हैं माँगने कला की नई भीख
सब आए हैं लेते अभिनय से नई सीख
सरसों-शय्या पर, सूई के अग्र भाग पर
कोशा करती नृत्य स्वर्ण पाँखे फैला कर ।
दीप-कुंज से स्वर-लहरी सहसा टकराती
नूपुर के गीतों को ऊपर हवा बुलाती

पृथ्वी पर उर्वशी स्वयं गाने आई है
धरती के फूलों पर अँगड़ाने आई है!
नयनों में वासना नहीं है, प्यार भरा है
प्राणों पर उल्लास-हास-संसार खड़ा है
दुर्बल मानव सुन्दरता से हिल जाता है
उसका पाप कुसुम-सा चुपके खिल जाता है
कोशा अपने नृत्य भाव से उसे मिटाती
काम-कल्पना के आँगन मे ज्योति जलाती
होता ज्ञानोदय मानव के तिमिर-कुंज में
महा सत्य-शतदल खिल जाता प्रभा-पुंज मे!
कला मनुज के प्राणों मे आलोक जगाती
कला बुद्धि की आँखों मे उर-ज्योति दिखाती

*

रंग महल की उठी यवनिका, कोशा आई
दर्शक की उत्सुकता नूपुर से टकराई।
जैसे बादल-घर मे चाँद निकल आता है
घोर घटा को छोड़ गगन में मुसकाता है
उसी तरह कोशा दर्शक के सम्मुख आई
उसी तरह कोशा मंच के सम्मुख मुसकाई!
किसकी आँखे नहीं खुशी मे उड़ी गगन मे
कौन नहीं चल पड़ा नृत्य के संग चमन मे?
कौन नहीं हो गया हर्ष से पागल क्षण भर
कौन नही हो गया खुशी के सुरभित पल पर?
आकर्षण है कोशा की कमनीय कला मे
आकर्षण है सफल नृत्य की शत मुद्रा मे!
संयम का सौन्दर्य प्रेम से बोल रहा है
अन्तर का आवरण विभा से खोल रहा है!

----००----

जननायक महावीर–

–श्री पृथ्वीराज जैन एम ए. शास्त्री

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य का कथन है–'साधारणी गङ्गा न कस्यचित् पैतृकी।' गंगा के पावन जलपर मनुष्य मात्र का अधिकार है, वह किसी व्यक्ति की वंशक्रमागत निजी सम्पत्ति नहीं। सृष्टि का प्रवाह सादि हो अथवा अनादि, किन्तु इस मे सन्देह नहीं कि मानव-जाति का सर्व-प्रथम महान् शत्रु वह व्यक्ति था जिसने इतिहास के किसी युगमे थोड़ी सी भूमि पर अधिकार कर, उसे चारदीवारी से आबद्ध कर यह घोषणा की कि इस भूखण्ड पर एकमात्र मेरा अधिकार है। मानव मात्र को उपलब्ध प्राकृतिक सुविधाएँ जब व्यक्तिगत सम्पत्ति का रूप धारण करने लगी, तब समाज का शोषक तथा शोषित, अथवा शासक और शासित वर्गो मे विभक्त हो जाना अनिवार्य था। धीरे धीरे इस घातक मनोवृत्ति ने जीवन के अन्य क्षेत्रों मे भी पदार्पण किया। केवल जड़ पदार्थ नहीं, अपि तु धार्मिक तथा दार्शनिक तत्त्वचिन्तन और तथ्य भी, 'निज' व 'पर' के स्थायी विभागों मे बाँट दिए गए। परिणामस्वरूप उन तथ्यो के उपदेष्टा महापुरुषों, महर्षियो, मनस्वियों तथा तत्त्ववेत्ताओं को भी मानव जाति के छोटे-छोटे दलों ने आपस मे विभक्त कर लिया और उन पर मुहर लगा दी। महापुरुषों ने जीवन पर्यन्त साधना कर समस्त मानव जाति की सेवा की थी और उस साधना रूप फलके आस्वादन के निमित्त विश्व के सभी मनुष्यों को निमंत्रित किया था। किन्तु स्वार्थान्ध मनुष्यों और धर्म के ठेकेदारो ने महापुरुषों के उपदेशों पर विविध लेबल तथा साइनबोर्ड लगाकर उनके वास्तविक स्वरूप को विकृत कर दिया। फल यह हुआ कि वे महापुरुष अपने अपने तथाकथित अनुयायियों की पूजोपासना के साधन तो बन गए, परन्तु उनके प्रदर्शित मार्ग पर चलने वाले वीर बिरले ही निकले। यही कारण है कि मर्यादापुरुषोत्तम राम व योगीश्वर कृष्ण, भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध, हजरत ईसा, हजरत मुहम्मद, गुरु नानक आदि महान् आत्माएँ क्रमशः हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान और सिख सम्प्रदायो से संबंधित प्रतीत होती है, एक अविभाज्य तथा विशाल मानव जातिके पथप्रदर्शक के रूप में नहीं।

आज हम इतिहास के उस युग में खड़े हैं जब हमें अपने इस सीमित और दूषित

दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन करना होगा। विभिन्न देशों तथा युगों मे जिन महापुरुषोंने जन्म लिया, उन्होंने तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार जनता को सत्य-मार्ग का दिग्दर्शन करा कर, वस्तुतः सकल मानव जाति का ही उपकार किया है। शरीर के एक अंगकी सेवा या चिकित्सा समस्त शरीर के लिए उपयोगी व लाभप्रद होती है। इसी प्रकार बृहत् मानव समाज के किसी एक भाग में दिया गया सन्देश सारे समाज के लिए ही हितकर आदर्श होता है। इसी दृष्टिबिन्दु को सम्मुख रख हमे यह विचार करना है कि भगवान् महावीर ने तत्कालीन भारतीय जनता को अपने जीवन व सन्देश द्वारा जो नवीन स्फूर्ति प्रदान की थी, उसका सम्यक् स्वरूप क्या है और उन्हे मात्र जैन धर्म के एक प्रवर्तक के रूप मे न देख कर जननायक के रूप में समझने की क्यों आवश्यकता है ?

भगवान् महावीर व भगवान् बुद्ध जिस श्रमण संस्कृति के प्रतिनिधि है उनका ब्राह्मण अथवा वैदिक संस्कृति से मुख्य भेद धार्मिक क्षेत्रमें समानता का सिद्धान्त है। वैदिक संस्कृति अपने उदय के कुछ समय बाद ही जन्मना जाति के कड़े बंधनों द्वारा जकड़ी गई थी। वेदाध्ययन तथा यज्ञादि धार्मिक कृत्यों को विधिवत् करने का अधिकार केवल द्विजो का ही माना गया। शूद्रो व स्त्रियो के लिए तो आध्यात्मिक उन्नति के द्वार सर्वथा बन्द थे। अन्य उच्च वर्णो के लोग कठोर-तप व गहन अध्ययन की परीक्षा मे उत्तीर्ण होने पर भी ब्रह्मर्षि के पद पर आसीन न हो सकते थे। समाज मे व्याप्त इस न्याय-विरुद्ध विषमता को भगवान् महावीर सहन न कर सकते थे। उन्होने सहज प्राप्त गृहस्थ सुखो से विमुख हो इस असमानता का मूलोच्छेद करने के लिए मार्ग की खोज का अभिग्रह किया। संसार के कल्याण को अपना स्वार्थ बना कर संसार का त्याग किया। वे १२ वर्ष तक घोर तप और चिन्तन करते रहे। जैनधर्म मे इस साधनाकाल का जो वर्णन दृग्गोचर होता है, वह उनकी अद्‌भुत सहन-शक्ति तथा आत्मिक बलका द्योतक है। लगातार कई दिनोतक निराहार रहना, निर्जन वनों व भयानक मार्गों में एकाकी पर्यटन करना, असह्य तथा प्राणघातक उपसर्गो के उपस्थित होनेपर भी धैर्यपूर्वक समाधिस्थ खड़े रहना, अपरिचित प्रदेशों मे लोगों द्वारा दिए गए अनेक कष्टो का समभाव से सामना करना, विभिन्न ऋतुओं मे ऋतुजन्य कष्टकर परिषहों का सहन करना, प्रायः मौन रहना, इत्यादि बाते उनके तपोमय जीवन की विलक्षणताएँ है। तपस्या की इस अग्निपरीक्षा मे उन्हें पूर्ण रूपेण सफलता प्राप्त हुई और अब जनहित के उद्देश्य से उन्होने पुनः किन्तु नवीन रूप से संसार से सबध स्थापित किया।

भगवान् महावीर ने इस बात की घोषणा की कि मोक्ष की ओर जानेवाला मार्ग 'शाराए आम' या सबके लिये है। कोई भी व्यक्ति चाहे वह किसी भी

देश, जाति या वर्ण का हो, निवृत्ति पथ का पथिक बन कर मुक्ति प्राप्त कर सकता है। आत्मा के क्षेत्र मे कोई बड़ा या छोटा, उच्च या नीच कुल का नहीं है। निर्वाण जनता का जन्मसिद्ध अधिकार है। मिसेस स्टीवन्सन कहती है[1] कि जैन धर्म की एक अद्वितीय विशेषता अन्य लिङ्गियों का भी मोक्षाधिकार स्वीकार करना है। "मात्र सिर मुड़ाने से कोई श्रमण नही होता, ओम् का जाप करने से कोई ब्राह्मण नही होता, निर्जन वन मे रहने से मुनि नहीं होता, कुश वस्त्र धारण करने से तपस्वी नहीं होता।" "समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि, तथा तप से तपस्वी होता है।" "कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है।" "जो सदाचारी, तपस्वी दमितेन्द्रिय हो, जिसने उग्र तप द्वारा अपने शरीर के रक्त माँस सुखा डाले हों, कृशगात्र हो तथा कषायोंके शान्त होने से जिसका हृदय शान्ति का सागर हो, उसीको हम ब्राह्मण कहते हैं।" "परिग्रहरहित त्यागी को ही हम ब्राह्मण कहते है।"[2] यह था वीर के ब्राह्मणत्व या श्रमणत्व का आदर्श।

श्रमण शब्द का अर्थ ही टीकाकारोंने इस प्रकार किया है[3]–"श्राम्यति तपस्यतीति श्रमणः।" जो श्रम की सतत साधना करता है, तप करता है वही श्रमण है। साधना, तप या श्रम करनेवाले व्यक्ति समाजपर कभी बोझ रूप नहीं होते। श्रमण संस्कृति सुरक्षित हितो के ऐसे दलो का विरोध करती है, जो केवल एक विशेष कुल मे जन्म लेने या विशेष आसन पर आसीन होने के कारण दूसरों के श्रम को हड़प लेते है और बदले मे कोई समाजोपयोगी काम नही करते।

भगवान् महावीर ने समता के सिद्धान्त का और भी विशद स्वरूप जन-साधारण के सम्मुख उपस्थित किया। उन्होंने कहा, कि हमारी आत्मा राग द्वेष से रहित हो, समभाव को धारण कर, आत्मकल्याण की सर्वोच्च सीढ़ीपर आरूढ़ हो सकती है। "जिन व्यक्तियोंने आज तक मोक्ष पाया है, अब पा रहे हैं, अथवा भविष्य मे पायेंगे, वे सब सामायिक या समता के प्रभाव से।" "कठोर तप से, जप से अथवा चारित्र से क्या लाभ? सामायिक के बिना मोक्ष न कभी हुआ है, और न होगा ही।" जहां समभाव होगा, प्राणी मात्र मे मैत्री की भावना होगी वहाँ स्वार्थका त्याग होगा,[4] "संसार के प्राणियो को उसी दृष्टि से देखा जायगा जिससे हम अपने को देखते है, सब प्राणियों मे समान भाव का ज्ञान कर प्रसन्नता व आह्लाद होगा" वहीं विश्व के सकल प्राणी अपने को

१. Heart of Jainism.
२. उत्तराध्ययन अ० २५।
३ हरिभद्र–दशवै० टीका।
४ आचाराङ्ग सू० ११६–१७।

सुरक्षित समझेंगे, स्वतंत्रता के अपहरण का भय जाता रहेगा, देश की रक्षा के बहाने सैन्य पर अरबों का व्यय न होगा, संयुक्तराष्ट्र संघ जैसी संस्थाएं करोड़ों रुपया स्वाहा करने के बावजूद युद्ध रोकने में असमर्थ व पंगु न होंगी, तथा जन साधारण सुखपूर्वक जीवनयापन कर सकेंगे। समता भाव से पारस्परिक मनोमालिन्य दूर हो जायगा, और हमारा संकुचित दृष्टिकोण बदल जायगा। गौतम गणधर ने भगवान् से पूछा—"भगवन्, सामायिक से एक आत्मा में क्या भाव पैदा होते हैं?" भगवान् ने उत्तर दिया—"सामायिक से आत्मा पापमय प्रवृत्तियों से दूर हट जाती है।" जब हम पापमय कार्यों से, अपनी स्वार्थ-साधना के लिए दूसरों को दुःख पहुंचाने से दूर रहेंगे, परिग्रह के माया जाल मे न पड़कर केवल आवश्यकतानुसार[२] लाघव की नीति अपनाएँगे, तो मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण स्वयमेव दूर हो जायगा।

भगवान् महावीर की इस समता का प्रभाव केवल प्राणीमात्र की मैत्री तक ही सीमित नहीं था। उन्होंने दार्शनिक क्षेत्रमे भी जगतको एक नवीन सन्देश दिया। वह था अनेकान्तवाद—अर्थात् दूसरो के दृष्टिकोण को सम्यक् रूप से समझने का प्रयत्न करना। सभी धर्म या दर्शन, सर्वथा मिथ्या हों, ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार विशाल से विशाल मरुभूमि मे भी गहराई तक खुदाई से कहीं न कहीं जल की उपलब्धि निश्चित है, उसी प्रकार प्रत्येक धर्म मे सत्य के अंश विद्यमान हैं। स्याद्वाद से संसार के धार्मिक संघर्षोंका समन्वय शीघ्र ही किया जा सकता है। क्या ही अच्छा हो यदि हम स्याद्वाद या अनेकान्तका दृष्टिकोण लेकर सभी धर्मो मे त्रुटियो व भेदो के अन्वेषण के स्थान पर गुणो व समानताओ की ओर लक्ष्य दें। आ० अमितगति ने 'सामायिकपाठ' मे समता भाव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'प्राणी मात्र के प्रति मैत्री का भाव, गुणीजनों में आदर बुद्धि, दुःखी व पीड़ित आत्माओंके प्रति दया व सहानुभूति की भावना, तथा विपरीत मार्ग की आराधना करने वालों के प्रति मध्यस्थता का भाव मेरी आत्मा सदैव धारण करे।"

भगवान् महावीर ने जनता से प्रत्यक्ष संपर्क स्थापित करने तथा आबालवृद्ध नरनारी तक अपने परीक्षण व अनुभव का सन्देश पहुचानेके लिए किसी गूढ़, सीमित या क्लिष्ट भाषा का प्रयोग नहीं किया। जनता के हितार्थ प्राप्त की गई वस्तु जनता की प्रचलित भाषा मे ही उसके हृदयङ्गम की जा सकती थी ताकि वह स्वातंत्र्य तथा स्वावलम्बनका नाद सब के कर्णगोचर हो सके।

---

१. उत्तराध्ययन अ० २९।

२. लाघवियं आगममाणे—आचाराङ्ग सू० २१०।

यही कारण है कि उन्होंने प्राकृत, लोक भाषा या अर्धमागधी में जनता जनार्दन को समानता व अहिंसा का उपदेश सुनाया। जो जननायक या नेता जनता की भाषा में अपने विचारोंको प्रकट नहीं कर सकता, उसके नेतृत्व का अर्थ ही क्या ?

एक और दृष्टि से भी जनसाधारण भगवान् महावीर को अपना नायक समझते थे। वे उन की दृष्टि मे अजनबी या अपरिचित न थे। मनुष्य रूप मे जन्म लेकर उन्होंने परिश्रम व तप द्वारा आत्मिक शक्ति का विकास किया था, और मार्ग पर अग्रसर रहते हुए आत्मा से महात्मा और फिर परमात्मा के पद को प्राप्त किया था। अतः उनका सन्देश मानव द्वारा ज्ञात तथा मानव द्वारा प्रचारित था। अन्य जन भी उसकी सत्यता अपने अनुभव से परख सकते थे। कोई गुप्त रहस्य न था। इस प्रकार भगवान् महावीर ने मानव की प्रतिष्ठा का मूल्य बढ़ाया था। प० जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं– "मुझे इस बात मे हमेशा ज्यादा शान और भव्यता जान पड़ती है कि एक इन्सान दिमागी और रूहानी हैसियत से बुलन्दी पर पहुँचे और दूसरों को भी उठाने की कोशिश करे, न कि इसमे वह किसी बडी शक्ति या ईश्वर की तरफ से बोलने वाला बने।.....जिस बात से मेरे दिल मे उम्मीद बंधती है, वह यह है कि आदमी के दिमाग और उसकी रूहने तरक्की हासिल कर ली है, न कि यह कि वह एक पैगाम लानेवाला एलची बन गया है।"[१]

अब प्रश्न यह है कि भगवान् महावीर के उपदेश का प्रभाव क्या पड़ा ? जनता ने उसे किस सीमा तक अपनाया ? इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं। महापुरुष जनसाधारणके सम्मुख एक आदर्श रख देते है, और उनका सन्देश तत्कालीन परिस्थिति मे सुधार कर जनता के पथप्रदर्शन के लिए होता है। जनता प्राचीन रूढ़ि का सरलता से त्याग नहीं करती। फिर परिस्थितियों में भी परिवर्तन होता रहता है। तथापि हमें यह तो स्वीकार करना होगा कि अहिंसा के प्रचार के कारण प्राणिवध पर्याप्त मात्रा मे रुका, तथा धीरे धीरे यज्ञोंमें पशु बलिका अन्त हुआ। आज बहुत कम लोग उसे धर्म का साधन मानते है। पशुओं, दासों, शूद्रों तथा स्त्रियों के प्रति व्यवहार मे भी शनैः शनैः काफी अन्तर पड़ा, और उन पर की जाने वाली निर्दयता को रोकनेके लिये राज्य को भी नियम बनाने पड़े। मांसाहार का प्रचार भी घटा। दया व दान की भावना ने सार्वजनिक हित के कार्यों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया।

---

१. The Discovery of India, p. 77.

धार्मिक क्षेत्र में सब का प्रवेश अनुज्ञात होनेसे शूद्र व नारी जाति भी संन्यास मार्ग का आश्रय लेने लगीं। साधु या साध्वी के संघ में प्रवेश करने के बाद जाति भेद मिट जाता था। हाँ, यह अवश्य है कि सामाजिक जीवन तथा नित्य प्रति के व्यवहार में जाति भेद का मूलोच्छेद न हो सका। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर जनता पर सुधार ठोसना न चाहते थे। उनकी धारणा थी कि आन्तरिक भावना शुद्ध होने से, समता की आराधना करने से, व प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव रखने से, क्रमशः एक दिन ऐसा आयगा कि जनता व्यावहारिक जीवन मे भी सरलता से इस विषमता को दूर कर देगी। परन्तु ऐसे स्वर्णकाल मे अभी काफी देर थी। इसी तरह धनिकों द्वारा दरिद्रों का शोषण भी उस काल मे वर्तमान ढंग से न था। यूनान की तरह दासप्रथा का रूप भी भारत मे इतना विकट न था। अतः संभव है कि भगवान् महावीर तथा भगवान् बुद्ध ने पहले अन्तःकरण की शुद्धि पर ही जोर देना उचित समझा हो। यह तो सब मानेंगे ही कि भगवान् ने आध्यात्मिक क्षेत्र में जिस समानता का बीजारोपण किया, उससे भावी सन्तति को अन्य क्षेत्रों में प्रसारित विषमता दूर करने की प्रेरणा मिली और आज भी हम उससे लाभान्वित हो जनता का उत्थान कर सकते है, बशर्ते कि हम अपने जीवन मे जैन संस्कृति को साकार रूप दे।

——०○——

समयं गोयम, मा पमायए

दुमपत्तए पंडुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुआण जीवियं समयं गोयम, मा पमायए॥

जैसे पतझड़ की रात्रियों के बीत जाने पर वृक्ष का पत्ता पीला होकर झड़ जाता है, वैसे ही मनुष्यों का जीवन है। अतः गौतम, क्षण भर भी प्रमाद न कर।

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो कुमुम सारइय व पाणियं।
से सव्वसिणेहवज्जिए, समयं गोयम, मा पमायए॥

जैसे कमल शरत्कालीन निर्मल जल को भी नहीं छूता, उससे निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार तू भी सभी सांसारिक पाशों को काटकर सब प्रकार की आसक्तियों से रहित हो जा। गौतम, तनिक भी प्रमाद न कर।

खण्डहर ?

—मुनि कांतिसागर

निर्जन–एकान्त मे अनेक लता एवं वृक्षों से परिवेष्टित, धूलिधूसरित प्राचीन ध्वंशावशेष को दुनिया के लोग भले ही खण्डहर कहे किन्तु मैंने इसे कभी भी खण्डहर नहीं माना। अपितु मानव-संस्कृति के समुज्ज्वल प्रतीक के रूप मे स्वीकार किया है। वह सस्कृति का महान् कीर्त्तिस्तम्भ है। उसमे स्फूर्त्तिदायक तत्त्व है, महती उत्प्रेरक शक्तियाँ है और भारतीय लोकजीवन को सर्वांगपूर्ण करने की उसमे अद्भुत क्षमा है। उसके अणु परमाणु मे क्रांति की चिनगारियाँ है। वहाँ के पाषाण शब्दरहित वाणी मे युग युग का संदेश सुना रहे है।

विश्व की दृष्टि मे कहे जाने वाले खण्डहर के कण कण मे उन उदारचेता वीरो की निर्मल आत्मा जय घोष कर रही है जिन्होंने राष्ट्र और संस्कृति के रक्षार्थ हँसते हँसते आत्मकर्त्तव्य की बलिवेदी पर अपने आप को होम दिया, उन्होंने उच्चतम आदर्श पोषक भावनाओ का सृजन कर, मानवता को नवजीवन का संचार किया, और अमर हो गये। उन आत्मीय विभूतियो की ज्योति आज कलात्मक पाषाणों के रूप मे जल रही है, मानवता के प्रशस्त राजमार्ग का प्रदर्शन कर रही है और प्राचीन तत्त्वो से ओत प्रोत भावनाओं का नवीन संस्करण उपस्थित कर नव-क्रांतिकारी–मानव को अग्रिम विकास के लिए उत्प्रेरित करती है, अर्थात् अतीत से अनागत की ओर इंगित करती है। इसीलिए मै ऐसे स्थान को अतीत का जीवित प्रतीक मानता हूँ जहाँ पर काव्य की आत्मा, रस की निर्मल सरिता द्रुत गति से प्रवाहित होती हो। जिसके कण कण मे रसिकता हो उसे मै खण्डहर कैसे कह दूँ।

उस स्थान के एक एक पत्थर पर जो शिल्पभास्कर्य है, हमारे कलाविलासी पूर्वज और कला के परम साधक प्रतिभासम्पन्न शिल्पियों का सुस्मरण कराता है। उन्हे देख कर अंतर्नयन तृप्त होते है। हृदय कमल प्रफुल्लित हो उठता है। भावनाओ का द्वन्द्व मच जाता है। अतीत चित्रवत् सम्मुख उपस्थित हो जाता है और कर्ण, उन पाषाणों की मूक वाणी–जिसमें विशुद्ध भारतीय लोक जीवन का बहुमुखी चित्र उत्कीर्ण है–मार्मिक विविध रंगीन जीवन की कहानी सुनने को उत्सुक हो उठते है। बहिर्चक्षु युगल वहाँ अनंत शान्ति के सुकुमार और स्वस्थ सौंदर्य की खोज मे विह्वल हो उठते है। मीलों तक की भीषण गति के बाद चरम नव शक्ति को लिए हुए हों ऐसे आत्मबलवर्धक, उत्प्रेरक, पुनीत और सरस स्थान को भला, मै खण्डहर कैसे कहूँ ?

——००——

जैन पुराण-कथा का लाक्षणिक स्वरूप–

–वीरेन्द्रकुमार जैन, एम० ए०

सब से पहले पुराण-कथा के प्रकृत स्वरूप और उसके मनोवैज्ञानिक उद्गम पर प्रकाश डाल देना जरूरी है।

मनुष्य अपने वास्तविक रूप से तुष्ट नहीं। उसे आदि काल से उच्चतर और सम्पूर्णतर जीवन की खोज रही है। इस खोज ने इन्द्रियगम्य वस्तु-जगत् की सीमा भी लाँघी है, और मनुष्य ने लोकोत्तर और दिव्य के सपने भी देखे हैं। सपने ही नहीं देखे, अपने उन सपनों को अपने रक्तांशों में जीवित कर, अपने ही मांस में से उसने प्रकाश की उन मूर्तियों को जीवन्त भी किया है। जब जब मनुष्य के स्वप्न के उस 'परम सुन्दर' ने रूप लिया, वह अपने सर्वांगीण ऐश्वर्य की अनेक लीलाओं को मानवीय मन पर बहुत गहरा अंकित कर गया। उस परम पुरुष या परम नारी का जो स्थूल व्यक्तीकरण होता है, वही अपने आप में समाप्त नहीं है। उस लीला में एक अधिक गहरा और सूक्ष्म सत्य होता है, जो अरूप होता है। चर्म-चक्षु की पकड़ में वह नहीं आता, पर बोध के द्वारा वह उस काल के मनुष्यों की अनुभूति में रम जाता है। यह अनुभूति मानवी रक्त में होकर पीढ़ी-दर पीढ़ी संक्रमित होती चलती है। विकास के नव-नवीन उन्मेषों और सपनों से मनुष्य उस अनुभूति को सघनतर और विपुलतर बनाता चलता है, नाना काव्यों और कलाकृतियों में उसे संजोता है और अन्ततः वही अनुभूति श्रेष्ठतर और उच्चतर मानवों के रूप में आविर्भूत होकर हमें आगामी देवत्व का आभास दे जाती है। हमारे वैज्ञानिक युग के 'सुपर मैन' की कल्पना के पहिले भी उत्तरोत्तर विकास की यही अजस्र चेतना काम कर रही है।

मनुष्य के भीतर अपार ऐश्वर्य की सम्भावनाएँ दिन और रात हिलोरें ले रही हैं। उन्हें वह एक वास्तविक, सीमित घटना के वर्णन के रूप में नहीं आँक सकता, क्योंकि वह देश-काल की बाधा से मुक्त असीम भूमा का परिणमन है। इसीसे उस अनन्त सौन्दर्य को व्यक्त होने के लिये कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। सर्वकाल और सर्व देश में उसी एक प्राण-पुरुष की सत्ता व्याप्त है। इसीसे मनुष्य का मन सब जगह समान रूप से काम करता है और यही कारण है कि जहाँ भी और जब भी किसी लोकोत्तर, दिव्य सत्ता ने जन्म लिया है, तो उसने सर्वत्र मानवी मन पर अपनी असाधारणता की एक-सी छाप डाली है। इस तरह

मनुष्य के स्वप्न के विगत, आगत और अनागत आदर्श-पुरुषों की कथाओं को एक लाक्षणिक रूप सा मिल गया है।

कल्प-पुरुष के इसी लाक्षणिक रूप को भिन्न-भिन्न देश-काल के लोगों ने और उनके कवि-मनीषियों ने नाना रंगों के प्रकाश-सूत्रों में बाँधा है। स्वप्न-पुरुष और स्वप्न-नारी की इस कल्पना-ग्राह्य कथा को ही हम पुराण-कथा कह सकते हैं। निरे वास्तव के तथ्य से ऊपर उठकर कथा जब भी भाव-कल्पना के दिव्य लोक में चली गई है, तभी यह पुराण-कथा बन गई है। अपने मन की सारी उद्दीप्त आशा, कांक्षा, कामना से अभिषिक्त कर मनुष्य की अनेक पीढ़ियां उसी कल्प-पुरुष की कथा के नव-नवीन और महत्तर रूपों को दुहराती गई हैं। मनुष्य की कथा जब भी प्रकट सामान्य के धरातल से उठ कर सम्भाव्य असामान्य के स्वप्न जगत् में चली गई है, तभी वह पुराण-कथा हो गयी है। इसीसे प्रायः ये कथाएँ रूपक, प्रतीक और दृष्टान्त के रूप में ही पाई जाती हैं। वे मात्र वास्तविक घटना की कथा नहीं कहतीं, वे तो बिना कहे ही जीवन के कई निगूढ़ सत्यों पर अनेक रंगों का प्रकाश डाल देती हैं।

जैन-पुराणों में भी इस कल्प-पुरुष यानी मनुष्य के परम काम्य आदर्श की कथा को ही लाक्षणिक रूप प्राप्त हुआ है। जैनों के यहाँ इन परम पुरुषों को शलाकापुरुष कहा गया है। उनके स्वरूप, सामर्थ्य, लीला और चरम प्राप्ति की भिन्न-भिन्न कोटियों के अनुसार उनकी अलग-अलग लाक्षणिक मर्यादाएँ कायम कर दी गई हैं।

जैन कवि-मनीषियों ने अपने आदर्श की चूड़ा पर तीर्थंकर की प्रतिष्ठा की है। तीर्थंकर वह व्यक्तिसत्ता होती है, जिसमें सारे लौकिक और अलौकिक ऐश्वर्य एक साथ प्रकाशित होते हैं। दैहिक दृष्टि से वह असामान्य बल-वीर्य, शौर्य, विक्रम-प्रताप और सौन्दर्य का स्वामी माना जाता है। उसकी अंग-रचना का बड़ा ही विशद और सार्थक वर्णन शास्त्रों में मिलता है। आदि से अन्त तक बाल रूप का सलोना और निर्दोष मार्दव उसके मुख पर और काया में विराजता रहता है। आयुष्य के प्रभाव से वह अविक्षत रहता है, और स्वयं काल भी उसकी देह का घात नहीं कर सकता। इसीसे उसे चरम शरीरी कहा गया है। वह लोक का अपराजित आदित्य-पुरुष (sun-man) यानी पूषन् होता है, जिसमें सारे तत्वों का सारभूत तेज, रस और शक्ति समाई रहती है। पूर्व जन्म में निखिल चराचर के कल्याण की कामना करने से वह तीर्थंकर प्रकृति बाँधता है। इसीसे जब वह तीर्थंकर होकर पैदा होता है तो लोक में सर्वांगीण अभ्युदय प्रकट होता है। प्राणी मात्र का प्राण एक अव्याहत सुख से व्याप्त हो जाता है। तत्कालीन

धरती पर वही लोक और परलोक की सारी सिद्धियों का प्रकाशक, विधाता और नेता होता है।

आदि से अन्त तक तीर्थंकर की जीवन-लीला बड़ी काव्यमय और रोचक है। लगता है कि मानव-कवि की कल्पना का सारभूत मधु और तेजस् उस रूपक में साकार हुआ है। वह मानवों और देवों की महत्त्वाकांक्षा का चरम रूप है। तीर्थंकर के गर्भ मे आने के छह महीने पहले से ही पंच आश्चर्यों की वृष्टि होने लगती हैं। आस-पास के प्रदेशों में निरन्तर रत्न-वर्षा होती है, नन्दन के कल्प-वृक्षों से फूल बरसते है, गंधोदक की वृष्टि होती है, और आकाश मे दुंदुभियों के घोष के साथ देव जय-जयकार करते है। पृथ्वी अपने भीतर के समूचे रस से संसार को नव-नवीन सर्जनों से भर देती है। तीर्थंकर जिस रात गर्भ में आते हैं, उस रात उनकी माता ऐरावत हाथी, स्वर्ण, सिंह आदि के सोलह सपने देखती है, जो उस आगामी परम पुरुष की अनेक विभूतियो के प्रतीक होते हैं। तीर्थंकर के जन्म के समय इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है, देवलोक और मर्त्यलोक में अनेक आश्चर्य घटित होते है। सभी स्वर्गों के इन्द्र अपनी देव-सभाओं सहित अन्तरिक्षको दिव्य संगीत से गुंजित करते हुए, लोक में प्रभु के जन्मका उत्सव मनाने आते हैं। बड़े समारोह से शिशु-भगवान् को मेरु पर्वत पर ले जाकर, पाण्डुकशिला पर उन्हें विराजमान किया जाता है; फिर देवागनाओं द्वारा लाये हुए क्षीरसागर के जल के एक हजार आठ कलशों से उनका अभिषेक किया जाता है। कई दिनो तक इन्द्राणियाँ और देवियाँ प्रभु की माता की सेवा मे नियुक्त रहती है। इसके उपरान्त भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों के प्रकरणों मे उनके कुमार काल और राज्य-काल की विशिष्ट कथाएँ वर्णित होती है।

दीर्घ समय तक विपुल सुख भोग के बीच राज्य करते करते किसी एक दिन अचानक सांसारिक क्षण-भंगुरता पर उसकी दृष्टि अटक जाती है। सारा ऐहिक सुख-भोग उसकी दृष्टि मे विनाशी और हेय जान पड़ने लगता है। चित्त मे आत्मा के विरह की व्यथा जाग उठती है। देह, महल और संसार के बन्धन उसे असह्य हो उठते हैं। सब कुछ त्याग कर वह चल पड़ने को उद्यत होता है, तभी लौकान्तिक देव आकर उसकी इस मांगलिक चित्त-वेदनाका अभिनन्दन कर, उसके वैराग्य का संकीर्तन करते है। जब वह नरसिंह महाभिनिष्क्रमण को उद्यत होता है, उस समय संसार की सारी विभूतियाँ हाहाकार कर उठती है कि—हाय, उनका एकमेव समर्थ भोक्ता भी उन्हे त्याग कर चला जा रहा है, और उसे बाँध कर रखने की शक्ति उनमें नहीं है।

इन्द्र आकर बड़े समारोह से प्रभु का दीक्षा-कल्याणक करता है। वह मानव-पुत्र निर्वसन—दिगम्बर होकर प्रकृति की विजय-यात्रा पर निकल पड़ता है। महा-

विकट कान्तारों और पर्वत-प्रदेशों मे वह दीर्घकाल तक मौन समाधि में लीन हो रहता है। अनायास एक दिन कैवल्य के प्रकाश से उसकी आत्मा आरपार निर्मल हो उठती है। तीन काल और तीनों लोक के सारे परिणमन उसके चेतन में हाथ की रेखाओंसे झलक उठते है। तब निर्जन की कन्दरा को त्याग कर लोक-पुरुष अपना पाया हुआ प्रकाश निखिल चराचर के प्राण तक पहुचाने के लिये लोक मे लौट आता है। इन्द्र और देवतागण उसके आसपास विशाल समवशरण की रचना करते है। तीर्थकर की यह धर्मसभा देश-देशान्तरों मे विहार करती है। आगे-आगे धर्म-चक्र चलता है, दिशाएँ नव-युगोदय और नवीन परिणमन के प्रकाश से भर उठती है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुरूप लोक में अनेक कल्याण-कारी परिवर्तन होते है। प्रभु की अजस्र वाणी के अनहद घोष मे प्राणिमात्र के परम कल्याण का उपदेश निरन्तर बहता रहता है। लोक मे उस समय अपूर्व मंगल और आनन्द व्याप जाता है। जीवो के वैर-मात्सर्य, दुःख-विषाद मानो एकबारगी ही लुप्त हो जाते है। इस तरह अनेक वर्ष दूर-दूर देशों मे विहार करके धर्म का चक्र-वर्तन करते हुए अनायास एक दिन किसी ज्योतिर्मय क्षण मे प्रभुका परिनिर्वाण हो जाता है। ऐसी भव्य और दिव्य है तीर्थकर की जीवन-कथा।

लोक का दूसरा प्रतापी शलाकापुरुष होता है—चक्रवर्ती। चक्रवर्ती के जन्म के साथ ही उसके महाप्रसाद मे उसकी नियोगिनी चौदह ऋद्धियों और सिद्धियों के देनेवाले चौदह रत्न प्रकट होते है। इन्ही रत्नों मे से चक्रवर्ती की सारी आधिभौतिक और दैवी विभूतियां प्रकट होती है। वह पूर्व निदान से ही षट खण्ड पृथ्वी के विजेता होने का नियोग लेकर जन्म लेता है। पृथ्वी के नाना खण्डो मे जहाँ पीड़क असुरों और शोषक राजाओं के अत्याचारों से लोक-जन पीड़ित होते है, उन सब का निर्दलन कर, धरती पर परम सुख, शान्ति, कल्याण और समता का धर्म-शासन स्थापित करने के लिये ही चक्रवर्ती अवतरित होता है। जब चक्री दिग्विजय के लिये जाता है, तो उसका चक्र-रत्न आगे-आगे चलता हुआ उसका पथ-सन्धान करता है। यह चक्र एकबारगी ही धर्म और उसकी स्थापक कल्याणी शक्ति का प्रतीक होता है। जब ससागरा पृथ्वी के छः खण्डों को जीत कर चक्री अपनी विजय के शिविर पर गर्वोन्नत खड़ा होता है, तभी वृषभाचल पर्वत पर अपनी विजय का मुद्रालेख अंकित करने जाता है। पर वहाँ जाकर पाता है कि विजय के उस शिलास्तम्भ पर उससे पहले ऐसे असंख्य चक्री अपनी विजय की हस्त-लिपि आँक गये है और उस शिला पर नाम लिखने की जगह नहीं है। उसी क्षण चक्री का विजयाभिमान चूर्ण हो जाता है। वह अकिंचन भाव से किसी पिछले चक्री का नाम मिटा, अपने हस्ताक्षर कर देता है और समभाव लेकर अपने राज-नगर को

को लौट जाता है। तब अपनी सारी शक्ति और विभूति प्रजा के कल्याण के लिये उत्सर्ग कर देता है और यों अप्रमत्तभाव से वह धर्म-शासन का संचालन करता है। इस कथा में बड़े ही लाक्षणिक ढंग से भौतिक सत्ता के अन्तिम बिन्दु को, परम कल्याण के छोर मे ग्रथित कर दिया गया है। आदि तीर्थंकर वृषभदेव के पुत्र भरत ऐसे ही चक्रवर्ती थे, जिनके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

इस तरह नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र, कामदेव आदि परमता की कई कोटियाँ होती है, और उनके जुदा-जुदा विवरण है।

जैन मान्यता के अनुसार श्रीकृष्ण नारायण थे। वे नियोग से ही तीन खण्ड पृथ्वी के अधीश्वर अर्धचक्री थे। पूर्ण चक्री से ठीक आधे यानी सात रत्न अर्ध-चक्री के कोषागार मे जन्म लेते है। नारायण प्रधानतया कर्म-पुरुष होता है। वह लोक मे लौकिक शौर्य, प्रताप और ऐश्वर्य का अकेला प्रभु होता है। उसकी लीला मे कौतुक, कौतूहल, साहस, शौर्य, सम्मोहन और प्रणय का प्राधान्य होता है। लीला-पुरुषोत्तम कृष्ण के व्यक्तित्व मे इन वृत्तियो का प्रकाश पूर्णतया सागोपाग हुआ है। त्रिखण्ड-विजय के उपरान्त उस कर्म-पुरुष के विभव-स्वप्न को मूर्त करने के लिये समुद्र मे देवों ने द्वारिका रची थी।

कृष्ण के चचेरे भाई तीर्थंकर नेमिनाथ को कैवल्य होने पर उन्होंने अपने सम-वशरण मे यह भविष्य-वाणी की थी कि यादव-पुत्र द्वैपायन के हाथों ही द्वारिका का दहन होगा और अपने ही भाई जरत्कुमार के हाथों कृष्णकी मृत्यु होगी। छप्पन करोड़ यादवों की भृकुटिया टेढ़ी हो गयी उस समय! कुमार द्वैपायन उसी क्षण दीक्षा लेकर वहाँ से चल दिये और जरत्कुमार भी इस पातक से बचने के लिये दूर देशान्तरो मे चले गये। पर उस अकाण्ड को टालने के सारे निमित्त व्यर्थ हुए और तीर्थंकर की वाणी सत्य हुई। यादवों के अपने ही क्रीड़ा-कौतुक ने उनका आत्म-नाश किया। ऐसी थी उस लीला-योगी की लीला। द्वारिका-दहन और यदुकुल के नाश के बाद कृष्ण उत्तर मथुरा की ओर जाते हुए एक जंगल मे सोये विश्राम ले रहे थे; भाई बलराम उनके लिये जल लेने गये थे। तभी जंगल मे निर्वासन लेकर भटकता जरत्कुमार उधर आ निकला। हरि के पग-तलकी मणिको हिंस्र पशु की आँख जान उसने तीर चलाया। वह नारायण के पग-तल की प्राण-मणि को बींध गया। त्रिखण्ड पृथ्वी का अविजित प्रभु अन्तिम क्षण मे भाई को क्षमा कर ज्ञानी बन गया और किसी आगामी भव के लिये तीर्थंकर प्रकृति बाँध कर तत्काल देह त्याग कर गया।

कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कामकुमार थे। कामकुमार जन्म से ही कामदेव का रूप लेकर अवतरित होता है, और चरम शरीरी (अघात्य) तथा तद्भव मोक्षगामी

होता है। वह स्वभाव से ही बहुत लीला-प्रिय, कौतुकी और साहसी होता है। वह रोमांटिक नायक की पूर्णतम कल्पना को हमारे समक्ष मूर्तिमान करता है। हनुमान् भी कामकुमार ही थे। प्रद्युम्न को शिशुवय में ही पूर्वभव के वैरी ने एक प्रचण्ड शिला के नीचे दबा कर मार देना चाहा था, पर चरम शरीरी कामदेव अघात्य था। उसका घात न हो सका, प्रहार के तले भी वह क्रीड़ा ही करता रहा। शिशु हनुमान् अपनी माँ अँजना के हाथ से उछल कर बिमान में से नीचे कन्दरा मे जा गिरे थे। पर्वत की शिला टूक-टूक हो गई पर हनुमान् का बाल बाँका न हो सका। बालक मुस्कराता हुआ खेलता पाया गया।

प्रद्युम्न ने अपने पूर्व नियोग के चौदह वर्ष-व्यापी स्वजन-बिछोह में कई देश-देशान्तरों में भ्रमण कर अपनी शक्ति, प्रतिभा, शौर्य और सौन्दर्य से अनेक सिद्धियों और विद्याओं का लाभ किया था। अपनी युवा भौहो के मोहक दर्प और अपने ललाट के मधुर तेज से उस आवारा और अनजान राजपुत्र ने अनगिनती कुल-कन्याओ और लोक की श्रेष्ठ सुन्दरियों के हृदय जीते थे। यही हाल कृष्ण के पिता वासुदेव का भी था। उनके एक-एक नयन-विक्षेप पर सारे जनपद का रमणीत्व पागल और मूर्च्छित हो जाता था। ऐसी निराली थी इन हरिवंशियों की वंशजात मोहिनी !

इन शलाकापुरुषों के दिग्विजय, देशाटन, समुद्र-यात्रा, साहसिक वाणिज्य-व्यवसाय, और अन्ततः ब्रह्म-साधना की बड़ी ही मार्थक और लाक्षणिक कथाओ से जैन पुराण ओत प्रोत हैं। वस्तु और घटना मात्र को देखनेवाली स्थूल ऐतिहासिक दृष्टि को इन कथाओं में शायद ही कुछ मिल सके। इनके मर्म को समझने के लिये पण्डित जवाहरलाल जैसा मानव-इतिहास का पारगामी कवि-द्रष्टा चाहिये। पंडित जी ने अपनी Discovery of India मे कहा है कि—"पुराण, दंतकथा और कल्प-कथा को वास्तविक घटना के रूप में न देखकर यदि हम उन्हे गहरे सत्यों के वाहक रूपकों के रूप मे देखें तो इनमे अनादिकालीन मानव सृष्टि का अनन्त ऐश्वर्य कोष हमें प्राप्त हो सकेगा।"

जैन वाङ्मय मे ऐसे रस, शक्ति, तप और प्रकाश के संश्लिष्ट रूपकों की अपार सम्पत्ति पड़ी है। जिज्ञासुओं और सर्जकों को आमन्त्रण है कि वे उन चिन्तामणियों की आभा से अपनी दृष्टि को पारस बनायें।

——०ο——

नियतिवादी सद्दालपुत्त-

–प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

"बाबा कुछ खाने को दो" भिखारी ने दीन स्वर में कहा।

"चलो आगे, मैं क्या कर सकता हूं। इस समय तेरी यही दशा होनी थी। बिना पूछे भीतर तक चला आया, भाग यहाँ से" झिटकारते हुए सद्दालपुत्त कुम्हार ने कहा।

बेचारा भिखारी हड़बड़ाकर पास ही रखे कच्चे घड़ों के ढेर पर भरहरा कर गिर पड़ा। कुम्हार के बहुत से घड़े फूट गए। सद्दालपुत्त क्रोध से आग-बबूला हो गया और बोला–मूर्ख, यह सब क्या किया? अन्धा कहीं का, सब घड़े चौपट कर दिए। मेरी दो दिन की मेहनत पर इस अनाड़ी ने पानी फेर दिया।

भिखारी के होश गायब थे, वह पड़नेवाली मार के बचाव का उपाय सोचने लगा।

इतने मे चर्या के लिए श्रमणनायक निग्गंथ नाथपुत्त उधर से निकले और सद्दालपुत्त के द्वार पर पहुंचे। सद्दालपुत्त तो क्रोध से पागलसा हो रहा था। वह श्रमणनायक की प्रतिपत्ति करना तो भूल गया और बोला–देखिए इस अंधे को, इसने मेरा सारा श्रम मिट्टी में मिला दिया, सारे घड़े चौपट कर दिए।

सामने एक सन्त को देखकर भिखारी को ढाढसना बधा और उसकी सहज प्रज्ञा जागी। व्यंग्य से बोला–मैंने क्या किया? इन घड़ो की इस समय यही दशा होनी थी। भिखारी ने सद्दालपुत्त से हुई सारी बाते सुनाते हुए कहा–'क्या नियति एक के ही लिए है?'

"सद्दालपुत्त, यह ठीक तो कहता है" श्रमणनायक ने कहा। यदि इसका भिखारी होना और उस समय भीख माँगना नियत था और उसी नियति के बल पर तुमने इसे भगाया भी, तो घड़ों का फूटना भी तुम्हारे हिसाब से नियत ही था। घड़ों को इसने कहाँ फोड़ा है?

"यदि यह सावधानी से जाता तो मेरे घड़े न फूटते"–सद्दालपुत्त क्रोध को शान्त करते हुए बोला।

"सद्दाल, क्या तुम यह समझते हो कि तुमने इन घड़ों को बनाया है? क्या इनके बनाने में तुम्हारा कर्तृत्व है? यदि तुम्हारा कर्तृत्व है तो क्या तुम रेत को भी घड़ा बना सकते हो?" मृदु स्वर मे श्रमणनायक ने पूछा।

"हाँ, भन्ते, यदि इनका बनाने मे कुछ भी कर्तृत्व है तो मैं असावधानी के दोष का अपराधी हूं, वैसे इनकी फटकार के निमित्त से ही मुझसे यह गलती हुई है।" भिखारी आश्वस्त वाणी मे बोला।

सद्दाल ने कहा—हमारे गुरु गोशालक ने तो यही कहा था कि—"सत्त्वों के क्लेश का कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं। बिना हेतु के और बिना प्रत्यय के सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वों की शुद्धि का कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं, बिना हेतु के और बिना प्रत्यय के सत्त्व शुद्ध होते हैं। अपने कुछ नहीं कर सकते, पराए कुछ नहीं कर सकते। कोई पुरुष भी कुछ नही कर सकता। बल नहीं, वीर्य नहीं, पुरुष का कुछ पराक्रम नहीं। सभी सत्त्व सभी प्राणी सभी भूत और सभी जीव वश मे नहीं है। निर्बल और निर्वीर्य, भाग्य और संयोग के फेर से छह जातियों मे उत्पन्न हो सुख और दुःख भोगते है। यह नहीं है—इस शील या व्रत या तप या ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्व कर्म को परिपक्व करूंगा। परिपक्व कर्म का भोग कर अन्त करूंगा।"

सद्दाल कहता ही गया—सभी द्रव्यों की सब पर्यायें नियत है, वे होंगी ही; उनमे हमारा कोई पुरुषार्थ नही, कोई यत्न नहीं, बल नहीं, पराक्रम नहीं, जो जिस समय होना है होगा ही।

श्रमणनायक बोले—भद्र सद्दाल, यदि यही है तो घड़ो का फूटना भी इस समय नियत था, इस बिचारे का क्या दोष ?

सद्दाल अपनी ही कुयुक्ति के जाल मे फस चुका था। वह दबी जबान से बोला—

"भन्ते, यदि यह थोड़ी भी सावधानी से यहाँ से बचकर चला जाता तो घड़े न फूटते।" इसने तो मेरा सर्वनाश ही कर दिया।

श्रमणनायक ने आदेशक स्वर से कहा—सोचो, अच्छी तरह सोचो, क्या नियति मे किसी का भी कुछ कर्तृत्व हो सकता है ? तुम्ही बताओ तुम इन घड़ों को और सुन्दर और कलापूर्ण बना सकते थे ?

"क्यों नहीं ? यदि श्रम और समय लगाता तो और भी सुन्दर बना सकता था।" सद्दाल ने कला के अभिमान मे कहा।

"तो क्या पुरुषार्थ और यत्न मे कुछ भी हेर फेर संभव है ?" श्रमणनायक ने पूँछा।

यही तो मुझे संशय है कि "यदि पुरुषार्थ मे कुछ हो सकता है तो मैं रेत का घड़ा क्यों नही बना पाता ?" भगवन्, आप तत्त्वज्ञ और तत्त्वदर्शी हैं, मुझे इसका रहस्य समझाइए। मेरी बुद्धि इस समय उद्भ्रान्त हो रही है।

श्रमणनायक ने सान्त्वना देते हुए गम्भीर वाणी मे कहा—भद्र, संसार के पदार्थो के कुछ परिणमन नियत है और कुछ अनियत। प्रत्येक पदार्थ की

अपनी अपनी द्रव्य शक्तियाँ नियत है, इनमें न एक कम हो सकती है और न एक अधिक। कुछ स्थूल पर्यायशक्ति से साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाले परिणमन भी नियत हो सकते है। देखो,घट कपड़ा पानी आग सभी पुद्गल के परिणमन है पर हर एक पुद्गल स्कन्ध हरसमय कपड़ा या घड़ा नहीं बन सकता। मिट्टी ही घड़ा बनेगी और सूत ही कपड़ा। यह दूसरी बात है कि मिट्टी के परमाणु कपास के पेड़ के द्वारा रुई बनकर परम्परा से कपड़ा भी बन जाँय और सूत भी सड़कर मिट्टी के आकार में घड़ा बन जाय, पर साक्षात् उन पदार्थो से घड़ा और कपड़े पर्याय का विकास नहीं हो सकता। रेत मे घट बनने की उस समय योग्यता नहीं है। अतः वह मिट्टी की तरह घड़ा नहीं बन सकती। जब तुम मिट्टी का पिंड बनाते हो तो क्या यह समझते हो कि इतने मिट्टी के परमाणुओंका घड़ा बनना या सकोरा बनना नियत है ? सीधी बात तो यह है कि–मिट्टी के पिंड मे उस समय सकोरा घड़ा प्याला आदि अनेक पर्यायो के विकास की योग्यताएँ है। यह तुम्हारे पुरुषार्थ का प्रबल निमित्त है जो उस समय पिंड से सुन्दर या असुन्दर घड़े की ही पर्याय का विकास हो जाता है, सकोरा प्याला आदि पर्याय योग्यताएँ अविकसित रह जाती है। संक्षेप मे जगत् के नियतानियतत्व की व्यवस्था इस प्रकार है–

(१) प्रत्येक द्रव्य की मूल द्रव्य-शक्तियाँ नियत है। उनकी संख्या मे न्यूनाधिकता कोई नही कर सकता। वर्तमान स्थूल पर्याय के अनुसार इन्हीं मे की कुछ शक्तियाँ प्रकट होती है और कुछ अप्रकट। इन्हे पर्याय-योग्यता कहते है।

(२) यह नियत है कि चेतन का अचेतन या अचेतन का चेतन रूप से परिणमन नहीं हो सकता।

(३) यह भी नियत है कि एक चेतन या अचेतन द्रव्य का दूसरे सजातीय चेतन या अचेतन द्रव्य रूप से परिणमन नही हो सकता।

(४) यह भी नियत है कि दो चेतन मिल कर एक संयुक्त सदृश पर्याय उत्पन्न नहीं कर सकते जैसे कि अनेक पुद्गल परमाणु मिलकर अपनी संयुक्त सदृश घट पर्याय उत्पन्न कर लेते है।

(५) यह नियत है कि धर्म अधर्म आकाश काल और शुद्ध जीव का सदा शुद्ध परिणमन होता है अशुद्ध नही।

(६) यह भी नियत है कि जीव का अशुद्ध परिणमन अनादिकालीन पुद्गल कर्म सम्बन्ध से हो रहा है और इसके सम्बन्ध तक ही रहेगा।

(७) यह नियत है कि द्रव्य में उस समय जितनी पर्याय योग्यताएँ है उनमे जिसके अनुकूल निमित्त मिलेंगे वही परिणमन होगा, शेष योग्यताएँ केवल सद्भाव में रहेंगी।

(८) यह अतिनियत है कि प्रत्येक द्रव्य का प्रतिक्षण कोई न कोई परिणमन अवश्य होगा। यह परिणमन द्रव्यगत मूल योग्यता और पर्यायगत विकासोन्मुख योग्यताओं की सीमा के भीतर ही होगा, बाहर कदापि नहीं।

(९) यह भी नियत है कि निमित्त उपादान द्रव्य की योग्यता का ही विकास करता है, उसमें असद्भूत किसी सर्वथा नूतन परिणमन को उत्पन्न नहीं कर सकता।

(१०) यह भी नियत है कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन का उपादान होता है। उस समय की पर्याय-योग्यता रूप उपादानशक्ति के बाहर के किसी परिणमन को निमित्त कदापि नहीं उत्पन्न कर सकता। परन्तु –

यही एक बात अनियत है कि "अमुक समय मे अमुक परिणमन ही होगा" जिस परिणमन का अनुकूल निमित्त मिलेगा वही परिणमन आगे होगा। यह कहना कि 'मिट्टी की उस समय यही पर्याय होनी थी, अतः निमित्त उपस्थित हो गया' द्रव्य-पर्यायगत योग्यताओं के अज्ञान का फल है।

इतना ही तो पुरुषार्थ है कि उन सम्भाव्य परिणमनों मे से अपने अनुकूल परिणमन के निमित्त जुटाकर उसे सामने ला देना।

देखो, तुम्हारा आत्मा अगले क्षण अतिक्रोधरूप भी परिणमन कर सकता था और क्षमारूप भी परिणमन कर सकता था। यह तो संयोग की बात है जो मैं इस ओर निकल पड़ा और तुम्हारी आत्मा क्षमारूप से परिणति कर रहा है। मुझे या किसी निमित्त को यह अहङ्कार नहीं करना चाहिए कि मैंने यह किया; क्योंकि यदि तुम्हारे आत्मा में क्षमा रूप से परिणमन की विकासोन्मुख योग्यता न होती तो मै क्या कर सकता था? अतः उपादान योग्यता की मुख्यता पर दृष्टिपात करके निमित्त को निरहङ्कारी बनना चाहिए और उपादान को भी अपने अनुकूल योग्यता प्रकटाने के लिए अनुकूल निमित्त जुटाने मे पुरुषार्थ करना चाहिए। यह समझना कि 'जिस समय जो होना होगा उसका निमित्त भी अपने आप जुटेगा' महान् भ्रम है। भद्र, यदि तुम योग्य निमित्तों के सुमेल का प्रयत्न न करोगे तो जो समर्थ निमित्त सामने होगा उसके अनुसार परिणमन हो जायगा। और यदि कोई प्रभावक निमित्त न रहा तो केवल अपनी भीतरी योग्यता के अनुसार द्रव्य परिणत होता रहेगा। उसके प्रतिक्षणभावी परिणमन को कोई नहीं रोक सकता। एक जल की धारा अपनी गति से बह रही है। यदि उसमे लाल रंग पड़ जाय तो लाल हो जायगी और नीला पड़ जाय तो नीली। यदि कुछ न पड़ा

तो अपनी भीतरी योग्यता के अनुसार जिस रूप में है उस रूप से बहती चली जायगी।

श्रमणनायक के इन युक्तिपूर्ण वचनों को सुनकर सद्दालपुत्त का मन भींज गया। वह बोला–भन्ते, आपने तो जैसे औंधे को सीधा कर दिया हो, अन्धे को आखें दी हों। मेरा तो जनम जनम का मिथ्यात्व नष्ट हो गया। मुझे शरणागत उपासक मानें।

भिखारी भी भगवान् की शरणमें प्राप्त हुआ। उसने कर्मों की शक्तिको पुरुषार्थ द्वारा परिवर्तित करने की दृष्टि पाई और जीवन में श्रम के महत्त्व को समझा। उसने कर्मोदय की भ्रान्त धारणावश स्वीकार किए गए भिखारीपने को तुरंत छोड़ दिया और उसी कुम्हार के यहाँ परिश्रम करके आजीविका करने लगा।

सद्दालपुत्त फिर बोला–भन्ते, सचमुच यह नियतिवाद महान् दृष्टिविष है। इसमें न हिंसा है न दुराचार और न कोई पाप; क्योंकि हिंसा या दुराचार-रूपी घटनाओं से सम्बद्ध पदार्थों के परिणमन जब नियत है उनमें हेरफेर की कोई सम्भावना नहीं तब क्यों कोई हिंसक हो और क्यों कोई दुराचारी ? यज्ञ में की जाने वाली पशु हिंसा क्यों पाप हो ? उस समय बकरे को कटना ही था, बधक को काटना ही था, छुरे को बकरे की गर्दन मे घुसना ही था आदि सभी पदार्थों के परिणमन निश्चित ही थे तो क्यों उस काण्ड को हिंसाकाण्ड कहा जाय ? इसी तरह जब हमारी प्रतिक्षण की दशाएँ अनन्त काल तक की निश्चित है तब क्या पुण्य और क्या पाप ? क्यों हम अहिंसादि चारित्रों को धारण करे ? क्यों दीक्षा लें ? क्योंकि हमारा स्वयं अपने अगले परिणमन पर अधिकार ही नही है स्वकर्तृत्व ही नहीं है, वह तो नियत है। मानो दुनिया के पदार्थों का अनन्त काल का टाइम-टेबुल बना हुआ हो और उसी के अनुसार यह जगत् चक्र चल रहा हो। भन्ते, आप महाश्रमण है, जो मेरे इस दृष्टिविष को उतार कर मुझे सम्यक् नियतानियतत्व-वाद की अमृत संजीवनी दी। मुझे अपने पुरुषार्थ और कर्तृत्व का भान कराया।

श्रमणनायक नें सद्दालपुत्त और भिखारी को आशीर्वाद दिया।

इसके बाद सद्दालपुत्त ने भक्ति भाव से श्रमणनायक को आहार दिया। भिखारी और सद्दालपुत्त के जीवन की दिशा ही बदल गई। वे श्रमण संस्कृति के सम और शम से जीवन संशोधन कर अपने व्यवहार में श्रम का महत्त्व समझे और परावलम्बनसे हट कर सच्चे स्वावलम्बी बने।

——oo——

रात की रानी–

–श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

पैदल के रास्ते किन क्लेग (मसूरी) को उतरती सड़क का एक मोड़। अंधेरा हो चला था, मै चढ़ा जा रहा था। चाल तेज हो रही थी, चढ़ाई पैनी और फेफड़े खिचे-से जा रहे थे कि ताजी सुगन्ध का एक झोंका आकर मुझे लिपट-सा गया।

जागते जागते ही आँखे बन्द हो गई और देह के रोम-छिद्र शीतल सुरभि के इस उपहार को ग्रहण करने के लिये अपनी-अपनी अंजलि पसार उठे। थकान की नागफांस ढीली हो गई, तो आँख खोलकर मैंने देखा इसी मोड़ पर खड़ा है फूलों से लदा 'रात की रानी' का एक वृक्ष!

"ओह, तुम हो!" मेरे मुँह से निकल पड़ा और लाड़ से चुमकारा मैंने उसे!

तुम यहाँ इस सूने अन्धेरे में इकले खड़े हो? कोई भी तुम्हारे पास नहीं। कितने दुखी हो तुम? मन की वीणा के लाड़लदे तारों पर करुणा की यह आर्द्रता छा-सी चली।

"क्यों, रात के अन्धेरे और दिन की तपन मे जब सिपाही इकला अपनी सेवा पर खड़ा रहता है, तो क्या उसके लिये वह दुःख की बात होती है?" वृक्ष ने पूछा तो चौकते चौकते मेरी करुणा ने धीमे स्वर मे कहा–"पर वह सिपाही तो अपने काम में लगा रहता है?"

सुगन्ध की एक फुँहार मेरे तन मन पर फेकते हुए वृक्ष ने कहा–"तो मैं खाली कब रहता हूँ? थके थकाये यात्रियों को सुरभित झोंके का सहारा देकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देता रहता हूँ।"

"ठीक है तुम बहुत अच्छे हो, फिर भी तुम इकले हो और इकला होना कोई अच्छी बात नहीं है।"

मेरी इस बात से वृक्ष का मन जैसे कुछ रूखा-सा हो चला–"हाँ भाई, मनुष्य अब एकान्त का बल भूल कर शहरों की व्यस्त गलियों मे सुख-शान्ति देखने लगा है।"

व्यंग्य की कटुता ने मुझे भी कुछ रूखा-सा कर दिया और मैंने अपने पथ की ओर पैर बढ़ाये। तभी मुझे मिली, एक और सुरभित फुँहार। मेरी कोमलता

फिर से जाग आई। तब मैंने मुड़कर वृक्ष से कहा—तुम रूखे और कठोर पत्थरों के बीच खड़े हो। भला यह इतना जीवन-रस तुम कहाँ से पाते हो ?

"क्यों, क्या पत्थरों में रस नहीं है ?" वृक्ष ने पूछा।

"पत्थरों में रस ?" आश्चर्य में डूबकर मैंने कहा।

"ठीक है, आकाश स्वरों से भरा है और रेडियो उन्हे ग्रहण कर हमारे कानों तक पहुँचा देता है। अब जिनके पास रेडियो नहीं, या जिनके रेडियो खराब हैं, वे आकाशमण्डल की लहरों मे व्याप्त स्वरों का रस नहीं ले सकते। यही बात जीवन-रस की है। नई भौतिक सभ्यता ने मनुष्य के हृदय का ग्रहणयन्त्र क्षत-विक्षत कर दिया है। यही कारण है कि प्रकृतिके कण कण मे भरे जीवन-रस को आज का मनुष्य ग्रहण नहीं कर पाता !"

वृक्ष जरा ठहरा और तब उसने फिर कहा—आज का मानव कितना विकृत हो गया है कि अनन्त जीवन के भण्डार वनो के जन्मदाता और निर्झर-सरिता ओं के प्रसूतिगृह, पर्वतों के जीवन-स्रोत मे ही वह सन्देहशील हो चला है !

बात समाप्त होते ही एक सुरभित फुहार फिर मुझ पर पड़ी, पर मुझे लगा कि यह व्यग्यों की ही बौछार है।

मेरे सामने बिखरी पड़ी थीं दूर-दूर तक पर्वतमालाएँ, जिनके वक्ष पर अनन्त वृक्षमालाएँ उभरी खड़ी थी और मेरे पास ही बह रहा था एक छोटा-सा स्रोत।

मं अब अपनी राह चला जा रहा था, पर मेरे कानों मे गूंज रहे थे वृक्ष के वे शब्द—'आज का मानव कितना विकृत हो गया है कि अनन्त जीवन के भण्डार वनों के जन्मदाता और निर्झर-सरिताओं के प्रसूतिगृह पर्वतो के जीवन स्रोत में ही वह सन्देहशील हो चला है !'

——००——

भारतीय संस्कृति की आत्मकथा—

—पण्डित इन्द्रचन्द्र एम० ए०

[१]

सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से वैदिक साहित्य को तीन भागों मे विभक्त किया जा सकता है जैसे कि—मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्। मन्त्रकाल सरल, कल्पनाशील और कवित्वपूर्ण मस्तिष्क को प्रकट करता है। मन्त्र उस सरल हृदय के उच्छ्वास है जो उषा को देख कर आनन्द और आश्चर्य से भर गया, अग्नि की प्रचण्ड ज्वाला और भयङ्कर आँधी देख कर भय से काँप उठा, प्रकृति के चित्र विचित्र रूपों को देख कर विस्मय करने लगा। आश्चर्य ने जिज्ञासा को जन्म दिया और उसके समाधान की स्वाभाविक वृत्ति ने देवतावाद को। भय ने आत्मदौर्बल्य की भावना उत्पन्न की और उसके परिणाम स्वरूप भयदायी की पूजा या स्तुति होने लगी। प्राकृतिक तत्वों का रहस्य समझ में न आने पर उनमे देवत्व की कल्पना की गई। मन्त्रकाल का धर्म प्रकृतिपूजा है। उस समय यहां केवल भक्ति है जिसका अधिकार सभी को प्राप्त है। वह वर्ग विशेष का एकाधिपत्य नहीं है। न वह विविध क्रियाओं और विधियों के जंजाल में जकड़ा हुआ है। उस समय की पूजा और पूजाविधि दोनों पुजारी की रुचि पर निर्भर है। वर्णव्यवस्था का कोई स्थान नहीं है। स्त्री और पुरुषों मे किसी प्रकार का भेद नही है। उस काल का मानव परलोक की अपेक्षा इस लोक को अधिक महत्त्व देता है। जीवन उसके लिए आनन्द और उल्लास से भरा हुआ है। वह कहता है—'जीवेम शरदः शतम्।' उस समय नीति का आधार ऋत अर्थात् सत्य है।

ऋग्वेद के बाद जब हम यजुर्वेद और ब्राह्मणों पर पहुँचते है तो वातावरण सर्वथा परिवर्तित हो जाता है। निर्मलता, सरलता और उल्लास का स्थान कृत्रिमता, वक्रता तथा स्वार्थ ले लेते है। धर्म की आत्मा छिप जाती है और बाह्य आडंबर का रूप महत्त्व प्राप्त कर लेता है। सामूहिक यज्ञों के साथ साथ पुरोहित समाज का नेता बन जाता है।

उत्तर वैदिक काल में हम एक वर्गविशेष को अपनी अस्मिता तथा अधिकार प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील देखते है। ब्राह्मण काल में वह सभी क्षेत्रों पर अपना एकाधिपत्य जमा लेता है। यदि इस एकाधिपत्य का आधार गुण या त्याग होता

तब तो वह किसी को न अखरता। किन्तु यहाँ तो व्यक्तिगत स्वार्थ के सामने नीति और अध्यात्म को भी ताक में रख दिया गया है।

ब्राह्मणकाल के यज्ञ भक्ति का स्वाभाविक अभिव्यंजन नहीं है। वहाँ पुजारी का देवता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वहाँ सारा अधिकार रहता है याजक अर्थात् ब्राह्मणों के हाथ मे। यजमान दुराचारी हो, मूर्ख हो, अश्रद्धालु हो तो इससे यज्ञ या उसके फल में कोई अन्तर नहीं पड़ता। उसमें इतना ही गुण होना चाहिए कि यज्ञ के लिए आवश्यक सामग्री एकत्रित कर सके और याजक को पर्याप्त दक्षिणा दे सके। याजक के भी चरित्र का यज्ञ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसे यज्ञ की सम्पूर्ण विधि का ज्ञान हो तो और किसी गुण की आवश्यकता नहीं है।

यज्ञ की शास्त्र विहित विधि कोई वैज्ञानिक उपाय नहीं है जिससे कार्य सुगमता पूर्वक हो सके। वह तो अपूर्व और रहस्य के नाम से रची गई एक भूल-भुलैया है। उसका एक मात्र ध्येय उसे जनसाधारण के लिए अगम्य बनाना है। यज्ञकुण्ड मे इतनी ईटे लगनी चाहिए, वह इतना लम्बा, इतना चौड़ा तथा इतना गहरा होना चाहिए। पुरोडाश पकाने का पात्र, कड़छी, पशु बाँधने की रस्सी, यूप आदि सभी का परिमाण सुनिश्चित है। उसमें थोड़ी सी न्यूनाधिकता होने पर फल के स्थान पर कुफल की संभावना है। इसी प्रकार मन्त्रों का उच्चारण तथा अन्य विधियाँ भी इतनी जटिल है कि उन्हे व्यक्ति नहीं समझ सकता।

इसके साथ साथ यज्ञ को इतना महत्त्व दे दिया गया कि मानो वह जीवन का एक अनिवार्य अंग ही हो। बहुत से यज्ञ ऐसे है जिनके न करने से पाप लगते है। बहुत से ऐसे है जिनसे मन की कामनाएं पूर्ण होती है। यदि नरक से बचना है तो यज्ञ करना आवश्यक है। यदि धन, पुत्र, राज्यविस्तार, शत्रुनाश या अन्य किसी प्रकार का स्वार्थ पूर्ण करना है तो वह भी यज्ञ से ही सम्पन्न हो सकेगा। किसी के प्राण लेने हों तो वह भी यज्ञ द्वारा हो सकता है। यज्ञ के लिए की गई हिंसा भी अहिंसा बन जाती है। वहाँ पाप का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। इस प्रकार मनोकामना भी पूर्ण हो जाती है और धर्म भी हो जाता है। जो व्यक्ति जितने अधिक यज्ञ करता है उसकी कीर्ति उतनी ही अधिक फैलती है।

देवता भी यज्ञ के अधीन है। ऋग्वेद के शक्तिशाली देवता अब यज्ञ के अंग-मात्र रह गए। इस प्रकार यज्ञ का जितना ही महत्त्व बढ़ाया गया उतनी ही ब्राह्मण-वर्ग की प्रतिष्ठा बढ़ती गई। नैतिकता, आदर्श की पूजा और पाप की भावना का लोप हो गया। रहस्य का नाम देकर धर्म को बाह्य क्रियाकाड का रूप दे दिया गया अर्थात् सभी कार्य अर्थाश्रित थे, अकिंचनों के लिए सुख का द्वार बंद था। त्याग और तपस्या जैसे महत्त्वपूर्ण विषय का कोई महत्त्व नहीं था।

राज्य संस्था का प्रारम्भ जनता ने अपने कल्याण के लिए किया। मन्त्रकाल

में प्रजा सेनापति के रूप मे राजा को चुनती है। अयोग्य राजा को पदच्युत भी कर देती है। किन्तु ब्राह्मण काल में उसे देवत्व का रूप मिल जाता है। इसका अर्थ है उसे मानवीय समालोचना से मुक्त कर देना। इस प्रकार ब्राह्मण संस्था ने साम्राज्यवाद का पोषण किया और राज्य संस्था ने ब्राह्मण संस्था का। दोनों की परस्पर स्वार्थवृत्ति ने जनहित की घोर उपेक्षा कर दी।

जिस समय राजा गद्दी पर बैठता है, पुरोहित घोषणा करता है—हे प्रजाजनो! यह तुम्हारा सब का स्वामी है किन्तु ब्राह्मणों का स्वामी नहीं है। यदि ब्राह्मण चाहे तो इस की सम्पत्ति को छीन सकते है, क्योंकि यह सब ब्राह्मणों की दी हुई है। एक ही प्रकार का अपराध करने पर अन्य जनता को भारी दण्ड मिलेगा, किन्तु ब्राह्मण को हलका। प्राणदण्ड उसके लिए सर्वथा निषिद्ध है।

सर राधाकृष्णन् ने तत्कालीन यज्ञ संस्था को ऐसी दुकानदारी बताया है जिसकी आत्मा मर गई है और जिसमे यजमान और पुरोहित मे सौदे होते है। यदि यजमान अधिक दक्षिणा देकर बडा यज्ञ कर सकता है तो उसे बड़े फल की प्राप्ति हो सकती है, थोड़ी दक्षिणा देने पर छोटे फल की।

यज्ञ सम्बन्धी किसी विषय मे विवाद खडा होने पर निर्णय करने के लिए मीमांसा शास्त्र बना है। उसके सभी विधान न्याय कहलाते है। किन्तु उन न्यायों मे न्याय की मात्रा कम है और पुरोहित की दक्षिणा पर पूरा पूरा ध्यान दिया गया है। यजमान पुरोहित आदि एक दूसरे का हाथ पकड़ कर वेदी की प्रदक्षिणा करते है। उस समय यदि पुरोहित से हाथ छूट जाय तो उसके लिए विधान है कि वह बिना दक्षिणा लिए यज्ञ करे। यदि यजमान से छूट जाय तो वह दक्षिणा के रूप मे अपनी सारी सम्पत्ति दान स्वरूप दे दे। यदि दोनो से एक साथ छूट जाय तो दण्ड यजमान को ही मिलेगा अर्थात् उसे सर्वस्वदान करना पड़ेगा। पुरोहित को दण्ड के स्थान पर अधिक लाभ होगा।

इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि यज्ञ सम्बन्धी बातों के लिए कोई बुद्धि का प्रयोग न करे, कोई सन्देह न करे। यह ऐसी दुकानदारी है जहाँ ग्राहक को माल परखने का भी नैतिक अधिकार नहीं है। इसके लिए वेदों को स्वत प्रमाण माना गया। उन्हे नित्य कहा गया। जिससे मनुष्य, देवता या ईश्वर को भी उस विषय मे बोलने का अधिकार न रहे। एक ओर वेदों का महत्त्व बढ़ाते चले गए, दूसरी ओर पठन पाठन के अधिकार को अपने तक ही सीमित करते गये।

जो लोग ब्राह्मणों के इस प्रभाव में नहीं आना चाहते थे, और वेदों के विषय में सन्देह प्रकट करते थे उनके लिए यह विधान घोषित किया गया कि वे यदि वेदवाक्य का उच्चारण करें तो जीभ काट लेनी चाहिए। यदि वेद के शब्द को सुन ले

तो कानों में सीसा भर देना चाहिए। राजशक्ति अपने हाथ में होने के कारण ऐसे विधानों का प्रयोग करने में किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होती थी। स्त्रियों का हृदय कोमल होने के कारण उन्हें भी वेदाध्ययन के अधिकार से वञ्चित कर दिया गया।

यजुर्वेद, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र और स्मृतियों मे उत्तरोत्तर इन्हीं बातों को पोषण मिलता गया। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि भारतीय मस्तिष्क इन्हीं मे कुण्ठित हो गया। इस दुकानदारी के साथ साथ स्वतन्त्र और स्वस्थ विचारों का प्रवाह भी बल प्राप्त करता गया। उपनिषद् और विविध दार्शनिक परम्पराएं उसी उपजाऊ मस्तिष्क की देन है।

मनुष्य की प्रवृत्तियों का आधार भूख, प्यास और भोगैषणा तक सीमित नहीं है। जिज्ञासावृत्ति भी उसमे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। मनुष्य बुद्धिजीवी प्राणी है, अतः स्वाभाविक रूप से वह अन्धकार से प्रकाश मे आना चाहता है। वह कह रहा है—"तमसो मा ज्योतिर्गमय।" उसे इस बात की चिन्ता नहीं है कि प्रकाश मे आने पर वह सुखी होगा या दुखी। अंधेरे मे उसका दम घुटता है। वह खुली हवा मे साँस लेना चाहता है। भौतिक एषणाएं उसकी इस प्रवृत्ति को कुछ काल के लिए दबा सकती है, सर्वथा नष्ट नहीं कर सकती। देवता मान लेने से प्राकृतिक रहस्यो की जिज्ञासा का जो समाधान किया गया वह देर तक न टिक सका। उस मे भी सन्देह होने लगा। दसवे मण्डल मे ऋषि कहता है—इन्द्र को किसने देखा है? कौन जानता है—है या नहीं

सर राधाकृष्णन् के शब्दों मे उपनिषद् एक ओर वैदिक उपासना का विकसित रूप है, और दूसरी ओर ब्राह्मणयुग की प्रतिक्रिया। उपनिषदों मे कर्मकाण्ड की ओर स्वाभाविक घृणा पाई जाती है। जनक के सामने बहुत से ऋषि अपना पाण्डित्य बताना चाहते है किन्तु वे उन के प्रश्नों का उत्तर नही दे पाते। अन्त मे उस के शिष्य बन कर ब्रह्मविद्या का अध्ययन करते है। श्वेतकेतु वेद और वेदाङ्गों का अध्ययन करके पिता के पास आया और अपने को पण्डित मानने लगा। पिता ने पूछा- तुमने वह विद्या भी पढ़ी है जहां एक के जान लेने से सभी कुछ जान लिया जाता है। श्वेतकेतु उत्तर न दे सका। पिता ने फिर उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। उपनिषदोंमे स्पष्ट कहा गया है—'प्लवा ह्येते अदृढ़ा', ये ते यज्ञरूपाः।

भौतिक एषणाओं का महत्त्व भी उस समय कम हो गया था। "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, तथैवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।' कठोपनिषद् मे नचिकेता यमराज द्वारा दिए गए धन, धान्य, स्त्रियां, दीर्घायुष्य, राज्य आदि सभी प्रलोभनों को ठुकरा देता है। वह यमराज को फटकार कर कहता है—"तवैव वाहा तव नृत्तगीते।' उन्हीं भोगों के लिए ब्राह्मणकाल के ऋषि सदा लालायित रहते है

और उचित अनुचित सभी प्रकार के कार्य करने के लिए उद्यत हैं। उस समय प्रेय की अपेक्षा श्रेय को अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया। कहा जाता था–"अमृतत्वस्य तु नाशास्ति।" उपनिषदों में नैतिकता और हृदय को पर्याप्त स्थान मिल गया। नचिकेताका पिता सर्वस्वदक्षिण यज्ञ में देने के लिए बूढ़ी और निकम्मी गौओं को अपने पास रख लेता है और दूसरी गौओं को पुत्र की सम्पत्ति बना देता है। नचिकेताको यह बात पसन्द नहीं आती। वह विरोध करता है और यम अर्थात्-मृत्यु की परवाह न करता हुआ पिता को नैतिक पतन से बचाता है। पिता क्रोध में आकर उसे कह देता है–"मैं तुझे यम के पास भेज दूंगा।" और बादमें अपने वचन से हटना चाहता है, उस समय भी नचिकेता अपनी मृत्यु की परवाह न करके वचन पालन करने की प्रार्थना करता है।

उस समय उच्चता और नीचता के लिए गुणों की ओर ध्यान दिया जाने लगा था। राजा जनक क्षत्रिय होने पर भी याज्ञवल्क्य सरीखे बड़े बड़े ऋषियों का गुरु बन गया। सत्यकाम जाबाल केवल सत्यवादी होने के कारण ब्राह्मण मान लिया गया। सयुग्वा रैक्व शूद्र होने पर भी महापुरुष माना गया।

उपनिषदों में स्त्रियां भी परम रहस्य के रूप में मानी गई। वे ब्रह्मविद्या में पुरुषों के साथ भाग लेती हैं। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से ब्रह्मविद्या प्राप्त करती है।

गुरु और शिष्यों के रोचक संवाद इस बात के परिचायक हैं कि उस समय अन्ध श्रद्धा का स्थान बुद्धि ने ले लिया था। प्रत्येक बात के लिए 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' का विधान इस का स्पष्ट निदर्शन है। किसी बात को सुन कर उसके भले बुरे का विचार करना चाहिए। फिर उसका स्वयं अनुभव करना चाहिए। यही उपनिषदों की प्रक्रिया है। उपनिषदों में उस ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं है जो केवल सुनने या पुस्तकों पर निर्भर हो। अनुभवात्मक ज्ञान ही उपकारी माना जाने लगा।

समस्त समाज में एकात्मदर्शन और सामूहिक स्वार्थ को अपना स्वार्थ मानने की भावना उपनिषत्काल की महत्त्वपूर्ण देन है। अद्वैतवाद तात्त्विक दृष्टिसे कुछ भी हो किन्तु वह समस्त जगत् के प्रति उदार दृष्टिकोण का परिचायक तो है ही।

इन सब बातों के होते हुए भी हम उपनिषदों को विकास या सुधार कह सकते हैं क्रान्ति नहीं। उच्च दार्शनिक विचार होने पर भी वे ब्राह्मण परम्परा की जड़ पर कुठाराघात नहीं कर सके। वे इने गिने बुद्धिजीवियों की वस्तु बन कर रह गए। ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव को सर्व साधारण के मस्तिष्क से नहीं हटा सके। इसके कई कारण थे।

उपनिषदों में सूक्ष्म दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन तो है किंतु उनका आधार युक्ति नहीं है। उनका आधार है अनुभूति या प्रातिभ ज्ञान। अतीन्द्रिय पदार्थ

की अनुभूति में अधिक अंश विश्वास का होता है। वस्तु की सत्यता से उसका विशेष सम्बन्ध नहीं होता। हृदय में किसी वस्तु या आकार की कल्पना कर ली जाती है फिर दिन रात उसी का चिन्तन किया जाता है। परिणामस्वरूप वही वस्तु या आकार आँखो के सामने नाचने लगता है। इसे हम 'जाग्रत स्वप्न' कह सकते हैं। भगवान् के विविध आकारों में प्रकट होने की कथाएं इसी प्रकार के भ्रम पर निर्भर हैं। उसकी परपरा आज भी प्रचलित है।

उपनिषदों के विचारकों पर वैदिक परम्परा का दबाव स्पष्ट दिखाई देता है। यद्यपि उन्होंने वैदिक क्रिया-काण्ड की आलोचना की है किन्तु प्राचीनता का मोह उन्हें आगे नहीं बढ़ने देता। वे नवीन युग के पथप्रदर्शक बनना चाहते हैं और प्राचीनता के भक्त भी। वे शुद्ध आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं जिसके लिए उपासना का कोई रूप निश्चित नहीं है और न पौरोहित्य की आवश्यकता है, फिर भी वे इन बातों का खण्डन नहीं करते। कभी कभी तो उन्हें प्रश्रय भी दे देते हैं। मुण्डकोपनिषद् कह रहा है—"ऋषियों ने मन्त्रों मे जिन कर्मों का साक्षात्कार किया है वे सत्य हैं। त्रेतायुग मे उनका बहुत प्रचार था। सत्य की प्राप्ति के लिए उनका आचरण करो। इससे तुम्हें कर्मफल की प्राप्ति होगी।" (मुंडक १–२–१) वैदिक देवताओं का भी निराकरण नहीं किया गया। नई विचारधारा के साथ संगति बैठाने के लिए उनकी नई व्याख्या मात्र कर दी गई। आध्यात्मिक आदर्श के प्रति दृढ विश्वास के स्थान पर टालमटोल सी दिखाई देती है। उनका प्रारम्भ होता है व्यक्ति को बाह्य क्रियाकाण्ड मे मुक्ति दिलाने के लिए, किन्तु अन्त में वे स्वय उसी जाल मे फँस जाते हैं। जीवन के नवीन मूल्याङ्कन के स्थान पर वे पुरानी परम्परा को स्वीकार कर लेते हैं। यही कारण है कि शंकराचार्य सरीखा कट्टर अद्वैतवादी उपनिषदों का व्याख्यान करते समय कर्मकाण्ड को चित्त शुद्धि द्वारा उपयोगी मान लेता है।

आध्यात्मिक स्वतन्त्रताका उपदेश देना सरल है किन्तु उस की स्थापना कठिन है। उपनिषदों ने आध्यात्मिक रहस्यों की प्राचीन विश्वासों के साथ संगति करने का भरसक प्रयत्न किया किन्तु वह बात रोचक सिद्ध न हुई। उपनिषदों के सिद्धान्त जनसाधारण मे प्रवेश न कर सके। उनका समाज पर सामूहिक प्रभाव नहीं पड़ा। उस समय भी यज्ञ-यागादि का प्राधान्य रहा। उपनिषदों से उसे एक नया जीवन तथा महत्त्व मिल गया। यदि उपनिषदों के सिद्धान्त जनता में घर कर जाते तो समाज का ढांचा ही आमूल बदल जाता। जीवन के प्रति दृष्टिकोण दूसरा होता। किन्तु ऐसा न हुआ। धर्म का चेतनाहीन संकुचित रूप अपने अन्ध विश्वासों के साथ चलता रहा। पुरोहित वर्ग उत्तरोत्तर शक्तिशाली बनता गया। उपनिषदों को जीवन में उतारने वाले कुछ व्यक्तियों के साथ साथ

धार्मिक संकुचित वृत्ति तथा साधारण जनता के प्रति अनादर बुद्धि चलती रही।

वह एक आध्यात्मिक दुविधा तथा उथल पुथल का युग था। उपनिषदों का अर्थ इतना अनिश्चित हो गया कि अद्वैतवाद से लेकर जड़पूजा तक सभी सिद्धान्त उन्हीं में से निकलने लगे। उपनिषत्काल में प्रत्येक क्षेत्र विरोधी तत्वों से भरा हुआ है। धार्मिक क्षेत्र में एक ओर वैदिक बहुदेवतावाद चल रहा है, दूसरी ओर अद्वैतवाद। सामाजिक क्षेत्र में एक ओर कठोर वर्ण व्यवस्था है, दूसरी ओर भेद भाव छोड़ने का भी उपदेश है। किन्तु प्रभुता वैदिक कर्मकाण्ड और ब्राह्मणों की ही रहती है। उच्च आदर्श उसी में छिप जाते हैं। उपनिषदों के बाद और महावीर तथा बुद्ध से पहले यह धारा अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। वह एक आध्यात्मिक जड़ता का युग था। सत्य रूढ़ियों में छिप गया था और नैतिकता बाह्य क्रियाकाण्ड में तथा जीवन विधि विधानों की शृंखलामात्र रह गया। मनुष्य का मस्तिष्क वैदिक विधिविधानों के जजाल में चक्कर काटने लगा। वातावरण क्रियाकाण्ड से आच्छन्न हो गया। प्रातरुत्थान, स्नान, क्षौर कर्म, मुखप्रक्षालन, भोजन, आदि एक भी कार्य ऐसा नहीं रहा जिस में किसी मन्त्र के उच्चारण और अनुष्ठान का विधान न हो। अन्ध विश्वास तथा छोटी छोटी बातों में, जिनका जीवन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, धर्म रह गया था। इस प्रकार की शुष्क एवं निराधार मान्यताएं हृदय तथा बुद्धि दोनों के विपरीत थीं। एक वर्ग तो सदा से ऐसा रहा जो इस दुकानदारी को सन्देहभरी दृष्टि से देखता रहा। धीरे-धीरे सर्वसाधारण का मन भी ऊब गया। क्रान्ति की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। उपनिषदों की समन्वयात्मक वृत्ति पूर्णतया सन्तोषप्रद सिद्ध न हुई। अद्वैतवाद और बहुदेवतावाद, अध्यात्म और क्रिया-काण्ड, विश्वजनीनता तथा वर्णभेद एक साथ न चल सके। स्वर्ग और नरक सभी को हेय मानने की दृष्टि के साथ स्वर्ग को परम लक्ष्य मानने वाली दृष्टि कैसे चल सकती थी? समय की एक मात्र मांग थी नवनिर्माण। एक ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो जनसाधारण की आत्मा को तृप्त कर सके। जो बुद्धि और हृदय द्वारा ग्राह्य हो। उसी समय महावीर और बुद्ध के रूप में नवनिर्माण के दो सूत्रधार उत्पन्न हुए।

महावीर और बुद्ध गणतन्त्र के स्वतन्त्र वातावरण में पले हुए क्षत्रियकुमार थे। उन्हें अपनी स्वाधीनता प्रिय थी, इसलिए वे दूसरे प्राणियों के भी स्वतन्त्र होकर जीने के अधिकार को मानते थे। उन्होंने अपने जीवन का ध्येय बनाया प्राणि-मात्र को आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक बन्धनों से मुक्त करना; सभी को समान अधिकार देना। हिंसा का विरोध करना तथा बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा नैतिकता को महत्त्व देना। उन्होंने उपनिषदों के समान विकास मार्ग को न अपना कर क्रान्ति-

मार्ग अपनाया। उनकी दृष्टि में यज्ञ संस्था इतनी भ्रष्ट हो चुकी थी कि उस में संस्कार की कुछ भी संभावना नहीं थी। उन्होंने प्राचीन रूढ़ियों तथा प्रथाओं को जड़ से उखाड़ फेकने का निश्चय किया। नवनिर्माण के कार्य को प्रारम्भ करने से पहले यह स्वाभाविक भी था। उन्हे अपने विचारों को निर्माण करने मे उपनिषदों से सहायता मिली किन्तु उन्हें उनकी समन्वय वृत्ति पसन्द न आई। दोनों ने स्वयं कठोर तपस्या की। सत्य का साक्षात्कार किया और जनता मे उपदेश देना प्रारम्भ किया। जनता पहले से ही प्रभात की प्रतीक्षा कर रही थी, लाखों और करोड़ों की संख्या मे उनके अनुयायी बन गए।

चार दुर्लभ हैं—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं॥

संसार मे जीवों को इन चार श्रेष्ठ साधनों का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम की ओर पुरुषार्थ का झुकाव।

*   *

इतना तो समझ—

संबुज्झह, किं न बुज्झह?
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमन्ति राइओ,
नो सुलभं पुणरवि जीवियं॥

समझ, इतना क्यों नहीं समझता? परलोक में संबोधि का प्राप्त होना कठिन है। बीती हुई रात्रियाँ फिर कभी लौटकर नही आती। इस मनुष्य-जन्म का दुबारा प्राप्त करना सरल नहीं है।

*   *

कषाय जय—

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे।
मायमज्जवभावेण लोभं संतोसओ जिणे॥

शान्ति से क्रोध को मारे, नम्रता से मान को जीते, सरलता से माया का नाश करे और सन्तोष से लोभपाश का छेदन करे।

समकित सावन आयो-

-प्रो० राजकुमार जैन साहित्याचार्य

सावन का महीना बड़े ही आनन्द और उल्लास का महीना है। इसमें न तो ग्रीष्मकाल की अन्तर्दाहक दाह रहती है और न शीतकाल का तीखा तुषार। आकाश में घन-घटाएँ छा जाती हैं और बिजली चमकने लगती है। पपीहा बोलने लगते हैं। मेघ गरजते है और इनकी गर्जना सुनकर मयूर हर्षातिरेक से उन्मत्त हो उठते हैं और नयनाभिराम नृत्य करना प्रारंभ कर देते हैं। पृथ्वी में हरे दूर्वांकुर उग आते हैं। दिगन्त मे उड़ान भरनेवाली धूलि के दर्शन तक नही होते। स्थान स्थान पर कल कल निनाद करते हुए जल के अनन्त झरने झरते हुए दिखलाई देने लगते हैं। इस प्रकार सावन का आनन्द बड़ा अद्भुत आनन्द है। मालूम देता है जैसे प्रकृति ने आनन्दोपभोग के सर्वाधिक उपादान सावन मे ही संकलित कर रक्खे हैं। मानव अपने घर बैठकर ही इस सामग्री का यथेच्छ उपभोग कर सकता है। परन्तु यह सौभाग्य उन्हे ही उपलब्ध हो सकता है, जिनका घर चूता नहीं है। इस प्रकार के व्यक्ति अपने घर बैठकर ही सावन का आनन्द लूटते हे, परन्तु जिनका घर चूता है उनका मन चिन्तित रहता है और सारा उत्साह मन्द पड़ जाता है। इस प्रकार के मानव सावन की सर्व-सुलभ आनन्दोपभोग की सामग्री का कुछ भी उपभोग नहीं कर पाते।

कलाकार पं० दौलतराम भी सावन के आने से बड़े प्रसन्न दिखलाई दे रहे हे परन्तु उनका सावन, अद्भुत सावन है। उनका सावन सम्यक्त्व-आत्मा का वह गुण जिससे सत्य की समुचित प्रतीति होती है-का सावन है। अपने सम्यक्त्व-सावन के आने से देखिए, कलाकार का हृदय किस प्रकार आनन्द-धारा मे लहरा रहा है :-

"अब मेरे समकित सावन आयो।

बीति कुरीति-मिथ्यामति ग्रीषम,
पावस सहज सुहायो॥

अब मेरे समकित सावन आयो।"

आज हमारा सम्यक्त्व का सावन आया है।

कुरीति और मिथ्या-धारणा रूपी ग्रीष्म निकल चुकी है और आत्म-रस की वर्षा कितनी भली मालूम हो रही है।

आज हमारा सम्यक्त्व का सावन आया है।

कवि की आनन्दानुभूति देखिए:—

"अनुभव-दामिनी दमकन लागी,
　　सुरति-घटा घन छायो।
बोलै विमल विवेक-पपीहा,
　　सुमति-सुहागिन भायो।

अब मेरे समकित सावन आयो।"

आत्मानुभव रूपी बिजली चमकने लगी है और निर्मल प्रेमरूपी घन-घटाएँ आत्म-आकाश में छा गई हैं। विमल विवेक रूपी पपीहा 'पी पी' करने लगा है और उसकी यह 'पी पी' की मधुर ध्वनि सुमति रूपी सुहागिनी को बड़ी प्रिय लग रही है।

आज हमारा सम्यक्त्व का सावन आया है।

कवि के हर्ष की अभिव्यक्ति का एक अन्य शब्द-चित्र देखिए:—

"गुरु-धुनि गरज सुनत सुख उपजत,
　　मोर-सुमन विहसायो।
साधक-भाव अंकुर उठे बहु,
　　जित तित हरष सवायो॥

अब मेरे समकित सावन आयो।"

वीतराग गुरु रूपी मेघ-गर्जना सुन कर मयूर—मोर रूपी मन प्रसन्न हो उठा है। साधकभाव रूपी अङ्कुर निकल आए हैं और सर्वत्र आनन्द ही आनन्द दिखाई दे रहा है।

आज हमारा सम्यक्त्व का सावन आया है।

कलाकार की अन्तिम बात सुनिएः—

"भूल-धूल कहि मूल न सूझत,
समरस- ल झर लायो।
'भूधर' को निकसै अब बाहिर,
जिन निरचू घर पायो।।
अब मेरे समकित सावन आयो।

भूलरूपी धूल का पता भी नहीं है। समता रूपी पानी प्रवाहों में फूटा पड़ रहा है। कलाकार कहता है–अब हमें बाहर जाने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि हमने 'निरचू–कभी न चूने वाला घर–अविनश्वर आध्यात्मिक घर पा लिया है। और यहीं बैठकर ही सम्यक्त्व सावन का आनन्द लूटेंगे।

आज हमारे सम्यक्त्व का सावन आया है।

कलाकार का सावन अद्भुत सावन है और उसका आनन्द भी अद्भुत आनन्द है। इस आनन्द का उपभोग वही कर सकते हैं जिन्हें जीवन में आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति हो चुकी है। जिन्होंने आत्म-रूप के दर्शन ही नहीं किए वे सम्यक्त्व-सावन और उसके आनन्द की रज भी नहीं ले सकते। उनकी उल्लासपूर्ण वाणी से आप कभी न सुनेंगे कि:–

आज मेरे समकित सावन आयो है ।

—— ०० ——

खंडहर यात्रा-

-श्री ब्योहार राजेन्द्रसिंह एम० एल० ए०

बहुरीबंद-

श्री हरगोविन्दलाल श्रीवास्तव, डिप्टी डायरेक्टर पुरातत्वविभाग, दिल्ली से अपने दौरे मे यहाँ आये थे। उनके साथ रूपनाथ और तिगवाँ जानेका कार्यक्रम बनाया। यह स्थान जबलपुर से ४१ मील उत्तर की ओर है। २६ मील मिरजापुर तक रास्ता सीधा है। सिहोरा के बाद बहुरीबंद का रास्ता बहुत खराब मिला, शायद बरसो से नहीं बनाया गया। लोकप्रिय सरकार होने पर भी देहाती सड़कों की ओर अभी तक उपेक्षा ही रहती है।

बहुरीबंद मे भगवान् शान्तिनाथ की विशालकाय १३ फुट ऊँची खड़ी हुई मूर्ति है। मूर्त्ति काले पत्थर की बनी हुई है। मुख पर शान्ति विराज रही है। आजानु बाहु, विशाल वक्षःस्थल पर कौस्तुभ का चिह्न तथा आसपास दो सुन्दर पार्षद है। बगल ही मे एक पद्मासनस्थ मूर्त्ति भी विराजमान है। पीछे आधार के लिए चूने की दीवार बना दी गयी है। मूर्त्ति के नीचे एक लेख है जो कि शायद अभी तक पढ़ा नहीं जा सका।

इस महत्त्वपूर्ण मूर्त्ति के प्रति पुरातत्त्व विभाग और जनता दोनों ही की उपेक्षा रही है। खेद तो यही है कि अभी तक यह सुरक्षित(pra teate monumentis) मे शामिल नहीं की गयी है। पहले जैन तथा अन्य हिन्दुओं मे इस मूर्त्ति के सम्बन्ध मे मतभेद था, दोनों ही उस पर अपना अधिकार करना चाहते थे। किन्तु अब दोनों ही उसके प्रति उदासीन है। यहाँ एक सुन्दर मंदिर बन जाना चाहिये। उसके पहिले पुरातत्व विभाग की ओर से एक छप्पर तो तुरन्त बन जाना आवश्यक है। प्रान्त के सम्पन्न जैन समाज के लिए यह एक साधारण सी बात है। पुरातत्त्व विभाग भी जो कि अधिकारियों के दौरे मे इतना खर्च करता है तब इस पुरातन मूर्त्ति के लिए एक छाया तो बनवा ही सकता है। उसे सुरक्षित स्मारक तो तुरन्त ही घोषित कर देना चाहिये।

तिगवाँ-

बहुरीबंद से १॥ मील पर तिगवाँ नामक ग्राम है। यहाँ प्राचीन मंदिरों के कुछ भग्नावशेष पड़े हुए है। इनमें से केवल एक मंदिर सुरक्षित है।

प्राचीनता के चिह्न स्पष्ट दीख पड़ते है। भीतर का मुख्य मंदिर बहुत छोटा कोई दस वर्ग-फुट का होगा। इसकी ऊँचाई भी इससे अधिक नही है। बाहर की परछी चार सुन्दर खुदे हुए खम्भों पर आधारित है जिसकी बीच की छत पर सुन्दर विकसित कमल उत्कीर्ण है। परछी की दीवारों पर एक नृसिंह तथा उसके नीचे शेषशायी विष्णु की मूर्त्ति है जो कि दूसरे किसी मंदिर से लाकर लगाई हुई जान पड़ती है। उसी प्रकार बाहर की ओर भगवान् शान्तिनाथ की पद्मासनस्थ मूर्त्ति है जिसके ऊपर नागों की मूर्त्तियाँ है। यह भी बाद की जमाई हुई दीखती है। मंदिर के द्वार पर मकरवाहिनी गङ्गा और कच्छपवाहिनी यमुना की सुन्दर मूर्तियाँ अपनी त्रिभंगी मुद्रा मे मन मोह लेती है। मंदिर को लोग कंकाली देवी का मंदिर कहते है। किन्तु भीतर नृसिंह जी की मूर्त्ति विराजमान है जो कि बाद की बिठाई हुई जान पड़ती ह।

मन्दिर की सीधी सादी मुद्रा से निश्चय होता है कि वह इसवी छठवीं सदी का है। मध्यप्रान्त मे इस प्रकार का मंदिर अकेला यही है। समस्त भारत मे भी इस प्रकार के मंदिर बहुत कम है। शेष मंदिरों मे गढ़े और खुदे हुए पत्थर तथा मूर्तियाँ चारों ओर बिखरी हुई है। इनके चबूतरों को देखने से जान पड़ता है कि कम से कम पाँच मंदिर अवश्य रहे होंगे।

पास ही एक दूसरा मंदिर है जो कि शारदा जी का मन्दिर कहलाता है। केवल इसकी दीवाले पुरानी जान पड़ती है—शेष भाग बाद मे बनाया हुआ है। इसके भीतर शारदा, नृसिंह तथा विष्णु की मूर्त्तियां है। बाहर दशावतारों तथा अन्य देवताओं की मूर्त्तिया बिखरी पड़ी है। इनमे हाथी और घोडे की मूर्त्ति बहुत सुन्दर है। जिससे कलाकार ने उनकी गतिको मूर्त्तिमन्त किया है।

अन्य मंदिरों के बिखरे हुए पत्थरों मे मूर्त्तिया कीर्त्तिमुख, खम्भे, छत, द्वारे के पत्थर आदि है जिनमे सुन्दर खुदाई दीख पड़ती है। यदि इनको चुनकर एक इमारत भी खड़ी की जा सके तो बड़ा सुन्दर मन्दिर बन सकता है। किन्तु पुरातत्त्व विभाग तो केवल इनकी "रक्षा" कर ही सन्तुष्ट हो जाता है और उसका अर्थ है कि यदि मंदिर अपने मन से गिर जावे तो उसे कोई आपत्ति नहीं है। उसके पत्थर अवश्य ही कोई उठाकर नहीं ले जा सकता।

रूपनाथ—

बहुरीबंद से पश्चिम की ओर एक मील पर सम्राट् अशोक का वह शिलालेख है जो कि उन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने के ढाई वर्ष बाद खुदवाया था। उसमें कई महत्त्वपूर्ण बाते प्राप्त होती है। उसमें लिखा है:—

"यह केवल उच्च श्रेणी के मनुष्यों ही को प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु एक नीच मनुष्य को भी यदि उसमें उत्साह है तो वह महान् स्वर्ग को पा सकता है।"

आगे चलकर उसने अपने अधिकारियों को आज्ञा दी है कि जहाँ भी शिला या स्तंभ मिले आज्ञाएँ खुदवाई जावे। इससे सम्राट् अशोक के धर्म-प्रचार का उत्साह प्रकट होता है।

मध्यप्रान्त में अशोक का यह एक मात्र शिलालेख है। जान पड़ता है यह स्थान बड़े यात्रा मार्ग पर रहा होगा, जहाँ सब लोगों की दृष्टि पड़ सके। शिलालेख पर एक छाया मण्डप पुरातत्त्व विभाग द्वारा बना दिया गया है। साथ ही लेख का नागरी अक्षरों में मूल पाली तथा हिन्दी अनुवाद तख्ती पर लिख कर टागने की आवश्यकता है। जिससे लोग इस महान् सम्राट् का संदेश पढ़ सके। इसकी तिथि "संवत्सर के २५६ वें वर्ष में यह संदेश प्रकाशित हुआ" ऐसा शिलालेख का अन्तिम वाक्य है। कोई कोई लोग इसे बुद्ध सवत् मानते है। बुद्ध संवत् २१८ में अशोक का राज्याभिषेक हुआ और उसके ३८ वे वर्ष मे यह तिथि पड़ती है। किन्तु यह शिलालेख अशोक के प्रारम्भिक शिलालेखों में है इसलिए इसकी सङ्गति ठीक नहीं बैठती। इसके लिए लोगों ने महावीर सवत् २३७ की सङ्गति मिलाई है। जिससे जान पड़ता है कि यह शिलालेख अशोक के राज्याभिषेक के बीसवें वर्ष में लिखा हुआ माना जा सकता है। ('सम्राट् प्रिय दर्शी' लेखक डॉ. त्रिभुवनदास लहरचन्द शाह, पृष्ठ १३१)

इस शिलालेख में आई हुई अन्य कई बातों के विषय मे भी मतभेद है। उक्त ग्रन्थ के लेखक ने महाराज अशोक को बौद्ध होने के बदले जैन होना माना है और उन्हें 'जैन सम्राट् सम्प्रति' सिद्ध किया है। "अढ़ाई वर्ष से अधिक हुए कि मैं श्रावक बना हूं" इस वाक्य से वे उन्हें जैन श्रावक ही सिद्ध करते हैं।

दूसरे वाक्य में लिखा है कि 'जम्बूद्वीप मे जो देव मिश्रित नहीं थे उनको मैंने मिलाया है" इस वाक्य के अर्थ में भी मतभेद है। डा० थामस के अनुसार इसका अर्थ यही है कि "जम्बूद्वीप की जङ्गली जातियों को मैंने देवों का ज्ञान दिया है। संभव है कि उस समय इस प्रदेश मे जङ्गली जातियां रही हो और उनको अशोक ने बौद्ध धर्म मे दीक्षित किया हो।" किन्तु देव शब्द का अर्थ मनुष्य करना ठीक नहीं जान पड़ता। डा० भांडारकर ने यह अर्थ लगाया है कि "इन लोगों को इतना पवित्र बना लिया गया कि वे स्वर्ग के देवताओं के साथ मिल गये।" यह अर्थ भी कुछ ठीक नहीं जमता, क्योंकि मिश्रित करने की क्रिया और देवों का मिश्रण दोनों ही जम्बूद्वीप में हुए है स्वर्ग में नहीं। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ने यह अर्थ किया है कि "धर्म देवों से दूर रहने वाले देवों को मनुष्यों को मैंने

धर्मदेव दिए" । इस अर्थ में भी कुछ खींचातानी मालूम होती है । श्री त्रिभुवनदास शाह ने तो यह अर्थ किया है कि "इस प्रदेशमें अभी तक जो देव (मुनि) विचरते नहीं थे उनके लिए विहार का प्रबन्ध कराया" इसमे भी अशोक को जैन सिद्ध करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। मेरी समझ मे इस वाक्य से अशोक की सर्व समन्वय की प्रवृत्ति प्रकट होती है जिसके कारण उन्होंने अपने धर्म में सारे देश की एकता के लिए बौद्ध-धर्म के बाहर के देवों को भी सम्मिलित कर लिया और इस तरह उन देवों के उपासकों को भी अपने में मिला लिया ।

श्रमण से

निर्वासित आत्मा-सीता के हे वाल्मीकि !
दे रहे आत्मा को उसका खोया प्रकाश
युग-युग की छायाओं से निर्मित बोधितले
तुम जला रहे अपने जीवन का फिर प्रकाश

*   *

जग के सुख धूम बन गये पथ पर मन्द भाग
वैभव के मणि-रत्नों ने सौंपी तुम्हें आग
खिलते फूलों के वैभव के उन्माद तले,
कब की चुप बैठी कोयल ने छेड़ा विहाग ।

*   *

जग के दुर्मद वेलों से थोड़ी दूर सिसकते प्राणों में
पथ जहां खो रहे अपनी ही पहचान अन्ध सुनसानों में
बाजारों से उलटी मशाल से दूर अन्ध के विश्वासी
तुम जला चले अपने ही मन का दर्द दर्द के गानों में ।

*   *

ऐसे जीवन में जहां प्रात वरदान बन गये ही होते
वह कौन लपट आशा की जिससे फूल बन गये शूलों के
वह कौन भूख जिस पर जीवन ही लुटा दिये अरमान भरे
वह कौन वरण जो रत्न फेंक वरदान उठाते धूलों के ।

श्री ठाकुरप्रसादसिंह

पाप-पुण्य—

कहानी

—श्री रामगोपालसिंह चौहान

हरिहर कई हफ्ते से बीमार था। सारा भीमकाय शरीर भूख और बुखार की आग से झुलस गया था। जहां तहां से खाल सिकुड़ कर लटक गयी थी, आँखे गड्ढों मे घुस गयीं थीं। चेहरे पर व्यग्रता, उद्विग्नता और चिन्ता की गूढ़ कठोरता व्याप्त थी। इधर दो तीन दिनों से उसका कुछ बुखार हलका हुआ था। रामजीवन ने भी जब हरिहर की हालत ज्यादा खराब सुनी तो उससे मिलने आया।

उसे आया देखकर हरिहर ने रूँधे गले से कहा—"जीवन तुम आ गये, अब मैं जी जाऊँगा।".....और थोड़ी देर तक भीगी पलकों से रामजीवन के चेहरे पर आँख गड़ाए देखता रहा, मानों उनमें पढ़ने की कोशिश कर रहा हो कि क्या रामजीवन भी उसके सम्बन्ध में अन्य गाँव वालों की ही तरह विचार रखता है।.....

थोड़ी देर बाद आंखे नीची कर वह बोला—"अपनों का आदमी को कितना सहारा होता है। तुम आ गये तो तुम्हे देखते ही जी बोल उठा—'अब मैं नहीं मरूंगा....' नहीं तो मैं तो सोच ही बैठा था कि अब और न जीऊँगा।"

रामजीवन ने उसके रूखे बालों मे हाथ फेरते हुए कहा—"नहीं दादा, ऐसी बात मत कहो। तुम्हारा इस गांव वालों को बड़ा बल है। सारा गांव तुम पर भरोसा करता है, तभी भरोसी और घीसू उस लठैती के औसर पर तुम्हें बुलाने आये थे। ज्यादती तो जमींदार की ही थी, तुम अब न मानो फिर मानोगे।. . . तभी गांव वाले तुम से नाराज है।"

"रामजीवन जानते हो, मैं बीमार क्यों पड़ा! उस घटना पर सोचने के कारण ही। मैं अब भी. . . . ."

बीच में ही रोक कर रामजीवन ने हरिहर के मुँह पर हाथ रखते हुए कहा—दादा, तुम्हें बोलना नहीं चाहिए। सोचना भी छोड़ दो। अच्छे होकर फिर सब सोचेंगे।

फिर काफी देर तक रामजीवन हरिहर के सिरहाने बैठा रहा। उसके बाद वह रोज आता और घंटों गांव की सारी बातें सुनाता रहता। अब उसके साथ जब तब गांव के दूसरे किसान भी आते।

हरिहर का स्वास्थ्य भी सुधर चला था। रामजीवन को मालूम था कि हरिहर के घर मे खाने को अनाज नहीं है। थोड़ा सा जौ और चना पड़ा है। बुखार से उठते प्राणी को मूंग की दाल और गेहूँ के हलके फुलके चाहिए। गांव भर में शायद ही किसी के पास गेहूँ था। जिन घरों मे होगा भी, देना न चाहेंगे। लेकिन फिर भी किसी तरह से उसने जोर बटोर कर थोड़ा गेहूँ और दाल जुटा ही दी।

हरिहर के हाथ पैरों मे अब ताकत आने लगी थी। वह मचिया पर उठ कर बैठ जाता। हफ्तों से उस बॉक मचिया पर पड़े पड़े पीठ टेढ़ी होकर दर्द करने लगी थी, जिसका अनुभव उसे जब तक बुखार का जोर रहा न हो सका था; लेकिन अब बुखार का जोर कम होते ही उसका जी उठकर कमर सीधी करने को होने लगा। होते करते, वह चलने फिरने भी लगा, उसके हाथ पैरों मे ताकत आने लगी, और वह उठ कर गांव मे घूम भी लेता।

* * *

हरिहर बैठा धूप में चिलम पी रहा था। रामजीवन आया और उसके पास बैठ गया। आज उसके चेहरे पर विशेष उद्विग्नता झलक रही थी। वह विकलसा जान पड़ता था। थोड़ी देर तक दोनों मे मे कोई किसी से नहीं बोला। थोड़ी देर बाद हाथ की चिलम रामजीवन की तरफ बढ़ाते हुए हरिहर ने कहा—

—"रामजीवन आज तुम कुछ उदास दिखते हो।"

—"उदासी तो सारी जिन्दगी मे ही है।"

—"लेकिन फिर भी! मैंने सुना जमींदार साहब की वर्षगांठ मनायी जा रही है। बड़ी धूमधाम रहेगी।"

—"हाँ, रहेगी तो! पर हमे क्या? मौज उनकी, सासत हम गरीबों की। सच मानो दादा, अब तो कुछ ऐसा हो गया है कि जब कभी सुनता हूँ कि आज जमींदार के यहा खुशहाली मनायी जा रही है, रास रंग हो रहा है, तो जी जाने क्यो किसी अज्ञात मुसीबत के सोच मे भर उठता है। जब शहर मे कभी किसी की कोठी पर जगमग जगमग देखता हूँ, तो जी कहता है कि इसकी जगमगाहट से हम गरीबों पर कौनसी मुसीबत बिजली बन कर टूट पड़ने वाली है, पता नहीं।"

"लेकिन जमींदार साहब के यहां की धूमधाम से अब की हम पर कौन-सी मुसीबत टूटने वाली है?—" हरिहर ने व्यग्रता दिखाते हुए कहा।

"दादा! तुम तो जानते ही हो फसल से तो कुछ हुआ नहीं। लोगों को अपना पेट पालने के लिए कुछ तो कुछ करना ही होता है। सभी के बच्चों और औरतों ने लकड़ी बीन कर कसबे मे जाकर बेचना शुरू कर दिया है, किसी ने घास-पात बटोर कर। मर्दों ने जूते बनाकर हाट में बेचना शुरू कर दिया है। कुछ तो सबेरे से ही निकल जाते है और कसबों के चौराहों पर बैठ कर जूते गांठते रहते

हैं, और शाम को देर से थोड़े से पैसे कमा उसी का खाने पीने का सामान खरीद कर गांव लौटते हैं। एक दिन भी बीच में नागा हो जाय तो उसी दिन खाने के लाले पड़ जायँ। रोज कुआं खोदना और रोज पानी पीना। जमींदार साहब की वर्षगांठ पर कोठी की सफाई होगी, लीपा पोती होगी, बड़े बड़े लोग आँयगे, आला अफसर आँयगे, दावत होगी, उसके लिए लकड़ी जुटानी होगी; और इन सब के लिए आज ही जिलेदार का फरमान निकला है कि अगले दो हफ्तों के लिए सात गांव उनकी बेगार टहल में हाजिर रहेगा। अब बताओ दादा! उनकी बेगार करेंगे तो फिर खायगे क्या? खुद क्या खाँयगे, बच्चों को क्या खिलायेंगे? लगान का भी कुछ जुगाड़ नहीं। कहां से देंगे। रात बीतती हैं तो हर दिन सवेरे यही डर लेकर उठते हैं कि जमींदार का आदमी दरवाजे पर लगान मागने खड़ा है।"

"हाँ, रामजीवन सचमुच यह तो बड़ा जुल्म होगा।" और थोड़ी देर चुप रह कर उसने आगे कहा—"काम पर बुलायेंगे तो खाना तो देंगे ही!"

"क्या खाक देंगे! तुम तो ऐसी अनजाने की सी बातें करते हो दादा; जैसे पहले कभी कोठी पर बेगार में गये ही न हो। कब कब तुम्हें वहां हलुआ पूड़ी मिली है। बहुत से बहुत मिला तो एक एक चुकटी चना और गुड़ मिल जायगा। खैर हम तो उतना खाकर सबर भी कर लेंगे, पहले भी किया है अब भी कर सकते हैं लेकिन बीबी बच्चों का क्या होगा। उनके पेट से तो पत्थर नहीं बांधा जा सकता।"

"तो फिर करोगे भी क्या? वे समरथ हैं, जो चाहे सो कर सकते हैं।

"कैसे समरथ दादा? उन्हें समरथ बनाया किसने?"

"भगवान् ने।"

"माना! कुछ उन्हें भगवान् ने ही समरथ बनाया हो। लेकिन हमारी अपनी कमजोरी उन्हें और भी समरथ बना देती है।....और फिर भगवान् ने ही उन्हें समरथ क्यों बनाया? हम भी तो उसी के पैदा किये हुए हैं।"

हरिहर ने बीच में ही बात काटनी चाही लेकिन उसे रोकते हुए अपनी बात जारी रखते हुए रामजीवन ने कहा—"मैं जानता हूँ दादा, तुम क्या कहना चाहते हो? तुम यही कहोगे कि कर्मफल है। लेकिन जरा आखें तो खोल कर देखो। हम गरीबों की जो दिन रात मुसीबत सह रहे हैं तादाद कितनी ज्यादा है और जो मौज उड़ा रहे हैं, वे इने गिने। तो क्या इतने सारे ये सब गरीब पिछले जनम में पापी थे। और कुल ये थोड़े से धर्मात्मा! तो सारा देश, सारी दुनिया ही पापी रही होगी।.....नहीं नहीं दादा, यह सब कुछ नहीं। तुम्हारे ये विचार थोड़ी देर को शान्ति तो दे सकते हैं, लेकिन रात दिन की दहकती आग को नहीं। ......और सच मानो हमारे भगवान् ने इन्हें कभी समरथ नहीं बनाया होगा।

इनका भगवान् तो है धन और अत्याचार जिसके बलबूते पर जो चाहे सो कर बैठते हैं। और वही इनके लिए पुण्य हो जाता है, धर्म हो जाता है।"

रामजीवन भावावेश मे बोलता जा रहा था। एकाएक रुक कर फिर बोला–

"और दाद। कभी तो जी ऐसा कहता है कि हमारे और इनके भगवान् दो हे और जैसे हम अपने आप निबल हो गये है वैसे ही वह भी इनके भगवान् के आगे निबल हो गया है। हमे उसका आसरा छोड़ अब तो अपने पौरुष पर भरोसा करना होगा।"

"रामजीवन, बात तो तुम्हारी सच सी जॅचती है। पर. . . . ." और थोड़ा रुक कर हरिहर ने बात पूरी की "कुछ समझ मे नहीं आता रामजीवन! सोचता तो मैं भी यही सब रहा हूँ बीमारी भर। लेकिन. . . . ."फिर थोड़ा सा सोचता रहा और बोला––"वे हमारे मालिक तो है ही। लेकिन. . . ."

"क्या लेकिन! मालिक है तो क्या तुम्हारी खैर खबर ली उन्होंने कभी कि मरते हो या जीते। जब जरूरत पडती है तो बुलावा भेजते है, चाहे कोई हारी बीमारी ही क्यों न हो। तुम इतने दिन से बीमार पड़े हो कभी उनके आदमी ने आकर आधी बात भी पूछी। क्या वे जानते नही कि गांव मे अबकी ही नही पिछले दो तीन साल से अन्न नहीं हो रहा है! क्या कभी उन्होंने हम पर तरस खा कर लगान छोड़ा है! हमारी किसी मुसीबत मे साथ दिया हो तो हम भी समझते हमारे मालिक है। यहां गाव मे लोग भूखों मर रहे है और वहां हमारे ही वसूल अन्न से उनकी दावत हो रही है जिनका पेट भरा है और ऊपर से चोट यह कि हम भूखो मर कर उनकी बेगार भी करे। नही दादा, कुछ भी हो हम तो त कर चुके है।"

"क्या ?"

"यही कि बिना मजूरी काम पर भूखे रह कर बेगार करने नही जायगे।"

"निभा सकोगे ?"

"मरता क्या न करता। मर तो वैसे भी रहे है तो फिर क्यों न ऐसे ही सही। जमीदार भी समझेगे कि अब उनका जोर जुल्म और नही चलने का।" थोडी देर चुप रहकर रामजीवन ने उठते हुए कहा–"अच्छा, दादा अब चला।"

"क्यो ?. . . .एक चिल्म तो और पीते जाओ।". . . . अरी ओरी सोनिया, चिलम दे जा न भर कर।"

"नहीं दादा, अभी कई काम है। जमीदार के आदमी घूमने लगे है गांव में। हमे भी जल्दी ही सोच कर कुछ करना है।"

रामजीवन चला गया और हरिहर पड़ा सोचता रहा।

-*-

साहित्य समीक्षा

न्यायविनिश्चयविवरण [प्रथम भाग]

संपादक–प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य। प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ काशी। पृ० ६६ + ५४६। मूल्य १६)।

जैन दार्शनिक साहित्य की ही नहीं किन्तु भारतीय दार्शनिक साहित्य की दृष्टि से आचार्य अकलंक की कृतियों की विवेचना आवश्यक है।

धर्मकीर्ति के मन्तव्यों का खण्डन व्योमशिव, जयन्त, वाचस्पति, शल्किनाथ आदि ने किया है और विज्ञानवादके विरुद्ध वास्तववाद को पुनः प्रस्थापित करने का प्रयत्न भी किया है किन्तु आचार्य अकलंक ने वास्तववाद को सिद्ध करने के लिये जो धर्मकीर्तिका खण्डन किया है वह पूर्वोक्त सभी आचार्यो से अधिक मार्मिक और तर्कपूर्ण होने के साथ ही दूसरों की तरह पूर्वपक्ष की कुछ ही दलीलों तक सीमित न रह कर धर्मकीर्तिके समग्र दर्शन को व्याप्त कर लेता है। इस दृष्टि से कहना होगा कि भारतीय दार्शनिकों में धर्मकीर्तिका समर्थ प्रतिस्पर्धी यदि कोई है तो वह अकलंक ही है। अत एव भारतीय दर्शन के क्रमिक विकास में धर्मकीर्ति के समान अकलंक भी युगविधाता है। इस दृष्टि से अकलंक के ग्रन्थों का महत्त्व है और प्रकाशन वांछनीय है।

अकलंक के ग्रंथो के सम्पादन के लिये प० महेन्द्रकुमार जी योग्यतम व्यक्ति हैं। उनके द्वारा संपादित अकलंकग्रन्थत्रय, लघीयस्त्रय की टीकारूप न्याय-कुमुदचन्द्र और अकलंक के ग्रन्थों के निचोड़ रूप परीक्षामुख सूत्र की टीका प्रमेय-कमलमार्तण्ड प्रसिद्ध हो चुके हैं और अब उन्होंने प्रस्तुत अकलंक के न्यायविनि-श्चय को वादिराज के विवरण के साथ संपादित करके भारतीय दार्शनिक समुदाय को ऋणी बनाया है। अकलंक के सभी ग्रन्थ सुसम्पादित करके प्रकाशन कराने का प्रकाशक का संकल्प भी प्रशस्य है।

धर्मकीर्ति के टीकाकारों में प्रज्ञाकर का अद्वितीय स्थान है। न्यायविनिश्चय के विवरण में वादिराजने उसी को मुख्य रूप से अपने तर्कबाणों का लक्ष्य बनाया

है। प्रज्ञाकरकृत प्रमाणवार्तिक भाष्य अभी अप्रकाशित है किन्तु पं० महेन्द्र-कुमारजी ने अपने संपादन में उसका पूरा उपयोग किया है और प्रमाणवार्तिक के भाष्यके संपादन का मार्ग और भी प्रशस्त कर दिया है। इसके लिये उसका संपादक पंडितजी को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता।

पंडितजी ने प्रारंभ मे लम्बी प्रस्तावना लिखी है। उसमे दर्शन की व्याख्या करते हुए ज्ञान और दर्शन की जो विवेचना की है वह विद्वानों के लिए विचारणीय है। उसके बाद स्याद्वाद की विवेचना मे पंडित जी ने स्याद्वाद के विषय में दूसरों के आक्षेपों का उत्तर देने का सत्प्रयत्न कर जैन दार्शनिक साहित्य की ठोस सेवा की है। विषयपरिचय में पंडितजी ने ग्रन्थ प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित तुलनात्मक विवेचन किया है। उसमे श्री राहुल जी द्वारा समर्थित प्रतीत्य समुत्पादवाद की परीक्षा की गई है।

प्रस्तावना मे वादिराज का परिचय श्री नाथूराम प्रेमीजी ने लिखा है।

ग्रन्थ का संपादन सुंदर ढग से हुआ है। छपाई भी भारतीय ज्ञानपीठ के अनुरूप ही हुई है। इस प्रथम भाग मे प्रत्यक्ष प्रस्ताव समाप्त हुआ है, अभी दूसरा भाग छप रहा है। परिशिष्ट आदि सामग्री उसी भाग मे आयगी।

इस महत्वपूर्ण कृतिको प्रकाशित करके भारतीय ज्ञानपीठ ने विद्वज्जनों के मनोमंदिर मे अपना आदरणीय स्थान बना लिया है इसमे संदेह नहीं।

दलसुख मालवणिया

[प्रा० जैनदर्शन, का० वि० वि०]

समालोचनार्थ प्राप्त पुस्तकें—

१. सत्येश्वर गीता
२. धर्मप्रवेश
३ गीतावश्यकमंत्र
४ भगवान् मल्लिनाथ
५. भारतीय संस्कृति और अहिंसा
६. हिन्दूधर्म की समीक्षा

सम्पादकीय

श्रमण संस्कृति–

श्रमण-संस्कृति के विषय में आज के कुछ विद्वानों में कितना अज्ञान फैला हुआ है, इसका ताजा अनुभव मुझे हाल ही मे हुआ। एक दिन मेरे एक अनुभवी मित्र ने पूछा कि श्रमण-संस्कृति क्या बला है? उनका मत था कि यह तो बिल्कुल नयी धारा है। इस प्रकार आज के युग में भारतीय-संस्कृति को मजबूत करने के बजाय नयी नयी धाराओं का समर्थन करना एक प्रकार से प्राचीन काल से बहती हुई धारा के प्रति अन्याय करना है। मुझे उनके इन शब्दों ने आश्चर्य में इसलिए डाल दिया कि वे आधुनिक अर्थ मे न केवल शिक्षित ही थे, अपितु शिल्प-स्थापत्य कला के कुछ अंगों मे उनकी गति भी थी। परन्तु मुझे ऐसा लगा कि संस्कृति के संबंध मे उनका दृष्टिकोण संकुचित था और उनकी ध्वनि से कुछ ऐसा भी प्रतीत हो रहा था, जैसे वे मुझ से मनवाना चाहते हों कि संस्कृत साहित्य आदिमें वर्णित वैदिक संस्कृति ही–आर्यों की संस्कृति है। प्रगतिशील युग मे इस प्रकार की बातों को कोरी भावुकता के अतिरिक्त और कहा ही क्या जा सकता है? यों तो संस्कृति जैसे व्यापक शब्द को साम्प्रदायिक बंधनों मे बाँधने का वैसा ही नतीजा होगा जैसा कि भारतीय शिल्प और चित्रकला के कुछ आलोचकों ने प्राथमिक-काल में सम्प्रदायों के साथ कला को बाँधा था। जैसे जैन कला, बौद्ध कला, ब्राह्मण कला आदि। कला की अपेक्षा संस्कृति कहीं अधिक व्यापक है। अतः मेरे विचार मे संस्कृति को सीमित करना उचित नहीं– अच्छा तो यही होगा कि उसे हम मानव-संस्कृति के रूप में स्वीकृत करें। महामानवता के प्रकाश मे ही विभिन्न सांस्कृतिक धाराओं को देखें। सम्भव है प्राचीन सामंतवादी युग मे धर्म-मूलक या वर्ग-मूलक जीवन यापन करने वाले व्यक्तियों ने अपने अपने साम्प्रदायिक अंध कूप मे संस्कृति को उतारा होगा और सामंतवादी शासकों के काल में वह व्यवस्था पनपी भी होगी। वह काल जातिवाद और व्यक्ति विशेष से संबंधित था। परन्तु आज की परिस्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। जिस युग मे आज हम जीवनयापन कर रहे हैं वह संस्कृति के नाम पर, धर्म के नाम पर, सम्प्रदायों के नाम पर लड़ने का नहीं

परन्तु समन्वय का है। लड़ना हो तो उन तत्त्वों से युद्ध किया जाय, जो मानवीय जीवन को असांस्कृतिक धाराओं में डुबा रहे हैं। आज की मानवता पर जो पशुता की पतली चादर पडी हुई है और वैयक्तिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए एक का दूसरे द्वारा जो अमानवीय शोषण हो रहा है, इन प्रवृत्तियों को समूल नष्ट कर सच्चे अर्थों मे मानव बने, तब तो हमारा सांस्कृतिक और नैतिक युद्ध सार्थक होगा। यहाँ पर प्रासंगिक रूप से एक बात का स्मरण दिलाना आवश्यक है कि इस नव निर्माण के युग मे हम श्रमण-संस्कृति या ऐसी ही कोई चीज जनता पर जबर्दस्ती लादना नही चाहते. क्योंकि किसी भी प्रकार की उन्नत से उन्नत विचार-धारा भी जनता के सर मजबूरी से थोपी नही जा सकती। जनता स्वयं सुन्दर, पोषक और उन्नतिशील तत्त्वों को समझ कर स्वतः अपना लेती है, वही क्रमशः समष्टयात्मक रूप धारण कर आगे के लिए एक परम्परा बन जाती है।

समस्त प्राचीन नैतिकता की परम्पराएं उपयुक्त ही हैं और भावी जीवन-निर्माण में सहायक होती ही है ऐसा सर्वा शतः प्रतीत नहीं होता। परम्परा और नैतिकता का प्रश्न काल के साथ बँधा होता है। यद्यपि संस्कृति के मौलिक तत्त्व समान होते हैं, फिर न केवल काल-भेद से उसमे परिवर्तन करना पड़ता है अपितु परिस्थितिवश स्वयं हो जाता है। इन पंक्तियो मे यही महा सत्य स्पष्ट दिखायी पड़ता है। कोई भी प्रगतिशील विचारक यह नही मान सकता कि किसी विशिष्ट समय मे निर्धारित नियम शाश्वत होकर शताब्दियों तक मानवता का पथ-प्रदर्शन करते ही रहें।

भारत एक महादेश है। यहाँ समय समय पर बाहर से अनेक जातियाँ आयीं और बस गयीं। इसे अपना निवास-स्थान बनाया। उनके अपने आचार-विचार, रीति-रिवाज थे। अतः सम्पूर्ण भारत का सर्वांगपूर्ण सांस्कृतिक दृष्टिसे तब ही अवलोकन किया जा सकता है जब कि हम यहाँ पर निवास करने वाली विभिन्न-तम जातियों के विविध-रंगी जीवन का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करें। इस भावना से उत्प्रेरित होकर ही श्रमण संस्कृति के सम्बन्ध मे दो बातें कहनी हैं और यथा सम्भव यह भी देखना है कि मानव-संस्कृति के विकास मे श्रमण-संस्कृति का कितना योग रहा है, क्योंकि यह भी भारतीय आर्य-संस्कृति की एक ऐसी धारा है जिसने मानव ही नहीं, परन्तु प्राणी मात्र के सार्वभौमिक सुख के लिए अमानवीय तत्त्वों से शताब्दियों तक संघर्ष कर अहिंसक क्रांति की, एवं मानवता तथा संस्कृति के नाम पर सामंतवादी युग में वैयक्तिक स्वार्थ पोषक व्यक्ति या समाज के जीवन में पनपने वाले अमानवीय तत्त्वों से लड़ी, पर मरी नहीं। प्रत्येक देशकी संस्कृति का इतिहास हमे स्पष्ट बतलाता है कि संघर्ष-काल मे ही संस्कृति का समुचित विकास होता है।

भारतीय कला और साहित्य के मनीषियों के लिए श्रमण-संस्कृति कोई नई धारा नहीं बल्कि कहना चाहिए कि मानव-संस्कृति का ही एक पवित्र संस्करण है। यहाँ पर प्रश्न उपस्थित होता है कि श्रमण संस्कृति का आदि प्रतिष्ठाता कौन था? ऐतिहासिक दृष्टि से इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। परन्तु अद्यतन युग में जो साहित्यिक कड़ियाँ हमारे सम्मुख उपस्थित हैं उनमें कुछ पौराणिक आख्यान ऐसे पाये जाते हैं जिनसे हम अतीत की झाँकी प्राप्त कर सकते हैं। इन उपलब्ध पौराणिक साधनों के आधार पर तो इतना ही कहा जा सकता है कि इसके प्रथम नेता ऋषभदेव थे। बाद के तीर्थंकरों ने इस धारा को आगे बढ़ाया। परन्तु विशुद्ध इतिहास की दृष्टि से बिना किसी हिचकके कहा जा सकता है कि भगवान् नेमिनाथ श्रमण संस्कृति के ऐसे स्तम्भ थे जिन्होंने भागवत धर्म के समय में भी अहिंसा-मूलक भावनाको अपने जीवन मे साकार किया था। पार्श्वनाथ ने (ई० पू० ८००) अपनी महान् सांस्कृतिक साधना का परिचय बनारस मे ही दिया था। अज्ञान-मूलक तप करते हुए कमठ तापस को इस बात का भी ज्ञान न रहा कि धूनी मे झोंके जाने वाले काष्ठ के साथ सर्प भी जल रहे हैं। पार्श्वनाथ जैसे समत्व की भावनाके प्रचारक ने तापस को समझाकर दो प्राणी बचाये। यह प्रश्न केवल प्राणी बचाने का ही नही है बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से भी इसका महत्त्व है, और इस बात का प्रमाण है कि उन दिनों संस्कृति एवं धर्म के नाम पर प्राणी-हिंसा भी त्याज्य न थी। 'वेदविहिता हिंसा हिंसा न भवति' एवं कहीं कहीं क्षम्य भी थी। इस प्रकार वह अहिंसा ही संस्कृति की आत्मा है। हिंसामूलक प्रवृत्तियाँ संस्कृति नहीं, विकृति है। समत्व की भावना ही संस्कृति का बल है, जीवन है और शताब्दियो तक प्रवाहित रखने की अतुलनीय शक्ति है।

आर्यों का मगध मे संघर्ष हुआ था। वह किसके साथ था? ऐतिहासिकों मे यद्यपि इस विषय पर काफी मतभेद है, परन्तु वैदिक साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री क्षेत्रेशचंद्र चट्टोपाध्याय (प्रयाग विश्वविद्यालय) का अभिमत है कि आर्यों का वह संघर्ष श्रमण-संस्कृति के अनुयायियों के साथ था। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक संस्कृति का जिन दिनों भारतमे विकास भी नहीं हुआ था उसके पूर्व भारत मे श्रमण संस्कृति काफी विकसित हो चुकी थी। श्री षण्मुखं चेट्टी ने भी अपने एक भाषण मे कहा था कि भारत के जैनी ही यहाँ के मूल निवासी है। अस्तु।

ई० पू० छठीं शती के प्रथम चरण तक तो श्रमण संस्कृति जैन संस्कृति के ही रूप मे पहचानी जाती थी, परन्तु यहाँ से श्रमण संस्कृति की एकधारा बौद्ध धर्म के रूप मे बही। जैन और बौद्ध दोनों के लिए श्रमण संस्कृति के रूप मे एक ही शब्द व्यवहृत होने लगा। कारण कि दोनों परम्पराएं वेदविरोधी थीं। कुछ अंशों में श्रमण महावीर और बुद्धदेव प्रायः समान विचार के थे। जैसे--समाज रचना या

जगत् के समस्त जीवों के प्रति दृष्टिकोण दोनों के प्रायः समान थे। धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा के वे प्रबल विरोधी थे। मानव-संस्कृति के विकास में अवरोधक वर्ण-व्यवस्था जैसी प्रथा इन दोनों को अभीष्ट न थी। वे जातिवाद के पुजारी न होकर गुणों के भक्त थे। अर्थात् उनकी दृष्टि में किसी उच्च जाति में उत्पन्न होने से ही कोई व्यक्ति आदरणीय स्थान प्राप्त नहीं कर सकता था और न निम्न जाति में उत्पन्न व्यक्ति अनादर ही। वे गुणाश्रित उच्चत्व-नीचत्व में विश्वास करते थे, जात्याश्रित में नहीं। भगवान् महावीर का अभिमत था कि उत्थान-पतन किसी अन्य व्यक्ति या शक्ति पर निर्भर नहीं, खुद ही के अधिकार में है। ईश्वर के नाम पर अपनी अकर्मण्यता को छिपाना और आत्मनिष्ठ शक्ति का विकास न करना ही घोर अज्ञान है। भगवान् महावीर और बुद्ध के समय में भारतीय समाज विचित्र परिस्थिति से गुजर रहा था। पुरोहित वर्ग समाज पर अधिकार किये हुए था। यह सामंतवाद का भी स्तम्भ था। उभय विभूतियों ने इनका घोर विरोध कर स्वार्थ पोषक मनोवृत्तियों का मूलोच्छेद एवं वैयक्तिक स्वातंत्र्य का समर्थन सभी क्षेत्रों के लिए किया। उपर्युक्त विभूतियों ने श्रमण-संस्कृति को उन दिनों अपने त्याग और तपस्या के बल पर मजबूत न किया होता तो न जाने मानवता की कितनी दुर्गति हुई होती। श्रमण संस्कृति के इतिहास में यह दूसरा संघर्ष-काल था और इसमें वह सफल भी हुई। यद्यपि इन दोनों विभूतियों का राजाओं पर प्रभाव अवश्य था, परन्तु इनका उनसे तनिक भी वैय-क्तिक स्वार्थ न था, अर्थात् इस राजसंबंध के पीछे जनता के नैतिक और आध्यात्मिक विकास की भावनाएं काम कर रही थीं। बौद्ध और जैन श्रमणों ने जनता में अपने सांस्कृतिक तत्वों का प्रचार कर जातिवाद के नाम पर जो अंग अपना प्रभाव जमाये हुए था उसका वैचारिक साधनों से घोर विरोध कर समाज का नव-निर्माण किया जिसका प्रभाव यों तो आज तक किसी न किसी रूप में बना है, पर इसका उन्नत काल मगध साम्राज्य के अंत तक ही समझना चाहिए।

मगधपति श्रेणिक–बिम्बिसार और अभयकुमार–ने अपने वैदेशिक विभाग द्वारा बेबिलोन तक श्रमण संस्कृति का इतना प्रभाव जमवाया कि वहाँ के राजकुमार आर्यचन्द नेबूजेन्दार–आर्द्रकुमार–भी भारत आकर भग-वान् महावीर के पास उनके चरणों में अध्यात्म के प्रशस्त मार्ग को अंगीकार करने के लिए बाध्य हुए। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। सम्राट् संप्रति ने विदेशों में भी जैन धर्म का प्रचार करवाया था। आज भी मिस्र आदि देशों में 'समनिया' जाति पायी जाती है जो श्रमण संस्कृति का स्मरण दिलाती है। शुंग काल में वैदिक संस्कृति के बढ़ते प्रभाव के कारण श्रमण संस्कृति का विकास कुछ मंद अवश्य हो गया था। इन पंक्तियों

द्वारा समस्त श्रमण संस्कृति की अविच्छिन्न धारा को लिपिबद्ध करना सम्भव नहीं।

श्रमण संस्कृति का क्रमबद्ध इतिहास ही भारतीय लोक जीवन का ज्वलन्त इतिहास है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि समय समय पर त्यागी श्रमणों ने अपने त्याग, संयम और समत्व की प्रबल भावना के द्वारा राजमहलों से लगाकर झोपड़ियों तक व्यक्ति-मूलक स्वतंत्रता का संदेश सुनाकर शताब्दियो तक श्रमण संस्कृति को जीवित रखा। जनता के जीवन मे श्रमण संस्कृति के सार्व-भौमिक तत्वों के प्रचार मात्र से श्रमण-गण चुप न रहे, परन्तु उन्होंने तो भारत की भावी संस्कृति के विकास के लिए भी अपनी अति उदार, पर व्यावहारिक संस्कृति के तत्वों को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि जनभाषाओं द्वारा सरल, सुबोध और सर्वग्राही बनाकर साहित्यिक रूप प्रदान किया। इस कार्य मे भी श्रमण गण बड़े उदार थे। भाषा के प्रति उनके हृदयमें खास मोह न था। विद्वद्भोग्य भाषा मे साहित्य-निर्माण करने के साथ ही लोक-भाषा मे रचना करने में भी उन्होंने अपना अपमान नहीं समझा क्योंकि वे भाषा विषयक साम्राज्यवाद से परे थे।

भारतवर्ष की सांस्कृतिक शाखाओं मे श्रमण संस्कृति ही एक ऐसी संस्कृति रही है जो न केवल विचार मे ही उदार रही अपितु आचार मे भी अन्यापेक्षया काफी आगे है। श्रमण परम्परा के अग्रज महावीर के संघ मे चाण्डालों को भी वही स्थान प्राप्त था जो किसी राजकुमार को था। इसी समत्व मूलक उदार भावना के कारण ही शताब्दियों तक संघर्ष करते हुए वह जीवित रही। संत पर-म्परा के विकास के बीज भी श्रमण संस्कृति मे ही विद्यमान है। साहित्यिक उल्लेखों से उपर्युक्त पंक्तियां और भी अधिक स्पष्ट हो जाती हैं। किसी भी संस्कृति की समुचित उदारता का आभास उसके साहित्य की अपेक्षा आचार से अधिक मिलता है क्योंकि कहने को तो इतर संस्कृति के अनुगामी भी अपनी संस्कृति को परम और परमतर उदार सिद्ध करने मे पश्चात्पाद नहीं रहते, परन्तु व्यवहार मे शून्यवाद ही दृष्टिगोचर होता है। उपर्युक्त पंक्तियों मे मैं सूचित कर आया हूँ कि श्रमण संस्कृति मे व्यक्ति प्रधान न हो कर गुण ही प्रधान है। इस महती उदारता का प्रत्यक्ष उदाहरण जैनियों के दैनिक मंत्र मे इस प्रकार पाया जाता है---णमो लोएसव्वसाहूणं---संसार के समस्त साधुओं को नमस्कार हो। तटस्थ पाठक सोच सकते है कि इस मंत्र के प्रणेताओं का हृदय कितना विशाल और मध्यस्थ भावना मे ओत प्रोत था। गीता के 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति, स्वर्ण वाक्य भी श्रमण संस्कृति मे ही साकार हुआ है। इन पंक्तियों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि "गुणाः पूजा-स्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः" का व्यावहारिक विकास उदारचेता श्रमणों ने ही किया। जाति-पाँत और वेश-भूषा के क्षुद्र भेदभावों को भूल कर एक मात्र इस प्रकार गुण की उपलब्धि कर सर्वस्व समर्पित कर देना साधारण कार्य

नहीं। जैन-बौद्ध-शाक्त आदि किसी भी मत के लिए श्रमणों को आग्रह नहीं था। न वेश-भूषा और यागकांडों के प्रति मोह था। उनका मस्तक वहीं झुकता था जहाँ साधुत्व प्रतिबिम्बित होता था। यही आध्यात्मिक उत्क्रान्ति का सोपान है।

इतने लम्बे विवेचन के बाद प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब प्रतिकूल वायु-मण्डल मे श्रमण संस्कृति ने अपने ज्ञानतिक प्रभावसे मानव-सस्कृति के उन्नयन मे महत्वपूर्ण योग दान दिया, तब सर्वथा अनुकूल परिस्थितियों मे अर्थात् स्वतंत्र भारत मे वह पश्चात्पाद क्यो? यह प्रश्न ही उत्तरात्मक है। हमारा तो निश्चित विश्वास है कि भावी भारत का निर्माण यदि अहिंसा मूलक समत्व की उदार भावना के आधार पर किया जाय तो वर्तमान समस्त समस्याएं बहुत सरलतापूर्वक सुलझ सकती है क्योंकि जनतंत्रात्मक भावना को श्रमणों की परम्परा सांस्कृतिक बल देती है और वर्तमान जनसाधारण की नूतन विचार-धारा को देखते हुए तो यही प्रतीत होता है कि उनके जीवन-विकास मे श्रमण संस्कृति का राजमार्ग ही अपने आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुँचा सकता है। साथ ही साथ वह जनतंत्रात्मक राज्य-पद्धति का तीव्रता से समर्थन भी करती है। श्रमण संस्कृति खास कर वैयक्तिक सदाचारमय जीवन की ओर आकृष्ट करती है जिसकी आज सब से अधिक जरूरत है। चारित्रिक निर्माण भावी पीढ़ी के लिए आदर्श है। मानव-संस्कृति का विकास चारित्रिक बल पर ही अवलम्बित है। श्रमणों-संतों ने ज्ञान की अपेक्षा चारित्रिक निर्माण पर अधिक जोर दिया है। महात्मा गाधी इस दृष्टिसे श्रमण संस्कृति के निर्मल प्रतीक थे। परंतु आज हमारे नेता गांधी की तो दुहाई देते हैं पर उनके राजमार्ग पर चलता कौन है? संस्कृति के नाम पर लम्बी-लम्बी बाते बनाने वालों के जीवन को टटोले तो घोर निराशा हुए बिना न रहेगी। इसी कारण से अति साधारण संत का जितना असर जनता पर पड़ता है उतना हमारे अधिक शिक्षा प्राप्त नेता का आज शायद ही पड़ता हो! सत्ता का मद सत्य से भी मुख मोड़ लेता है। सन्त अपनेको जनता का अदना सेवक समझता है, मालिक नहीं।

उपर्युक्त पंक्तियो से कोई सज्जन यह निष्कर्ष न निकाल बैठें कि मेरी दृष्टि मे श्रमण सस्कृति ही भारतीय संस्कृति है। मै यहाँ पर स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि श्रमणो ने भी अपनी मौलिक साधना से भारतीय सस्कृति की विजय वैजयन्ती को फहराने मे असाप्रदायिक दृष्टि से जो काम किया है उसका मूल्यांकन तो भावी भारत की पक्षपात शून्य संतान ही करेगी। प्राचीन अंध परंपरा के पुजारी पंडितों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे श्रमण संस्कृति के तत्वों को एक सम्प्रदाय के तत्व न मान कर विराट् मानव-संस्कृति के ही तत्त्व समझें। साथ ही साथ मानव ही नहीं अपितु

प्राणिमात्र का उत्कर्ष चाहने वाली श्रमण संस्कृति को ही अपना आदर्श माने एवं इन सार्वभौमिक, अति व्यापक, युगानुकूल, परिस्थिति के अनुसार सांस्कृतिक तत्वों का प्रचार ही 'ज्ञानोदय' का प्रधान कार्य है। मानव-संस्कृति के विभिन्न विकास में गति प्रदान करने वाली विचार-धारा से ओतप्रोत रचनाये भेज कर उदार लेखक गण हमारी सहायता करे–

–मुनि कान्तिसागर

संस्थाधिकारियों से–

व्यक्ति कमजोरी का शिकार होने से बचे और उसे अपने जीवन-निर्माण के कार्य मे योग्य सहायता मिलती रहे, इस पुनीत दृष्टि को ध्यान मे रख कर मन्दिर संस्था और शिक्षा-सस्थाओ का निर्माण किया गया था। किन्तु दुःख है कि वर्तमान मे जिनके हाथ मे उक्त संस्थाओं के संचालन का भार है वे इस दृष्टि को सर्वथा भूले हुए है। उन्होंने कुछ तो बाह्य प्रभाव मे आकर और कुछ सत्ता और स्वार्थ के व्यामोह मे पड़कर अपनी दृष्टि को संकुचित बना लिया है। उन्हे इस बात की जरा भी चिन्ता नही कि संस्थाओं से लाभ उठाने वालों की क्या गति है या वे इनसे लाभ उठाने मे क्यो असमर्थ हो रहे है। उन्हे तो इस बात की अधिक चिन्ता दिखाई देती है कि किसी भी हालत मे संस्था हमारे हाथ से न निकलने पावे। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे नाना प्रकार के प्रपंच रचते है, अनुशासन का नाम लेते है, नियम-उपनियम बनाते है और समाज व धर्म के नाम पर उन्हे प्रचारित करते है। वे इस बात का थोड़ा भी विचार नहीं करते कि जिनके साथ हम ऐसा व्यवहार कर रहे है वे हमारे ही अंग है। किन्तु यह स्थिति अधिक दिन तक रहने वाली नहीं है। समय द्रुत गति से बदल रहा है। उसके साथ सब चीजे भी बदलेगी। आशा तो यह है कि संस्थाधिकारी वस्तुस्थिति को समझने का प्रयत्न करेगे। यदि समय रहते वे न चेत सके तो वे तो डूबेगे ही किन्तु साथ म संस्थाओं को भी ले डूबेगे। 'आप डूबें पांडे ले डूबे जजमान' कुछ कुछ ऐसी ही दशा होगी।

हमारे साहित्यिक प्रकाशन

१. **मुक्तिदूत**–अञ्जना-पवनञ्जय की पुण्यगाथा । जैन पौराणिक रोमांस । हिन्दी साहित्य क्षेत्र में मुक्त कंठ से प्रशंसित सुन्दर कलाकृति ।

श्री जैनेन्द्रकुमार जी–

"कथा अत्यन्त करुण है । लिखी भी उसे उतनी ही आस्था और आर्द्रतासे गया है । उसकी भाषा और वर्णनका वैभव मुग्ध कर देता है । इतना सचित्र और मनोरम वर्णन हिन्दीमें मैंने अन्यत्र देखा है, ऐसा याद नहीं पड़ता । प्रसादजी के बाद यह शोभा और श्री गद्य में मैंने वीरेन्द्रमें ही पाई । मृदुता और ऋजुता बल्कि चाहे कुछ विशेष ही हो ।" **मूल्य ४॥।)**

२. **पथचिह्न**–[स्मृति रेखाएं और निबन्ध] ले०–**श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी**

सम्मेलन पत्रिका इलाहाबाद–

"श्री शान्तिप्रिय द्विवेदीजी की यह रचना भी सुन्दर है । इसमें अपने संस्मरण मर्मस्पर्शी ढंग पर प्रस्तुत किये हैं । **मूल्य २)**

३. **दोहजार वर्ष पुरानी कहानियाँ**––ले०–**डा० जगदीशचन्द्र जैन**

विश्वभारती पत्रिका, शान्तिनिकेतन–

"डा० जैनने विशाल जैनवाङ्मयमें चुनकर चौंसठ लौकिक, धार्मिक और ऐतिहासिक कहानियों का संग्रह किया है । कहानियों की भाषा सरल और रोचक है । काल और अक्षरोंके बन्धनसे मुक्त, इस कथा-साहित्यकी सरसता आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है ।" **मूल्य ३)**

४ **शेरो-शायरी** [उर्दू के सर्वोत्तम १५०० शेर और १९० नज़्म]
ले०–**अयोध्याप्रसाद गोयलीय** । कपड़ेकी जिल्द । **मूल्य ८)**

५ **पाश्चात्य तर्कशास्त्र**––एफ. ए. के पाठ्यक्रम में निर्धारित । **मूल्य ६)**

६. **जैनशासन**–जैनधर्मका परिचय कराने वाली सुन्दर पुस्तक । **मूल्य ४।=)**

७. **आधुनिक जैनकवि**–वर्तमान कवियोंका कलात्मक परिचय । **मूल्य ३॥।)**

८. **हिन्दी जैनसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास**– **मूल्य २॥।=)**

९. **महाबन्ध (महाधवल)** प्रथमभाग । भाषानुवाद-सहित । **मूल्य १२)**

१०. **कन्नडप्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची**–मूडबिद्री आदिके भण्डारोंके अलभ्य ताड़पत्रीय ग्रन्थोंका सविवरण परिचय । **मूल्य १३)**

११. **करलक्खण**–सामुद्रिक शास्त्र । हिन्दी अनुवाद-सहित । **मूल्य १)**

प्रचारार्थ पुस्तकें मंगाने वालों को विशेष सुविधा दी जायगी ।

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड बनारस

मुद्रक और प्रकाशक–**अयोध्याप्रसाद गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।**
भार्गव भूषण प्रेस, बनारस

ज्ञानोदय

श्रमण संस्कृति का अग्रदूत मासिक
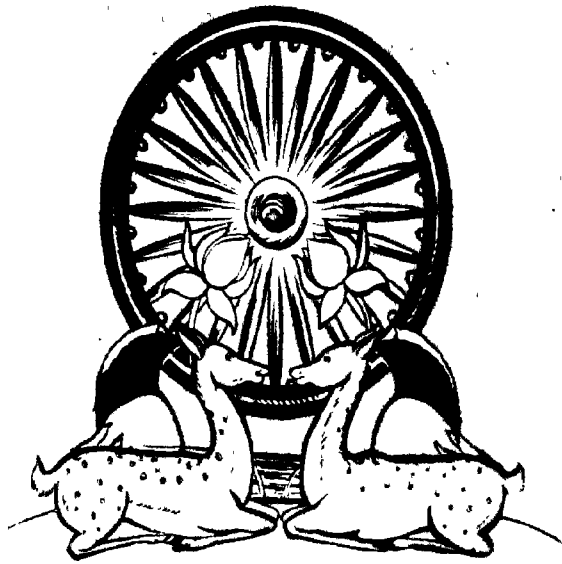
भारतीय ज्ञानपीठ काशी

सितम्बर १९४९ [३] वीर नि० २४७५

उद्देश्य—व्यक्तिस्वातन्त्र्य-मूलक श्रमण संस्कृति के सन्देश द्वारा
श्रम, शम और सम—स्वावलम्बन शान्ति और
समता—का सार्वजनीन उद्बोधन ।

*

सम्पादक—मुनि कान्तिसागर, पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

इस अंक में—

*

वार्षिक ६) * एकप्रति ।।=)

'ज्ञानोदय' कार्यालय
भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

ज्ञानोदय पर अभिमत

डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र एम. ए० डी० लिट् –

"ज्ञानोदय का सम्पादन बड़ी योग्यता के साथ किया गया है और प्रायः सभी लेख उच्च कोटि के तथा पठनीय है।"

श्री ब्रजमोहन व्यास सम्पादक संगम इलाहाबाद–

"ज्ञानोदय अच्छे सजधज का पत्र है। लेख सभी विद्वत्तापूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि बहुत ठोक बजाकर पत्रिका के लिए लेख चुने जाते है।

श्री० रामसिंह तोमर एम० ए० इलाहाबाद–

ज्ञानोदय सुन्दर निकल रहा है। दोनों अंकों में कई गम्भीर लेख हैं, जो ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ चिंतन और अध्ययन के लिए उत्साहित करते हैं।"

अमर मुनिजी आगरा–

"ज्ञानोदय बहुत सुन्दर रूप लेकर आया है।"

श्री ब्र० छोटेलाल जी सा०–

"पत्र दार्शनिक एवं सांस्कृतिक सभी दृष्टियों से सर्वांग सुन्दर एवं महत्त्वशाली है।"

श्री महेन्द्र जी, सम्पादक साहित्य सन्देश आगरा–

"हिन्दी का यह अनुपम पत्र है और बड़ा ऊँचा आदर्श लेकर निकला है"

श्री वीरेन्द्रकुमार जैन एम० ए बम्बई –

"ज्ञानोदय का आयोजन अपूर्व सुन्दर है। भारतीय ज्ञान चिन्तना के आधुनिक विकासेतिहास में श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाला यह पत्र है। जैन तत्त्वदर्शन की व्याख्या का भी ऐसा मुक्त मौलिक उदार और जीवन्त स्वरूप पहिले कभी देखने को नहीं मिला। मुक्त भारत के संस्कृति-यज्ञ की यह वह्निशिखा बड़ी ही ऊर्जस्वल और जाज्वल्यमान है। आज नहीं कल भारत का समूचा मनीषिमण्डल इसकी महिमा और योगदान को एक स्वर से स्वीकार करेगा।"

श्री पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीना–

"इसके सभी लेख, सरस, सरल और आकर्षक हैं।"

श्री भुजबलि जी शास्त्री मूडबिद्री–

"समाज में ऐसे पत्रकी आवश्यकता थी।"

श्री बा० माई दयालजी बी० ए० बी० टी० देहली–

"ज्ञानोदय हर दृष्टि से उत्तम है। इसके प्रचार से भारत का बड़ा लाभ होगा।"

श्री दिवाकर साहु समीर देवघर–

"पत्र पत्रिकाओं की इस बाढ़ के युग में ज्ञानोदय एक नूतन कल्याण सन्देश लेकर आगे बढ़ा है, दलितों और शोषितों का समुचित प्रतिनिधित्व लेकर आया है, मानव कल्याण का एक महान् उद्देश्य लेकर उतरा है।"

श्री रिषभदास जी रांका जैनजगत वर्धा–

"सम्पादन सुरुचिपूर्ण ठोस और सामयिक है।"

श्री नारायण प्रसाद जी बी० एस० सी० साहित्य रत्न–

"ऐसा पत्र २४७५ वर्षों से निकलता आना चाहिए था।"

पं० परमेष्ठीदास जी न्यायतीर्थ–

"ज्ञानोदय अच्छा निकला। सामग्री का संकलन बहुत अच्छा हुआ है छपाई सफाई सुरुचिपूर्ण है। मन बहुत प्रसन्न हुआ।"

'ज्ञानोदय' के विषय में–

१. 'ज्ञानोदय' प्रत्येक माह के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित होता है।
२. पत्र-व्यवहार में अपनी ग्राहक संख्या अवश्य लिखिये।
३. किसी भी माह से ग्राहक बन सकते हैं।
४. आलोचनार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजनी चाहिए।
५. पत्र में शिष्ट साहित्यिक ही विज्ञापन लिए जाते हैं।
६. श्रमण संस्कृति के तत्त्वो को व्यवहारोपयोगी बनाने के लिए तत्सम्बन्धी शंकाओंका समाधान भी यथासंभव किया जायगा। पाठक शंकाएँ सम्पादक को भेज सकते हैं।

*

'ज्ञानोदय' की सेवा आप तीन प्रकार से कर सकते हैं–

१. उद्देश्य के अनुकूल लेख, कहानी, कविता आदि भेजकर।
२. स्वयं ग्राहक बनकर और अन्य बन्धुओं को बनाकर।
३. अपने बन्धुओं और मित्रों के बीच प्रचार करके।

*

श्री ऋषभदेव स्वामी आरवी

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

वर्ष १ * काशी, सितम्बर १९४९ * अंक ३

श्रमण संस्कृति

दशधर्म—

"उत्तमखम-मद्दवज्जव-सच्च-सउच्चं च संजमं चेव।
तवचागमकिंचण्हं वम्हा इदि दसविह होदि॥"

—बारस अणु० गा० ७०।

उत्तम, क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दस धर्म हैं।

१. उत्तम क्षमा—

"कोहुप्पत्तिस्स पुणो बहिरंगं जदि हवेदि सक्खादं।
ण कुणदि किंचि वि कोहं तस्स खमा होदि धम्मो त्ति॥"

—बारस अणु० गा० ७१।

क्रोध के बाहिरी कारणों के मिलने पर भी लेशमात्र क्रोध का उत्पन्न नहीं होना उत्तम क्षमा है।

२. उत्तम मार्दव–

"कुलरूवजातिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि।
जो ण वि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स॥"

–बारस अणु० गा० ७२।

जो श्रमण कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, श्रुत, शील आदि का घमंड नहीं करता, सदा कोमल वृत्ति रखता है उसके उत्तम मार्दव धर्म होता है।

३. उत्तम आर्जव–

"मोत्तूण कुडिलभाव णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो।
अज्जवधम्म तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण॥"

–बारस अणु० गा० ७३।

जो श्रमण कुटिलभावों को छोड़ कर निर्मल रूप से मन वचन काय की सरल प्रवृत्ति करता है उसके उत्तम आर्जव धर्म होता है।

४. उत्तम सत्य–

"परसंतावयकारणवयण मोत्तूण सपरहिदवयणं।
जो वददि भिक्खु तुरियो तस्स दु धम्मो हवे सच्चं॥"

–बारस अणु० गा० ७४।

दूसरे को दुःख देने वाले वचनों को न कहकर स्व और पर के हितकारक वचनों को बोलना उत्तम सत्य धर्म है।

५. उत्तम शौच–

"कंखाभावणिवित्ति किच्चा वेरग्गभावणाजुत्तो।
जो वट्टदि परममुणी तस्स दु धम्मो हवे सोच्चं॥"

–बारस अणु० गा० ७५।

आशा और तृष्णा को छोड़कर संसार से विरक्त हो आन्तरिक पवित्रता प्राप्त करना उत्तम शौच है।

६. उत्तम संयम–

"वदसमिदिपालणाए दंडच्चाएण इंदियजयेण।
परिणममाणस्स पुणो संजमधम्मो हवे णियमा॥"

–बारस अणु० गा० ७६।

जो श्रमण अहिंसा आदि व्रतों का पालन करता है, सावधानी से गमन भाषण भोजन आदि प्रवृत्तियां करता है, मन, वचन और शरीर को वश में रखता है, और इन्द्रियों को जीतता है उसके उत्तम संयम धर्म होता है।

७. उत्तम तप–

"विसयकसायविणिग्गहभावं काऊण झाणसज्झाए।
जो भावइ अप्पाणं तस्स तवं होदि णियमेण।"

–बारस अणु० गा० ७७।

विषय और कषायों को निग्रह करके ध्यान और स्वाध्याय से आत्मभावना करने वाले श्रमण के उत्तम तप धर्म होता है।

८. उत्तम त्याग–

"णिव्वेगतियं भावइ मोहं चइऊण सव्वदव्वेसु।
जो तस्स हवे चागो इति भणिद जिणवरिंदेहि॥"

–बारस अणु० गा० ७८।

जो समस्त बाह्य पदार्थों का मोह छोड़कर संसार, शरीर और भोगों से निर्लिप्त रहता है उसके उत्तम त्याग धर्म होता है।

९. उत्तम आकिञ्चन्य–

"होऊण य निस्सगो णियभावं णिग्गहित्तु सुहदुहदं।
णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्स किंचण्हं॥"

–बारस अणु० गा० ७९।

जो सुख दुःख देनेवाले राग द्वेष आदि द्वन्द्वों को भेद कर समस्त संग-परिग्रहों से मुक्त होता है उस आत्मभावनाशील निर्द्वन्द्व श्रमण के उत्तम आकिञ्चन्य धर्म होता है।

१०. उत्तम ब्रह्मचर्य–

"सव्वग पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुब्भाव।
सो बम्हचेरभावं सुक्कदि खलु दुद्धरं धरदि॥"

–बारस अणु० गा० ८०।

जो स्त्रियों के मोहक अंगों को देखकर भी दुर्भाव नहीं करके अखंड ब्रह्मचर्य में लीन रहता है उसके दुर्धर उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म होता है।

कुषाण युगका एक शिलालेख-

—डॉक्टर दिनेशचन्द्र सरकार

पटना म्युजियममें एक प्रस्तर मूर्तिके पादपीठपर तीन पंक्तिका एक लेख है। यह कुषाणकालीन अर्थात् प्रथम या द्वितीय ईसाई शताब्दीका लिखा गया प्रतीत होता है। १९४६ के दिसम्बर में पटना म्युजियम का परिदर्शन करते समय प्रख्यात ऐतिहासिक डॉक्टर रमेशचन्द्र मजुमदार साहबकी दृष्टि उस लेख पर आकृष्ट हुई, उन्होंने म्युजियमके अध्यक्ष श्री एस०ए०शेर साहबसे उस पादपीठकी प्राप्तिका विवरण और उस लेखकी एक सुपाठ्य प्रतिलिपि ले ली। उसके प्रकाशन की अनुमति भी मजुमदार साहबको मिल गई। लेख प्राप्तिका विवरण इतना ही है कि यह पादपीठ मथुरा से संगृहीत किया गया था। विवरण ठीक ही है, क्योंकि मथुरा कुषाण साम्राज्यका अन्यतम शासन केन्द्र था। वहाँसे कुषाण युगकी शिला, मूर्तियाँ इत्यादि बहुसंख्यक प्राचीन निदर्शन संगृहीत किये गये थे। डॉ० मजुमदारने कृपापूर्वक वर्णित शिलालेखकी प्रतिलिपि पाठोद्धार और प्रकाशनके लिये मुझे दी। उनके इस अनुग्रहके लिये मैं डॉ० साहबके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

लेखकी तिथि लिखी है-"१०+६ व० २ दि० १०+५।" इसका पूर्ण आकार इस प्रकार होगा--"संवत्सरे षोडशे वर्षामासि द्वितीये दिवस पंचदशे" अर्थात् "सोलह वर्षका वर्षा ऋतु, उसका दूसरा महीना, उसकी पन्द्रह तिथिमें"। यह संवत्सर निश्चित ही कनिष्क संवत्का वर्ष है। कनिष्क संवत्का सोलहवाँ वर्ष कुषाण वंशीय सम्राट् प्रथम कनिष्कके सोलहवें राज्य वर्षसे भिन्न नहीं है। अगर कनिष्क संवत् और ७८वें ईसाई वर्षसे प्रारंभ होनेवाले शक संवत्को एक मान लिया जाय तो उल्लिखित मथुरा लेखकी तिथि ९६ ईसाई वर्ष स्वीकार की जायगी। प्राचीन युगमें आषाढ़ी पौर्णमासीसे कार्तिकी पौर्णमासी तकके चार महीने वर्षा-ऋतुकी गणनामें आते थे। इसीलिए प्रतीत होता है कि यहाँ "वर दि १५" पूर्णिमान्त भाद्रपदकी अमावस्या तिथिको (या सौर भाद्रपदके पन्द्रहवें रोजको) सूचित करता है।

उस तिथिमें एक धार्मिक बौद्ध-जिसका नाम "रुद्र" था जो 'वायुसेन' का पुत्र था-के द्वारा निर्मित एक शिलामूर्तिकी प्रतिष्ठा हुई थी। रुद्र एक प्रावारिक (संभवतः कँबली बनानेवाला) था। शिलाप्रतिमा भगवान् बुद्धकी थी। उसकी

वर्णनामें लिखा है "भगवतो द्वितीयपुरुषस्य प्रतिमा।" डॉक्टर वेणीमाधव बरुवा साहबका विचार यह है कि यहाँ बुद्धको "भगवान्" और "अद्वितीय पुरुष" कहा गया है।

शिलालेखका पाठ–

पंक्ति १–सं० १० + ६ व० २ दि १० + ५ अस्यां पूर्व्वायं वायुसेनपुत्रस्य [रुद्रस्य]
२ प्रावारिकस्य भगवतो द्वितीयपुरुषस्य प्रतिमा प्रतिष्ठापिता माता [पि]–
३ [त्रो.......) राजनानं सर्वसत्त्वहितसुखार्थाय भव (तु)

शुद्धीकृत पाठ —

संवत्सरे १६ वर्षामासि २ दिवसे १५। अस्यां पूर्वायां (तिथौ) वायुसेन—पुत्रस्य रुद्रस्य प्रावारिकस्य भगवतः अद्वितीयपुरुषस्य (बुद्धस्य) प्रतिमा प्रतिष्ठा-पिता मातापित्रोः..परिजनानां सर्वसत्त्वहितसुखार्थाय भवतु।"

सागर पर पावस

देखो तो, पावस से आन्दोलित नीहार-छाये,
निःसीम सागर पर लहरों की तरंग-लीला।
दूर-दूर के साँवले, उजले जल-पटलों के पार
रह-रह कर उठते हैं ज्वारों के कोमल उभार,
अनायास के परस-से आकस्मिक, सिहर भरे;
उस धुन्ध की अथाह गहनता में, स्तब्ध सजल शून्यता में
जन्मान्तरों पार की सुधि-सी कोई लहर,
मानस-कन्या की गोरी बाँह के अबोध अवगाहन-सी
लहरा जाती धनुष-भंग करती-सी;
स्वप्न-द्वीपों की नीलाभ तनु अप्सरियाँ,
चैतन्य की चिर नवीना देव-कन्यायें,
आयु से अतीत आत्मा के आलोक-सागरों पर
जल-केलि रमतीसी, अन्तर के वातायन झलक जाती।

विगत, अनागत, आगत का काल-भेद
मिट जाता मन पर से,
लगता है कि जीवन है नव-जन्मों की एक अनाहत परम्परा;
नव-नवीन सृजनों के शत-दल खिलते हैं प्रत्येक अन्त के छोर से;
और फिर उनकी कर्णिका से बह उठता
नवीन का रस-राग-नृत्यमय प्रवाह;
नहीं है रे मरण यहाँ, नहीं वियोग यहाँ,
नहीं कोई रोग-शोक, नहीं कोई द्वंद्व-क्लेश;
वह सब है केवल इसलिये कि,
मन के वातायन खुले नहीं हैं अनन्त के समुद्रों पर!
देखो तो, इन कज्जल लहरों के हिल्लोलित भूधरों के पार;
इस तुमुल संघर्ष-लीला के उस पार, बहुत दूर, वृष्टि धारासार;
उस नीहार लोक की एकाकार तन्मयता में,
अनाविल तरलता में, निराकुल ऊर्मिलता में,
मुक्ति-रमणी के मृदुल ज्वारित उरोजों पर,
खेल रहा अनागत का शिशु आभामय,
अपनी मुस्कानों से नव-नवीन आशा की ज्योतियाँ बखेरता-सा!
देखो तो पावस से आन्दोलित, उन्मेषित,
नीहार-प्रच्छायित निःसीम सागर पर, लहरों की तरंग-लीला!

—वीरेन्द्रकुमार जैन

अशोक की धार्मिक नीति और आधुनिक युग–

–डॉ० राजबली पाण्डेय

प्राय: संसार में जितने धार्मिक सम्प्रदाय या पंथ हैं उनकी पारस्परिक नीति या व्यवहार को हम निम्नलिखित भागों में विभाजित करेंगे–

(१) अपने सम्प्रदाय या पंथ के विस्तार के लिये दूसरे पंथों या सम्प्रदायों का बलपूर्वक दमन और विनाश।

(२) यदि बल का प्रयोग न हुआ तो दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा, सूक्ष्म और गुप्त आलोचना करके उनके विनाश की चेष्टा।

(३) प्रलोभन दे कर या सोद्देश्य सेवा से प्रभावित कर दूसरे सम्प्रदायवालों को अपने सम्प्रदाय मे लाना और दूसरे सम्प्रदायों को क्षीण करना।

(४) अपने सम्प्रदाय के लिये अतिमान के साथ दूसरे सम्प्रदायवालों को तिरस्कृत कर उन्हें जीने की छूट देना।

(५) अपने सम्प्रदाय के लिये आग्रह के साथ दूसरे सम्प्रदायों के अस्तित्व को अनिच्छापूर्वक सहन करना।

(६) सभी सम्प्रदायों में परस्पर सहिष्णुता उत्पन्न करने का प्रयत्न करना, किन्तु साथ ही इस बात का मानसिक आग्रह रखना कि अपना पंथ सर्वश्रेष्ठ है।

(७) अपने सम्प्रदाय को श्रेष्ठ मान कर दूसरे सम्प्रदायों से उदासीन रहना या उनकी उपेक्षा करना।

(८) सभी सम्प्रदायों को देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार ठीक समझना और उनकी समता स्वीकार करना।

(९) सभी सम्प्रदायों के मूल भूत और तात्त्विक अंगों पर जोर देकर उन सभी की एकता स्वीकार करना और धार्मिक जगत् में सद्भावना और सदाचरण का प्रचार करना।

अभी तक प्रथम सात प्रकार की नीतियों का ही अधिक प्रयोग हुआ है। अंतिम दो के लिये संसार के इतिहास में कभी कभी प्रयत्न हुए है। इसका कारण यह है कि जब धर्म को सम्प्रदाय, पंथ या संस्था का रूप मिलता है तब उसके साथ बहुत से पार्थिव स्वार्थ भी लग जाते है और सम्प्रदायों की अवस्था सांसारिक राज्यों जैसी हो जाती है। जो अपने अहंकार या स्वार्थवश निरंतर आपस में लड़ा करते है।

जिस तरह राजनैतिक जगत् में साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति चलती रहती है उसी प्रकार धार्मिक जगत् में भी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और प्रत्येक सम्प्रदाय संसार में अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित करना चाहता है। इसी प्रवृत्ति के कारण संसार धार्मिक संघर्ष और अत्याचार से त्रस्त रहा है।

बहुत से पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि आज से लगभग २३ सौ वर्ष पूर्व एक बहुत बड़े राजनैतिक सम्राट् ने साम्प्रदायिक साम्राज्य के विघटन का प्रयत्न किया; बल और प्रलोभन के द्वारा नहीं; किन्तु शान्तिमय उपायों द्वारा—लोकहित और लोक-मंगल के द्वारा। वह सम्राट् था अशोक। उसकी धार्मिक नीति का परिचय उसीके अमर शब्दों में नीचे दिया जाता है :

मूल पालि	हिन्दी भाषान्तर
(१) देवानं पियो पियदसि राजा सवत इछति सवे पासंडा वसेयु। सवे ते सयमं च भावसुधि च इछति। जनो तु उचावचरागो ते सर्व च कासति एकदेसं व कंसति। विपुले तु पि दाने यस नास्ति सयमे भावसुधिता व कतंञता व दढभतिता च निचा बाढं। (अशोक का सप्तम शिला-लेख)	देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहते हैं कि सर्वत्र सभी सम्प्रदाय बसें। क्योंकि सभी सम्प्रदाय के लोग संयम और भावशुद्धि चाहते हैं। लोगों की (धार्मिक) इच्छा और अनुराग भिन्न भिन्न होते हैं; वे धर्म का सम्पूर्ण या आंशिक पालन करते हैं। जो बहुत दान नहीं कर सकता उसके लिये भी भावशुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़भक्ति नितान्त आवश्यक है।
(२) देवानं पिये पियदसि राजा सव पासंडानि च पवजितानि च घरस्तानि च पूजयति दानेन च विविधाय च पूजाय पूजयति ने। न तु तथा दानं व पूजा व देवानं पियो मंञते यथा किति (?) सारवढी अस सवपासंडानं। सारवढी तु बहुविधा। तस तस तु	देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा सभी सम्प्रदायों को, प्रव्रजित (सन्यासी) और गृहस्थों की पूजा दान और विविध प्रकार के आदर सत्कार से करते हैं। परन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा का उतना महत्त्व नहीं समझते जितना कि सब सम्प्रदायों में सार (तत्त्व) की वृद्धि का। सारवृद्धि बहुत प्रकार की होती है। किन्तु उसका मूल

इवं मूलं य वचिगुती; किं ति (?) आतपासंडपूजाव परपासंड-गरहा व नो भवे अपकरणम्हि लहुका व अस तम्हि तम्हि प्रकरणे। पूजेतया तु एव पर पासंडा तेन तेन प्रकरणेन। एवं करुं आतपासंडं च बढयति परपासंड स च उपकरोति। तदंञथा करोतो आतपासंडं च छणति परपासंडस च पि अपकरोति। यो हि को चि आतपासंडं पूजयति परपासंडं वा गरहति सवं आतपासंडभतिया; किंति (?) आतपासंडं दीपयेम इति; सो च पुन तथा करातो आतपासंडं बाढतरं उपहनाति। त समवायो एव साधु; किंति (?) अंञमंञस धमं स्रुणारु च सुसुसेर च। एवं हि देवानं पियस इछा किंति (?) सवपासंडा बहुस्रुता च असु कलाणागमा च असु। ये च तत्र तते प्रसंना तेहि वतटवं—देवानं पियो नो तथा दानं व पूजा व मंञते यथा किंति (?) सारवढी अस सव पासंडानं बहुका च। एताय अथाय व्यापता धंम महामाता इथीझखमहामाता च वच भूमिका

है वचन का संयम; वह है: लोग अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा न करें। दूसरे सम्प्रदायों की आलोचना हलकी और कभी कभी हो सकती है; और उन अवसरों पर भी उन्हीं प्रकरणों से दूसरे सम्प्रदायों का आदर करना चाहिये। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की वृद्धि और दूसरे सम्प्रदाय का उपकार होता है। ऐसा न करने से अपना सम्प्रदाय क्षीण होता है और दूसरे सम्प्रदायों का अपकार होता है। जो कोई अपने सम्प्रदाय की पूजा और दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा करता है वह अपने सम्प्रदाय के प्रति भक्ति के कारण; वह समझता है कि वह अपने सम्प्रदाय को प्रकाशित करेगा, परन्तु ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय को वह बड़ी हानि पहुंचाता है। ऐसी परिस्थिति में समन्वय साधु (अच्छा) है। वह क्या है? एक दूसरे के धर्म को सुनना और उसकी सेवा। देवताओं के प्रिय ऐसा चाहते हैं कि सभी सम्प्रदायवाले बहुश्रुत हों और कल्याण को प्राप्त करें। जहां जो सम्प्रदायवाले हों उनसे कहना चाहिये: देवताओं के प्रिय दान और पूजा को इतना बड़ा नहीं मानते हैं जितना इस बात को कि सभी सम्प्रदायों में सारवृद्धि हो। इस काम के लिये बहुत से धर्म महामात्र, स्त्र्यध्यक्ष

च अञे च निकाय। अयं च एतस फलं य आत पासंडवढि च होति धंमस च दीपना।

(अशोक का द्वादश शिला-लेख)

और व्रजभूमिक और दूसरे बहुत से कर्मचारी नियुक्त किये गये हैं। इसका फल यह है कि इससे अपने सम्प्रदाय की वृद्धि होती है और धर्म का प्रकाश होता है।

यदि अशोक के उपर्युक्त शिला-लेखों का विश्लेषण किया जाय तो उनसे निम्नलिखित बातें स्पष्ट हो जाती हैं--

(१) सभी सम्प्रदायवालों को सर्वत्र बसने का पूर्ण अधिकार था।

(२) संयम और भावशुद्धि को धर्म का सर्वतोनिष्ठ अंग अशोक मानता था।

(३) वस्तुदान से भावना का संस्कार वह अधिक आवश्यक मानता था।

(४) वह सभी सम्प्रदायो की दान और आदर से पूजा करता था।

(५) सभी सम्प्रदायों मे सारवृद्धि का वह प्रयत्न करता था।

(६) उसके विचार में सारवृद्धि का मूल वचन-संयम है।

(७) वह चाहता था कि लोग अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करे। किन्तु अवसर पर दूसरे सम्प्रदायों का लोग आदर और पूजा करे।

(८) अशोक सभी सम्प्रदायों के समन्वय में विश्वास करता था और चाहता था कि लोग बहुश्रुत होकर एक दूसरे के धर्म का अध्ययन करें और उसको समझें।

(९) अशोक अपनी धार्मिक नीति निर्धारित करके चुप नहीं बैठा था; उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिये उसने उचित व्यवस्था भी की।

संसार के धर्मों और सम्प्रदायों का पारस्परिक व्यवहार अब भी वांछनीय से बहुत दूर है। उनमें आज भी परस्पर भेद, वैमनस्य, द्वेष, कलह और संघर्ष चल रहे हैं। यह रोग पुराना होते हुए भी बना हुआ है। अशोक के उपर्युक्त शब्द काफी पुराने है, परन्तु उनमें सत्य सनातन है। धार्मिक रोग के वे आज भी महौषध हैं।

---००---

पर्यूषण पर्व–

–श्री हुकुमचन्द्र बुखारिया 'तन्मय'

यह पर्यूषण पर्व गर्व मानव-समाज का !
प्राणी पाकर धन्य गतागत और आज का !!

(१)

जीवन है, उत्थान-पतन का क्रम चलता है,
प्रायः द्वन्द्वों–द्विविधाओं में मन पलता है;
कितने ही प्रण-कर सँभालते झोंके, फिर भी
संयम-दीपक बुझता कभी, कभी जलता है !

अन्तरात्मा से उठते प्रायः ही सत् स्वर,
लेकिन मानव है कि न सुनता उनको नश्वर !
हृत्-तंत्री के तार सदा शुभ ही झंकृत पर
मानव है कि उन्हें विकृत करने को तत्पर !!

जीवन-वीणा, प्राण - वाद्य प्रायः जब यों ही
लक्ष्य-भ्रष्ट होते रहते तो भाद्रमास में
यह पर्यूषण पर्व पुनः आता नव गतिमय
ज्यों स्वर-साधक मानवता के भग्न साज का !
यह पर्यूषण पर्व गर्व मानव-समाज का !!

(२)

जब बहाव पर धार, नाव डगमग होती हो,
सबल शिलाएं, मांझी की आत्मा होती हो;
पश्चिम से प्रतिकूल प्रभंजन जब उठते, तब
क्या माँझी, क्या नाव मूढ़, मति-गति खोती हो !

वैभव-मदिरा की मात्रा जब इतनी बढ़ती;
चकित, चेतना-लुप्त, आँख ऊपर को चढ़ती;
अपनेपन की परिभाषा जो अय से अंकित,
उस तक को काया अशुद्ध सभ्रम जब पढ़ती।

निर्ममता ममता की छाती पर हँसती जब,
राग-छुरी जन-मन के अन्तस् में धँसती जब;
जीवन की प्रत्येक धर्म - संगत चेष्टा को
उच्छृंखलता-नागिनि निर्लज्जित डँसती, तब

यह पर्यूषण पर्व चेतना का चाबुक ले,
आता है प्रतिवर्ष कि मानव अब भी सँभले!
घायल घुटने टेके जो चेतन जड़ के प्रति,
वह चेतन फिर एक बार साहस से मचले!!

तीव्र विषमता व्याप्त, व्यवस्था छिन्न-भिन्न-सी,
अनगिन प्राणी मुक्त-देह प्रतिवर्ष क्षुधित-जी;
अबलाऐं, रक्ताश्रु बहातीं, धरती गीली,
लाल देह हो जाती मुर्दा पीली-पीली!

और दूसरी ओर घृणित ताण्डव विलास का,
गूँज-गूँज उठता रव शोषण-अट्टहास का;
मार्दव, आर्जव, सत्य, क्षमा, तप की अमान्यता,
राग, द्वेष, व्यभिचार, परिग्रह, शौच-शून्यता,
ये घिनावने घाव, कोढ़ के दाग धरा पर,
ये कलंक के चिह्न मनुज की परम्परा पर!
इनको ढँकने को ही आता पर्व पुरातन
अवगुंठन-सा मानवता की नग्न लाज का!
यह पर्यूषण पर्व गर्व मानव-समाज का!!
प्राणी पाकर धन्य गतागत और आज का!!!

—००—

भारतीय संस्कृति की आत्मकथा–

–पण्डित इन्द्रचन्द्र एम. ए.

---

[२]

गुणपूजा–

ब्राह्मणसंस्कृति व्यक्तिपूजा में विश्वास करती है। प्रशंसा या उसके साथ गुणों का संबंध तो पूजा की एक विधि है। उसे सर्वगुणसंपन्न बनाकर स्तुति की जाती है किंतु गुणों के कारण किसी की स्तुति नहीं की जाती। जिस समय अग्नि की पूजा की जाती है, अग्नि सर्वशक्तिमान् है और जिस समय विष्णु की पूजा होती है उस समय विष्णु सर्वश्रेष्ठ बन जाता है। शुनःशेपाख्यान में शुनःशेप को किस प्रकार सभी देवताओं के पास भटकना पड़ता है यह इसका अच्छा निदर्शन है। महाभारतकाल में जब प्राकृतिक देवताओं का स्थान ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि पौराणिक देव ले लेते हैं तो सभी देवता मिलकर कभी शिव की स्तुति करते है और कभी शिव ब्रह्मा या सरस्वती के चरणों मे लोटते हैं। वहाँ व्यक्ति अपने में पूज्य है। गुणों के कारण पूज्य नहीं है। ब्राह्मण इसीलिये पूज्य है क्योंकि वह ब्राह्मण है। यदि वह सदाचार रहित है तब भी वह पूज्य है। इसी व्यक्ति पूजा के कारण कृष्णभक्तिके नामसे दुराचार भी फैला। वहाँ भगवल्लीला पर समालोचना करने का अधिकार मनुष्य को नहीं है।

इसके विरुद्ध श्रमण-संस्कृति गुणों को महत्त्व देती है, व्यक्ति को नहीं। जैन परंपरा में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया जाता है किन्तु उनमें कोई व्यक्ति विशेष नहीं लिया जाता। उन सभी महापुरुषों को नमस्कार किया जाता है जिन्होंने अपना सारा जीवन स्वपरकल्याण में लगा दिया है या जो लगा रहे हैं। बौद्ध परंपरा में उस आत्मा को नमस्कार किया जाता है जिसने प्रकाश प्राप्त कर लिया है। "बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि" में किसी व्यक्ति विशेष की शरण नहीं ली गई है। श्रमण परंपरा में देव शब्द से दो प्रकार के व्यक्ति लिये जाते हैं–भौतिक संपत्ति वाले और आध्यात्मिक संपत्ति वाले। ब्राह्मण संस्कृति में प्रथम कोटि के देव ही आराध्य हैं। श्रमण संस्कृति में उनका कोई महत्त्व नहीं है। वे दूसरी कोटि के आध्यात्मिक संपत्तिवाले देवों के चरणों में लोटते हैं। इस कोटि का देवत्व भी किसी को जन्म से नहीं प्राप्त होता है। जो आत्मा

त्याग और तपस्या द्वारा विकासश्रेणी में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेती है वही पूज्य है। विकास की अंतिम अवस्था में पहुँच जाने के बाद परस्पर किसी भी प्रकार का भेद नहीं रहता।

पूजा का उद्देश्य भी भिन्न भिन्न है। ब्राह्मण पुजारी आराध्य को प्रसन्न करके उसकी कृपा द्वारा सुख साधन प्राप्त करना चाहता है। जैन पुजारी आराध्य को अपने हृदय में उतार कर उसके गुणों का आधान करना चाहता है। पहली परंपरा सामन्तशाही को जन्म देती है, दूसरी गुणपूजा को। पहली में "दीन हीन खल कामी" कहकर रोता है। दूसरी मे उसे आत्मीय समझ कर गौरव अनुभव करता है।

भगवान् महावीर के मुख्य शिष्य गौतम गणधर के अनेक शिष्य तथा प्रशिष्य कैवल्य प्राप्त करके मुक्त हो गये, किन्तु गौतम को भगवान् महावीर के व्यक्तित्व से मोह हो गया। इस कारण उन्हें तब तक कैवल्य प्राप्ति नहीं हुई जब तक मोह दूर नहीं हुआ। भगवान् महावीर का निर्वाण होने पर उनका मोह दूर हुआ, तभी कैवल्य प्राप्ति हुई। इस घटना से यह स्पष्ट होता है कि श्रमण परंपरा में व्यक्ति-पूजा का क्या स्थान है।

अहिंसा–

ब्राह्मणपरंपरा का आधार हिंसा है। मीमांसादर्शन का पहला सूत्र है–"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।" अर्थात् वेदों में जो विधि या निषेध किये गये है तदनुसार करना धर्म है। विधि के रूप में मुख्यतया यज्ञ है। यज्ञों मे बकरे से लेकर मनुष्य तक को बलि करने का विधान है। राजा हरिश्चन्द्रको इस शर्त पर पुत्र प्राप्ति होती है कि वह उसी पुत्र द्वारा यज्ञ करे। पुत्र मोह के कारण राजा हिचक जाता है। उसे कुछ रोग हो जाता है। अन्त में बलि देने के लिए एक भूखे ब्राह्मण के बेटे को खरीद लिया जाता है और उसके द्वारा यम देवता को प्रसन्न किया जाता है। अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि हमारे शत्रुओं के घर जला डाल। इन्द्र से प्रार्थना की जाती है कि अपने वज्र द्वारा शत्रुओं को मार डाले।

इसके विपरीत श्रमण-संस्कृति की नींव है अहिंसा। आचारांगसूत्र में भगवान् महावीर की घोषणा है–"जो अरिहंत हो चुके है, जो विद्यमान हैं, जो भविष्य में होंगे वे सब यही कहते है, यही बताते है, यही प्रतिपादन करते है और यही घोषणा करते है कि किसी प्राणी, भूत, जीव या सत्त्व को (छोटे मोटे किसी जीव को) न मारना चाहिये, न पकड़ना चाहिये और न कष्ट पहुँचाना चाहिये। यह

धर्म शुद्ध है, नित्य है, शाश्वत है। दुनिया को अच्छी तरह देखकर ज्ञानियों ने बताया है।"१

यहाँ खेयन्न अर्थात् खेदज्ञ शब्द ध्यान देने योग्य है। यह उस विचारधारा का अभिव्यंजक है जहाँ खेद और परिश्रम को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

छोटे मोटे सभी प्राणियों को कष्ट अप्रिय है, भयदायी है, सभी को जीवन प्यारा है, सुख अच्छा लगता है। दुःख प्रतिकूल है। वध अप्रिय है। जीवन प्रिय है २।

जिसको तुम कष्ट देना चाहते हो वह तुम जैसा ही है। जिसे मारना चाहते हो वह तुम जैसा ही है। जिसे सताना चाहते हो वह तुम जैसा ही है। जिसे तंग करना चाहते हो वह तुम जैसा ही है। ३

अहिंसा श्रमण संस्कृति की आत्मा है। गृहस्थ तथा मुनियों के लिये जितने व्रत या नियम बनाये गये हैं उनका मुख्य आधार यही है। असत्य, चोरी अब्रह्मचर्य परिग्रह आदि इसी लिये पाप हैं क्योंकि वे हिंसा को प्रोत्साहन देते हैं। यहाँ अहिंसा का स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

अहिंसा का स्वरूप–

प्रमाद के कारण द्रव्य तथा भाव-प्राणों को किसी प्रकार का आघात पहुँचाना हिंसा है।२ प्रमाद का अर्थ है कर्तव्यविस्मृति। प्रत्येक जीव का कर्तव्य है सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चरित्र रूप आत्मीय गुणों का विकास। जीव का अपने स्वभाव को भूल कर क्रोध आदि कषायों के वशीभूत होकर प्रवृत्ति करना प्रमत्त योग है। प्रमत्तयोग के द्वारा किसी को कष्ट पहुँचाना हिंसा है। इसके दो भेद हैं–द्रव्यहिंसा और भावहिंसा। किसी को कष्ट पहुँचाना या मारना द्रव्य-हिंसा है। दूसरे के प्रति मन में बुरे विचार आना भावहिंसा है। श्रमण परंपरा में भावहिंसा के त्याग पर विशेष जोर दिया गया है। जब मनुष्य असत्य बोलता है, चोरी करता है या अन्य किसी प्रकार की कुप्रवृत्ति करता है तो उसकी आत्मा में अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार वह दूसरे की हिंसा करने से पहले अपनी

---

(१) "जे य अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवन्तो सव्वे ते एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पन्नवेंति, एवं परूवेंति सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेत्तव्वा, न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे नितिए सासए। समेच्च लोगं खेयन्नेहिं पवेइए।"–आचा० १।४।१।

(२) आचारांग १।१।६।

(३) आचारांग १।३।३।

हिंसा करता है। इसलिए किसी के प्रति राग या द्वेष आदि का उत्पन्न न होना ही अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना हिंसा है। यही आगमों का सार है। जो व्यक्ति अपने आत्मविकास रूपी कर्तव्य की उपेक्षा नहीं करता, राग और द्वेष में नहीं पड़ता, उसके हाथ से यदि प्राणिवध हो भी जाय तो भी हिंसा नहीं मानी जाती। इसके विपरीत जो व्यक्ति रागादि के अधीन हो जाता है उसके हाथ से जीव मरे या न मरे, हिंसा उसके आगे दौड़ती ही रहेगी। जो व्यक्ति सकषाय होता है वह पहले स्वयं अपनी हिंसा करता है। इसके बाद दूसरे प्राणियों की हिंसा हो या न हो। हिंसा का त्याग न करना और हिंसा करना दोनों ही हिंसा में सम्मिलित है। इसलिये व्यक्ति जब तक रागादि के वश में रहेगा तब तक हिंसा होगी ही।

जो व्यक्ति बुरे विचार रखता है वह किसी को बिना मारे भी हिंसा के फल का भागी बनता है। दूसरे अर्थात् शुद्ध विचारों वाले व्यक्ति के हाथ से यदि कोई मर भी जाय तो वह हिंसा के फल का भागी नहीं होता। एक व्यक्ति कलुषित विचारों के कारण थोड़ी सी हिंसा द्वारा भी भयंकर फल प्राप्त करता है। दूसरा बहुत प्राणिवध होने पर अल्पहिंसा का फलभागी होता है। जैनशास्त्रों में इसके लिये तन्दुलमत्स्य का उदाहरण दिया जाता है—

स्वयम्भूरमण समुद्र में बहुत बड़े मत्स्य की पलकों पर एक चावल बराबर छोटा मत्स्य बैठा रहता है। वह देखता है कि बड़े मत्स्य के मुंह में अनेक छोटी बड़ी मछलियां आती हैं, कुछ निगली जाती हैं और कुछ बाहर निकल जाती हैं। जो मछलियां बाहर निकल जाती हैं उन्हें देखकर तन्दुल मत्स्य को क्रोध आता है और वह मन में सोचता है कि मैं इनमें से एक को भी बाहर न निकलने देता। किसी मत्स्य को निगलने की सामर्थ्य न होने पर भी केवल कलुषित परिणामों के कारण वह हिंसा के दारुण फल को प्राप्त करता है।

एक ही कार्य को दो व्यक्ति करते हैं। एक को हिंसा का तीव्रफल प्राप्त होता है, दूसरे को मन्द। एक व्यक्ति किसी को मारता है। उस कार्य का अनुमोदन करने वाले स्वयं हिंसा न करने पर भी हिंसाफल के भागी होते हैं। राजाज्ञा से शत्रुसेना का नाश करने वाले सैनिक वध करने पर भी फल के भागी नहीं होते। फल का भागी राजा होता है। डाक्टर रोगी के जीवन को बचाना चाहता है किन्तु उसके हाथ से रोगी यदि मर जाय तो वहां हिंसा का फल भी अहिंसा होगा। कलुषित विचार होने पर यदि मरता हुआ आदमी बच जाय तो भी हिंसा का दोष लगेगा।

इन सब बातों से यह स्पष्ट होता है कि हिंसा का मूल आधार क्या है। ऐसी दशा में श्रमण संस्कृति पर जो कायरता या अकर्मण्यता का आरोप किया जाता है

वह निराधार सिद्ध हो जाता है। वीर या कर्मठ व्यक्ति के लिये बुरे या क्रूर विचारों का होना आवश्यक नहीं है प्रत्युत क्रोध आदि का दुर्बलता तथा कायरता के साथ विशेष सम्बन्ध है। महात्मा गाँधी द्वारा अहिंसा का प्रत्यक्ष उदाहरण उपस्थित किये जाने के बाद तो ऐसे प्रश्नों का समाधान पिष्टपेषण ही है। दशवैकालिक सूत्र में अहिंसक का जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण रहना चाहिये इस बात को स्पष्ट कर दिया है। वहाँ पूछा गया है—

> 'कहं चरे कहं चिट्ठे, कहमासे कहं सए।
> कहं भुञ्जंतो, भासंतो, पावकम्मं न बंधइ॥

अर्थात्—मनुष्य किस प्रकार चले, किस प्रकार ठहरे, किस प्रकार बैठे और किस प्रकार सोये, किस प्रकार खाये और किस प्रकार बोले जिससे पाप कर्म का बन्ध न हो।

उत्तर में कहा गया है—

> 'जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
> जयं भुञ्जन्तो भासन्तो, पावकम्मं न बंधइ॥'
>
> —दश व० ४—६, ७

अर्थात्—मनुष्य सावधान होकर चले, सावधान होकर ठहरे, सावधान होकर बैठे, सावधान होकर सोये, सावधान होकर खाये और सावधान होकर बोले फिर पापबन्ध नहीं होगा।

इस प्रकार अहिंसा धर्म प्रवृत्ति को नहीं रोक सकता। किन्तु कुप्रवृत्ति या असावधान प्रवृत्ति को रोकता है। किसी महान् उद्देश्य को लेकर चलने वाले कर्मठ व्यक्ति के लिये यहाँ पर्याप्त क्षेत्र है।

स्याद्वाद—

नैतिक दृष्टि से अहिंसा का ही फलरूप स्याद्वाद है। किसी को झूठा कहना उसके विचारों की हिंसा है। इसलिये उसे झूठा न कहकर उसके दृष्टिकोण तथा परिस्थिति को समझने का प्रयास करना चाहिये। इसे बौद्धिक अहिंसा कह सकते हैं। प्रत्येक वस्तु में अनन्त धर्म हैं। कोई किसी की विवक्षा करता है कोई किसी की। इसलिए विवक्षाभेद से कथन की जाँच करनी चाहिये।

अपरिग्रह—

ब्राह्मण संस्कृति में सचय या संग्रह को जीवन का ध्येय माना गया है। यज्ञ, देवताओं की स्तुति तथा दूसरे सभी वैदिक कर्म धन धान्य आदि की

प्राप्ति और संग्रह के लिये किये जाते हैं। वहाँ दूसरों का स्वत्व छीन कर भी अपना घर भरने की प्रार्थना की गई है।

श्रमण-संस्कृति इसके विपरीत है। वहाँ अपरिग्रह को लक्ष्य माना है। मनुष्य जितना अधिक संग्रह करता है उतना ही उसमें लिप्त रहता है। इस प्रकार उसका आत्मविकास रुक जाता है। साथ मे वह दूसरों का अधिकार भी छीनता है। संसार मे वैषम्य और अशान्ति का कारण परिग्रहबुद्धि है। भगवान महावीर ने इसके त्याग पर बहुत जोर दिया है। इसी कारण उनका दूसरा नाम निर्ग्रन्थ पड़ गया था। वे गाँठ बाँध कर कुछ न रखते थे। आवश्यकतानुसार खाया पिया और आत्मचिन्तन में लीन हो गये। महावीर ने पहले पहल विश्व को यह सन्देश दिया था कि अशान्ति का कारण है परिग्रह या गाँठ बाँधना। जो मनुष्य गाँठ खोल देता है वह न तो स्वयं दुखी हो सकता है और न किसी दूसरे के दुःख का कारण बनता है।

अहिंसा के समान अपरिग्रहवाद में भी द्रव्य की अपेक्षा भाव को विशेष महत्त्व दिया गया है। वस्तुओं का संग्रह करना द्रव्यपरिग्रह है किन्तु उनमें आसक्ति रखना, उनको अपनी समझना, दूसरे को उनके उपयोग से वंचित करना भावपरिग्रह है। एक व्यक्ति कुआँ बनवाकर सबको पानी पीने देता है तो वह सार्वजनिक सेवा है। किंतु यदि वह उस पर आधिपत्य जमाकर बैठ जाता है और दूसरों को पानी पीने से रोकता है तो यह परिग्रह है।

अपनी आवश्यकताओं को घटाते जाना भी अपरिग्रह व्रत है। परिग्रह से मनुष्य पराधीन होता है अपरिग्रह से स्वाधीन। इस कारण भी श्रमण-संस्कृति में अपरिग्रह पर जोर दिया है।

स्वावलम्बन–

ब्राह्मण संस्कृति परावलम्बन पर निर्भर है। वहाँ दुःखों से उद्धार और सुखों की प्राप्ति के लिये ईश्वर या अन्य देवी देवताओं की शरण में जाना पड़ता है। श्रमण-संस्कृति का आधार स्वावलम्बन है। वहाँ व्यक्ति को अपना उद्धार करने के लिये परमुखापेक्षी नहीं बनना पड़ता। जीव स्वयं विकास करता है। अपने भले और बुरे के लिये स्वयं उत्तरदायी है। भगवान् कह रहे हैं–

"पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?

–आचारांग १-३-३।

"अरे पुरुषो ! तुम स्वयं अपने मित्र हो। अपने को छोड़ कर अन्य मित्र कहाँ ढूंढ़ रहे हो।"

ब्राह्मण संस्कृति में पुरुष देवताओं का गुलाम है। उनके क्रोध से कांप उठता है। उनकी कृपा पर फूल जाता है। किंतु श्रमण-संस्कृति कहती है कि यदि तुम्हें किसी से भय है तो वह अपनी भूलों से। यदि तुम सावधान होकर चलो तो किसी से भय नहीं है।

"सव्वओ पमत्तस्स भयं सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं।" –आ० १–३–४

यह वाक्य कर्मठ व्यक्तियों को एक ओर सावधान करता है, दूसरी ओर उनमें साहस का संचार करता है।

"आत्मा में अनन्त बल है, अनन्त ज्ञान है, अनन्त सुख है। दुर्बलता की भावना छोड़ कर अपनी शक्तियों को प्रकट करो। कर्मरूपी आवरण को फाड़ डालो। वीर वही है जो कामभोगों में नहीं फंसता। पाप नहीं करता। आत्म स्वभाव मे लीन है। जो त्याग और तपस्या के परिश्रम को पहिचानता है। यही श्रमण संस्कृति का उपदेश है।

निःश्रेयस–

ब्राह्मण संस्कृति में अभ्युदय अर्थात् भौतिक उन्नति की ओर विशेष लक्ष्य है। श्रमण संस्कृति निःश्रेयस अर्थात् आत्मकल्याण पर जोर देती है। मीमांसादर्शन मोक्ष को नहीं मानता। जितने नित्य नैमित्त कर्मों का विधान किया गया है सभी का फल भौतिक कामनाओं की पूर्ति है। किसी का फल इस जन्म में प्राप्त हो जाता है, किसी का दूसरे जन्म में। किन्तु उनसे शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं होती। गीता में इसी के लिये कहा है :—

"ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

भर्तृहरि ने अपने वैराग्यशतक में यज्ञ याग आदि को वणिग्वृत्ति कहा है। कुछ देकर उसके बदले में थोड़ा अधिक ले लेना वणिग्वृत्ति ही है। इसलिये वहाँ आत्मसुख पर जोर दिया गया है। श्रमणसंस्कृति की पहली शर्त है :—कामभोगों से विरक्ति।

"कहं नु कुज्जा सामण्णं जे कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो संकप्पस्स वसं गओ॥" –दशवै २–१

जो व्यक्ति कामभोगों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता वह श्रमण कैसे होगा? विविध प्रकर की इच्छाओं के अधीन होकर वह तो पद पद पर दुखी होता रहेगा।

जैन बौद्ध दर्शन में मोक्ष भी आत्मा के पूर्ण विकास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अहिंसा, त्याग, अपरिग्रह, आदि अपने में सुख है। उनसे स्वर्ग में जाकर विशेष प्रकार के सुखों की कल्पना श्रमण संस्कृति के प्रतिकूल है।

साम्यवाद–

ब्राह्मण संस्कृति जन्मकृत वैषम्य को लेकर चलती है। श्रमण संस्कृति उसे नहीं मानती। वहाँ मनुष्य ही नहीं सभी प्राणियों को विकास का समान

अधिकार प्राप्त है। जन्म से न कोई शुद्र है, न कोई ब्राह्मण। जैसे जिसके कर्म होते हैं वह उसी नाम से पुकारा जाता है। हरिकेशी मुनि जन्म से चाण्डाल होने पर भी मुनि होकर सभी के पूज्य बन गये।

"से असइं उच्चागोए, असइं नीचागोए नो हीणे नो अइरित्ते।"

—आचारांग १–२–३

न तो उच्च गोत्र है, और न नीच गोत्र है। इसलिये न कोई छोटा है न कोई बड़ा।

कर्तव्य की प्रधानता—

ब्राह्मण संस्कृति फलप्रधान है। वहाँ प्रत्येक कर्म के लिये फल की मुख्यता रहती है। श्रमण संस्कृति कर्तव्य को अधिक महत्त्व देती है। वहाँ कर्तव्य अपने आप में फल है। एक व्यक्ति धन या अन्य किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिये रोगी की सेवा करता है तो उसे फलप्रधान कहा जायगा। यदि उसका ध्येय केवल रोगी को रोग से मुक्त करना है, इसके अनन्तर वह कुछ नहीं चाहता तो उसे कर्तव्यप्रधान कहा जायगा। यदि दान इस लोक या परलोक में प्रतिदान की अपेक्षा रख कर दिया जाय तो वह फलप्रधान होगा। यदि किसी कर्म या व्यक्ति के लिये सहायतामात्र ही उसका लक्ष्य है तो वह कर्तव्यप्रधान है। श्रमणसंस्कृति में आत्म सुधार अपने आप में फल है। उसके लिये फलान्तर की अपेक्षा नहीं है।

एक श्रमण प्राणिमात्र की सेवा किसी प्रतिदान के लिये नहीं करता। आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक दुखों से संतप्त जनता का उद्धार करना वह अपना कर्तव्य मानता है। इससे उसकी आत्मा को सन्तोष प्राप्त होता है। त्याग, तपस्या आदि का भी यही फल है उनसे आत्मशुद्धि होती है, उनसे बल प्राप्त होता है और एक प्रकार का आत्मसन्तोष होता है।

—क्रमशः

———————

रे मन तेरी को कुटेव यह

-प्रो० राजकुमार जैन साहित्याचार्य

संसार की सृष्टि में मनुष्य के लिए उसका मन एक अजीब पहेली है। वह अपने मन की उन निगूढ़ वृत्तियों का जो अप्रत्याशित रूप मे उदित होकर अपनी रूप-राशि से प्रतिक्षण उसे आश्चर्यचकित करती रहती है, कोई ठीक बोध नहीं कर पाता है। एक क्षण उसका मन सहज सुन्दर सुर-बालाओं के साथ विहार करना चाहता है तो दूसरे ही क्षण उनका नेत्रहारी नृत्य देखना चाहता है। किसी क्षण उसके मनमे अत्यन्त सुन्दर भोजन की चाह जागृत होती है तो दूसरे ही क्षण वह नमकीन और चटपटे भोजनकी इच्छाके रूपमे परिवर्तित होकर उपस्थित होती है। किसी क्षण वह नन्दनकानन के कुसुमित पारिजातों के प्रसूनों की सुगन्ध से अपने सर्वाङ्ग को सुवासित करना चाहता है, तो द्वितीय क्षण श्रुति-मधुर स्वर्गीय संगीत की स्वर-लहरी मे अपने को भूल जाना चाहता है। इस प्रकार की एक नहीं अनेक भावनाएं उसके मन में नवीन नवीन रूप लेकर प्रति-क्षण आती रहती है। पर विचारा मानव इतना असहाय है कि वह अपनी इस चाह-दाह को कभी भी उपशान्त नहीं कर पाता है। कदाचित् किसी चाह की पूर्ति हो भी जाती है, तो अन्य चाहे सामने खड़ी रहती है और वे स्वयं मे पूर्णता पाने के लिये उसे व्यग्र किया करती है। फल यह होता है कि उसका जीवन आकुलताओं से संकुल हो जाता है और विवेक साथ नहीं देता। भोले मानव के लिए अपने मन की यह बेवसी बुरी तरह कसकती है। वह अनादिकाल से इस कसक का अनुभव करता आ रहा है, पर मानव की चिरन्तन ससारी दृष्टि इसका प्रतिकार नहीं सोच पाती।

जिन्होंने जीवन को खूब बारीकी से देखा है, उसकी विविध वृत्तियो का कुछ गहरे मे उतर कर अनुशीलन किया है, जीवन के इन कुशल कलाकारों ने मन की इस अजीव पहेली को खूब ही सजीव शैली में सुलझाया है। हमारे कलाकार पं० दौलतरामजी इन्हीं कलाकारों की कोटि के थे। जब उनके सामने मानव मनकी यह पहेली आई तो उन्हें इसका रहस्य निगूढ़ न रह सका। वे सोचने लगे--वह क्या वस्तु है जिसके कारण मानव जीवन इतना बोझिल और त्रस्त बना हुआ है और तुरन्त समझ गए कि इस चीज का एक ही कारण है कि मानव का अपने मन

पर अङ्कुश रखने की ओर अब तक ध्यान नहीं गया है। यदि मनुष्य ने कभी इस ओर जरा भी ध्यान दिया होता तो उसे अपनी इस चाह-दाह और कसक का कुछ न कुछ रहस्य अवश्यमेव समझ में आया होता। फलतः वह अपने आत्मीय शान्ति-लाभ के लिए थोड़े बहुत रूप में अवश्य अग्रसर हुआ होता।

हमारे कलाकार ने मन की इस कुटेव-कुप्रवृत्ति को खूब बारीकी से परखा है। इतना ही नहीं मन की इस 'कुटेव' पर उनके मन में क्रोध भी हो आया है। यह क्रोध साधारण क्रोध नहीं है। इसमें भर्त्सना और तिरस्कार का मिश्र भाव छिपा हुआ है। मन की इस 'कुटेव' का खयाल करते करते जब रोष से उनका दिल भर जाता है तो उसे व्यक्त करने के लिए उनकी वाणी सतेज हो उठती है। और वह इतनी सतेज हो जाती है कि उसका संगीत विश्व भर में व्याप्त हो जाता है और वह विश्व के मानव मन को इस प्रकार ललकारने लगता है :-

"अरे मन, तूने यह क्या खोटी प्रकृति बना ली है जो तू सदा ही इन्द्रियों के विषयों के पीछे दौड़ता रहता है। क्या तुझे मालूम नहीं है कि तू अनादिकाल से इन इन्द्रिय-विषयों के अधीन होकर अपने स्वातन्त्र्य-सुख से वञ्चित हो रहा है और कभी भी आत्म-साक्षात्कार नहीं कर सका है। अरे, यह इन्द्रिय-विषय, क्या तुझे मालूम नहीं है? कितने पराधीन, क्षणक्षयी आकुलताओं से घिरे हुए और दुर्गतियों में दुख देने वाले हैं।

देख, एक स्पर्शन इन्द्रिय के विषय से हाथी गड्ढे में गिरता है और कितने कष्ट उठाता है? इसी तरह उस मछली का हाल नहीं मालूम है जो रसना इन्द्रिय के लालच से कांटे में अपना गला फंसाती है और अपने प्राणों की बलि कर डालती है। उस भौंरे की भी दशा तुमसे छिपी नहीं है जो कमल की सुगन्ध के लोभ से उस पर मंडराता है और उसी में बन्द होकर बड़े संकट में अपने प्राणों की आहुति दे डालता है। नेत्र इन्द्रिय के वश दीप-शिखा में पतङ्गों को भस्म होते तो तुम प्रतिदिन देखते ही हो। और कर्ण इन्द्रिय के वश संगीत-स्नेही हिरणों को व्याधों के हाथ जीवन समर्पित करते हुए भी तुमने देखा ही है। अरे मन, यह सब जानते-समझते हुए भी तुम्हारी सदैव इन्हीं इन्द्रिय विषयों में तल्लीन रहने की यह खराब आदत क्यों पड़ गई है?

अरे मन, तू क्या इन इन्द्रिय विषयों से अब तक नहीं अघाया है, अब तक त्रस्त नहीं हुआ है? अरे, छोड़ अब इस माया-जाल को। श्री गुरु महाराज का उपदेश है कि अब तू उस रास्तेसे चल जिस रास्ते श्री जिनराज, जिन्होंने इन इन्द्रिय-विषयों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, गए हैं। जिनराज की उपासना और उनका पवित्र आदर्श ही तेरा कल्याण कर सकता है।

कवि की संगीतमय वाणी सुनिए :—

रे मन तेरी को कुटेव यह,
करन-विषय में धावै है।　　　　रे मन० ॥
इनही के वश तू अनादि तें,
निज स्वरूप न लखावै है।
पराधीन छिन छीन समाकुल, दुरगति विपति चखावै है। रे मन० ॥१॥
फरस विषय के कारन बारन, गरत परत दुख पावै है।
रसना इन्द्रीवश झष जल में, कंटक कठ छिदावै है। रे मन० ॥२॥
गन्ध-लोल पंकज मुद्रित में, अलि निज प्रान खपावै है।
नयन विषय वश दीपशिखा में, अंग पतंग जरावै है। रे मन० ॥३॥
करन विषयवश हिरन अरन में, खल कर प्रान लुनावै है।
'दौलत' तज इनको जिनको भज, यह गुरु सीख सुनावै है।
रे मन तेरी को कुटेव यह, करन विषय में धावै है ॥४॥

पाठक देखेंगे, कविने मन की 'कुटेव' और उसके दुष्परिणामों का कितना यथार्थ चित्र खींचा है। चित्र एक दम स्वच्छ, सुन्दर और अपने में सम्पूर्णतया निखरा हुआ है। चित्रकार को चित्रित करने में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ। ऐसा मालूम देता है जैसे वह चित्र उसकी संगीत-लेखनी में पहले ही से पूर्ण रूप में चित्रित पड़ा हुआ हो और उसके एकबार के प्रयोग में ही वह पूर्ण रूप से तुरन्त प्रकट हो गया हो।

"पराधीन छिन छीन समाकुल, दुर्गति विपति चखावै है।"

इस वाक्य के सुनते ही कुन्दकुन्द आचार्य की वह माङ्गलिक वाणी स्मृति में आ जाती है, जिसमें उन्होंने बतलाया है :—

"सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदियेहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥"

अर्थात् इन्द्रिय सम्बन्धी सुख पराधीन है, बाधा सहित है, विनाशी है, बन्ध का कारण है और विषम है, इस प्रकार इसे सुख नहीं, बल्कि दुख ही कहना चाहिए।

मानव का वास्तविक हित मन की इस तथोक्त 'कुटेव' दूर होने में है। और यह 'कुटेव' तब तक दूर नहीं हो सकती, जब तक उसे कलाकार जैसी सुलझी हुई अन्तर्दृष्टि की उपलब्धि नहीं होती। पर कलाकार निराश नहीं है। संकड़ों वर्ष पूर्व सुनाया गया उसका स्वर्गीय संगीत अनन्त आकाश में गूंजता हुआ न मालूम कब तक मानव के अबोध मन को प्रतिबोध देता रहेगा कि :—

"रे मन तेरी को कुटेव यह, करन विषय में धावै है। रे मन।

श्रमण-संस्कृति–

—प्रो० विमलदास जैन 'कौन्देय' एम० ए०

मनुष्य स्वभावतः उच्छृङ्खल होता है। इसको नियमित करने के लिये धर्म, राजनीति, समाजशास्त्र, संस्कृति आदि प्रयोग में लाये जाते हैं। इनमें संस्कृति का प्रभाव मनुष्य जीवन पर सबसे अधिक पड़ता है। संस्कृति व्यक्तिमूलक और समाजमूलक दोनों प्रकार की होती है। इनमें समाजमूलक संस्कृति अधिक बलवती होती है। बहुत कम लोग इस बात का अनुभव करते हैं कि संस्कृति कैसे विकसित होती है। सांस्कृतिक विकास का इतिहास अति विशाल है। उसका निर्णय करना भी अति कठिन है कि सर्वप्रथम संस्कृति का उदय कहां हुआ? विद्वानों ने इस विषय में अनेक प्रकार की कल्पनायें की हैं। किन्तु किसी भी कल्पना के विषय में निश्चित रूप से कह देना कि यही ठीक है कुछ कठिन है। फिर भी हम यह अवश्य देखते हैं कि भिन्न भिन्न संस्कृतियों का कुछ आधार अवश्य है। हम अन्य देशों की वार्ता को छोड़ कर भारत का ही विचार करें। इस समय भारत में द्रविड़, वैदिक, श्रमण, मुसलिम और ईसाई आदि संस्कृतियाँ प्रचलित हैं। भारत के स्वतन्त्र होने के पश्चात् कुछ लेखकों ने संस्कृति के प्रश्न को बहुत जटिल बना दिया है। अधिकतर लोग भारतीय संस्कृति का वैदिक संस्कृति के साथ सामंजस्य कर भारतीय जनता के हृदय में भ्रम उत्पन्न कर रहे हैं। यह प्रजातन्त्र के सिद्धान्त का दुरुपयोग है। जनतंत्र में अधिकसंख्यक और अल्पसंख्यक समूहों को उसी प्रकार विकसित होने का नैतिक अधिकार है जितना कि एक व्यक्तिविशेष को। स्वतंत्र भारत में प्रत्येक संस्कृति के दृष्टिकोण का अध्ययन विद्वानों को करना चाहिये। जहाँ तक भारत के इतिहास का संबंध है, यहाँ किसी भी युग में संस्कृति संबंधी ऐक्य नहीं रहा है। भारत के ऋषि मुनियों ने सामयिक परिस्थिति के अनुसार संस्कृति को नये साँचे में ढाला है अतः यहाँ अनेक संस्कृतियाँ फलीं फूलीं। भारतवर्ष की प्राकृतिक भिन्नता जगत् प्रसिद्ध है। यहाँ के व्यक्तियों के धर्म, वेषभूषा, खानपान, आचार-विचार, रहन-सहन एवं सौंदर्योपासना आदि का पर्यालोचन किया जाय तो प्रतीत होगा कि भारतीय इन विषयों में सर्वदा भिन्न मत के रहे हैं। यही कारण है कि यहाँ बहुमुखी उन्नति हुई और विकास भी विविध प्रकार से हुआ। हाँ, मध्ययुग में जब लोगों में अपने अपने धर्म के विषय में कट्टरता बढ़ती गयी तो उसका परिणाम यह अवश्य हुआ कि प्रगति रुक गयी। अब पुनः कुछ लोग उसी प्रकार की कोष्ठ-

बढ़ता कर भारत को रुग्ण बना देना चाहते हैं। स्वतंत्र भारत के प्रत्येक नागरिक का संस्कृतिविषयक दृष्टिकोण पक्षपातरहित होना चाहिए। प्राचीन साहित्य में उल्लेख मिलता है कि भोगमूलक संस्कृति के पश्चात् कर्ममूलक संस्कृति का जन्म हुआ। उस संस्कृति को जन्म देने का श्रेय ऋषभदेव को है। यह ऋषभ इस देश का सर्वप्रथम संस्कृतपुरुष था। यह संस्कृत पुरुष देश की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, सौंदर्य आदि की व्यवस्था करता रहा। शिक्षा की व्यवस्था इस व्यक्ति के महान् पराक्रमी पुत्र भरत ने की। उसीने क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों में से शिक्षित वर्ग की स्थापना की। उसीने इस देश का 'भारतवर्ष' नाम दिलाने का श्रेय प्राप्त किया।

भारत के ऊपर हम जिनका अधिक प्रभाव देखते हैं वे हैं वैदिक और श्रमण संस्कृति। वैदिक संस्कृति पर विद्वानों ने काफी प्रकाश डाला है, पर इसका काल अनिश्चित है। ज्योतिष, भाषा-विज्ञान, पुरातत्त्व आदि के आधार पर निश्चित किया गया है कि इसका काल ई० पूर्व ६००० वर्ष है। यह विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में एक है। भारत में इसका प्रवेश कब हुआ यह एक विवादग्रस्त विषय है, किन्तु अधिकतर विद्वानों का मत है कि यह विदेशी संस्कृति है और किसी समय भारत के उत्तर पश्चिमी कोण से इस देश में प्रविष्ट हुई थी। यह संस्कृति वैदिक संस्कृति कहलाती थी। इसके मानने वाले अपने को आर्य कहते थे। उनका धर्म प्रकृति के तत्त्वों की पूजा और पेशा पशु पालन था। वे अच्छे धनुर्धारी थे। वे महत्वाकांक्षी थे और उसी भावना से उत्प्रेरित होकर उन्होंने भारत की ओर प्रयाण किया था। उनका प्रथम संघर्ष सीमाप्रान्त में हुआ। वहा उन्होंने विजितों को दास बनाया और उनके मुखिया का नाम सुदास रखा। जिसका वर्णन ऋग्वेद में है। इनका प्रथम उपनिवेश आजका पश्चिमी पाकिस्तान था। वहाँ वे बड़े बड़े यज्ञ करते, सोम पीते, गीत गाते तथा आनन्द से जीवन व्यतीत करते थे। ऋग्वेद के अध्येता इस बात को जानते हैं कि इस समय तक वैदिक आर्यों का अधिकार सप्त सिंधु देश तक ही था। उनकी संस्कृति उच्च वर्ग के लिए पृथक् थी और दासों के लिए पृथक्। संभव है जाति व्यवस्था का जन्म यहीं हुआ है। और कालपुरुष की कल्पना कर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उसके सिर, छाती, ऊरु और पैरों में स्थापना कर जाति को अपरिवर्तनीय बना दिया हो।

इसके विपरीत हस्तिनापुर, अयोध्या, काशी और मगध के आस पास के रहने वाले किसी अन्य ही संस्कृति के धारक प्रतीत होते हैं। मालूम होता है कि वैदिक आर्यों ने धीरे धीरे बढ़ कर इन पर भी विजय प्राप्त की और दक्षिण को छोड़ कर समग्र उत्तर भारत पर वे छा गये। वैदिक आर्यों की

विजय के पूर्व इन प्रांतों के रहने वाले मनुष्यों की संस्कृति का मूल तत्त्व था 'आत्मा'। वे आत्मा के विकास में विश्वास करते थे । व्यक्तिस्वातन्त्र्य उनके जीवन का लक्ष्य था। गणतंत्र उनके सामाजिक जीवन का राजनैतिक आधार था। उनकी शासन व्यवस्था का मूल भी यही था। वे शाश्वत जाति-व्यवस्था के घोर विरोधी थे। उनकी दृष्टि में स्त्रीसमाज आदृत थी। इस व्यक्तिमूलक संस्कृति का केन्द्र कभी अयोध्या, कभी मगध, कभी हस्तिनापुर, कभी काशी और कभी चम्पा इस प्रकार घूमता रहता था। अंत में बहुत काल तक मगध इसका केन्द्र रहा। जब वैदिक लोगों का संघर्ष इन भारतीयों के साथ बढ़ता चला गया तब यहाँ उन्होंने अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए पंजाब में घग्घर नदी के आस पास बैठ कर उपनिषदों की रचना आरम्भ की और कहा "आत्मा रे वायं द्रष्टव्यः मन्तव्यः श्रोतव्यः निदिध्यासितव्यः" इत्यादि। अर्थात् अरे लोगों ! तुम्हें भारतीयों द्वारा कही हुई आत्मा को देखना चाहिये मानना चाहिए सुनना चाहिए और उसका ध्यान करना चाहिए। फल स्वरूप उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप के संबंध में भिन्न भिन्न प्रकार की कल्पनाएं होने लगीं। कुछ ने आत्मा का स्वरूप विश्व व्याप्त व ब्रह्म रूप माना, कुछ ने अंगूठे के बराबर माना, कुछ ने बटवृक्ष के कण के समान माना, और उसको आधार मान कर औपनिषदिक आत्म-वाद की नींव खड़ी की; किन्तु फिर भी वैदिक क्रिया काण्ड पर मूलभारतीय आक्र-मण करते ही रहे। पश्चात् षड्दर्शन, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि के सिद्धांतों का आविष्कार किया गया। बहुतों का यह विचार है कि रुद्र-पूजा भारत की बहुत प्राचीन परम्परा है तथा वेद काल से भी प्राचीन है। जहाँ तक द्राविड़ संस्कृति का संबंध है वह तो वैदिक संस्कृति से बिल्कुल ही अछूती रही। उन्होंने संस्कृत भाषा का भी प्रभाव ग्रहण नहीं किया। यही कारण है कि भारत में दक्षिण-समूह की जो भाषाएं हैं उनका संस्कृत से कोई संबंध नहीं है। वैदिक भाषा और यहाँ की प्राकृतिक भाषाएं बिल्कुल भिन्न थीं, संस्कृत का बहुत पीछे से उदय हुआ। पाणिनि ने पंजाब में बैठ कर उसका व्याकरण बनाया। पाणिनि पंजाबी था यह निर्विवाद है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह देश दो संस्कृतियों का केन्द्र प्राचीन काल में अर्थात् आज से दो हजार वर्ष पूर्व रहा है। यदि कुछ और दूर जाँय तो हमें प्रतीत होगा कि पाँच हजार वर्ष पूर्व जब यहाँ महाभारत हुआ था उस समय तीर्थं-कर नेमिनाथ और उनके पश्चात् पार्श्वनाथ तथा उनके पश्चात् बुद्ध महावीर और कपिल ने भी यहाँ की मूल भारतीय संस्कृति को उज्जीवित करने का महान् प्रयत्न किया। वेदमूलक संस्कृति में वर्णव्यवस्था, यज्ञ, कर्मकाण्ड, देवता, पर जोर दिया जाता था, इसके विपरीत मूल भारतीय संस्कृति में

मानवीय समानता, आत्म विकास, गुण पूजा और वीर मार्गावलम्बन, परलोक कर्म फल आदि पर अधिक जोर दिया जाता था जो सर्वथा स्वाभाविक था।

तीर्थंकर मुनिसुव्रत के काल में इस संस्कृति के मानने वालों को व्रात्य कहा गया। पश्चात् उनको श्रषण कहा गया। उन्हें अयज्वन, क्रव्याद. आदि भी कहा जाता था, किन्तु जब वे उनकी तपस्या, आचार-विचार, अहिंसा, सत्य आदि से अधिक प्रभावित हुए तब उन्होंने उनका नाम श्रमण रखा। श्रमण शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हमें 'माण्डूक्योपनिषत्' में मिलता है। प्रतीत होता है कि उसके पूर्व वैदिक लोगों ने ऋषभ, अजित, नेमि आदि महापुरुषों के गुणों के प्रशंसक रहने के बावजूद भी श्रमणों को अपनी संस्कृति का विरोधी ही समझा, क्योंकि श्रमण बहु पदार्थवादी थे। इसलिए उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति यः नानेव पश्यति।' यह मनुष्य जो यहाँ नाना देखता है मृत्यु को प्राप्त होता है क्योंकि उनकी परम्परा की शाखाएं ब्रह्मंद्वयवाद की समर्थक थी। अंत में हम देखते हैं कि ये दोनों संस्कृतियाँ दीर्घ काल तक आपस में लड़ती झगड़ती रहीं। अंत में बौद्ध धर्म, या जैन धर्म या सांख्य धर्म के प्रभाव से या जिन्हें हम मुख्यतया श्रमण संस्कृति के उपासक कह सकते हैं वैदिक संस्कृति में काफी परिवर्त्तन हुआ। बौद्ध और जैन धर्म में भी उसके कारण परिवर्त्तन हुआ। वैदिकों को तो हिंसामय गोमेध, पशुमेध, नरमेध, आदि यज्ञ सदा के लिए बंद कर देने पड़े और बहुत कुछ अंश मे अहिंसा को स्थान देना पड़ा तथा बौद्ध और जैन धर्मा-वलम्बियों को आचार विचार विषयक तथा क्रियाकाण्ड विषयक बहुत सी बातें अपने धर्मो में स्वीकृत करनी पड़ीं। वैदिक धर्म ने तो यहाँ तक उदारता दिख-लाई कि पौराणिक काल मे उन्होंने बुद्ध और ऋषभ देव को अवतार मान कर दोनों संस्कृतियों में मेल स्थापित करने का प्रयत्न किया। किंतु वे इसमें सफल नहीं हुए। बौद्ध धर्म तो भारत से एक बार नष्ट सा हो गया था परन्तु जैन धर्म फिर भी जीवित रहा।

प्रस्तुत निबंध में श्रमण संस्कृति की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाला जाय-गा। अभी तक लोग यही नहीं जानते कि 'श्रमण' शब्द का अर्थ क्या है? श्रमण शब्द की निष्पत्ति श्रम धातु से हुई है। इसका विग्रहार्थ है 'श्रमयति आत्मानं तपसि असौ श्रमणः" जो व्यक्ति अपने को तप में लगा दे वह श्रमण है। इन श्रमणों द्वारा प्रतिपादित, प्रतिष्ठापित और प्रचारित संस्कृति को श्रमण संस्कृति कहते हैं। यह संस्कृति त्याग प्रधान थी और इसकी सहचारिणी अन्य संस्कृतियाँ भोग प्रधान थीं। श्रमण संस्कृति के प्रमुख नेता ऋषभ देव थे। ऋषभ के अनं-तर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, कपिल, बुद्ध आदि का इस संस्कृति के प्रसार में अधिक हाथ रहा है। उनमें नेमिनाथ और पार्श्वनाथ ने तो अहिंसा पर

अधिक जोर देकर वैदिक हिंसा का जिसमें निष्कारण मूक पशुओं और मनुष्यों का घात होता था समूल विरोध किया। इन दोनों के द्वारा तैयार की गई भूमिका पर कपिल बुद्ध, और महावीर ने सब से अधिक कार्य किया। ऋषि कपिल हिंदू ऋषियों में सर्वोत्कृष्ट माने जाते हैं। यौगिक प्रक्रिया के प्रवर्त्तक भी वही थे। इन्होंने वैदिक हिंसा का घोर विरोध किया और भारत से ईश्वरवाद का भूत हटाया, जिसका गौतम आदि ने फिर से प्रतिष्ठापन किया। किन्तु एकेश्वर-वाद को कपिल ने सर्वथा निरर्थक सिद्ध कर पुरुषबहुत्व और व्यक्ति स्वातन्त्र्य की शिक्षा दी जो भारत के लिए मौलिक देन थी। कपिल शुरू में तो इस सिद्धान्त को लेकर चले और उनने संसार को प्रकृति रूप बना कर एक अच्छी दिशा दिखलाई, किन्तु बाद मे वैदिक ब्राह्मणों के प्राबल्य से पुनः वैदिक संस्कृति से प्रभावित हो गये और वैदिक संस्कृति मे सम्मिलित हो गये। बुद्ध और महावीर ही दो ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने श्रमण संस्कृति को अधिक बल दिया और वैदिक संस्कृति के विरुद्ध एक नवीन आदर्श स्थापित किया। जहाँ तक महावीर का संबध है वे त्याग और तपस्या की मूर्त्ति थे। उन्होंने त्याग का उत्कृष्ट मार्ग विश्व के सामने रखा। अहिंसा, सत्य आदि तो प्राचीन तत्त्व थे ही महावीर ने अपरिग्रह पर सब से अधिक जोर दिया और चरित्र मे उत्कृष्टता का आदर्श रखा। महावीर द्वारा श्रमण संस्कृति का कितना प्रचार हुआ है इसका विवरण जैन ग्रंथों मे पर्याप्त मिल जायगा। आचार्य कुन्दकुन्द श्रमण परम्परा के अनुपम रत्न हैं। उन्होंने श्रमण संस्कृति का जो चित्र अपने ग्रंथों मे खींचा है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

बुद्ध की परंपरा मे नागार्जुन को कौन भूल सकता है। नागार्जुन ने शून्यता के सिद्धान्त को रख कर जगत् के दार्शनिकों की जड़ हिला दी। जहाँ तक हिन्दू दर्शनों का सम्बन्ध है उनकी तो काया पलट कर दी। शंकर को जन्म देने का श्रेय भी उन्हीं बौद्ध दार्शनिकों को है जिनका विज्ञानवाद शंकर के ब्रह्मवाद मे परिवर्तित हुआ है। इसके अतिरिक्त बौद्ध भिक्षुओं का जगत् कल्याण के लिये सर्वोत्सर्ग, मैत्री मुदिता आदि भावनाओं का चिन्तन, प्रज्ञा पारमितादि की प्राप्ति आदि वे गुण हे जिन्होंने बुद्धमातावलंबियों के लिये विश्व मे स्थान बनाया। यही कारण था कि बृहत्तर भारत प्राचीन काल मे बढ़ सका। आज चीन, जापान, सुमात्रा, जावा, ब्रह्मा, लंका, श्याम आदि देशों मे भी श्रमण संस्कृति का प्रचार देखा जाता है। इसका श्रेय उन श्रमणों को है जो यहाँ से संदेश लेकर विदेशों में श्रमण संस्कृति के बीज बोने गये थे।

एलेक्सेन्डर का आक्रमण भारत इतिहास में विशेष स्थान रखता है। यदि यह कहा जाय कि सुसम्बद्ध भारत का इतिहास यहीं से प्रारम्भ होता है, तो अत्युक्ति नहीं। इसके विजय मे अनेक प्रकार की घटनाओं का उल्लेख है।

उन उल्लेखों मे एक उल्लेख समनीकों के मिलने का भी है। समनीक शब्द श्रमण शब्द का अपभ्रंश है। कहा जाता है एलेक्सेन्डर उनके व्यक्तिगत जीवन और त्याग से बड़ा प्रभावित हुआ था। कहा जाता है यह श्रमण जैन थे। उत्तर पश्चिम के कोने के प्रदेशों में श्रमण तप करते पाये गये थे। उनके त्याग और आदर्श को एलेक्सेन्डर ने यूनान (ग्रीस) मे पहुंचाया। इसप्रकार देखा जाय तो श्रमण परंपरा, भारतवर्ष से बाहर भी अधिक काल तक प्रभाव डालती रही। सिलजिमों के समय से इसका समूल नाश किया गया। बौद्ध संस्कृति उधर यवनों के आक्रमण के कारण इधर ब्राह्मणों के विद्वेष के कारण एक तरह मे नष्ट सी हो गई।

जैन और कापिल लोग किसी प्रकार बच गये। कापिलों का तो हम जिक्र कर आए हैं कि वे तो पीछे से वेदानुयायी होकर जीवित रहे। किन्तु जैन लोग वेदानुयायी न होकर भी अपनी अहिंसा, और अनेकान्त की नीति से बच गये। यद्यपि उन पर भी बड़े २ प्रहार हुए तथापि उन आघात-प्रत्याघातों को सहते हुए अपने विशाल साहित्य के साथ वे अब तक जीवित हैं। जहाँ तक बाह्याचार विचार का सम्बन्ध था उसमे वे वैदिक लोगों से अधिक दूर नहीं थे। जैन और अजैनों के वैवाहिक सम्बन्ध ने भी इनको जीवित रखने में सहायता की।

श्रमण संस्कृति का साहित्य जैन और बौद्ध इस प्रकार दो भागों में विभक्त है। इनके अधिकतर ग्रन्थ प्राकृत और पाली मे ही है। इन्होंने संस्कृत और अपभ्रंश मे भी पर्याप्त लिखा है। इनका संस्कृत साहित्य भी विद्वद्भोग्य है। अपभ्रंश भारतीय साहित्य मे जैनियों की देन है। जैन श्वेताम्बर आगम, दिगम्बर साहित्य, तथा बौद्ध साहित्य बहुत प्रचुर संख्या मे है। भारतीय सरकार को चाहिये कि वह इस समग्र साहित्य मे से सुन्दर ग्रन्थों के समालोचनात्मक संस्करण निकलवा कर, जो भारत की एक अपूर्व सम्पत्ति है, देश विदेश मे प्रचारित करे। भारत सरकार की अनेक योजनाए है किन्तु अभी तक ऐसी कोई योजना नहीं है जिसके द्वारा भारतीय साहित्य निरपेक्ष दृष्टि से सुसंस्कृत होकर जनता के सामने आवे। यदि इस तरफ लक्ष्य दिया गया तो श्रमण संस्कृति को, जो इसी देश की मौलिक संस्कृति है, उज्जीवन मिलने मे बड़ी सहायता मिलेगी।

श्रमणों के स्वरूप के सम्बन्ध मे आ० कुन्द कुन्द ने लिखा है कि "भावेण य णिम्मसा समणा" (भा० प्रा०गा० १०५) श्रमण भाव से भी निर्मम होता है। वे और लिखते हैं–"णच्चदि गायदि न सो समणो" (लि० प्रा० ४–२१ तक।) जो नाचने गाने अर्थात् सांसारिक आनंद भोगने, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पाप क्रियाओं मे लगा रहता है वह श्रमण नहीं हो सकता है।

बल्कि उनने यहाँ तक कहा है कि वह श्रमण नहीं है, वह पशु है। मनुष्य जीवनका स्तर इसीसे ऊंचा है। क्योंकि उसका आचार विचार उत्कृष्ट होता है। श्रमण संसार में एक आदर्श उपस्थित करते हैं। उनके जीवन का लक्ष्य जीओ और जीने दो की उक्ति में सन्निहित है। वे आज की शासन और शोषण की नीति नहीं वरतते। वे चाहते हैं योग्यतानुसार सब का विकास हो। श्रमण संस्कृति में आर्थिक नीति अपरिग्रहवाद पर निर्धारित रहती है। आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति पर अधिकार करना श्रमण संस्कृति के सर्वथा विरुद्ध है। आज के लोगों के दुःख दरिद्रता आदि आर्थिक विषमता के परिणाम हैं। पूंजीवाद के लिये वहां स्थान नहीं है। वहाँ सम्पत्ति त्याग के लिये है न कि दुर्बल और निर्धन व्यक्तियों के शोषण के लिये। श्रमण संस्कृति महारंभ के भी विरुद्ध है। वह मनुष्य के परिश्रमसाध्य जीवन में विश्वास करती है न कि महारंभ करके सारे मनुष्यों को शोषण कर आर्थिक विषमता पैदा करने के लिये कहती है।

श्रमण संस्कृति का सामाजिक आचार विचार बड़ा अनुशासित होता है। उन्होंने मनुष्यों को दो वर्गों में विभाजित कर दिया है। एक वर्ग के मनुष्य तो निवृत्ति में लगे रहते हैं और जगत् के मार्ग प्रदर्शन में ही अनुरक्त हैं जो मुनि कहलाते हैं। दूसरे वर्ग के गृहस्थ हैं जो त्यागियों का आदर्श रखते हुए भी उनकी सेवा शुश्रूषा करते हुए न्यायोपार्जित द्रव्य से गृहस्थ का जीवन निर्वाह करते हैं। वास्तव में देखा जाय तो श्रमण संस्कृति के पालन कर्ता तो त्यागी पुरुष ही है, अन्य लोग तो उसी आदर्श का आंशिक रूप ग्रहण कर जीवन यापन करते हैं।

श्रमण सौन्दर्यपासक होते हैं। वे जीवन में आत्मीय सौन्दर्य के साथ साथ बाह्य जगत् में भी कला से प्रेम रखते हैं। इसी कारण से हमें प्रतीत होता है कि यहाँ के भव्यमंदिरों का निर्माण, मूर्तियों का सौंदर्य, चित्र आदि उसी श्रमण संस्कृति की देन है। अजन्ता के भित्ति चित्र किस के मन को प्रमुदित नहीं करते। गोमटेश्वर की मूर्ति किस पर प्रभाव नहीं डालती। आबू, मंत्रुजय के भव्यमंदिर किस के चित्त को श्रमण संस्कृति की याद नहीं दिलाते। इतना ही नहीं, स्वामी दयानन्द के शब्दों में, प्रवासी वैदिक आर्यो ने भी इसी मार्ग को ग्रहण कर मंदिर, मूर्ति आदिका वैदिक संस्कृति की रक्षाके लिये निर्माण कराना शुरू किया। इससे यह सिद्ध है कि श्रमण संस्कृति भारत के मनुष्यों के जीवनमें सुदूरकाल से अनेक दृष्टियों से प्रभाव डालती रही है।

कुछ लोग इस श्रमण संस्कृति का प्रभाव मानते हुए भी यह कहते हैं कि इसके पृथक् विवेचन और प्रचार की आवश्यकता क्या है? हमें केवल एक भारतीय संस्कृति का ही प्रचार करना चाहिये। हम उनसे पूछना चाहते हैं—यह दैशिक

बन्धन भी क्यों ? हमें तो विश्व संस्कृति का प्रचार करना चाहिये। जब विश्व संस्कृति के रूप का प्रश्न होता है तब समुचित उत्तर नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि अब तक जितनी भी संस्कृतियाँ इस जगत् में समुत्पन्न हुई है उन्होंने कुछ कुछ इस जगत् के लिये अवश्य किया है। विद्वान् व्यक्तियों का यही परम कर्त्तव्य होना चाहिये कि उन सब का असांप्रदायिक भाव से मूल्यांकन करे। हमें प्रत्येक संस्कृति के प्रति यही औदार्यपूर्ण भावना रखनी चाहिये। किसी संस्कृति विशेष के लिये आग्रह रख कर दूसरों को बुरा भला कहना उचित नहीं। यहां पर हमे यह भी खूब स्मरण रखना चाहिये कि संस्कृति बनाई नहीं जाती। इसका क्रमिक विकास होता है। श्रमण संस्कृति आज की वस्तु नहीं है। इसका अस्तित्व प्रागितिहास काल मे ही है और उसकी शृंखला अक्षुण्ण रीति से आज तक चली आ रही है। श्रमण अपना संदेश हमेशा देश विदेशों को देते रहे है। इसके प्रति हमें विशेष गौरवान्वित इसलिये होना चाहिये कि यह विशुद्ध भारतीय संस्कृति है, विदेशी नही है। इसका उद्गम, परिवर्धन, संरक्षण इसी देशमे हुआ है। भारत ने भी जब अपना मस्तक ऊंचा किया है तब इसी संस्कृति के उदात्त सिद्धान्तों के बल पर ही। इसी संस्कृति से प्रभावित महात्मा गांधीने भारत का नवीन निर्माण अहिंसा और सत्य के आधार पर करना चाहा था, किन्तु हिंसा प्रवृत्ति ने उसको नहीं पनपने दिया। वह भारतीयों को स्वराज्य तो दिला गये किन्तु वह सुराज न बना सके। अन्त मे स्वयं उनको उस हिंसामयी संस्कृति की वेदी पर अपना निर्मम बलिदान देना पड़ा। इस कालिमा ने एशिया के गौरवपूर्ण इतिहास के पन्नों पर जो धब्बे लगाये है वे लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं मिटाए जा सकते। हमारा तो यह विश्वास है कि गोली गान्धी पर नहीं अपितु भारतीय श्रमण संस्कृति के कोमल हृदय पर चलाई गई है।

अन्त में मुझे यही कहना है कि श्रमण संस्कृति भारत की अत्यन्त प्राचीनतम संस्कृतियों मे से एक है। इसके अनुयायी चाहे अल्प संख्यक हों किन्तु उसकी शक्ति अपरिमित है। भारत अपनी प्राप्त की हुई स्वतंत्रता की रक्षा यदि सांस्कृतिक तत्त्वों की आधार शिला पर करना चाहता है तो उसे इस संस्कृति के आधार पर अपने में सुधार करना होगा। संस्कृति, तभी संस्कृति कहलाने योग्य है जब वह मनुष्य के जीवन स्तर को ऊंचा उठावे। आज बाहिरी लोग हमको देख देख कर समुन्नत हो गये है लेकिन हमारी अवस्था अपरिवर्त्तित है। यह हमारे नैतिक पतन की पराकाष्ठा है। श्रमण संस्कृति के उपासकों को सुसंगठित होकर देश के समक्ष त्याग, तपस्या, संयम, आदर्शजीवन और समानता आदि के आदर्श उपस्थित करने चाहिये, जिससे इस अंधकारमय युग मे लोगों को कुछ ज्योति मिले।

——:०:——

नर और नारी

—श्री रामप्रकाश जैन

नर ने पाषाणी मूर्ति गढ़ी नारी ने फूँके प्राण बोल।

तुम साठ हजार सगर के सुत
अभिशाप शेष, विध्वंस भस्म;
निर्जीव, अचेतन, स्वत्वहीन
जलते सहते घन-वात-उष्म।

तुम ही भागीरथ कर्मनिष्ठ,
उद्दाम हिमालय तप-लीन।
नर अपने बल पर लाये तुम,
मृत्युंजय से जाह्नवी छीन।
तेरे सूखे बंजर उजार हरियाये गूँजे गान लोल॥

तुम तप्त दुपहरी में जलते,
झुलसे पावों आये राही।
प्यासे मुख हारे पाँवो ने
हा हा पथ से राहत चाही।

नारी ने अंचल बिछा तुम्हें
नंगी देही पर धूप सही।
छाती की छाया तुम पर दे
चिर मौन रही, चिर मूक रही।
ढक दी तेरी लज्जा रे नर अपना ही आधा गात खोल॥

* * *

तुम नन्दन के वन की रानी
नर की अमराई की कोकिल
भूलो मत, तरु के कंधों पर
बैठी गातीं, चुगती, कोयल।

अस्तित्व तुम्हारा है प्रमाण
नर के उपकारों का जीवित
तुम सदा फली फूली, देता
आया नर तुमको धन ईप्सित।
उसके तन मनके रक्त-स्वेद का दे पाओगी कभी मोल ?

तुम को इन्द्राणी का वैभव
नर ने पूजा में भेंट किया।
अपमान तुम्हारा जहाँ हुआ
नर ने सब कुछ बलिदान किया।

बाँधा तुमको रेशम के तारों-
में नर ने अति सुख माना
तुम मुक्त विहग वाले कोकिल
यह प्रेम-पाश बंधन माना।
जग के कल्मष में भूल गई तुम अपनी क्रीड़ा औ कलोल ।।

*　　　　*

नर भूल गये संग्राम बीच
मूच्छित आहत तुम शत्रुबद्ध ।
व्याकुल दशरथ थे तडप रहे,
निर्जीव गात, निश्वास रुद्ध।

घेरे तुम को शम्बर का दल,
करता प्रचंड आक्रमण प्रबल।
तुम ज्ञान शून्य निश्चेष्ट पड़े
सहते अबाध, असहाय, अबल।
अबला नारी कैकई उठी रक्षा का लेकर प्रण अडोल ।।

तुम सत्यवान मृत्युमुख में
यमदूत चले ले प्राण खींच।
तुम छोड़ चले अबला नारी,
सावित्री इस संसार बीच।

तब कौन उठा निज पौरुष से
यम से लड़कर लाया तुमको?
तुम भूल गये उपकार! ऋणों का
भार! स्वयं देखो निज को!
नर मस्तक झुक जायेगा तब नारीकी उपकृतियाँ अतोल।

*　　*

तुम को नर ने गृह मंदिर और
हृदय का ही स्वामित्व दिया।
अपने बोझिल मस्तक पर-
जग का भारी भार गुरुत्व लिया।

तुमने जाना ये नर के अत्याचारों--
का फल औ शोषण।
शिशु उत्सुकता से कालकूट में
करना चाहा निज पोषण।
मिट्टी के बदले में नारी देना चाहा वैभव अमोल॥

तुम उषा समय अधखिली कली
चंपा पंखुरियों सी कोमल।
तुमको लेना मलयज समीर,
तूफानों में रहकर ओझल।

तुम शैल विहारिन, रवि तनया
निर्मल जल धार तरंगमयी।
नर के सूखे मरु में आयी
स्वर्गीय दान आनन्दमयी।
नर के जर्जर जीवन में तुमने दिया सुधा का स्वाद घोल!

*　　*

नर तुम सोये पौरुष अशक्त
भूले निज-बल हे वायुपुत्र,
तुम दीन हार हिम्मत बैठे
पांडव प्रचंड योद्धा सशस्त्र।

अग्निस्फुलिंग द्रौपदी उठी
नर तेरा पौरुष जाग गया।
मिट्टी में लोटा अस्त व्यस्त
नर तेरा कौशल जाग गया।
बचते क्या भीम कृष्ण अर्जुन द्रौपदी न देती केश खोल ?

पद्मिनी तुम्हारी रूप ज्योति
जलती न अगर चित्तौड़ महल।
खो जाता हिन्दू राष्ट्र सकल
यदि तुम न जलाती क्रान्ति अनल।

धिक्कार नहीं, शत धन्यवाद
सिम्पसन तुमने जग पहिचाना
क्या रंक बना एडवर्ड अगर ?
उसने मानव का दिल जाना।
तज रक्त सना वह राजमुकुट नरका रक्खा आदर्श खोल।।

नर अपनी सीमा पहिचानो, नारी मत व्यर्थ विवाद करो
नर श्रम करने को जन्मे तुम, नारी श्रम में आल्हाद भरो
नर तेरे श्रम की सृष्टि सकल नारी का भार उठाये तुम
नारी तेरी करुणा ममता से फूल रहे विकलांग कुसुम
जीवन खाना पीना मरना ही है न हृदय देखो टटोल ।।
नर ने पाषाणी मूर्त्ति गढ़ी नारी ने फूँके प्राण बोल ।।

श्रमण प्रभाचन्द्र-

-प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

राजपुरोहित ने जब यह सुना कि श्रमण प्रभाचन्द्र ने आज शूद्रों को जैन दीक्षा दी है, और उन शूद्रो ने सहस्रकूट चैत्यालय में जिनपूजा भी की है तो उसके वदन में आग लग गई, आँखों मे खून उतर आया। भृकुटी चढ़ गई। ओंठ चाब कर बोला-इस नंगे का इतना साहस, नास्तिक कहीं का। वह तुरन्त राजा भोज के अध्ययन कक्ष मे पहुंचा और बोला-राजन्, सुना है? उस श्रमण प्रभाचन्द्र ने आज शूद्रो को जैन दीक्षा दी है। मैंने तुम्हे पहिले ही चेताया था कि ये निर्ग्रन्थ तुम्हारे राज्य की जड़ ही उखाड़ देंगे। जानते हो प्राणिमात्र के समानाधिकार का क्या अर्थ है? ये निरन्तर व्यक्तिस्वातन्त्र्य, समता और अहिंसा के प्रचार से तुम्हारी शासनसत्ता की नींव ही हिला रहे हैं। तुम इनकी वाक्सुधा पर मुग्ध होकर सिर हिला देते हो। वेद और स्मृतियो में प्रतिपादित जन्मसिद्ध वर्णव्यवस्था और वर्णधर्म ही तुम्हारी सत्ता का एक मात्र आधार है। 'राजा ईश्वर का अंश है' यह तत्त्व स्मृतियों में ही मिल सकता है। आज, शूद्र तक व्यक्तिस्वातन्त्र्य, समता और समानाधिकार के नारे लगा रहे हैं।

भोज-परन्तु, ये तो धर्मक्षेत्र मे ही समानता की बात कहते है। इन निर्ग्रन्थो को राजकाज से क्या मतलब? ये तो प्राणिमात्र को समता, अहिंसा, अपरिग्रह, और कषायजय का उपदेश देते हैं। आचार्य, मैं सच कहता हूं, उस दिन इनकी अमृतवाणी सुन कर मेरा तो हृदय गद्गद हो गया था।

पुरोहित-राजन्, तुम भूलते हो। कोई भी विचार-धारा किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहती। उसका असर जीवनके प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ता है। क्या तुमने इनके उपदेशों से शूद्रों का सिर उठाकर चलना नहीं देखा? कल ही शिवमन्दिर के पुजारी से भग्गू मुंह लगकर बात कर रहा था। सोचो, तुम्हारी सत्ता ईश्वरोक्त वर्णभेद को कायम रखने में है या इनके व्यक्तिस्वातन्त्र्य में। हमारे ऋषियों ने ही राजा में ईश्वरांश की घोषणा की है और यही कारण है कि अब तक राजन्यवर्ग के अभिजात कुल का शासन बना है। हमारा काम है कि तुम्हे समय रहते चेतावनी दें और तुम्हें कुलधर्म मे स्थिर करें।

भोज—पर आचार्य, श्रमण प्रभाचन्द्र का तर्कजाल दुर्भेद्य है। उनने अपने ग्रन्थों में इस जन्मजात वर्णव्यवस्था की धज्जियां उड़ा दी है।

पुरोहित—राजन्, तुम बहुत भावुक हो, तुम्हें अपनी परम्परा और स्थिति का कुछ भी भान नहीं है। क्या तुम्हें अपने पुरोहित के पांडित्य पर विश्वास नहीं है? मैं स्वयं वाद करके उस श्रमण का गर्व खर्व करूँगा। उस नास्तिक का अभिमान चूर कर दूंगा। वाद का प्रबन्ध किया जाय।

भोज—पर वे तो राजसभा में आते नहीं हैं। हम सब ही उद्यान में चलें। और वहीं इसकी चर्चा हो। सचमुच, इनका उपदेश प्रजा में व्यापक असन्तोष की सृष्टि करके एक दिन सत्ता का विनाशक हो सकता है।

[उद्यान में आ० चतुर्मुखदेव और अन्य सधर्मा गोपनन्दि के साथ प्रभाचन्द्र की चर्चा हो रही है। सपरिकर राजा भोज आकर वहीं बैठ जाते हैं]

गोपनन्दि—आपने जो शूद्रों को जैन दीक्षा दी है, इससे श्रमणसंघ के भी कुछ लोग असन्तुष्ट हैं। उनका कहना है कि श्रमण प्रभाचन्द्र यह नई प्रथा चला रहे हैं। भन्ते, क्या पुराने आचार्य भी इससे सहमत हैं?

प्रभाचन्द्र—अवश्य, मैंने यह कार्य श्रमणपरम्परा की मूलधारा के आधार से ही किया है। सुनो मैं तुम्हें पूर्वाचार्यों के प्रमाण सुनाता हूं। वरांगचरित में आ० जटासिंहनन्दि स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि—

"क्रियाविशेषात् व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात् ।
शिष्टाश्च वर्णांश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात् ॥

—वरांगच० २५।११

अर्थात्—शिष्टजन इस वर्णव्यवस्था को अहिंसा आदि व्रतों का पालन, रक्षा करना, खेती आदि करना तथा शिल्पवृत्ति इन चार प्रकार की क्रियाओं से ही मानते हैं। यह वर्णव्यवस्था केवल व्यवहार के लिए है। क्रिया के सिवाय अन्य कोई वर्णव्यवस्था का हेतु नहीं है। रविषेण पद्मचरित में लिखते हैं—

"तस्माद् गुणैर्वर्णव्यवस्थितिः ।
ऋषिशृंगादिकानां मानवानां प्रकीर्त्यते ।
ब्राह्मण्यं गुणयोगेन न तु तद्योनिसंभवात् ॥
चातुर्वर्ण्यं तथाऽन्यच्च चाण्डालादिविशेषणम् ।
सर्वमाचारभेदेन प्रसिद्धं भुवने गतम् ॥"

—पद्मचरित ११।१९८–२०५

अर्थात्–वर्णव्यवस्था गुण कर्म के अनुसार है, योनिनिमित्तक नहीं। ऋषिशृंग आदि में ब्राह्मण व्यवहार गुणनिमित्तक ही हुआ है। चातुर्वर्ण्य या चाण्डाल आदि व्यवहार सब क्रियानिमित्तक है।

"व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः।"

–पद्मचरित ११–२०

अर्थात्–व्रतधारी चाण्डाल ब्राह्मण कहा जाता है।

जिनसेन आदिपुराण में लिखते है–

"मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदात् चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रिया शस्त्रधारणात्।
वणिजोऽर्थार्जनात् न्याय्यात् शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात्॥"

–आदि पु० ३८।४५–४६।

अर्थात्–जाति नामकर्म से तो सब की एक ही मनुष्य जाति है। ब्राह्मण आदि चार भेद वृत्ति अर्थात् आचार-व्यवहार से हैं। व्रत संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्रधारण से क्षत्रिय न्यायपूर्वक धन कमाने से वैश्य और सेवावृत्ति से शूद्र होते हैं।

गोपनन्दि–तो क्या शूद्र इसी पर्याय में शुद्ध हो सकते हैं? क्या मुनिदीक्षा के भी अधिकारी हैं?

प्रभाचन्द्र—हाँ आयुष्मन्! सोमदेव आचार्य ने अपने नीतिवाक्यामृत में अत्यन्त स्पष्टता से लिखा है कि–

"आचारानवद्यत्वं शुचिरुपस्कारः शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातितपस्विपरिकर्मसु योग्यान्।"

अर्थात्–निर्दोष आचरण, गृहपात्र आदि की पवित्रता और नित्य स्नान आदि के द्वारा शरीर शुद्धि ये तीनों बातें शूद्रों को भी देव द्विजाति और तपस्वियों के परिकर्म के योग्य बना देती हैं।

अब तो पुरोहित का पारा और भी गरम हो गया। वह क्रोध से बोला–राजन्, इन नास्तिकों के पास बैठने से भी प्रायश्चित्त का भागी होना पड़ेगा।

"पुरोहित जी, नास्तिक किसे कहते हैं?" हंसते हुए प्रभाचन्द्र ने पूछा।

"जो वेद की निन्दा करे वह नास्तिक" रोष भरे स्वर में तपाक से पुरोहित ने उत्तर दिया।

"नहीं, पाणिनि ने तो उसे नास्तिक बताया है जो आत्मा और परलोक आदि की सत्ता नहीं मानता। यदि वेद को नहीं मानने के कारण हम लोग नास्तिक हैं तो यह नास्तिकता हमारा भूषण ही है।" तर्कपूर्ण वाणी मे प्रभाचन्द्र ने कहा।

भोज–महाराज, इस झगड़े को समाप्त कीजिए। यदि आपकी अपनी परिभाषा के अनुसार ये नास्तिक हैं तो इनकी परिभाषा के अनुसार आप मिथ्यादृष्टि भी हैं। ये तो अपनी अपनी परिभाषाएँ हैं। आप प्रकृत वर्णव्यवस्था पर ही चरचा चलाइए।

पुरोहित–आपने शूद्र को को दीक्षा दे कर बड़ा अनर्थ किया है। ब्रह्मा के शरीर से चारों वर्ण पृथक पृथक् उत्पन्न हुए हैं। जन्म से ही उनकी स्थिति हो सकती है, गुणकर्म से नहीं।

प्रभाचन्द्र–ब्रह्मा मे ब्राह्मणत्व है या नहीं? यदि नहीं, तो उससे ब्राह्मण कैसे उत्पन्न हुआ? यदि है; तो उससे उत्पन्न होने वाले शूद्र आदि भी ब्राह्मण ही कहे जाने चाहिए। ब्रह्मा के मुख मे ब्राह्मणत्व, बाहु मे क्षत्रियत्व, पेट मे वैश्यत्व और पैरों में शूद्रत्व मानना तो अनुभवविरुद्ध है। इस मान्यता से आपका ब्रह्मा भी अंशत: शूद्र हो जायगा। फिर आपको ब्रह्मा जी के पैर नहीं पूजना चाहिए क्योंकि वहाँ तो शूद्रत्व है।

पुरोहित–समस्त ब्राह्मणों में नित्य एक ब्राह्मणत्व है। यह ब्राह्मण माता पिता से उत्पन्न हुए शरीर मे व्यक्त होता है। अध्यापन दानग्रहण यज्ञोपवीतग्रहण आदि उसके बाह्य आचार हैं। प्रत्यक्ष से ही 'यह ब्राह्मण है' इस प्रकार का बोध होता है।

प्रभाचन्द्र–जैसे हमें प्रत्यक्ष से 'यह मनुष्य है, यह घोड़ा है' इस प्रकार मनुष्य आदि जातियों का ज्ञान हो जाता है उस प्रकार 'यह ब्राह्मण है' यह बोध प्रत्यक्ष से नहीं होता अन्यथा 'आप किस जाति के हैं?' यह प्रश्न ही क्यों किया जाता? यदि ब्राह्मण पिता और शूद्रा माता तथा शूद्र पिता और ब्राह्मणी माता से उत्पन्न हुए बच्चों मे घोड़ी और गधे से उत्पन्न खच्चर की तरह आकृति भेद दिखाई देता तो योनिनिबन्धन ब्राह्मणत्व माना जाता। फिर जब स्त्रियों का इस जन्म मे ही भ्रष्ट होना सुना जाता है तो अनादिकाल से आज तक कुलपरम्परा शुद्ध रही होगी यह निश्चय करना ही कठिन है। यदि ब्राह्मणत्व जाति गोत्वजाति की तरह नित्य है और वह यावज्जीवन बराबर बनी रहती है तो जिस प्रकार चाण्डाल के घर मे रहने वाली गाय को आप दक्षिणा में ले लेते हो और उसका दूध भी पीते हो उसी तरह चाण्डाल के घर में रही हुई ब्राह्मणी को भी ग्रहण कर लेना चाहिए क्योंकि नित्य ब्राह्मणत्व जाति तो उसमे विद्यमान है। यदि आचार भ्रष्टता से ब्राह्मणी की जाति नष्ट हो गई है तो

आचारशुद्धि से वह उत्पन्न क्यों नहीं हो सकती ? आप जो शूद्र के अन्न से शूद्र से बोलने पर, शूद्र के सम्पर्क से जातिलोप मानते हो वह भी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि आप के मत से जाति नित्य है उसका लोप हो ही नहीं सकता।

अच्छा, यह बताइए कि आप ब्राह्मणत्व जीव में मानते हो या शरीर में या दोनों में या संस्कार में या वेदाध्ययन में ? जीव तो शूद्र आदि सभी में विद्यमान है अतः उनमें भी ब्राह्मणत्व होना चाहिए। शरीर भी पञ्चभूतात्मक सबके समान है। यदि संस्कार में ब्राह्मणत्व माना जाता है; तो संस्कार शूद्र बालक में भी किया जा सकता है। यदि संस्कार के पहिले ब्राह्मण बालक में ब्राह्मणत्व मानते हो तो संस्कार करना व्यर्थ ही है। यदि नहीं मानते तो जैसे ब्राह्मणत्वशून्य ब्राह्मण बालक में संस्कार से ब्राह्मणत्व आ जाता है उसी तरह शूद्र-बालक में भी संस्कार से ब्राह्मणत्व आ जाना चाहिए। रही वेदाध्ययन की बात, सो शूद्र भी देशान्तर में जाकर वेदाध्ययन कर सकता है और करा सकता है। किन्तु इतने मात्र से आप उसमें ब्राह्मणत्व नहीं मानते। अतः यह समस्त ब्राह्मणादि वर्णव्यवस्था सदृश क्रिया और सदृश गुणों के आधार से है। यदि जन्मना वर्णव्यवस्था हो तो ब्रह्मा व्यास विश्वामित्र आदि में गुणकृत ब्राह्मणत्व आप स्वयं क्यों मानते हो ?

पुरोहित–तो क्या जैन ग्रन्थों में बताई गई वर्णाश्रम व्यवस्था झूठी है ?

प्रभाचन्द्र–नहीं, झूठी क्यों होगी। प्रश्न तो यह है कि वर्णव्यवस्था जन्म से है या गुणकर्म से ? अतः जिन जिन व्यक्तियों में जो जो गुण गुण-कर्म पाए जायेंगे उसीके अनुसार उनमें ब्राह्मण आदि व्यवहार होगा और तदनुकूल ही वर्णाश्रम व्यवस्था चलेगी। जैन दर्शन तो व्यक्ति स्वातन्त्र्यवादी है। उसमें पुरुषार्थ को बड़ी गुंजाइश है। जैसे जैसे गुण-धर्मों का विकास व्यक्ति करेगा उसीके अनुसार उसमें ब्राह्मणत्व आदि व्यवहार होंगे। शूद्र इसी जन्म में अपने पुरुषार्थ के द्वारा सर्वोच्च मुनिदीक्षा ले सकता है। मैंने अपने न्यायकुमुदचन्द्र ग्रन्थ (पृ० ७७८) में स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि–

"क्रियाविशेषयज्ञोपवीतादिचिह्नोपलक्षिते व्यक्तिविशेषे तद्व्यवस्थाया तद्व्यवहारस्य चोपपत्तेः। तन्न भवत्कल्पितं नित्यादिस्वभावं ब्राह्मण्यं कुतश्चिदपि प्रमाणात् प्रसिध्यतीति क्रियाविशेषनिबन्धन एवायं ब्राह्मणादिव्यवहारो युक्तः।"

अर्थात्–यह समस्त ब्राह्मणादि व्यवहार क्रियामूलक है, नित्य और जन्ममूलक ब्राह्मणत्व आदि जाति से नहीं।

भोज प्रभाचन्द्र के अकाट्य तर्कों से अत्यन्त प्रभावित हुआ और पुरोहितराज से बोला कि—देखो, मैंने पहिले ही कहा था कि ये श्रमण अपनी आध्यात्मिक भूमिका पर समता और व्यक्तिस्वातन्त्र्य के सन्देशवाहक हैं। ये तो अत्यन्त अपरिग्रहवादी हैं। उनके जीवन में राजकारण का कोई महत्त्व नहीं है। इनका तत्त्व स्वयं परम व्यक्तिस्वातन्त्र्य का साक्षी है। ये प्राणिमात्र के प्रति मैत्री भावना रखने वाले हैं। अतः यदि इनने शूद्रों को दीक्षा दी है तो हमें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। इन्हें अपनी आध्यात्मिक समता का प्रचार करने देना चाहिए। इससे मानवजाति का समुत्थान ही होगा।

भोज सपरिकर श्रमणों की वन्दना कर बिदा हुए।

राजपुरोहित के वाद की चरचा बात ही बात में धारानगरी में फैल गई। आ० चतुर्मुख और समस्त श्रमणसंघ हर्षविभोर हो गए।

'कम-से-कम हिन्दुस्तान में हमारा ध्यान बराबरी की ओर होना चाहिए। इसके मानी यह नहीं कि सब लोग शरीर से, बुद्धि से और आध्यात्मिक दृष्टि से बराबर हैं। ऐसा हो भी नहीं सकता। हां, इसके यह मानी जरूर हैं कि सब के लिए बराबर मौका हो और किसी आदमी या किसी समुदाय को राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक रुकावट का सामना न करना पड़े। उसके मानी हैं मानवता में विश्वास और साथ ही इस बात में विश्वास कि कोई ऐसी जाति या समुदाय नहीं है जो तरक्की नहीं कर सकता और मौका मिलने पर अपने ढंग से आगे नहीं बढ़ सकता। उसके मानी हैं इस सचाई को महसूस करना कि किसी समुदाय का पिछड़ापन या उसका अधःपतन उसकी निजी खामियों की वजह से नहीं है बल्कि उसकी खास वजह यह है कि उसको बढ़ने का मौका नहीं मिला और बहुत अर्से तक किसी दूसरे समुदाय का उस पर दबाव रहा। उससे यह समझ आनी चाहिए कि आधुनिक दुनिया में असली तरक्की, चाहे वह राष्ट्रीय हो या अन्तर्राष्ट्रीय हो, बहुत हद तक मिला जुला व्यापार है और हर-एक पिछड़ा हुआ समुदाय दूसरों को भी पीछे घसीटता है। इसलिए सबको सिर्फ बराबर मौका ही नहीं मिलना चाहिए बल्कि पिछड़े हुए लोगों को पढ़ाई, लिखाई आर्थिक और सांस्कृतिक तरक्की के लिए खास सुविधा देनी चाहिए ताकि वह जल्दी दूसरे लोगों के बराबर आ सकें। हिन्दुस्तान में सबको तरक्की के लिए इस तरह मौका देने की भी कोशिश से बेहद कार्यशक्ति और योग्यता सामने आवेगी और बड़ी तेजी से देश का हुलिया बदल देगी।

जीवनसाहित्य सर्वोदय अंक] —जवाहरलाल नेहरू

कर्मविषयक भ्रान्ति का निराकरण–

–पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

षष्ठ कर्मग्रन्थ की भूमिका मे मैने जैनदर्शन के अनुसार "कर्ममीमांसा" शीर्षक एक स्वतन्त्र प्रकरण लिखा था जिसमे कर्म की कार्य मर्यादा का स्पष्टीकरण किया था। यह प्रकरण अनेकान्त के गत जुलाई वाले अकमे भी प्रकाशित हो चुका है।

इस विषय पर मेरे कई स्थलों पर अनेक भाषण भी हुए हैं और इससे अनेक विचारकों के मत में परिवर्तन भी हुए हैं। वे इस ऊहापोह की प्रशंसा करने लगे हैं और इसके प्रचार की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।

मेरे ये विचार मौलिक होते हुए भी सर्वथा स्वतन्त्र नही है। अपने जीवन मे मैंने कर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र का जो अध्ययन और मनन किया है उसी के फलस्वरूप मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा हूं। मुझे प्रसन्नता है कि मेरे ये विचार आगम प्रमाण और युक्ति से पुष्ट है। मैंने ऐसे अनेक भाईयो से एतद्विषयक चर्चा की है जो सहसा इन्हे मानने को तैयार न थे। इनके विरोध मे लिखी गई आलोचना को भी मैंने पढ़ा है। इससे मेरा मन और भी स्थिर हो गया है।

अभी तक लिखित या मौखिक रूपमे जो भी आलोचनाएं मेरे सुनने या पढ़ने मे आई है वे स्वयं इतनी उलझी हुई है कि उन पर से किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन है। प्रश्न यह है कि ऐसा कौन सा कर्म है जो बाह्य सम्पत्ति की प्राप्ति मे निमित्त हो। ऊहापोह द्वारा मैंने इसी प्रश्न का निर्णय किया है और साधार यह बतलाया है कि ऐसा एक भी कर्म नहीं है जिस के उदय या क्षयोपशम से बाह्य सम्पत्ति की प्राप्ति होती हो। साथ ही यह भी बतलाया है कि अधिक सम्पत्ति का होना या सम्पत्ति का बिल्कुल न होना यह भी पुण्य पाप का फल नहीं है। सातोदय में सुख होता है और असातोदय में दुःख, यह बात सही है पर सातोदय से सम्पत्ति मिलती है और असातोदय से वह चली जाती है यह बात सही नही है, क्योकि सातोदय और असातोदय के साथ सुख दुख की जैसी व्याप्ति देखी जाती है वैसी व्याप्ति बाह्य सम्पत्ति के सद्भाव और असद्भाव के साथ नहीं देखी जाती।

अधिकतर आलोचकों का ध्यान इस ओर नहीं गया है और वे अपनी मोटी धारणा के अनुसार आलोचना करने में प्रवृत्त हुए हैं। मेरा उनसे आग्रह है कि वे उक्त प्रकरण का सूक्ष्मता से अध्ययन करें। मेरा विश्वास है कि इससे उन्हें अपने दृष्टिकोण के बदलने में सहायता मिलेगी।

प्रकृत में विचार यह करना है कि भिन्न पदार्थों का संयोग आत्मा से कैसे होता है ? इन पदार्थों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं–एक वे पुद्गल वर्गणाएं जो शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास रूप परिणमती हैं और दूसरे वे जिन की परिगणना स्त्री, पुत्र और धनादि रूप से की जाती है।

संसारी अवस्था में जीवकी नर नारकादिरूप जो विविध अवस्थाएँ और क्रोध, मान, मतिज्ञान आदि रूप जो विविध भाव होते हैं उनका निमित्त कर्म है इसमें किसी को विवाद नहीं। विवाद केवल अन्य वस्तुओं के संयोग वियोग के कारण के सम्बन्ध में ही है। हमारा कहना यह है कि शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास इनका संयोग वियोग कर्म निमित्तक मानने में विशेष आपत्ति नहीं परन्तु इनके सिवा सर्वथा पृथक्भूत धन स्त्री आदि पदार्थों के संयोग वियोग को कर्म निमित्तक मानना उचित नहीं। उनका संयोग वियोग होता तो है अपने अपने कारणोंसे पर यह संयोग वियोग शुभाशुभ कर्मों के उदय में सहकारी कारण अवश्य होता रहता है। इसीसे आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने इनको नोकर्म द्रव्यकर्म बतलाया है। नोकर्म द्रव्यकर्म का अर्थ कर्मोदय में सहकारी कारण होना है।

किन्तु अन्य समालोचक बन्धु शरीर, वचन मन व श्वासोच्छ्वास के सिवा अन्य बाह्य पदार्थों के संयोग वियोग को भी कर्म निमित्तक मानना चाहते हैं। इस लिये विवाद का विषय इतना ही रह जाता है।

यह तो कर्म सिद्धान्त के ज्ञाता भली भांति जानते हैं कि जो कार्य जिस कर्म के उदयसे होता है वह कर्म उस कार्य का निमित्त कहा जाता है। उदाहरणार्थ–क्रोध कषाय क्रोध कर्म के उदय से होता है अतः क्रोध कषाय का निमित्त क्रोध कर्म कहा जाता है। कर्म के कार्यकारित्वकी मर्यादा इतनी ही मानी गई है। इस हिसाब से स्त्री पुत्र धनादिकरूप अन्य पदार्थों के संयोग वियोग के कारणों पर विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका कारण किसी भी कर्म का उदय नहीं, किन्तु अन्य है।

तीर्थंकरके पांच कल्याणक होते हैं जिनका कारण लोक में पुण्य कर्म कहा जाता है। पर विश्लेषण कर देखने पर ज्ञात होता है कि यह बात ऐसी नहीं है। जैसे कि–

सर्व प्रथम मोक्षकल्याणक को लीजिये। यह तब होता है जब तीर्थङ्कर का जीव मुक्त हो जाता है। उस समय उसके एक भी कर्म नहीं रहता, इसलिये मोक्ष कल्याणक का कारण कर्म को मानना किसी भी हालत में उचित नहीं है। अब दूसरा गर्भकल्याणक लीजिये। यह कल्याणक उसके भी होता है जो नरक पर्याय से आकर तीर्थङ्कर होता है और उसके भी होता है जो देव पर्याय से आकर तीर्थङ्कर होता है, किन्तु नारकी के केवल पाप प्रकृतियों का ही उदय होता है और देव के पुण्य प्रकृतियों का ही। अब यदि गर्भकल्याणक का कारण ऐसे जीव का पुण्य कर्म माना जाता है तो नरक से आकर तीर्थंकर होनेवाले जीव के गर्भकल्याणक नहीं होना चाहिये, किन्तु होना अवश्य है। इससे मालूम पड़ता है कि गर्भकल्याणकका कारण भी कर्म नहीं है।

तब प्रश्न होता है कि ये कल्याणक किस कारण से होते हैं। मेरा उत्तर यह है कि ये सब कल्याणक धर्मानुराग वश देवों द्वारा किये जाते हैं, इसलिये इनका कारण धर्मानुराग है, न कि होनेवाले तीर्थंकर का कर्म।

अभिषेक, पूजन आदि कार्य हम जिन प्रतिमा का भी करते हैं जो कि जड़ है। यहाँ पर भी धर्मानुराग ही कारण है। कारण वह कहलाता है जो कि कार्य का अव्यभिचारी हो। कार्यकारणभाव की व्यवस्था इसी आधार से चलती है, अन्यथा कार्यकारणभाव की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी या सब सब के कार्य हो जायगें और सब सब के कारण।

दूसरा दृष्टान्त देवगति का लिया जा सकता है। ऊपर ऊपर के देवों के पुण्यातिशय माना गया है। यदि परिग्रह की प्राप्ति पुण्य का फल होता तो ऊपर ऊपर के देवो के उत्तरोत्तर परिग्रह की वृद्धि होनी चाहिये थी। किन्तु ऊपर ऊपर के देवों के परिग्रह की हीनता बतलाई गई है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि बाह्य परिग्रह की प्राप्ति पुण्य का फल नहीं है। जहाँ भी इसे पुण्य का फल कहा गया है वहाँ कारण में कार्य का उपचार करके ही ऐसा कहा गया है।

तीसरा दृष्टान्त परिग्रह का परिमाण करनेवाले गृहस्थों का भी लिया जा सकता है। जो गृहस्थ परिग्रह का परिमाण कर लेते हैं वे परिग्रह के अधिक संचय के कारण मिलने पर भी उससे विरत रहते है। यदि वे त्यागरूप परिणामों को तिलांजलि दे दें तो उनके अधिक परिग्रह जुड़ सकता है, पर वे अपने परिणामो पर दृढ़ रहते हैं और मर्यादा के बाहर परिग्रह का संचय नहीं करते। इससे पता चलता है कि उत्तरोत्तर परिग्रह की वृद्धि का कारण ममकार और अहकार भाव है न कि पुण्य कर्म। हम यह मान लेते हैं कि ऐसे बहुत से तृष्णावाले प्राणी होते हैं जिनके तृष्णा की प्रचुरता के होनेपर भी अधिक परिग्रह नहीं जुड़ पाता। पर ऐसा होने पर भी हमारे उक्त

कथन से कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि परिग्रह की प्राप्ति के जो दूसरे कारण हैं उनकी कमी से वे ऐसा नहीं कर पाते। इतना सच है कि उन कारणों में कर्म की परिगणना नहीं की जा सकती।

हम समझते हैं कि इतने विवेचन से कर्म की कार्यमर्यादा के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति है उसका निराकरण हो जाता है। हम यह मानते हैं कि यह विषय बहुत ही अधिक उलझ गया है। नीतिकारों और पुराणकारों ने इस उलझन को और भी अधिक बढ़ा दिया है जिससे प्रत्येक व्यक्ति हर एक कार्य में कर्म का सम्बन्ध जोड़ता फिरता है। जिन कार्यों का सम्बन्ध ऋतुओंसे, कालमर्यादा से या बाह्य व्यवस्था से है उन्हें भी लोग कर्म का फल मानने लगे हैं।

लोगों ने ऐसा मान लिया है कि संसार में जो भी संयोग वियोग होता है वह सब कर्म से ही होता है। किन्तु उन्हें इस धारणा को निकाल देना चाहिये और उनके वास्तविक कारणों पर पहुंचने का प्रयत्न करना चाहिये।

"कर्मणा वर्णः" "वयसा आश्रमः" के सिद्धान्त पर चलने से, इसका सर्व प्राणेन प्रचार करने, इसके अनुसार मानव-समाज का व्यूहन करने से, समग्र मानवजाति का उदय, 'सर्व' का अभ्युदय, हो सकता है, सब को चारों पदार्थों की, धर्म-अर्थ-कामात्मक अभ्युदय की, और मोक्षात्मक निःश्रेयस की प्राप्ति हो सकती है।

जीवन साहित्य]　　　　—(डा०) भगवानदास
सर्वोदय अंक

प्रयाग-सङ्ग्रहालय में जैन पुरातत्त्व-

-मुनि कान्तिसागर

[१]

प्रास्ताविक

किसी भी देश की संस्कृति के दो रूप होते है। एक तो वह जो आंतरिक जीवन शुद्ध करने मे पूर्णतः योग देता हो और दूसरा वह रूप जो बाह्य साधनो के द्वारा भी उस अनन्त की ओर पहुँचने मे मदद देता है और जो प्राणिमात्र के जीवन का अंतिम लक्ष्य हो, वह है आध्यात्मिक विकास। दूसरे शब्दो मे इसे यो भी कहा जा सकता है कि संस्कृति आत्मा है तो सभ्यता उसका कलेवर। श्रमण-संस्कृति को भी यदि हम उपर्युक्त पंक्तियों के प्रकाश मे देखें तो स्पष्टतः दो रूप दिखाई पड़ेगे। श्रमण-संस्कृति की आत्मा अहिंसा है जिसे स्याद्वाद के द्वारा जीवन के विविध अंगों मे व्यवहृत किया जाता है। शिल्प-स्थापत्य कला मे जैन संस्कृति का समुन्नत और व्यापक रूप दृष्टिगोचर होता है। इसे हम व्यावहारिक रूप कहें तो अत्युक्ति न होगी। श्रमणों द्वारा प्रवर्त्तित संस्कृति आरम्भ काल मे ही निवृत्ति-प्रधान रही है।

कला का सीधा सम्बन्ध मस्तिष्क से न होकर हृदय से है। वस्तुपुञ्ज के भीतर विभिन्न प्रकार के तथ्याश्रित तत्त्वों की गवेषणा उसका मुख्य ध्येय है। इसीमे सौन्दर्यानुभूति का अनुभव होता है। वह सब को समान नहीं हो सकता। जिसकी तदनुकूल पृष्ठभूमि तैयार हो वही इस दृष्ट सौन्दर्य का अनुभव कर सकता है। सौन्दर्य का सम्बन्ध पार्थिव द्रव्यों से जोड़ा जा सकता है। या यों कहा जा सकता है कि पार्थिव सौन्दर्य का बाहरी रूप मानव द्वारा निर्मित प्रस्तर आदि कला-उपकरणों में सम्मिलित है। हृदय मे कल्पनाओं का बाहुल्य पाया जाता है। सत्य और तथ्य ये दो दिखने में समान होते हुए भी तत्त्वतः सर्वथा भिन्न है। कल्पना या भावुक हृदय या कला के बाह्य उपकरण नूतन तथ्यों का आविष्कार कर सकते है, या किसी भी द्रव्य के तथ्य तक पहुँच सकते है, सत्य तक नहीं। श्रमण-संस्कृति की दृष्टि से यहाँ हम सत्य को प्राणी के अत्युच्च विकास के रूप में ग्रहण करेंगे। 'सौन्दर्याश्रित तत्त्व जब तथ्य तक ही पहुँचा सकते है तब अन्तिम सत्य तक पहुँचने के लिए पार्थिव सौन्दर्यानुभूति का विकास श्रमण-संस्कृति में कैसे हुआ?' यद्यपि इस जटिलतम प्रश्न की विवे-

चना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं,तथापि प्रासंगिक रूप से इतना तो कहा ही जा सकता है कि सत्योन्मुखी कल्पना द्वारा प्रसूत चेष्टाएं आंतरिक विकास में पूर्णतः साधक भले ही न हों पर वे बाधक तो अवश्य ही नहीं हैं। कारण कि शिल्पी अंतिम लक्ष्य की ओर सतत जाग्रत रखने वाली मनोवृत्तियों का सूक्ष्म मानसिक स्वरूप स्थूल रूप से विभिन्नतम कलात्मक उपादानों पर अपनी चिर साधित छैनी द्वारा उत्कीर्णित करता है। यही साधारण मनुष्य को विषय की दृष्टि से और अन्य मनुष्यों को सौन्दर्य की दृष्टि से खींचे रहते हैं। श्रमण-संस्कृति में शिल्प-कलात्मक विकास दृष्टिगोचर होता है उसमें ऐसी बहुत कम वस्तुएं हैं जो संस्कृति की आत्मा को किसी न किसी रूप से व्यक्त न करती हों। इसी लिए निवृत्ति-प्रधान संस्कृति के सार्वभौमिक तत्त्वों की रक्षा के लिए बाह्य उपकरणों के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत हुई।

श्रमणों का वैयक्तिक जीवन था तो पूर्णतः आत्मिक अर्थात् उनका आचार एक प्रकार से व्यक्तिमूलक ही था परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे सौन्दर्य से अन्य वस्तुओं की तरह मुख मोड़े हुए थे। हर्षाभिव्यक्ति उनके जीवन का अंग बनी हुई थी। रस या कला के द्वारा उन्होंने प्रत्येक युग की जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया जिसके फलस्वरूप आज संपूर्ण भारत में और कहीं कहीं विदेशमें भी शिल्प,स्थापत्य और चित्रादि कलाओं के प्रतीक उपलब्ध होते रहते हैं। इस उपलब्ध साधन सामग्री में न केवल श्रमण-संस्कृति का तत्त्व ही अंतर्निहित है अपितु अधिक स्पष्ट कहा जाय तो इनमें भारतीय लोकजीवन का प्रतिबिम्ब भी है। परन्तु आज का विद्वत्समाज श्रमण-संस्कृति की एक धारा पर तो काफी अन्वेषण कर चुका है और कर भी रहा है किंतु जैन धारा अद्यावधि उपेक्षित-सी हो रही है। इसपर यदि पक्ष-पातरहित दृष्टि से काम किया जाय तो विदित हुए बिना न रहेगा कि रस और आध्यात्मिक दृष्टि से इन अवशेषों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन तीर्थों में तो भास्कर्य के प्रतीक उपलब्ध होते ही हैं साथ ही साथ भारत के कलातीर्थ समान आश्चर्यगृहों में भी पर्याप्त साधन सामग्री पड़ी हुई है। एवं कहीं कहीं खंडहरों में बुरी तरह अशिक्षित किसानों द्वारा नष्ट भी की जा रही है।

जैन-मूर्तिकला का क्रमिक-विकास—

प्रयाग नगर-सभा सङ्ग्रहालय-स्थित जैन मूर्त्तियों का परिचय प्राप्त करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि जैन-मूर्त्ति-निर्माण कला क्या है? इसका क्रमिक विकास कलात्मक और धार्मिक दृष्टि से कैसे हुआ? यों तो उपर्युक्त प्रश्न इतने व्यापक और भारतीय मूर्ति-विधान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं कि उनपर जितना भी प्रकाश डाला जाय कम है, कारण कि मूर्त्ति-विधान और विधाता का

क्षेत्र अति व्यापक है। आश्रित और आश्रयदाताओं में भिन्नता हो सकती है परन्तु कलोपजीवी व्यक्तियों में नहीं। विकास संघर्षात्मक परिस्थिति पर निर्भर है। ज्यों ज्यों युग और परिस्थितियाँ बदलती है त्यों त्यों सभी चल-अचल तत्त्वों मे स्वाभाविक परिवर्तन की लहर आ जाती है। ये पंक्तियाँ मूर्तिकला पर सोलहो आने चरितार्थ होती हैं। इस कला मे युगानुसार परिवर्तन का अर्थ यह है कि कलाकार अपने सुचिन्तित मानसिक भावों को प्राप्त साधनोंके द्वारा युग की अभि-रुचि के अनुसार व्यक्त करता है। प्रकटीकरण मे माध्यम एवं अन्य सांस्कृतिक विचारों मे मौलिक ऐक्य रहते हुए भी ज्यों ज्यों बाह्य उपकरणों मे परिवर्तन होता जाता है त्यों त्यों कला मे मौलिक ऐक्य रहते हुए भी बाह्य अलंकरणों मे परिवर्तन होता जाता है। रुचि एवं देशभेद के कारण भी ऐसे परिवर्तन संभव हैं कि जिनके विकसित रूप को देखकर कल्पना तक नहीं होती कि इनका आदि स्रोत क्या रहा होगा? जैन मूर्तिकला पर यदि इस दृष्टि से सोचे तो आश्चर्यचकित रह जाना पड़ेगा। प्रारंभिक काल की प्रतिमाएं एवं मध्यकालीन मूर्तियो के सिंहावलोकन के बाद अर्वाचीन मूर्तियों एवं उनकी कला पर दृष्टि केन्द्रित करें तब उपर्युक्त पंक्तियों का अनुभव हो सकता है। जहाँ जैन-मूर्ति निर्माण कला और उसके विकास तथा उपकरणो का प्रश्न उपस्थित होता है वहाँ प्रस्तर, धातु, रत्न, काष्ठ और मृत्तिका आदि समस्त निर्माणोपयोगी द्रव्यों की मूर्तियों की ओर ध्यान स्वाभाविक रूप से आकृष्ट हो जाता है। परन्तु यहाँ पर मेरा क्षेत्र केवल प्रस्तर मूर्तियों तक ही सीमित है। अत. मै अति संक्षिप्त रूप से प्रस्तरोत्कीर्णित मूर्तियो पर ही विचार करूँगा।

भारत मे मूर्ति का निर्माण, क्यो, कैसे तथा कब मे प्रारम्भ हुआ यह एक ऐसी समस्या है जिसपर अद्यावधि समुचित प्रकाश नहीं डाला गया। यद्यपि पौराणिक आख्यानोंकी कोई कमी नहीं है क्योंकि भारत मे हर चीज के पीछे एक कहानी चलती है। परन्तु जैन मूर्तियों के विषय मे ऐसी कहानियाँ अत्यल्प मिलेगी जिनमे तनिक भी सत्य न हो या उनमे मानव-विकास का तत्त्व न हो। यहाँ पर ग्रंथस्थ लेखों पर विचार न कर केवल उन्ही आधारों पर विचार करना है जो शिलाओं पर खुदे हुए पुरातत्त्वज्ञो के सम्मुख समुपस्थित हो चुके हैं। उपस्थित जैन मूर्तियो के आधार पर बहुसंख्यक भारतीय एवं विदेशी विद्वानो ने जैन शिल्प और मूर्ति-विज्ञान पर अपने बहुमूल्य विचार व्यक्त किये है। किन्तु मथुरा से प्राप्त शिल्प ही प्रधान रूप मे उनके विचारों के आधार रहे हैं। विद्वानों ने अपना अभिमत सा बना रक्खा है कि जैन मूर्ति-निर्माण का प्रारंभ सबसे पहले मथुरा मे कुषाण युग मे ही हुआ, पर वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। हाँ इतना कहा जा सकता है कि कुषाण युग मे जैनाश्रित कला का विकास काफी हुआ। परन्तु

इतः पूर्व की मूर्तियों के कलात्मक प्रतीक और महामेघवाहन कलिंगाधिपति खारवेल का हाथीगुफा का लेख विद्यमान रहते हुए भी उपर्युक्त आधारहीन मान्यताओं को दुहराते रहना आज से २० वर्ष पूर्व भले ही क्षम्य रहा हो पर आज उसका कोई मूल्य नहीं।

कतिपय विद्वानों ने यह भी भ्रम फैला रक्खा है कि जैन मूर्तियों की अपेक्षा बौद्ध मूर्तियों का निर्माण काल की दृष्टि से पहले हुआ। परन्तु उपलब्ध प्राचीन सामग्री तो कुछ दूसरे ही तथ्य की ओर इंगित करती है।

डा० प्राणनाथ विद्यालंकार ने प्रभासपाटन के एक ताम्रपत्र को इस प्रकार पढ़ा था—"बेबीलोन के सम्राट् नेबुचंदनेजार ने रैवतगिरि के नाथ नेमिनाथ मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था[1]।" यह नेबुचंदनेजार जैन साहित्य में वर्णित आर्द्रकुमार ही प्रतीत होता है[2]। इसका स्थितिकाल ई० पू० छठी शती है। मगध के राजकुमार अभयकुमार ने इसके पास एक जैन मूर्ति बेबीलोन भेजी थी। इन्होंने भगवान महावीर के पास आकर श्रमण दीक्षा अंगीकृत की थी। महावीर भगवान के समय में भी वीरभय-पत्तन में उनकी चन्दन काष्ठ पर मूर्ति खोदी गयी थी।

भारतीय इतिहास में महामेघवाहन खारवेल के हाथीगुफा वाले लेख का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। इसके आधार पर स्वर्गीय डा० काशीप्रसाद जायसवाल जी ने प्रमाणित किया है कि खारवेल से शताधिक वर्ष पूर्व उदयगिरि पर जैन अर्हतों के मंदिर विद्यमान थे। जो जैन मूर्ति मगधनरेश नंदिवर्धन उठा ले गया था उसे खारवेल ने युद्ध कर मगध से पुनः लाकर वहां प्रतिष्ठित किया था।

गतवर्ष पाटलिपुत्र (पटना) में मैंने वहां के अजायबघर में एक प्रतिमा देखी जिसके उल्लेख का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता। संग्रहालय में प्रवेश करते ही उस मूर्ति पर नजर पड़ती है। ढाई फीट ऊँची है। १४ फरवरी १९३७ में पटना के एक उपनगर लोहानीपुर की खुदाई के समय प्राप्त हुई थी। यह मूर्ति हलके हरे रंग के पाषाण पर खुदी है। इसकी पालिस प्रतिस्पर्धा की वस्तु है। शताब्दियों तक भूगर्भ में रहते हुए भी उसकी चमक में कोई अन्तर नहीं आ पाया है जो मौर्यकालीन शिल्प की अपनी विशेषता है। स्वर्गीय डा० जायसवाल ने भी इसका निर्माणकाल गुप्तपूर्व ४०० ही स्थिर किया है[3]। अतः प्राप्त मूर्तियों में यह अवशेष सर्वप्राचीन है।

(१) टाइम्स आफ इण्डिया १५-३-३५।

(२) महावीर जैन विद्यालय रजत महोत्सवग्रंथ पृष्ठ ८०-८८।

(३) चित्र के लिए देखें जैन एण्टिक्वेरी दिसम्बर १९३८

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि जैन मूर्तियों का विकास कुषाण युग से पूर्व ही हो चुका था। बौद्ध मूर्तिकला का विकास महायान के उदय के अनन्तर हुआ है। हाँ, यह बात निर्विवाद है कि कला की दृष्टि से जैनों की अपेक्षा बौद्ध मूर्ति-निर्माण-कला मे शीघ्र ही बाजी मार ले गये। जिस प्रकार बौद्धों ने धार्मिक क्रान्ति की उसी प्रकार अत्यन्त ही अल्प समय में मूर्ति कला में भी क्रांतिकारी तत्त्वों को प्रविष्ट कराकर मूर्तियों में वैविध्य ला दिया। अर्थात् उसी समय की भगवान बुद्ध की तथा बौद्ध धर्माश्रित विभिन्न भावों को प्रकाशित करने वाली गांधार और कुषाण कला की अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं। परन्तु क्रांति के मामले में जैनी प्रायः पश्चात्पाद रहे हैं फिर शिल्पकला में—और वह भी धर्माश्रित—परिवर्तन कर ही कैसे सकते थे। इतना अवश्य है कि जैनों ने जिन-मूर्तियों की मुद्रा में परिवर्तन न कर जैन धर्ममान्य प्रसंगों के शिल्प मे समय समय पर अवश्य ही परिवर्तन किया एवं मूर्ति के एक अंग परिकर निर्माण में तथा तदंगीभूत अन्य उपकरणों में भी परिवर्तन किया, परन्तु वह परिवर्तन एक प्रकार से कलाकार और युग के प्रभाव के कारण ही हुआ होगा। मजबूरी थी।

श्रमण संस्कृति अति प्रारंभिक काल से ही निवृत्ति-प्रधान संस्कृति के रूप में भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध रही है। उसके बाह्यांग भी इस तत्त्व के प्रभाव से बच नहीं पाये। मूर्ति में तो जैन संस्कृति की समत्वमूलक भावना और आध्यात्मिक शान्ति का स्थायी स्रोत उमड़ पड़ा है। कुशल शिल्पियों ने संस्कृति की आत्मा को अपने औजारों द्वारा कठोर पत्थरों पर उतार कर वह सुकुमारता ला दी है जिसका सौन्दर्य आज भी हर एक को अपनी ओर खींच लेता है। मैं तो स्पष्ट कहूँगा कि भारतवर्ष में जितने भी सांस्कृतिक प्रतीक समझे जाते हैं या किसी न किसी अवशेष में किंचिन्मात्र भी भारतीय संस्कृति का प्रतबिंब पड़ा है उन में जैन प्रतिमाओं का स्थान त्यागप्रधान भाव के कारण सर्वोत्कृष्ट है। इसी में भारतीय संस्कृति की आत्मा और धर्म की व्यापक भावनाओं का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। वहाँ पर जाते ही मानव अंतर्द्वंद्व भूल जाता है। शान्ति के अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करने लग जाता है। जब कि अन्य धर्मावलम्बी मूर्तियों में इस प्रकार की अनुभूति कम होती है। जैनमूर्ति का आदर्श महाकवि धनपाल के शब्दों में इस प्रकार है—

प्रशम-रस-निमग्नं दृष्टि-युग्मं प्रसन्नं वदन कमलमंकः कामिनी-संग-शून्यः।
करयुगमपि धत्ते शस्त्र-संबंध-वन्ध्यं तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव।

जिसके नयन-युगल प्रशम रस में निमग्न है, जिसका हृदय-कमल प्रसन्न है जिसकी गोद कामिनी संग से रहित-निष्कलंक है। और जिसके करकमल

भी शस्त्र-संबंध से सर्वथा मुक्त है वैसा तू है । इसी से वीतराग होने के कारण विश्व में सच्चा देव है।

किसी भी जैन मंदिर में जाकर देखें वहाँ पर तो सौम्य भावनाओं से ओतप्रोत स्थायी भावों के प्रतीक समान धीर-गंभीरवदना मूर्ति ही नजर आवेगी । खड़ी, शिथिल, हस्त लटकाये, कहीं नग्न तो कहीं कटिवस्त्र धारण किये या कहीं बैठी हुई पद्मासन—दोनों करों को चेतनाविहीन ढंग पर गोद में लिये हुए, नासाग्र भाग पर ध्यान लगाये, विकाररहित प्रतीक कहीं भी नजर आये तो समझना चाहिये कि यह जैनमूर्ति है क्योंकि इस प्रकार की भाव-मुद्रा जैनों की भारतीय शिल्पकला को मौलिक देन है। मुकुटधारी बौद्ध मूर्तियाँ भी जैन मुद्रा के प्रभाव से काफी प्रभावित हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में जिस भाव-मुद्रा का वर्णन किया गया है वह सभी जैन मूर्तियों पर चरितार्थ होता है । २४ तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में मौलिक अंतर नहीं है। परन्तु उनके अपने लक्षण ही उन्हें पृथक् करते हैं। लक्षण की पृथक्ता भी काफी बाद की चीज है क्योंकि प्राचीन मूर्तियों में उसका सर्वथा अभाव पाया जाता है। एक और कारण मिलता है जो अमुक तीर्थंकर की प्रतिमा है इसे सूचित करता है पर यह भी उतना व्यापक नहीं जान पड़ता, वह है यक्षिणियों का। जो अन्य तीर्थङ्करों की प्राचीन मूर्तियाँ मिली हैं उनमे भी अम्बिका यक्षिणी वर्तमान है जब कि जैन वास्तु—शास्त्रानुसार केवल नेमिनाथ की मूर्ति में ही उसे रहना चाहिये। अस्तु

मथुरा में जैन अवशेष मिले हैं, उनमें आयागपट्टक भी है। जिनके मध्यभाग में केवल जिन-मूर्ति पद्मासनस्थ उत्कीर्ण है। यह मूर्ति किस तीर्थंकर की है कहना कठिन है।

कुषाणकाल में जिन-मूर्तिकला में अनुपम विकास हुआ। इसे जैन वास्तु-कला के पर्याप्त ज्ञान के अभाव के कारण अजैन विद्वानों ने निर्माण का प्रारभ काल मान लिया। इस काल में मूर्ति के बाह्य अलंकरणों में पर्याप्त वृद्धि हुई। प्रत्येक जिन की एक मूर्ति मध्य में तो थी ही परिकर के चारों ओर जिन मूर्तियाँ बनने लगीं जिनको चतुर्विंशतिका पट्ट भी कह सकते हैं। कुछ मूर्तियों में परिकर भी बनने लगे जिनमें सिंहासन,छत्र प्रभावलि, चमरधारी पार्श्वद, पुष्पमाला लिये गगनविहारिणी देवियाँ, देव-दुन्दुभी आदि अष्ट प्रतिहार्य तथा निम्न भाग में मृगद्वय युक्त खड़ा या गोल धर्मचक्र, मकराकृतियाँ और यक्ष यक्षिणियाँ, कहीं पर नवग्रह या गृहस्थ दम्पति आदि मूर्तियाँ भी परिकर में स्थान पा गयीं।

अभीतक परिकर का रूप ठीक से निर्धारित नहीं किया गया था। यद्यपि पार्श्वनाथ स्वामी की एक प्रतिमा मथुरा में मिली है जो एक प्रकार से परिकर

युक्त हो है। भाव बड़े सुन्दर हैं। परिकर में मुख्यतः तीर्थंकर प्रतिमा है। अवान्तर देव देवियाँ हैं। सभी के मुख पर कई प्रकार के भावों का अंकन सहृदयता के साथ किया गया है। परिकर अपने ढंग का अकेला ही है।

प्रासंगिक रूप से एक बात कह देना और आवश्यक समझता हूँ कि प्रकृत कालीन जैन स्मारकों का महत्त्व केवल श्रमण-संस्कृति की धार्मिक भावना से ही नहीं है अपितु संपूर्ण भारतीय मूर्तिविधानपरम्परा के क्रमिक विकास की दृष्टि से भी उनका अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है। यह तो सर्वविदित है कि कुषाण काल में भारतीय कला पर विदेशी प्रभाव काफी पड़ा था। बाहरी अलंकरणों को कलाकारों ने जहाँ तक बन पड़ा भारतीय रूप देकर अपना लिया। जैन मूर्तियों में भी दम्पति-मूर्तियों की वेशभूषा पर वैदेशिक प्रभाव स्पष्ट झलकता है। अयागपट्टक भी इसकी श्रेणी में आंशिक रूप से आ सकते हैं। मथुरा के अतिरिक्त जैन अवशेष और विशेषतः उत्कीर्ण शिलालेख जैन संस्कृति के इतिहास पर अभूतपूर्व प्रकाश डालते हैं। ये लेख भारतीय भाषाविज्ञान की दृष्टि से बड़े मूल्यवान् हैं। मान्यगण और शाखाओं के नाम भी इन लेखों में आते हैं।

कुषाण काल के बाद जैन मूर्तिनिर्माण का केन्द्र कहाँ था? और कुषाण कालीन शिल्पियों की परम्परा का विकास कहाँ पर हुआ यह एक समस्या ही है। कोई मूर्ति अभिलषित काल की उपलब्ध नहीं हुई। मेरे ध्यान से शुंगों की धार्मिक साम्पदायिकता के कारण श्रमण-संस्कृति की धारा शिथिल पड़ गयी हो तो आश्चर्य नहीं। यद्यपि जैन पट्टावलियों से तो यही प्रतीत होता है कि उन दिनों भी मगध और उड़ीसा में जैन श्रमणों का अच्छा प्रभाव था। इनमें से कुछ राजमान्य भी थे। गुप्तकाल के पूर्व के जैन अवशेष आज तक सम्भवतः उपलब्ध नहीं हुए।

गुप्तकाल भारतीय मूर्तिविज्ञान का उत्कर्षकाल माना जाता है। मथुरा, पाटलिपुत्र, और सारनाथ गुप्तकालीन मूर्तिनिर्माण के प्रधान केन्द्र थे। विशेषतः इस काल में बौद्ध मूर्तियों का ही निर्माण हुआ है। कुछ जैन मूर्तियाँ भी बनीं। कुमारगुप्त के समय में निर्मित भगवान् महावीर की एक प्रतिमा मथुरा संग्रहालय में अवस्थित है जो उत्थित पद्मासनस्थ है[1]। स्कन्दगुप्त के समय में भी गोरखपुर जिलान्तर्गत कोहम नामक एक स्थान में जैन मूर्ति स्थापित करने की सूचना गुप्त-लेखों में मिलती है[2]।

१—इम्पीरियल गुप्त—श्री रा० दा० बनर्जी, प्लेट, १८।

२ फ्लीट-गुप्त इन्स्क्रिप्सन्स—१५ "श्रेयोऽर्थं पथि भूत-भूत्यै नियमवता-मर्हतामादि कर्तृन्"

गुप्त काल में धातु की जैन मूर्तियाँ भी बना करती थीं। गुजरात प्रान्त स्थित महुड़ी में कुछ जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। इनसे जैन संस्कृति के इतिहास पर नया प्रकाश पड़ता है। मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक भावों को लिये हुए हैं। डा० हीरानन्द शास्त्री[1] ने इसे बौद्ध प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त प्रयास किये परन्तु साराभाई नवाब,[2] मुनि न्यायविजयजी[3] और मेरे मित्र डा० हँसमुखलाल जी साँकलिया[4] ने उपर्युक्त मत का भलीभाँति निरसन कर दिया है।

प्रस्तर मूर्तियाँ लेखयुक्त अत्यल्प उपलब्ध हुई हैं। परन्तु बिना लेख वाली भी कुछ एक मूर्तियाँ मगध में पायी जाती हैं जिनको गुप्तकालीन मूर्तियों की कोटि में सम्मिलित किया जा सकता है। राजगृह के तृतीय पहाड़ पर फणयुक्त जो पार्श्वनाथ की प्रतिमा है उसका सिंहासन एवं मुख-निर्माण सर्वथा गुप्तकला के अनुरूप है। इसी पर्वत पर एक और अष्टप्रातिहार्य युक्त कमलासन स्थित प्रतिमा है। एवं मुंगेर जिले में क्षत्रियकुंड पर्वत वाले मन्दिर में अतीव शोभनीय, उपर्युक्त शैली के सर्वथा अनुरूप एक बिम्ब पाया जाता है जिनमें से तीसरी को छोड़ कर उभय मूर्तियों को गुप्तकालीन कह सकते हैं। राजगृह में पंचम पर्वत पर एक ध्वस्त जैन मंदिर के अवशेष मिले हैं। बहुत सी इधर उधर प्राचीन जैन मूर्तियाँ भी बिखरी पड़ी हैं। इनमें से नेमिनाथ वाली प्रतिमा को निस्सन्देह गुप्तकालीन मूर्ति कह सकते हैं। अभिलषित कालीन प्रतिमाओं के भामण्डल विविध रेखाओं से अंकित रहा करते थे एवं प्रभावली के चारों ओर अग्नि की लपटें बतायी गयी थीं। इसे बौद्ध मूर्तिकला की जैन मूर्तिकला को देन मान लें तो अत्युक्ति न होगी। जैन-बौद्ध मूर्तियों के अध्ययन से विदित हुआ कि प्रधान मुद्रा को छोड़ कर परिकर के अलंकरणों का पारस्परिक बहुत प्रभाव पड़ा है। उदाहरणार्थ जिन मूर्तियों में जो वाजिन्त्र-देव-दुन्दुभी-पाये जाते हैं व सकारण हैं अष्ट-प्रातिहार्य के ही अंग हैं। ये ही चिन्ह बौद्ध मूर्तियों में भी विकसित हुए हैं। यह स्पष्ट जैन प्रभाव है। बुद्धदेव की सर्वथा पद्मासनस्थ मूर्तियाँ भी जैन तीर्थंकर की मुद्रा का अनुसरण है। बौद्ध मूर्तियों के बाहरी परिकरादि उपकरणों का प्रभाव

---

(१) डा० हीरानन्द शास्त्री—रिपोर्ट आफ दि आर्क्योलाजिकल सर्वे बड़ोदा स्टेट, १९३७–३८।

(२) साराभाई मणिलाल नवाब—गुजरातनी प्राचीनतम जैन-मूर्तिओ भारतीय विद्या वर्ष १, अंक २, मार्च, १९४०।

(३) मुनि न्यायविजय—जैनसत्यप्रकाश—वर्ष ६, अंक ११

(४) डा० हँसमुखलाल साँकलिया—बुलेटिन आफ दि डेकन कालेज रिसर्च इन्स्टिट्यूट, भाग १, अं० २–४, मार्च १९४०।

गुप्तकालीन और तदुत्तरवर्त्ती मूर्तियों में पाया जाता है। गुप्तों के पूर्व की जैन मूर्तियों के सिंहासन के स्थान पर एक चौकी जैसा चिन्ह मिलता है जब कि गुप्तकाल में वह स्थान कमलासन में परिवर्त्तित हो गया। प्राचीन मूर्तियों में छत्र मस्तक के ऊपर बिना किसी आधार के लटके हुए बनाये गये हैं। किन्तु उपर्युक्त काल मे बहुत ही सुन्दर दंडयुक्त कलापूर्ण छत्र हो गये। मुख्य जैन मूर्ति के पार्श्वद एवं उसके हस्त, मुख आदि की भावभंगिमा पर अजंता की चित्रकला की स्पष्ट छाया है। परिकर के पृष्ठभाग में प्राचीन मूर्तियों मे केवल साधारण प्रभामण्डल ही दृष्टिगोचर होता है जब गुप्तकालीन मूर्तियों में उसके अर्थात् मस्तक और दोनों स्कन्ध प्रदेश के पृष्ठ भाग में एक तोरण दिखलायी पड़ता है कहीं सादा और कहीं कलापूर्ण। यह तोरण एक प्रकार से साँचीका सुस्मरण कराता है। परिकर के निम्न भाग में भी कहीं कहीं ऐसा देखा जाता है मानों कमल के वृक्ष पर ही सारी मूर्ति आधृत हो। कुछ मूर्तियों में कलश, शंख, धूपदान, दीपक और नैवेद्य सहित भक्त खड़ा बतलाया गया है। उपर्युक्त संपूर्ण प्रभाव बुद्ध कला की देन है। जैन मुद्रा तप-प्रधान होने के कारण मूलतः बौद्ध प्रभाव से वंचित रही। बाह्य अलंकरणों मे क्रांति अवश्य हुई परन्तु वह भी 'पाल' काल मे तथा उत्तर गुप्त काल में सुप्त हो गयी। यद्यपि गुप्तोत्तर कालीन जैन मूर्तियाँ मन्दिरों की अपेक्षा गुफाओं में ही भित्ति पर उत्कीर्णित मिलती हैं। राजगृह में भी सोनभंडार की दीवारों पर जैन मूर्तियाँ एवं धर्मचक्र खुदे हुए हैं। दीवार पर जब तक मूर्तियाँ खोदने की प्रथा रही तब तक मूर्ति निर्माण कला के विशिष्ट अंग परिकर में युग मान्य उपकरणों का प्रभाव कम पड़ा। यद्यपि ऐसा कोई काल नहीं आया जिसमें केवल एकाङ्गी जैन मूर्ति निर्माण कार्य ही होता गया अपितु कुछ प्रान्तों में ऐसा अवश्य हुआ। जिसके फलस्वरूप कहीं मूर्तिकला विकसित हुई और कहीं नहीं।

उपर्युक्त काल मे पश्चिम भारत की अपेक्षा उत्तर भारत में मूर्तिकला का पर्याप्त विकास हुआ। यद्यपि कलात्मक दृष्टि से इन पर बहुत ही कम अध्ययन हुआ है तथापि अंग्रेजी जरनलों और भारतीय पुरातत्त्व विषयक कुछ प्रांतीय भाषाओं के शोध पत्रों में कुछ मूर्तियाँ सविवरण प्रकाशित हुई हैं। विदेशी संग्रहालयों के इतिवृत्तों में भी इनका समावेश किया गया है।

उत्तर गुप्तकालीन अधिकतर मूर्तियाँ सपरिकर ही मिलती हैं। इसे हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम परिकर में जैन मूर्ति एवं उसके चारों ओर अवांतर बैठी या खड़ी मूर्तियाँ ही अंकित रहती हैं। एवं निम्न भाग में मूर्ति बनाने वाले दम्पति तथा यक्ष यक्षिणी धर्मचक्र एवं व्याल आदि खुदे होते हैं। यह तो सामान्य परिकर है। यद्यपि कलाकार को इसमें वैविध्य लाने में धार्मिक दृष्टि से स्थान कम रहता है। इस शैली की मूर्तियाँ प्रस्तर और धातु की मिलती हैं।

प्रस्तर की अपेक्षा धातु की मूर्तियाँ सौंदर्य की दृष्टि से अधिक सफल जान पड़ती हैं। परिकर का दूसरा रूप इस प्रकार पाया जाता है। मूल प्रतिमा के दोनों ओर चमरधारी, इनके पृष्ठ भाग में हस्ती या सिंहाकृति तदुपरि पुष्पमालायें लिये देव-देवियाँ—कहीं पर समूह कहीं पर एकाकी—मस्तक पर अशोक की पत्तियाँ, कहीं दण्ड युक्त छत्र, कहीं दण्ड रहित, उसके ऊपर दो हाथी तदुपरि मध्यभाग में कहीं कहीं ध्यानस्थ जिन-मूर्ति-प्रभावली, कहीं कमल की पंखुड़ियाँ विभिन्न रेखाओं वाली या कहीं प्लेन। मूर्ति के निम्न भाग में कहीं कमलासन, कहीं स्निग्ध प्रस्तर, निम्न भाग में ग्रास, धर्मचक्र अधिष्ठात्री एवं अधिष्ठाता, नवग्रह, कहीं कुबेर, कहीं भक्तगणपूजोपकरण, कमल दण्ड उत्कीर्णित मिलते हैं। संभव है कि १२वीं, ११वीं शती तक के परिकरों में कुछ और भी परिवर्तन मिलते हों। कुछ ऐसे भी परिकर युक्त अवशेष मिले हैं जिनमें तीर्थङ्कर के पंचकल्याणक आदि तीर्थंकरों के जीवन का क्रमिक विकास भी पाया जाता है। बौद्ध मूर्तियों में भी बुद्ध देव के जीवन का क्रमिक विकास ध्यानस्थ मुद्रावाली मूर्तियों में मिलता है। राजगृही और पटना संग्रहालय में इस प्रकार की मूर्तियाँ देखने में आती हैं। परिकर युक्त मूर्ति ही जन साधारण के लिये अधिक आकर्षण का कारण उपस्थित करती है और परिकरवाली मूर्तियों में ही कलाकार को भी अपना कौशल्य प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है। यद्यपि परिकर का भी यह प्रमाण है कि मुख्य मूर्ति से ड्योढ़ा होना चाहिये। पर जिन मूर्तियों की चर्चा यहाँ पर की जा रही है उन मूर्तियों के निर्माण के काफी वर्ष बाद के ये शिल्पशास्त्रीय प्रमाण हैं। अतः उपर्युक्त नियम का सार्वत्रिक पालन कम ही हुआ है। परिकर का यों तो आगे चलकर इतना विकास हो गया कि उसमें समयानुसार जरूरत से ज्यादा देव-देवी और हंसों की पंक्तियाँ भी सम्मिलित हो गयीं। परन्तु यह परिवर्तन काल प्रकृत स्थान पर विवक्षित काल के आगे का है। अतः इस पर विचार करना यहाँ पर आवश्यक नहीं जान पड़ता।

प्रासंगिक रूप से यहाँ पर सूचित कर देना परमावश्यक जान पड़ता है कि खड़ी और बैठी जैन मूर्तियों के अतिरिक्त चतुर्मुखी मूर्तियाँ भी मिलती हैं। एवं कहीं कहीं एक ही शिलापट्ट पर चौबीसों तीर्थंकरों की मूर्तियाँ सामूहिक रूप से उपलब्ध होती हैं। यहाँ पर मूर्तिकला के अभ्यासियों को स्मरण रखना चाहिये कि जिस प्रकार जिन मूर्तियाँ बनती थीं उसी प्रकार जिन भगवान् की अधिष्ठातृ-देवियों की भी मूर्तियाँ स्वतंत्र रूप से काफी बना करती थीं। इनके भी स्वतंत्र परिकर पाये जाते हैं। जिनके विषय में मैं आगे प्रसंगानुकूल विचार करूंगा।

जैन मूर्ति निर्माण कला और उसके क्रमिक विकास को समझने के लिये उपर्युक्त पंक्तियाँ मेरे ख्याल से काफी है। यह विवेच्य धारा १२वी शती तक ही बही है। कारण कि इसके बाद जैन मूर्ति निर्माण कार्य में कला नही रह गयी है। कुशल शिल्पियों की परंपरा मे वैसे व्यक्ति इन दिनों नहीं रह गये थे जो अपने औजारों द्वारा पाषाण मे प्राण का संचार कर सके। उनके पास हृदय न था केवल मस्तिष्क और हाथ ही काम कर रहे थे।

भवनस्थित मूर्तियों का परिचय--

वर्षो से सुन रखा था कि प्रयागनगरसभा के सङ्ग्रहालय मे श्रमण-संस्कृति से संबन्धित पर्याप्त मूर्तियाँ सुरक्षित है। काशी मे जब मैं फरवरी मे आया तभी से विचार हो रहा था कि एक बार वहाँ जाकर प्रत्यक्ष अनुभव किया जाय। परन्तु मुझ जैसे सर्वथा पाद-विहारी के लिये थी तो एक समस्या ही। अंत मे मैंने कड़कड़ाती धूप मे १०-६-४९को मुनि श्री कनकविजय जी को साथ लेकर प्रयाग के लिये वनारससे प्रस्थान किया। ग्रीष्मके कारण मार्गमे कठिनाइयोंकी कमी नहीं थी। परन्तु उत्साह भी इतना था कि ग्रीष्मकाल हम पर अधिकार न जमा सका। प्रयाग जाने का एक लोभ यह भी था कि निकटवर्ती कौशाम्बी भी हो आयेंगे। परन्तु मनुष्य का सभी चिंतन सदैव साकार नही होता।

२७ जून को घूमते हुए हम लोग ऐसे स्थान मे पहुंच गये जहाँ पर अतीव सुन्दर और भारतीय संस्कृति की समस्त धाराओ से सम्बन्धित ध्वंसावशेषोंका अद्भुत संग्रह था। वहाँ पर प्राचीन भारतीय जनजीवन के तत्वों का साक्षात्कार हुआ और उन प्रतिभासम्पन्न अमर शिल्पाचार्यो के प्रति आदर उत्पन्न हुआ, जिन्होंने अपने श्रम से अर्थकी तनिक भी चिंता न कर, संस्कृति के व्यावहारिक रूप सभ्यता को स्थायी रूप दिया। प्रस्तरोपरि भास्कर्य उन्नत रूप से अपना असीम सौंदर्य फैलाये हुए था। कही ललित-गति-गामिनी परम सुन्दरियाँ प्रस्तरावशेषो मे इस प्रकार नृत्य कर रही थीं मानों अभी बोल पड़ेगी। उनकी भावमुद्रा उनका शारीरिक गठन उनका मृदु हास्य और अंगो का मोड़ ऐसा लगता था कि अभी मुस्करा देगी। कहीं ऐसे भी अवशेष दिखे जिनके मुख पर अपूर्व सौन्दर्य और आध्यात्मिक शान्ति के भाव उमड़ रहे थे।

सचमुच पत्थरों की दुनिया भी अजीब है जहाँ कलाकार वाणी विहीन जीवन यापन करने वालों के साथ एकाकार हो जाता है। वह इन जड़ पाषाणों मे भावनाका प्रवाह पाता है। अतीतकी स्वर्णिम झांकियाँ उन्नत जीवनकी ओर उत्प्रेरित करती है जिसमें कला विविध रूप लिये साकार थी। कला केवल वस्तु तत्व के तीव्र आकर्षण तक ही सीमित नहीं अपितु वह संपूर्ण राष्ट्रीय जीवन के नैतिक

स्तर परिवर्तन कर नूतन निर्माणार्थ भी मार्ग-प्रशस्त करती है। स्वतंत्र भारत में प्रस्तर पर से जो ज्ञान की धाराएँ बहती है उन्हें झेलना पड़ेगा। उससे हमें चेतना मिलेगी। हमारे नवजीवन में स्फूर्ति आयेगी। उस दिन तो हमने सरसरी तौर पर खंडितावशेषों से भेटकर दुखित हृदय से बिदा ली। इसलिये नहीं कि उनसे प्रेम नहीं था परन्तु इसलिए कि एक एक की भिन्न भिन्न गौरवगाथा सुनने का अवकाश नहीं था। कारण यह भी था कि मेरे मित्र श्रीयुत सतीशचन्द्रकाला एम० ए० भी उन दिनों अनुपस्थित थे। आप इस संग्रहालय के क्यूरेटर है। परन्तु परम उत्साही रा. ब. श्रीमान् व्रजमोहन जी व्यासने मुझे कालाजी की अनुपस्थितिका तनिक भी अनुभव न होने दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही हम अपनी पुरातत्त्व गवेषण विषयक सामग्री लेकर संग्रहालय मे पहुँचे। वहाँ पर इन प्रस्तरोंको एक स्थान पर एकत्र करने वाले रायबहादुर श्री व्रजमोहन जी व्यास उपस्थित थे। आपने बड़े मनोयोग पूर्वक संग्रहालय के सभी विभागोंका निरीक्षण करवाया विशेष कर जैन विभाग का।

अब मैं उन प्रतिमाओं की छानबीन में लगा जिनका सम्बन्ध जैन संस्कृति से था। जो कुछ भी इन मूर्तियों से समझ सका उसे यथामति लिपिबद्ध किया जा रहा है।

नं० ६०८–प्रस्तुत प्रतिमा श्वेत पर पीलापन लिये हुए प्रस्तरपर उत्कीर्ण है, कहीं कहीं पत्थर इस प्रकार खिर गया है कि भ्रम उत्पन्न होने लगता है कि यह प्रतिमा बुद्धदेवकी न हो। कारण उत्तरीय वस्त्राकृतिका आभास होने लगता है। पश्चात् भाग खंडित है। आगे भागमें खड्गासनस्थ एक प्रतिमा अवस्थित है, मस्तकपर सर्पाकृति (सप्त फण) खचित है। निम्न उभय भाग मे, परिचारक परिचारिकायें स्पष्ट है। इसी प्रतिमा के अधोभाग मे अधिष्ठातृ देवी अंकित है। चतुर्भुज शंख, चक्रादि से कर अलंकृत हैं। जो चक्रेश्वरी की प्रतिमा है। प्रधान प्रतिमा के निम्न भाग मे भक्तगण और मकराकृतियाँ हैं। यद्यपि कला की दृष्टि से इस संपूर्ण शिलोत्कीर्ण मूर्ति का कोई विशेष महत्त्व नहीं।

नं० २५। यह प्रतिमा चुनार के समान पाषाण पर खुदी हुई है। गर्दन और दाहिना हाथ कुछ चरणों की उंगलियां एवं दाहिने घुटने का कुछ हिस्सा खंडित है। इसके सामने एक वक्षस्थल पड़ा है इसके दाहिने कंधे के पास दो खड्गासनस्थ जैनमूर्तियाँ है; इन से स्पष्ट हो जाता है कि ये जैन प्रतिमा ही है कारण कि खंडित स्कंध प्रदेशपर केशावलि के चिन्ह स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहे हैं। अतः यह प्रतिमा निस्संदेह भगवान ऋषभदेव की है, जो श्रमण संस्कृति के आदि प्रतिष्ठापक थे। इसके समीप ही एक स्वतंत्र स्तंभ पर नग्न चतुर्मुख मूर्तियाँ है।

उपर्युक्त प्रतिमाओं का संग्रह जहाँ पर अवस्थित है वहाँ पर एक प्रतिमा हल्के पीले पाषाण पर खुदी हुई है। पद्मासनस्थ है। ३२॥।×२३ है। उभय ओर चामरधारी परिचारिक तथा निम्नभाग में दायें–बायें क्रमशः स्त्री पुरुष की मूर्ति इस प्रकार अंकित है मानों श्रद्धांजलि समर्पित कर रहे हों। बीच में मकराकृति तथा अर्धधर्मचक्र है। प्रधान जैन प्रतिमा के मस्तक पर सुन्दर छत्र एवं तदुपरि वाजिन्त्र, पुष्पवृष्टि हो रही है। अर्थात् अष्टप्रतिहार्य विद्यमान है। पाषाण कहाँ का है यह तो कहना जरा कठिन है पर चुनार से मिलता जुलता है। इस प्रतिमाका संबन्ध श्रमण संस्कृति की एक धारा जैन संस्कृति से जोड़ा जाय या बौद्ध संस्कृति से, यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर गंभीरता पूर्वक विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। बात यह है कि जितनी भी प्राचीन जैन मूर्तियाँ उपलब्ध हुई है उनमें से कुछ मूर्तियों पर तीर्थंकरों के चिन्ह एवं निम्न उभय भाग में अधिष्ठाता, अधिष्ठातृ देवी की प्रतिमाएँ भी अंकित रहती है। इस प्रतिमा में चिन्ह-लंछन के स्थान पर तो एक स्त्री खुदी हुई है। इस प्रकार की शायद यह प्रथम प्रतिमा है। साथ ही साथ पूर्ण या अर्ध मृग युक्त धर्मचक्र भी मिलता है। कहीं कही अधिष्ठाता के स्थान पर गृहस्थ दम्पति का चित्रण भी दिखलाई पड़ता है। अब प्रश्न इतना ही है कि यदि यह बौद्धमूर्ति होती तो वस्त्राकृति अवश्य स्पष्ट होती जिसका यहाँ पर सर्वथा अभाव है। हाँ, श्रमण संस्कृति की उभय धाराओं का यदि समुचित ज्ञान न हो तो भ्रम को यहाँ पर काफी गुंजाइश है। मैं तो इसकी विलक्षणता पर ही मुग्ध हो गया। इसके अंग प्रत्यंग जान बूझ कर तोड़ दिये गये है। इस पर निर्माणकाल सूचक कोई लिपि वगैरह नहीं है। प्रतिमा के मुख के भावों का प्रश्न है वे ११ शती के बाद के तो अवश्य ही नहीं है, कारण प्रतिमाओं के समय निर्माण में उनकी मुखमुद्रा का उपयोग किया जाता है, खासकर जैन प्रतिमाओं में।

संग्रहालय के भवन में प्रवेश करते समय बायें हाथ पर हलके हरे रंग के आकर्षक प्रस्तर पर एक खड्गासन में जैन मूर्ति अंकित है। ३९×१८। यह मूर्ति न जाने कलाकार ने कैसे समय में बनाई होगी। हर प्रेक्षक का ध्यान आकर्षित कर लेती है। परन्तु चरण निर्माण में कलाकार पूर्णतः असफल रहा।

इसे एक प्रतिमा न कहकर यदि चतुर्विंशतिका पट्ट कहें तो अधिक अच्छा होगा क्योंकि उभय भाग में दोनो पंक्तियों की ६ कोटि में १२ लघुतम प्रतिमाएँ है। और मध्य में एक विशालकाय प्रतिमा है जो इन सब में प्रधान है—इस प्रकार २५ प्रतिमाएँ होती है। चतुर्विंशतिका-पट्ट मैंने अन्यत्र भी देखे है पर उनमें मध्य प्रतिमा को लेकर २४ मूर्तियाँ होती है जब इसमें २५ है। अर्थात् ऋषभदेव की दो मूर्तियाँ है। लोग कहा करते है कि शरीर का सारा सौन्दर्य मुखाकृति पर निर्भर

होता है। इसपर यह पंक्ति खूब चरितार्थ होती है। प्रतिमाओं का अंग विन्यास, स्वाभाविक है, कहीं पर भी कृत्रिमता जैसी कोई चीज नहीं है। उंगलियाँ और मुख पर कितना प्राकृतिक प्रभाव है यह देखकर दाँतों तले उंगली दबाना पड़ता है। मुखमंडल पर अपूर्व शान्ति और आध्यात्मिकता के स्थायीभाव तथा होंठों पर स्मित हास्य फड़क रहा है। सौन्दर्य पार्थिव जगत का विषय होते हुए भी यहाँ कलाकार की कल्पना शक्ति ने उसकी आध्यात्मिक झलक करा दी है।

प्रतिमा के स्कन्धप्रदेश पर विराजित केशावलि[1] बहुत ही सुन्दर लग रही है चरण के निम्न भाग में वृषभ का चिन्ह भी स्पष्ट है। अतः यह मूर्ति ऋषभदेव की है। दायीं ओर अधोभाग में दम्पत्ति युगल है। बायीं ओर मकर तथा धूप दीपक आदि पूजन की सामग्री पड़ी हुई है। इस प्रकार की पूजन सामग्री बौद्ध

---

१. दशम शती के पूर्व की जिन प्रतिमाओं में प्रायः लाछन नहीं मिलते अतः किस तीर्थंकर की कौन मूर्ति है यह कहना कठिन हो जाता है। ऋषभदेव की मूर्ति की पहचान यों तो लांछन से की जाती है परन्तु प्राचीन मूर्तियों में तो केशावलि ही परिचय प्राप्त करने का प्रधान साधन है। आवश्यक सूत्र निर्युक्ति और त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र ग्रंथों में केशावलि का कारण इन शब्दों में स्पष्ट बतलाया गया है –

"तीस पंच मुट्ठिओ लोओ सयमेव। भगवओ पुण सक्कवयणेण कणगावयदाए सरीरे जडाओ अंजणरेहाओ इव रेहंतीओ उवलब्भइ ऊण ठिआओ तेण चउमुट्ठिओ लोओ।" –आ० नि० पृ० १९१।

–उनका (तीर्थंकर का) स्वयमेव पंचमुष्टिका लोच था पर भगवान ऋषभदेव का इन्द्र के वचन से, उनके कनकवत् उज्वल शरीर पर, अंजन रेखा की समान जटाएँ बिना लुंचित किये ही सुशोभित रहीं, अतः उनका चतुर्मुष्टिक लोच है।

'प्रतीच्छति स्म सौधर्माधिपतिः कुन्तलान् प्रभो।
वस्त्राञ्चले वर्णान्तरतन्तुमण्डलानुकारिणः ॥ ६८ ॥
मुष्टिना पञ्चमेनाथ शेषान् केशान् जगत्पतिः।
समुत्क्षिपन्निषन्नेव ययाचे नर्मचिद्विषा ॥ ६९ ॥
नाथ! त्वदंसयोः स्वर्णरुचोर्मरकतोपमा।
वातानीता विभात्येषा तदास्तां केशवल्लरी ॥ ७० ॥
तथैव धारयामास तामीशः केशवल्लरीम्।
याञ्चामेकान्तभक्तानां स्वामिनः खण्डयन्ति न ॥ ७१ ॥'

–त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र सर्ग ३, पृष्ठ ७० ।

प्रतिमाओं मे उत्कीर्ण रहती है। जैन प्रतिमाओं में संभव है बौद्ध धर्माश्रित मूर्ति निर्माण कला का प्रभाव पड़ा हो।

२४ तीर्थंकरों की भिन्न भिन्न मूर्तियाँ उपर्युक्त शिला में खुदी हैं। उन सभी पर वृषभ, हस्ति, आदि अपने अपने चिन्ह भी बने हुए हैं। मध्यवर्ती प्रतिमा के उभय ओर अवस्थित चामरधारियों की भावभंगिमा सुकुमारता की परिचायिका है। ऊपर के भाग में प्रभामण्डल, पुष्पमाला और ध्वनि आदि के चिन्ह अष्ट प्राति-हार्य हैं। इस ललित प्रतिमा का निर्माण काल १३वी शती के बाद का नहीं हो सकता। इस शैली की एक प्रतिमा मैंने राजगृह निवासी बाबू कन्हैयालाल जी के संग्रह में देखी थी जिसका चित्र ज्ञानोदय के प्रथमांक मे प्रकाशित हो चुका है।

प्रवेशद्वार के बायीं ओर एक शिल्पाकृति कुछ विचित्र सी लगती है जो श्याम पाषाण पर उत्कीर्ण है, प्राचीन नहीं है। अग्र भाग मे गजराज है। एक पद्मासनस्थ एवं तदुभय भाग में दो खड्गासनस्थ जैन मूर्तियाँ हैं। ऊपर के भाग में सुन्दर नागर शैली का शिखर अंकित है। निम्न भाग मे चक्र के स्थान पर दो हस्ति इस प्रकार बनाये गये हैं मानों शिखर और प्रतिमाओं को वहन किये हुए हैं। इस प्रकार की शिल्पाकृति अन्यत्र देखने मे नहीं आयी, अनुमानतः यह रथयात्रा का प्रतीक है।

प्रवेश द्वार के सम्मुख २१ × १५ इंच की शिला पर एक एक पंक्ति मे छः छः इस प्रकार तीन पंक्तियों मे १८ मूर्तियाँ एवं चतुर्थ पंक्ति मे छह प्रतिमाएँ हैं। ५ खड्गासन और एक पद्मासन। मुख का भाग खंडित है।

उपर्युक्त पंक्तियों मे जिन मूर्तियों का परिचय दिया गया है वे सभी नगर सभा संग्रहालय की गैलरी मे रखी गयी हैं, कुछ एक ऐसी भी जैन मूर्तियाँ हैं जिनका विशेष महत्त्व न रहने के कारण परिचय नहीं दिया गया है। अब मैं उन मूर्तियों के संबंध मे ज्ञानोदय के अगले अंक में विचार करूँगा जो बगीचे में बाहर के भाग मे अवस्थित हैं।

—क्रमशः

———————

प्राचीन नवीन या समीचीन ?

—प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

मनुष्य में प्राचीनता का मोह इतना दृढ है कि अच्छी से अच्छी बात को वह प्राचीनता के अस्त्र से उड़ा देता है और बुद्धि तथा विवेक को ताक में रख उसे 'आधुनिक' कह कर अग्राह्य बनानेका दुष्ट प्रयत्न करता है। इस मूढ मानव को यह पता ही नहीं है, कि प्राचीन होने से ही कोई विचार अच्छा और नवीन होने से ही कोई बुरा नही कहा जा सकता। मिथ्यात्व हमेशा प्राचीन होता है, अनादि से आता है और सम्यग्दर्शन नवीन होता है पर इससे मिथ्यात्व अच्छा और सम्यक्त्व बुरा नहीं हो सकता। आचार्य समन्तभद्र ने धर्मदेशना की प्रतिज्ञा करते हुए लिखा है "देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।" इसमे उनने प्राचीन या नवीन धर्म के उपदेश देने की बात नहीं कही है, किंतु वे 'समीचीन' धर्म का उपदेश देना चाहते हैं। जो समीचीन अर्थात् सच्चा हो बुद्धि और विवेक के द्वारा सम्यक् सिद्ध हुआ हो, वही ग्राह्य है न कि प्राचीन या नवीन। प्राचीन में भी कोई बात समीचीन हो सकती है और नवीन मे भी कोई बात समीचीन। दोनो से असमीचीन बातें भी हो सकती हैं। अतः परीक्षा कसौटी पर जो खरा समीचीन उतरे वही हमे ग्राह्य है। प्राचीनता के नाम पर पीतल ग्राह्य नहीं हो सकता और नवीनता के कारण सोना त्याज्य नही। कसौटी रखी हुई है, जो कसने पर समीचीन निकले वही ग्राह्य है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने बहुत खिन्न होकर इन प्राचीनता-मोहियों को सम्बोधित करते हुए छठवीं द्वात्रिंशतिका में बहुत मार्मिक चेतावनी दी है, जो प्रत्येक संशोधक को सदा स्मरण रखने योग्य है—

"यदशिक्षितपण्डितो जनो विदुषामिच्छति वक्तुमग्रतः ।
न च तत्क्षणमेव शीर्यते जगतः किं प्रभवन्ति देवताः ॥"

समीक्षक विद्वानों के सामने प्राचीन रूढ़िवादी बिना पढ़ा पंडितम्मन्य जब अट-संट बोलने का साहस करता है, वह तभी क्यों नहीं भस्म हो जाता ? क्या दुनिया मे कोई न्याय-अन्याय को देखने वाला देवता नहीं है ?

"पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति ।
तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवादहन्न जातः प्रथयन्तु विद्विषः ॥"

पुराने पुरुषों ने जो व्यवस्था निश्चित की है वह विचारने पर क्या वैसी ही सिद्ध हो सकती है ? यदि समीचीन सिद्ध हो तो हम उसे समीचीनता के नाम पर

तो मान सकते है, प्राचीनता के नाम पर नहीं। यदि वह समीचीन सिद्ध नहीं होती तो मरे हुए पुरुषों के झूठे गौरव के कारण 'तथा' हाँ में हाँ मिलाने के लिये मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ। मेरी इस समीचीनप्रियता के कारण यदि विरोधी बढ़ते हों तो बढ़ें। श्रद्धावश कबर पर फूल तो चढ़ाये जा सकते हैं। पर उनकी हर एक बात का अन्धानुसरण नहीं किया जा सकता।

"बहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं विरोधयुक्ताः कथमाशु निश्चयः।
विशेषसिद्धावियमेव नेति वा पुरातनप्रेमजडस्य युज्यते ॥"

पुरानी परम्परायें बहुत प्रकार की हैं, उनमें परस्पर पूर्व-पश्चिम जैसा विरोध भी हैं। अतः बिना विचारे प्राचीनता के नाम पर चट से निर्णय नहीं दिया जा सकता। किसी कार्य विशेष की सिद्धि के लिये 'यही व्यवस्था है, अन्य नहीं, यही पुरानी आम्नाय है' आदि जड़ता की बातें पुरातनप्रेमी जड़ ही कह सकते है।

"जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥"

आज जिसे हम नवीन कहकर उड़ा देना चाहते हैं वही व्यक्ति मरने के बाद नई पीढ़ी के लिये पुराना हो जायगा और पुरातनों की गिनती में शामिल हो जायगा। प्राचीनता अस्थिर है। जिन्हें आज हम पुराना कहते हैं वे भी अपने जमाने में नये रहे होंगे और उस समय जो नवीन कहकर दुरदुराये जाते होंगे वे ही आज प्राचीन बने हुए हैं। इस तरह प्राचीनता और पुरातनता जब कालकृत हैं और कालचक्र के परिवर्तन के अनुसार प्रत्येक नवीन पुरातनों की राशि में सम्मिलित होता जाता है तब कोई भी विचार बिना परीक्षा किये इस गड़बड़ पुरातनता के नाम पर कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

"विनिश्चयं नैति यथा यथालसस्तथा तथा निश्चितवत्प्रसीदति।
अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ॥"

प्राचीनतामूढ़ आलसी जड़ निर्णय की अशक्ति होने के कारण अपने अनिर्णय में ही निर्णय का भान करके प्रसन्न होता है। उसके तो यही अस्त्र हैं कि 'अवश्य ही इसमें कुछ तत्त्व होगा? हमारे पुराने गुरु अमोघवचन थे, उनके वाक्य मिथ्या नहीं हो सकते, हमारी ही बुद्धि अल्प है जो उनके वचनों तक नहीं पहुँचती आदि। इन मिद्धावृत आलसी पुराणप्रेमियों की ये सब बुद्धिहत्या के सीधे प्रयत्न हैं और इनके द्वारा वे आत्मविनाश की ओर ही तेजी से बढ़ रहे हैं।

"मनुष्यवृत्तानि मनुष्यलक्षणैर्मनुष्यहेतोर्नियतानि तैः स्वयम्।
अलब्धपाराण्यलसेषु कर्णवानगाधपाराणि कथं ग्रहीष्यति ? ॥"

जिन्हें हम पुरातन कहते हैं वे भी मनुष्य ही थे और उन्होंने मनुष्यों के लिये ही मनुष्यचरित्रों का वर्णन किया है। उनमें कोई दैवी चमत्कार नहीं था। अतः

जो आलसी या बुद्धिजड़ हैं उन्हें ही वे अगाध गहन या रहस्यमय मालूम हो सकते हैं पर जो समीक्षक चेता मनस्वी है वह उन्हें आँख मूंद कर 'गहन रहस्य' के नाम पर कैसे स्वीकार कर सकता है ?

"यदेव किंचित् विषमप्रकल्पितं पुरातनैरुक्तमिति प्रशस्यते ।
विनिश्चिताप्यद्य मनुष्यवाक्कृतिर्न पठ्यते यत्स्मृतिमोह एव सः ॥"

कितनी भी असम्बद्ध और असंगत बातें प्राचीनता के नाम पर प्रशंसित हो रही हैं और चल रही हैं । उनकी असम्बद्धता 'पुरातनोक्त और हमारी अशक्ति' के नाम पर भूषण बन रही है तथा मनुष्य की प्रत्यक्षसिद्ध बोधगम्य और युक्ति-प्रवण भी रचना आज नवीनता के नाम पर ठुकराई जा रही है । यह तो प्रत्यक्ष के ऊपर स्मृति की विजय है । यह मात्र स्मृतिमूढ़ता है । इसका विवेक या समीक्षण से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

"न गौरवाक्रान्तमतिर्विगाहते किमत्र युक्तं किमयुक्तमर्थतः ।
गुणावबोधप्रभवं हि गौरवं कुलाङ्गनावृत्तमतोऽन्यथा भवेत् ॥"

पुरातन के मिथ्यागौरव का अभिमानी व्यक्ति युक्त और अयुक्त का विचार नहीं कर सकता । उसकी बुद्धि उस थोथे बड़प्पन से इतनी दब जाती है कि उसकी विचारशक्ति सर्वथा रुद्ध हो जाती है । अन्त में आचार्य लिखते हैं कि गौरव गुण-कृत है । जिसमें गुण हैं वह चाहे प्राचीन हो या नवीन या मध्ययुगीन, गौरव के योग्य है । इसके सिवाय अन्य गौरव के नाम का ढोल पीटना किसी कुशीला कुलकामिनी का अपने कुल के नाम से सतीत्व को सिद्ध करने के समान ही है ।

कवि कालिदास ने भी इन प्राचीनताबद्ध-बुद्धियों को परप्रत्ययनेयबुद्धि कहा है । वे परीक्षकमति की सराहना करते हुए लिखते हैं—

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥"

अर्थात् सभी पुराना अच्छा और सभी नया बुरा नहीं हो सकता । सज्जन परीक्षा करके उनमें से समीचीन को ग्रहण करते हैं । मूढ़ ही दूसरे के बहकावे में आता है ।

अतः इस प्राचीनता के मोह और नवीनता के अनादर को छोड़ कर समीचीनता की ओर दृष्टि रखनी चाहिये, तभी हम नूतन पीढ़ी की मति को समीचीन बना सकेंगे । इस प्राचीनता के मोह ने असंख्य अन्धविश्वासों कुरूढ़ियों निरर्थक परम्पराओं और अनर्थक कुलाम्नायों को जन्म देकर मानव की सहज बुद्धि को अनन्त भ्रमों में उलझा दिया है । अतः इसका सम्यग्दर्शन कर जीवन को समीक्षा पूर्ण बनाना चाहिये ।

सम्पादकीय

पजूसण पर्व और दसलक्षणधर्म पर्व

भारतीय परम्परा में सांस्कृतिक पर्वों का विशेष महत्त्व है। ये पर्व या तो किसी विशेष घटना की स्मृति में उत्सव रूप से मनाये जाते हैं या त्याग और तपस्या के रूप में इनका उपयोग होता है। जैनों में यों तो सभी पर्व-दिनों को महत्त्वशाली माना गया है किन्तु पजूसण और दसलक्षणधर्म पर्व की गणना विशेष रूपसे की जाती है। इन दिनों विशेष चहल पहल दिखाई देती है। जो वर्ष भर धर्म का नाम नहीं लेते वे भी इन दिनों में कुछ न कुछ धर्म करते हुए दिखाई देते हैं।

पजूसण प्राकृत शब्द है। संस्कृत में इसका अनुवाद पर्युषण होगा। इसका निरुक्त्यर्थ है 'परि सर्वथा एक क्षेत्रे वसनम्' एक क्षेत्र में निवास करना। यह भाद्रपद कृष्णा द्वादशी से शुक्ला चतुर्थी तक आठ दिन का मनाया जाता है। इसमें कल्पसूत्र की वाचना होती है। इसका अधिकारी कंचन कामिनी का त्यागी मुनि ही होता है। गृहस्थ तो इस वाचना को केवल सुन ही सकता है। इधर कुछ दिन से प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल जी संघवी की प्रेरणा से इन दिनों में स्वतंत्र व्याख्यान-मालाएं चालू की गई हैं। श्वेताम्बर परम्परा में इसका प्रचलन है।

दूसरा दसलक्षणधर्म पर्व है। यह मुख्य रूप से दिगम्बर परम्परामें मनाया जाता है। इस पर्व के विषय में थोड़े बहुत जो भी उल्लेख मिलते हैं उनके अनुसार यह माघ, चैत्र और भाद्रपद के अन्तिम दस दिनों में आता है। किन्तु भाद्रपद में इसे विशेष रूप से मनाने की परिपाटी पड़ गई है। जैन परम्परा में धर्म के दस लक्षण माने गये हैं। इन्हीं की उपासना की स्मृति रूप यह पर्व आता है, इसलिये इसे दसलक्षणधर्म पर्व कहते हैं। ये दस धर्म इस प्रकार हैं--उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन और उत्तम ब्रह्मचर्य। वैदिक परम्परा में भी नाम भेदसे ये दस धर्म पाये जाते हैं और वहां भी इन्हें दस लक्षण धर्म कहा है।

ये दोनों स्वतन्त्र पर्व हैं और इनके मनाने के आधार भी भिन्न भिन्न हैं। किन्तु कुछ समय से लोग दसलक्षणधर्म पर्व को भी पजूसण पर्व या पर्युषण पर्व लिखने लगे हैं। कुछ विद्वानों ने संशोधन करके उसे पज्जुसण कहना भी चालू किया है। दसलक्षणधर्म पर्व के लिये यह नामकरण किसने कब से चालू किया

है इसका तो हमें ठीक पता नहीं है, पर जहां तक हमारा ख्याल है यह नामकरण गुजरात से किया गया होना चाहिये। मालूम होता है कि कुछ विद्वानो ने यह सोचा होगा कि जिस अर्थ मे दसलक्षणधर्म पर्व मनाया जाता है पजूसण पर्व का भी वही अर्थ है और इसलिये उन्होंने दसलक्षणधर्म के स्थान मे पर्युषण लिखना चालू कर दिया। नाम सुन्दर है इसलिये इसके प्रचार मे देर न लगी।

किन्तु जैसा कि हम पहले बतला आये है मूलतः दसलक्षणधर्म पर्व से पजूसण पर्व भिन्न है। खुलासा इस प्रकार है—

भगवती आराधना मे आचेलक्य, औद्देशिक, शय्याधरपिंड त्याग, राजपिंड त्याग, कृतिकर्म, व्रत, ज्येष्ठ, प्रतिक्रमण, मास और पर्युषण ये दस प्रकार के कप्प बतलाये है। ये ही कल्प श्वेताम्बर परम्परा मे माने गये है। तीसरे और चौथे कल्प के नाम मे कुछ अन्तर है।

दिगम्बर परंपरा मे इन कल्पों का विशेष वर्णन देखने मे नहीं आया। थोड़ा बहुत जो भी वर्णन है वह भगवती आराधना व मूलाचार मे किया है। किन्तु, श्वेताम्बर परंपरा मे इनका विस्तृत वर्णन अब भी देखने को मिलता है।

पज्जोसवण कप्प का विजयोदया टीका मे वर्षाकाल के चार महीनों मे एक जगह अवस्थान करना अर्थ किया है। वहां इसके कुछ अपवाद भी दिये है। मूलाराधना टीका मे अर्थ तो विजयोदया के अनुसार ही किया है, किन्तु उसमें इतना अर्थ 'पज्जो' शब्द का किया गया है और सवणकप्प को अलग बतला कर उसका अर्थ यतियो का आचारभेद कर दिया है। तथा मूलाचार की टीका मे 'पज्जो' शब्द को 'सवणकप्पो' से अलग करके 'पज्जो' का अर्थ निषद्यका और पञ्चकल्याणक स्थानों का सेवन करना किया गया है।

श्वेताम्बर परम्परा में बतलाया है कि पर्युषणा कल्प स्थित और अस्थित के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से स्थित पर्युषणा कल्प के भी दो भेद है—उत्कृष्ट और जघन्य। उत्कृष्ट पर्युषणा कल्प आषाढ शुक्ला पूर्णिमा से लेकर कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक चार माह का होता है। यही साधुओं का चातुर्मास कहलाता है और जघन्य पर्युषणाकल्प भादो सुदी ५ से लेकर कार्तिक सुदी १५ तक ७० दिन का होता है। पर्युषणा के दूसरे अस्थितकल्प भेद में चातुर्मास करने का कोई नियम नहीं है। यदि दोष होता है तो चातुर्मास करते है और नही होता तो नहीं करते। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शिष्यों को तो स्थितकल्प ही बतलाया है। वे अवश्य ही चातुर्मास करते है। किन्तु मध्य के २२ तीर्थंकरों के शिष्यों को स्थितकल्प और अस्थितकल्प दोनों का उपदेश है। यदि दोष होता है तो चातुर्मास करते है, नहीं होता है तो नहीं करते है।

विशेष विधि इस प्रकार बतलाई है कि—आषाढ़ सुदी १५को वर्षावास के योग्य क्षेत्र में प्रवेश करना चाहिये और वहां चार माह तक रहना चाहिये। किन्तु यदि चातुर्मास के समाप्त होने के समय वर्षा आदि अन्य कारण हो तो मार्गशीर्ष वदी दशमी तक रहना चाहिये। किन्तु यह अपवाद है। साधारण नियम तो चार माह तक रहने का ही है। एक अपवाद वर्षा आदि कारणों के रहने पर मार्ग-शीर्ष पूर्णिमा तक रहने का भी पाया जाता है। अब यदि इस क्षेत्र में आषाढ़मास कल्प किया हो और वह क्षेत्र चातुर्मास के योग्य हो या उसके पास कोई दूसरा क्षेत्र चातुर्मास के योग्य न हो तो वहीं चातुर्मास करे। तथा चातुर्मास के समाप्त होने पर यदि वर्षा आदि अन्य कारण हों तो अधिक से अधिक एक माह तक और रहे। इस प्रकार अपवाद रूप से एक स्थान पर छह माह तक भी रहा जा सकता है। यह ज्येष्ठावग्रह का विचार हुआ।

किन्तु जघन्य वर्षावास सत्तर दिन का भी होता है। जिसका विशेष खुलासा इस प्रकार है। जो साधु आषाढ़मास कल्प करते हैं वे श्रावण वदी प्रतिपदासे लेकर २५ दिन तक पर्युषण कल्प का कथन करते हुए विचरते रहते हैं। और श्रावण सुदी ५ को किसी एक स्थान पर स्थित हो जाते हैं। वे यद्यपि एक स्थान पर टिक जाते हैं तो भी गृहस्थों के सामने पर्युषणा का निश्चय प्रकट नहीं करते।

तात्पर्य यह है कि यदि गृहस्थ आकर पूछते हैं कि आपने यहां रहने का निश्चय किया या नहीं? तो साधु उत्तर देते हैं अभी कोई निश्चय नहीं है। यदि अभिवर्द्धित संवत्सर हुआ तो बीस दिन रात तक ऐसा किया जा सकता है और यदि चन्द्र संवत्सर हुआ तो एक माह बीस दिन तक ऐसा किया जा सकता है। परन्तु इसके बाद उन्हें निश्चय करना ही पड़ता है और उसकी प्रसिद्धि गृहस्थों के सामने कर देनी पड़ती है। इतने दिन तक निश्चय न करने के अनेक कारण बतलाये हैं। यह सम्भव है कि उस क्षेत्र में कोई उपद्रव हो जाय, या राजा द्वेष करने लगे। यह भी सम्भव है कि योग्य वर्षा न होने से धान्यादिककी उत्पत्ति न हो। अब यदि पहले से वर्षावास का निश्चय कर लिया जाय और ऐसे कारणों के मिलनेपर वहां से विहार कर दिया जाय तो जनता अपवाद करने लगती है कि—वे अपनेको सर्वज्ञ की परम्परा का मानते हैं फिर भी इतना भी नहीं जानते, अथवा झूठ बोलते हैं। पहले तो कह दिया कि हम यहां पर रहेंगे किन्तु अब चल दिया।

क्रम यह है कि आषाढ़ पूर्णिमा को एक जगह स्थित होकर पांच दिन तक दिन में संस्तार आदि का ग्रहण कर सकते हैं और पंचमी को पर्युषणका प्रारंभ कर देते हैं। अब यदि आषाढ़ पूर्णिमा को क्षेत्र प्राप्त नहीं हुआ तो श्रावण वदी १० तक ऐसा कर सकते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर पांच पांच दिन बढ़ाते हुए एक माह

२० दिन के पूरे होने पर भादों सुदी ५ को अवश्य ही उन्हें किसी एक स्थान पर निश्चिन्त होकर वर्षाकालका संकल्प करना होता है। इतने पर भी यदि उन्हें वर्षाकाल के योग्य उचित स्थान न मिले तो वृक्षमूल में वर्षाकाल व्यतीत करना होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि—दोनों परम्पराओं में मुख्यतः पर्युषण शब्द का व्यवहार साधुओं के चातुर्मास के लिये किया जाता रहा है। दशलक्षण धर्म पर्व के लिये तो इस शब्द का उपयोग अभी अभी कुछ वर्ष से किया जाने लगा है। मेरे ख्याल से मुनियों के चातुर्मास में पर्युषण शब्द का उपयोग करना तो ठीक है किन्तु दशलक्षण धर्म पर्व के लिये इस शब्द का उपयोग करना उचित नहीं है।

आशा है कि जनता व विद्वान् लोग जिस शब्द का परंपरा से जिस अर्थ में उपयोग होता आ रहा है उसका उसी अर्थ में उपयोग करना चालू रखेंगे। हमें प्रत्येक पर्व के लिये ऐसे ही शब्द का प्रयोग करना चाहिये जिससे उस पर्व की विशेषता प्रकट होती हो।

क्षमापर्व—

पर्युषण और दशलक्षण पर्व मानव को अन्तःसमीक्षण और आत्मालोचन की उत्प्रेरणा देते है। ये अतीत का संशोधन कर अनागत को सम्हालने के लिए मानव को सतत जाग्रत रहने का सन्देश लेकर आते है। 'समयं गोयम मा पमायए' गौतम, क्षणमात्र भी प्रमाद न कर—की चेतावनी इनका आद्य उद्घोष है। 'ज्ञानोदय' का जन्म श्रमण संस्कृति के श्रम शम और सम का सन्देश जन जन तक पहुंचाने के लिये हुआ है। वह अपनी सनिष्ठा से इस कर्तव्य का पालन करने के लिए कृतसंकल्प है फिर भी मानव मानव है अतः उससे गल्ती होना सभव है। इस शोधक पर्व पर 'ज्ञानोदय' परिवार सब से क्षमा प्रार्थना करता है—

> "खमामि सव्वजीवाण सव्वे जीवा खमन्तु मे।
> मित्ती मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झ ण केण वि॥

मै सब जीवों के प्रति क्षमाभाव रखता हूँ। सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरी सब के प्रति मैत्री है, मेरा किसी से वैर नहीं है।

"खमियव्व खमावियव्व। उवसमियव्वं उवसमावियव्व। सुमइ सम्पुच्छणा बहुलेणं होयव्वं। जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा। जो ण उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा। तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं। से किमाहु भन्ते! उवसमसारं खु सामण्णं।"

—कल्पसूत्र

अर्थात्-क्षमा देनी और लेनी, उपशान्त होना और स्वयं उपशम रहना। उपशान्त अन्य को करना उपशम दूसरे व्यक्तिको रखवाना, सुमति यानी रागद्वेषरहित बुद्धि पूर्वक सम्यक् रीत्या पृच्छा करनी-निर्मल मनसे कुशल प्रश्न वार्तालाप करना : जो उपशम करता है क्रोध आदि कषायों का उपशमन करता है उसके आराधना है। जो उपशम नहीं करता उसे आराधना नहीं होती। अतः आत्मा के द्वारा ही उपशम करना। हे पूज्य! किस हेतु से ऐसा करना? श्रामण्य-श्रमण भाव निश्चय से उपशम प्रधान है।

श्रद्धाञ्जलि-

आश्विन कृष्णा चतुर्थी प्रशममूर्ति पू० क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी का ७५ वाँ जन्म दिवस है। वर्णी जी का जीवन स्वयं पंडित है, त्यागी है, संस्था है, विद्या है, धर्म है और मनुष्य है। वे अजातशत्रु हैं। उनकी अन्तरात्मा देश काल के विधि-निषेधों से परे है। वे प्राणिमात्र के प्रति समत्व भावना के जीवन्त रूप हैं। 'ज्ञानोदय' परिवार उनके पुण्य जन्म दिवस पर अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करके भावना करता है कि ऐसे सैकड़ों दिन आवें।

समालोचकों से-

ज्ञानोदय के प्रथम अंक और उसकी रीति नीति के विषय में प्रकाशित हुई अनुकूल प्रतिकूल समालोचनाओं को हमने सावधानी से पढ़ा है। हमें प्रसन्नता है कि अधिकतर लोगों ने इस प्रयत्न की सराहना की है, किन्तु कुछ ऐसे भी महानुभाव हैं जो अपने स्वभावानुसार किसी अच्छाई में से बुराई ढूंढ़ने का प्रयत्न करने लगे हैं। इनकी मुख्य समालोचना का विषय 'नम्र निवेदन' टिप्पणी है। हम चाहते हैं कि आचार्य महाराज के जीवन की रक्षा की जाय। हम यह भी चाहते हैं कि कोई भी ऐसा काम न किया जाय जिससे उनकी आत्मा को कष्ट पहुंचे किन्तु हरिजन मन्दिर प्रवेश के विषय में दो तीन पत्रों ने जो मार्ग स्वीकार किया है उसका हम किसी भी अवस्था में समर्थन करने के लिये तैयार नहीं हैं। हमारे सामने मुख्य प्रश्न सिद्धान्त का है। हरिजन मनुष्य हैं, संज्ञी हैं, पंचेन्द्रिय हैं। उनकी योग्यता अन्य मनुष्यों से कम नहीं है। इस वस्तुस्थिति को समझ कर यदि इन पत्रों ने कुछ भी विवेक से काम लिया होता तो यह परिस्थिति ही उत्पन्न नहीं होती। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। आवश्यकता थोड़े से विवेक और साहस की है। अब हमें मिलकर सरकार से नहीं किन्तु आचार्य महाराज से निवेदन करना चाहिये कि वे जैन धर्म की मूल मान्यताकी ओर ध्यान देने की कृपा करें। हम आशा करते हैं कि आचार्य महाराज अपने पद और शास्त्रीय

मर्यादा को ध्यान में रखते हुए मिल कर सब के द्वारा किये गये इस नम्र निवेदन पर अवश्य ही ध्यान देंगे।

दूसरा समालोचना का विषय श्वेताम्बर परम्परा के कुछ उल्लेख हैं। ये उल्लेख जान बूझ कर कुछ स्वतन्त्र भाव से नहीं किये गये हैं। पत्र की नीति स्पष्ट हैं। उस पर चलने के लिये हम दृढ़प्रतिज्ञ हैं। हमारी मंशा साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन देने की न रही है और न रहेगी। विचार तो उन्हें करना है जो ऐसी बातों को विशेष प्रोत्साहन देकर निरर्थक साम्प्रदायिकता की आग को भड़काते हैं। इस नीति से वे किसी अच्छे फल की आशा नहीं कर सकते। यों तो विशेष मान्यताभेद के स्थलों पर टिप्पणी दे देना हमारी नीति में है। प्रथम अंक में ऐसी टिप्पणी छपने से रह गई है।

तीसरा समालोचना का विषय पत्र का उद्देश्य है। इस पर की गई समालोचना को हमने विशेष सावधानी से पढ़ा है। मालूम पड़ता है कि यह समालोचना उधारस्वरूप ली गई कलम और स्याही से लिखी गई है। इसके द्वारा प्रच्छन्न भाव से परसंस्कृति का ही समर्थन किया गया है। हम इन समालोचक बन्धु से क्या कहें। उत्तरस्वरूप उनसे हम आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के स्वाध्याय करने का ही अनुरोध कर सकते हैं। हम आशा करते हैं कि इससे उन्हें व्यक्तिस्वातन्त्र्य का सही अर्थ समझ में आये बिना नहीं रहेगा। तब फिर वे समत्व की भावना केवल पशुओं में न मान कर विवेकमूलक समत्व को मनुष्यों में भी स्वीकार करेंगे जिसकी उपासना से यह बन्धनमुक्त हो स्वातन्त्र्य-साम्राज्य का भोक्ता होता है।

इनके सिवा कुछ छोटी मोटी और भी समालोचनाएँ हैं। हमने उन सब पर ध्यान दिया है। प्रसन्नता है कि इससे हमें अपने मार्गको प्रशस्त करने में विशेष सहायता मिली है।

हरिजन मन्दिर प्रवेश चर्चा—

(१)

हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल के विरोध में कुछ व्यक्तियों की ओर से कराई गई हड़ताल के सम्बन्ध में निकाली गई विज्ञप्ति को देखा। इसके निवेदन कर्ताओं में कुछ मृत व्यक्तियों के भी नाम हैं। जान पड़ता है अधिकतर नाम बिना स्वीकृति के ही छाप दिये गये हैं। इसका पता उस 'भ्रमनिवारण' सूचना से लगता है जिसे अखिल भारतवर्षीय दि० जैन परिषद के प्रधान मंत्री लाला तनसुखराय जी ने प्रकाशित कराया है। यही बात 'जैन दर्शन' अंक २४ में प्रकाशित 'क्रोड़ पत्र में भूल' शीर्षक पं० मक्खनलालजी की टिप्पणी से भी जाहिर है।

इन उपायों से कराई गई हड़ताल पू० आचार्य शान्तिसागर महाराज की आत्मा को भला कसे तुष्ट कर सकेगी ? हड़ताल के विरोध में कुछ परचे भी छपे हैं। कुछ मित्रों के ऐसे पत्र भी आ रहे हैं जिनमें सरकार के पास इन सब प्रयत्नों के विरोध में दूसरा डेपुटेशन ले जाने की बात कही गई है। कुछ सभाओंने हड़ताल के विरोध में प्रस्ताव भी पास किये हैं और विश्वमित्र आदि सार्वजनिक पत्रों में हरिजनमन्दिरप्रवेश के समर्थन में लेख भी निकले हैं। हमें यह भी मालूम हो रहा है कि अब इस विषय का गलत प्रचार करनेवाले जैन पत्र अपनी आवाज बदल रहे हैं और वे भारत सरकार की 'सवर्ण और असवर्ण हिन्दुओं में किसी भी प्रकार के भेद न करने की सुनिश्चित नीति' के फलस्वरूप अजैन मात्र को जैन मन्दिर में आने का निषेध करना चाहते हैं या उन्हें मन्दिर के अमुक भाग तक आने देने का विधान करना चाहते हैं। हम ऐसे प्रयत्नों को भी गलत और अनर्थक साम्प्रदायिक उत्तेजना फैलाने वाले समझते हैं। आशा है कि जो जैन पत्र ऐसी नीति अपनाने जा रहे हैं वे अपने इस गलत रवैये को बदलेंगे और कोई ऐसी अवाज न उठावेंगे जिससे जैन समाज और संस्कृतिका अहित हो।

(२)

ता: ४ अगस्त सन् ४९ के 'जैन सन्देश' मे 'घर की फूट' शीर्षक सम्पादकीय टिप्पनी छपी है। पढ़ने के बाद हमें तो यह ऐसे दंगल के अखाड़े का आह्वान करती हुई मालूम देती है जहाँ मल्ल प्रतिमल्ल हार जीत की बाजू लगाते हैं। पर इसके लिये न तो हम तैयार ही हैं और न हम इस मार्ग को उचित ही मानते हैं। जैन सन्देश यदि इतना ही समझ ले कि किसी की आत्मा सत्य से जीती जा सकती है, असत्य का आश्रय लेने से मात्र अधर्म को प्रोत्साहन मिलता है, तो भी बहुत है। इसमें हमारे पत्र के नाम से–"समाज का अधिकांश भाग हरिजन मन्दिर प्रवेश बिल के साथ है। जैन समाज के जो लोग इसका विरोध कर रहे हैं वे बहुत थोड़ें हैं, उनके साथ जैन समाज नहीं है ऐसे लोगों को दण्ड देना चाहिये।"–ये वाक्य उद्धृत किये गये है। हमे दुःख है कि जैन सन्देश ने ऐसे ग्राम्य मार्ग को स्वीकार किया है जो साधारण पत्रकारिता की नीति के विरुद्ध है। हमने एक पत्र ज्ञानोदय के साथ देश के कुछ प्रमुख नेताओं को लिखा था और एक पत्र आचार्य महाराज की सेवा में भी भेजा था और ऐसा हमने अपनी घोषित नीति के अनुसार ही किया था। किन्तु जैन सन्देश ने अपने स्वभावानुसार उक्त टिप्पणी द्वारा हमारे पत्र को गलत रूपमें उपस्थित करके भ्रम फैलाने का प्रयत्न किया है। हमारे द्वारा भेजे गए प्रतिवाद को न छापकर तो उसने

सम्पादकीय सदाचार की अक्षम्य अवहेलना की है। इसलिये हम यहाँ उन पत्रों को अविकल दे देना चाहते हैं। आशा है इससे दूध का दूध और पानी का पानी होने में सहायता मिलेगी। हम तो समाज और संस्कृति के नम्र सेवक हैं और इस नाते ही उसकी सेवा करना चाहते हैं।

नेताओं को लिखे गये पत्र की नकल :—

महोदय,

"आप की सेवा में 'ज्ञानोदय' का प्रथम अंक भेज रहे हैं। इसमें लाल पेंसिल से चिन्हित स्थल व पृ० ७७ पर 'नम्र निवेदन' शीर्षक टिप्पणी देखने की कृपा करें।

आज कल हरिजन मन्दिर प्रवेश से जैन मन्दिरों को मुक्त कराने के लिये आचार्य शान्ति सागर जी ने अन्नत्याग किया है और कुछ स्थिति पालक भाई व बहिनें उनके इस कार्यक्रम को सफल बनाने के प्रयत्न में हैं। हम आप को विश्वास दिलाते हैं कि जैन समाज का बुद्धिजीवी विचारक भाग हरिजन मन्दिर प्रवेश का समर्थक है और जैन शास्त्रों में भी इसका समर्थन होता है। जैन संस्कृति मानव-मात्र का सामानाधिकार स्वीकार करती है। कुछ इने गिने रूढ़िवादी ही प्रगति के विरोधी हैं।

देश में किसी साम्प्रदायिक चौकापन्थी को प्रोत्साहन देनेवाले विचार को प्रेरणा न देने की आप अपनी नीति पर स्थिर हैं यह प्रसन्नता की बात है। आशा है आप इन रूढ़िवादियों को समुचित मार्ग दिखाएँगे।

आचार्य महाराज को लिखे गये पत्र की नकल:—

पूज्य श्री १०८ आचार्य शान्ति सागर जी महाराज, सेवा में सविनय नमोऽस्तु।

"परञ्च—हरिजन मन्दिर प्रवेश के विरोध स्वरूप आप करीब एक वर्ष से अन्न का त्याग किये हुए हैं यह जान कर हम लोग बहुत दिनों से चिन्तित हो रहे थे और यही सोच कर कि आप से इस आंशिक उपवास के परित्याग करने के लिये नम्र निवेदन किया जाय, ज्ञानोदय मासिक पत्र में एक टिप्पणी लिखी थी। हमारी इच्छा तत्काल उस पत्र को आपकी सेवा में भेज देने की थी किन्तु आप कहाँ विराज रहे हैं यह ज्ञात न होने से हम लाचार रहे। अब इस पत्र के साथ सेवा में अंक भेज रहे हैं। आशा है आप को इसके आधार से अपने विचारों में परिवर्तन करने का अवसर मिलेगा। हम लोग तो यही चाहते हैं कि आप चिरकाल तक हम लोगों के बीचमें बने रहें, पर आपने जो व्रत स्वीकार कर रखा है उसे और आप की वृद्धावस्था को देखते हुए हम लोगों की चिन्ता विशेष रूप से बढ़ जाती है। आशा है आप समयकी गति को पहिचानेंगे। हम यह तो मानते हैं कि समय चाहे कैसा ही

क्यों न हो शास्त्र के विरुद्ध वर्तन नही किया जा सकता है, किन्तु अब हम शास्त्र की ओर ध्यान देते है तो यही कहना पड़ता है कि शूद्रों को मन्दिर में जाने से रोकना उचित नही है। महाराज ! आप वीतराग है। आप की सब पर समदृष्टि होनी चाहिये। वे विचारे जो हिन्दुधर्म के प्रभाव वश हजारों वर्ष से पददलित और तिरस्कृत हो रहे है उन्हें भी मोक्षमार्ग का उपदेश देकर धर्म मे दृढ़ कीजिये।

जो क्रिया किसी को समझाने पर भी न बने, समझना चाहिये कि वह उसके करने के लिये अपात्र है। पर जो हरिजन कहे जाते है उनके सम्बन्ध में ऐसी बात नही है। वे मन्दिर मे जा सकते है, अपने बुरे कर्मो की आलोचना कर सकते है, व्रत स्वीकार कर सकते है, फिर कोई कारण नही दिखाई देता कि उन्हे इन बातो मे रोका जाय। आशा है आप का इस सहज नियम पर ध्यान जायगा और अपने विचारो को बदलने में समर्थ होंगे। आशा है आप इस नम्र निवेदन पर ध्यान देंगे और अन्न ग्रहण कर शरीर को सुदीर्घ बनाएँगे। समाज भी इस आकस्मिक चिन्ता से मुक्त हो जायगी।"

अब इसका निर्णय समाज ही करे कि जो कुछ जैन सन्देश मे प्रकाशित हुआ है वह कहाँ तक ठीक है। घर में फूट हमने नहीं डाली है। इस दोष के भागी वे है जिन्होंने शास्त्रपद्धति और अपने घर को ठीक तरह समझे बिना गलत प्रतिनिधित्व करने का बीड़ा उठाया है।

चित्रपरिचय—

प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित प्रतिमा सैतवाल जैन मन्दिर आरवी मे सुरक्षित है। उपलब्ध धातु प्रतिमाओ में कला की दृष्टि से इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि प्रतिमानिर्माता ने समय सूचक लेख नही दिया तथापि इसके सौन्दर्य और निर्माण विधान से कहा जा सकता है कि यह संभवत: १० वी से १२ वीं शती की निर्मित है। इस पर उत्तर भारतीय कला का काफी प्रभाव है। यों तो मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से इस प्रतिमा में बहुत कुछ वैशिष्ट्य पाया जाता है परन्तु एक विलक्षणता खास तौर से उल्लेखनीय है। वह है पृष्ठ भाग में पड़े हुए तकिये का स्वरूप। मूर्ति अर्धपद्मासनस्थ और श्वेताम्बर परम्परा से सम्बद्ध ज्ञात होती है।

साहित्य समीक्षा—अक्टूबर के अंक मे प्रकाशित होगी।

रजि० सं० ए० ८२५

पर्युषण पर्व में स्वाध्याय प्रेमियों को अमूल्य भेंट

महाबंध [महाधवल सिद्धान्त]–हिन्दी अनुवाद सहित [प्रथम भाग]

सम्पादक–पं० सुमेरुचन्द्र दिवाकर न्यायतीर्थ ।

यह वही ग्रन्थराज है जिसके दर्शनोंके लिये ही सदियों से श्रद्धालु जनता मूडबिद्री की यात्रा करती थी। जिसका भ० महावीरकी द्वादशांगवाणीसे साक्षात् सम्बन्ध है। यह कर्मसिद्धान्त का आगम प्रणाली से निरूपण करनेवाला सर्व प्रथम महान् सिद्धान्त ग्रन्थ है। **मूल्य १२)**

तत्त्वार्थवृत्ति–श्रुतसागर सूरिविरचित टीका। हिन्दी सार सहित। १०१ पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना में तत्त्व, तत्त्वाधिगम के उपाय, सम्यग्दर्शन, अध्यात्म-नियतिवाद स्याद्वाद, सप्तभंगी आदि का नूतन दृष्टि से विवेचन। सम्पादक–**प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य। बड़ी साइज** पृ० ६४० । **मूल्य १६)**

न्यायविनिश्चय विवरण–[प्रथमभाग] अकलङ्कदेवकृत न्यायविनिश्चय की वादिराजसूरि-रचित व्याख्या। विस्तृत प्रस्तावना में इस भाग के ज्ञातव्य विषयों का हिन्दी में विषय परिचय है। स्याद्वाद, सप्तभंगी आदि के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाओं की आलोचना की गई है। स–**प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य।**

श्री १०८ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी–

"आपने जो भूमिका न्यायविनिश्चय विवरण की लिखी है, बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उसे बांचकर महान् प्रसन्न चित्त हुआ।"

बड़ी साइज पृष्ठ सं० ६०० । **मूल्य १५)**

मदन पराजय–मूल ग्रन्थकार कवि नागदेव। हिन्दी अनुवाद सहित। विस्तृत प्रस्तावना। जिनदेव के द्वारा काम के पराजय का सुन्दर सरस रूपक।

सम्पादक–**प्रो० राजकुमार जी साहित्याचार्य** जैन कालेज, बड़ौत।

कन्नड प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रन्थसूची–सम्पादक पं० के० **भुजबली शास्त्री।**

जैनमठ, जैनसिद्धान्तभवन, सिद्धान्त बसदि मूडबिद्री, जैनमठ कारकल, आदिनाथ ग्रन्थ भंडार अलियूर तथा मूडबिद्री के अन्य ग्रन्थ भण्डारों के ३५३८ अमूल्य ताडपत्रीय ग्रन्थों का सविवरण परिचय। लाइब्रेरियों में संग्रहयोग्य।

कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न–गोपालदास जीवाभाई पटेल।

आचार्य कुन्दकुन्द के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार इन तीन महान् आध्यात्मिक ग्रन्थों का संक्षिप्त और सरल भाषा में सुन्दर विवेचन। एक तरह से यह ग्रन्थ जैनधर्म और जैन-तत्त्वज्ञान का सार संचय है।

अनुवादक–पं० **शोभाचन्द्र जी "भारिल्ल" न्यायतीर्थ। सजिल्द मूल्य २)**

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड, बनारस

मुद्रक और प्रकाशक–**अयोध्याप्रसाद गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।**

भार्गव भूषण प्रेस, बनारस

ज्ञानोदय

श्रमण संस्कृति का अनुकूल मासिक
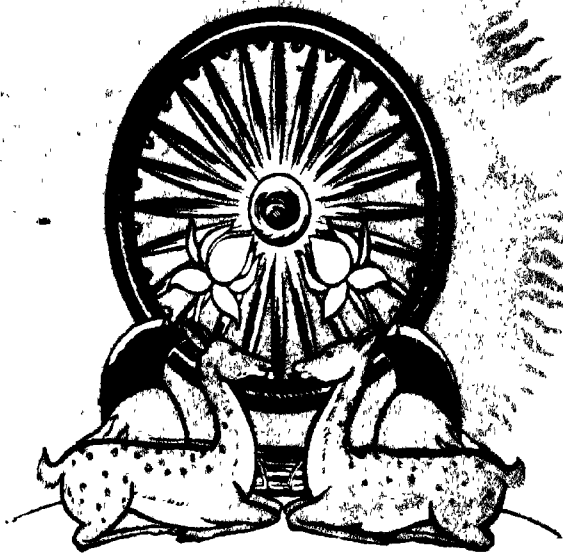
भारतीय ज्ञानपीठ काशी

अक्टूबर १९४९ [४] वीर नि० २४७५

सम्पादक

मुनि कान्तिसागर : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

*

इस अंक में—

*

वार्षिक ६) * एकप्रति ॥=)

'ज्ञानोदय'

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

श्री ऋषभदेव स्वामी जबलपुर

[१० वीं शती की उन्नतम कलाकृति]

चित्र सं० ६ परिचय पृष्ठ २८६ ।

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

वर्ष १ * काशी, अक्टूबर १९४९ * अंक ४

आलोक-निर्वाण

डगमग नौका पर बिठा धर्म दुर्बल को
ब्राह्मण नाविक पतवार भाग्य का लेकर
युग युग तक चला शिथिल सरिता-लहरी पर धीरे-धीरे
बहकर आया चुपचाप ज्योति का एक फूल उद्गम से
रश्मियाँ बिखरती रही सत्य की तीरे-तीरे।
तूफान एक दिन घिर आया अम्बर में
नाविक की किश्ती काँप उठी लहरों पर!
फिर काल-चक्र ने अपनी गति से तट पर
उस अहंकारमय नाविक को पहुँचाया!

देखा उसने दो मानव को इतने में
जो लुटा रहे थे रश्मि-गन्ध सरि-तट से!
तम के परदे को चीर गगन के मुख पर
लालिमा उषा की एक बार लहरायी
उस महाशून्य से एक साँस यों आकर

साकार ज्ञान के प्राणों से टकरायी !
नौका से धर्म निकल कर बाहर आया
उसकी अभिलाषा पराधीन थी कब से !
मानवता ने भेजे कितने संदेश
किन्तु विश्वासी (?) नाविक के चंगुल मे फसी रही वह।

*

मिल गया सहारा आज नए मानव का
उसकी शीतल करुणा छाया में आकर
उन्मुक्त धर्म ने अपनी आँखें खोली
फिर महावीर, गौतम ने उसे समय के
साथी बनने की शिक्षा दी प्राणो की।
शोषक ने उस बेचारे को फटकारा
पर वह नवीन जीवन मे जाग उठा था
उसके स्वर मे मानवता बोल रही थी
उसके आमंत्रण मे समाज की आशा
अभिनव प्रकाश को देख मुग्ध होती थी !

संस्कृति की पाँखें उडी स्वर्ण अम्बर मे
चेतना-किरण की परछाई छूने को !
साधना कुंज में उतरा धीरे धीरे
नूतन मुकुलित आलोक सत्य-संयम-राग !
असहाय मनुज आए दल के दल पथ पर
जीर्णता, जटिलता, कटुता से अकुला कर !

*

गंभीर सिंधु की तीव्र धार पर ज्योतित
वह एक तरणि जा रही पवन-हिन्दोलित !
नवमुक्त धर्म जा रहा स्वयं नाविक बन
इंगित से होता डगर तरंगित नित-नित !
मानवता कितनी व्यापक कितनी विस्तृत
हंस रहा सूर्य वैशाली का धरती पर

वह महामनुज दुनिया को देता नव-स्वर !
अभिषेक कर्म का करता निज वाणी से
वह करता सत्य सिंगार नयन-पानी से !
वह ढूंढ रहा अपने में आत्मा के प्रकाश को
वह देख रहा अपने में प्राणों के विकास को !
थक गया 'चण्ड कौशिक भुजंग' अपने प्रहार से
भयभीत हो गया जहर हार कर आत्म प्यार से
झुक गई अहिंसा के चरणों पर रक्तिम आशा
बुझी न पल भर महासर्प की प्राण-पिपासा।

महावीर की पूर्ण हुई अध्यात्म-साधना
शेष हुई उस ज्योति-पुरुष की आत्म-वंदना
अन्तरतर हो गया चाँद से भी अति निर्मल
एक बार खिल उठा प्राण पर स्वर्णिम शतदल !
उड़ी सुरभि अम्बर में स्वर्ण किरण को देकर
हुआ महानिर्वाण, कँपा भूमण्डल थर थर !
एक ज्योति बुझ कर अनेक में समा गई फिर
रहा प्रकाशित मानवता का नूतन मंदिर
जहाँ वर्ण-सम्मान ज्ञान के बल पर होता
जहाँ मनुज उन्मुक्त भाव से पुष्प पिरोता
जहाँ मोक्ष के द्वार सभी के लिये खुले हैं
जहाँ ज्योति से सजल नयन के प्राण धुले हैं।

*

किश्ती कितनी दूर निकल आई लहरों पर
मुक्त हुआ मानव के गृह में सत्-शिव-सुन्दर !

*

नवयुग हे तुम नवल किरण पर गुंजन कर दो
सपने की पंखड़ियों पर निज सौरभ भर दो !

—पोद्दार रामावतार 'अरुण'

सम्यग्दर्शन : एकदृष्टि

श्री रघुवीरशरण दिवाकर

सभी ने सत्य की महिमा गाई है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' यह महामन्त्र ऐसा ही एक महिमा-गान है। यह ऐसी गागर है जिसमें सागर भरा है। यहाँ जिन भावों की अभिव्यक्ति होती है वे बहुत ही गूढ़ पर साथ ही बहुत स्पष्ट है। सत्य कल्याणकारी है। यह शाश्वत अनादि अनन्त सत्य यहाँ सहज ही हमारे सामने आता है और साथ ही अनिवार्य रूप से इस सत्य की झांकी भी हमे मिल जाती है कि असत्य कल्याणकारी नहीं है, अकल्याणकारी ही है। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' मन्त्र भी प्रकारान्तर से इसी भाव को व्यक्त करता है। सुख, दुःख-निवृत्ति, मुक्ति, मोक्ष, निजात, साल्वेशन (Salvation) या कल्याण ही प्राणीमात्र का ध्येय है और ध्येय-प्राप्ति ही विजय है। इस तरह सत्य ही असत्य नहीं कल्याणकारी है, सत्य ही विजयी है या सत्य की ही विजय होती है। दुःख जीवन की पराजय है, असत्य दुःख-दायक है, इसलिये असत्य की ही पराजय होती है।

सम्यक्त्व, सच्चा, हकीकत, आदि अनेक शब्द 'सत्य' के समानार्थक है। अपनी अपनी भाषा या रुचि के अनुसार कोई किसी शब्द को भी अपनाये परन्तु उसी पर अपना एकाधिकार जमाकर या उसे ही अपनी बपौती मानकर न रह जाये तो कोई हर्ज नहीं है, पर मनुष्य सदैव किसी एक शब्द को अपनाकर उसपर एकाधिकार जमाने का या उसका ही एकान्तपूर्ण आग्रह करने की भूल करता रहा है। यह भूल सत्य साधन के मार्ग मे एक बाधा है जो दूर होनी ही चाहिये। पर इससे भी बड़ी भूल एक और है जो मनुष्य करता रहा है वह यह कि उसने सत्य का नाम लेकर असत्य की पूजा की है। इस असत्याराधना से बड़ा ही अहित और सर्वनाश हुआ है। यह भ्रम कि कल्याण सत्य से प्रथक् होकर भी टिक सकता है, व्यक्त या अव्यक्त रूप से यहाँ रहा है। सत्य के सच्चे स्वरूप को तथा ऊपर बताये हुए 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' या 'सत्यमेव जयते नानृतम्' जैसे महा-मन्त्रों के सच्चे भाव या तात्पर्य को न समझने से और फिर अज्ञान, अहं-कार, प्रमाद आदि अपने अनेक अवगुणों से सत्य साधना के मार्ग में थक कर हताश होकर या बहक कर पथभ्रष्ट हो जाने से ही उसे यह भ्रम हुआ है

या हो सका है। इस भ्रम मे ही वह निश्चय और व्यवहार के अन्तर को न समझकर ऐसे नियम व विधान बनाता रहा है जो कुछ समय तक उसका कल्याण कर पाते हैं पर फिर वे पूर्वसंचित कल्याण को धीरे धीरे मिटा कर सामूहिक रूप से अकल्याणकारी होकर रह जाते हैं। इस वस्तुस्थिति की परिस्थितियाँ या बाह्यरूप अनेक हैं, जैसा कि सहज स्पष्ट है। अपरिवर्तन उन सबकी जड़ है, अपरिवर्तन के पीछे व्यवहार और निश्चय का गोलमाल है और इस गोलमाल को शक्ति, प्रेरणा या शायद जन्म मिलता है इस भ्रमराज से कि असत्य से भी कल्याण हो सकता है। कल्याण साधन के स्थायित्व के लिये यह अनिवार्य है कि मनुष्य के बनाये हुए नियम और विधान ऐसे सुदृढ़ वा वास्तविक आधारों पर अवलम्बित हों कि उनमें सहज स्वाभाविक ढंग से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार समुचित परिवर्तन नियमरूप से होता रहे और कल्याणकारिता की मूल प्रवृत्ति की ओर से किसी भी परिस्थिति में विमुख न हो सके। और यह तभी सम्भव है जब कि कल्याण सत्य पर ही अवलम्बित हो निश्चय रूप कल्याणकारी सत्य की उच्च प्रतिष्ठा और मनुष्य का वास्तविक कल्याण तभी सुनिश्चित तथा अबाधित है कि व्यवहाररूप सत्य सदैव निश्चयोन्मुखी रहे और इसके लिये वह आवश्यकता व परिस्थिति के अनुसार बदलता रहे। बाह्य सत्य के परिवर्तन का नियम अन्तरङ्ग सत्य के अपरिवर्तन या उसकी स्थिरता, पवित्रता व सच्ची और स्थायी प्रतिष्ठा के लिये अनिवार्य है। इस सत्य को समझने और तदनुकूल व्यवहार करने मे ही मनुष्य का मनुष्यत्व है, जीवन का विकास है, आत्मा की उन्नति है।

प्रश्न– मनुष्य की वृत्ति-प्रवृत्ति, विचार-आचार तथा नियम विधान किसी न किसी सिद्धान्त या मान्यता पर टिके होते हैं, अतः उनको परिवर्तित करने के लिये क्या उस सिद्धान्त या मन्तव्य में परिवर्तन करना आवश्यक है ? क्या इतना ही यथेष्ट नहीं है कि उन नियमो और विधानों के कार्य और भावना का पारस्परिक विरोध दिखला कर उसकी मान्यता के आधार पर नये नियम व विधान बना लिये जाँय ?

उत्तर– सदुद्देश्य व सद्भावना होते हुए भी नियम या विधान हानिप्रद है व हर हालत में उन्हें बदलना अच्छा ही है, लेकिन इतना ही यथेष्ट नहीं। आज वे अनुपयोगी सिद्ध न हों तथा कल भी हानिकारक न बन सकें, इसके लिये जरूरी है कि वे नियम या विधान जिन सिद्धान्तों एव मन्तव्यों पर स्थित हैं उनमें से असत्य को निकाला जाय और यदि आवश्यक हो तो उन्हें बदल कर उनकी जगह दूसरे सिद्धान्तों को दी जाय। मुख्यतः यह

नियम व विधान उन्हीं मान्यताओं पर खड़े हों जो सत्य हों। यों भी कह सकते हैं कि अन्तरङ्ग सत्य वास्तव में सत्य हो और वह भी विशुद्ध हो, असत्य से मिश्रित या विकृत न हो, यह सबसे प्रधान आवश्यकता है। इसके लिये कोरे बाहरी नियमों और विधानों को ही नहीं, आवश्यक हो तो सिद्धान्तों और मन्तव्यों को भी बदलना श्रेयस्कर बल्कि अनिवार्य है। खून का विकार बाहर मरहम लगाकर दूर नहीं हो सकता उसके लिये तो आसव पीकर रक्तशुद्धि करना ही आवश्यक है। यदि मूल में ही भूल हो तो उसे सुधारे बिना बाहरी बातों में कितना भी उलटफेर किया जाय वह व्यर्थ है, और यदि व्यर्थ नहीं है तो अपर्याप्त तो है ही।

प्रश्न– कोई सिद्धान्त भले ही सत्य न हो लेकिन उससे मनुष्य को अच्छाई व नेकी का सबक या कर्तव्य पालन की प्रेरणा मिले तो उसमें अनौचित्य या असत्य क्या है?

उत्तर– असत्य विचारों या सिद्धान्तों को सद्‌गुणों व सद्‌वृत्तियों का प्रेरक बना देने से पहली हानि यह है कि जो असत्य स्वभावतः ही भण्डा-फोड़ या सर्वनाश के खतरे मे रहता है उसके साथ उन सद्‌गुणों का भविष्य भी खतरे मे पड़ जाता है। उदाहरणार्थ कयामत के दिन खुदा पापियों को सजा देगा, और पुण्यात्माओं को पुरस्कृत करेगा इस मान्यता को लेकर यदि कोई ईमानदारी सच्चाई वफादारी व नेकी को ग्रहण करे और यदि कभी खुदा या ईश्वर की कयामत तथा उसकी इस न्याय प्रणाली की मान्यता पर से विश्वास उठ जाय जैसा कि उसके कल्पनामात्र पर निर्धा-रित होने के कारण बहुत सम्भव है, तब ऐसी हालत में उस मान्यता के साथ सद्‌गुणों का सम्बन्ध जितना दृढ़ था उसी सीमा तक या उसी अनुपात में अब उस मान्यता के असत्य प्रतीत हो जाने से अथवा उस मान्यता के गिर जाने से उन सद्‌गुणों के प्रति श्रद्धा या निष्ठा में कमजोरी आ जावेगी। दूसरी हानि यह है कि सभी सद्‌वृत्तियों या सदाचारों के लिये अच्छे और सच्चे कारण हैं और व्यक्ति के व्यक्तित्व के भीतर या प्राणी के सच्चे स्वरूप में ही एक प्रकृतिजन्य प्रेरणा भी है या लब्धिरूप से सदवृत्ति-प्रवृत्तियों का पूरा भण्डार वहाँ है, लेकिन जब उसे असत्य के साथ अपेक्षित करके उपयोग में लाया जाता है या जब अपनी सद्‌वृत्तियों को असत्य के आधार पर खड़ा किया जाता है तब स्वभावतः ही उन सत्य स्वाभा-विक या वास्तविक कारणों वा प्रेरणाओं का मूल्य कम हो जाता है, और इसका दुष्परिणाम यह होता है कि उन्हें भुलाकर या दबा कर जो कुछ समय के लिये द्रुतगति से कल्याण होता दीखता था वह रुक जाता है, बल्कि

आगे चलकर उससे ज्यादा अकल्याण होने लगता है। मानव चरित्र की सभी अच्छाइयाँ हमारे स्वभाव में प्राकृतिक रूप से विद्यमान हैं। लेकिन ऐसा न भी हो तो बाहर उन अच्छाइयों को ग्रहण करने के लिये वास्तविक तथा उचित कारण हैं। ऐसी हालत मे कल्पनाओं या झूठी मान्यताओं पर उन्हें टिकाना व्यर्थ ही उन्हें कमजोर बनाना है एव भविष्य के लिये खतरा मोल लेना है।

प्रश्न– सदाचार पालन तथा सद्वृत्ति ग्रहण के वास्तविक कारणों की सहायता लेकर भले ही कुछ सुशिक्षित सुसंस्कृत या विशेष बुद्धिमान् व्यक्तियों को इधर प्रेरित किया जा सके, लेकिन जन साधारण को इधर आकर्षित करने के लिये तो ऐसे ही कारणों की दुहाई आवश्यक हो सकती है, जिनका आधार भय, प्रलोभन, कल्पना, अनुमान आदि हो।

उत्तर– सचमुच मस्तिष्क के स्वतंत्र व उचित उपयोग की जगह अन्ध-विश्वास व अन्धानुकरण ही कुछ संयोग से कुछ अनैतिहासिक काल से चली आई पद्धति या संस्कारों की परम्परा से तथा कुछ व्यक्तित्व की कमजोरी से बहुतों को सदाचार की प्रेरणा दे सका है और दे सकता है, लेकिन इस तरह की विकृति अयोग्यता या मनःस्थिति का सीधा कारण यही अन्ध-विश्वास या अन्धानुकरण है। एक ऐसी गलती पकड़ कर बैठ जाना, जो सभी विषयों पर विचार करके गलत तरीकों को जन्म दे या उनका अनुमोदन या प्रोत्साहन करे, अपनी जितनी भी सत्य को समझने व ग्रहण करने की योग्यता व शक्ति है उसे धीरे धीरे और भी कम करना है। अन्धानुकरण की नीति से हानि यह है कि हम सभी मामलों को गलत तरीकों से देखते हैं, सभी विषयों पर गलत तरीकों से विचार करते है, और प्रायः गलत नतीजों पर ही पहुँचते है जब कि लाभ केवल इतना ही है कि संयोग से हम एक दो विषयों में ठीक परिणामों पर आ जाते हैं। रहा प्रश्न सर्व-साधारण की अयोग्यता का। उसे अनिवार्य मान लिया जाय तो हम उसे आधार बनाकर असत्य के प्रचार द्वारा उसे मिटाने का तो अवसर देते ही नहीं है बल्कि उसे अक्षुण्ण छोड़ देते है अथवा शायद बढ़ाते ही हैं। जो अनिवार्य हो वह उचित या लाभप्रद भी हो यह आवश्यक नहीं है। मनुष्य की वैकारिक स्थिति, कमजोरी या त्रुटि को अपेक्षित रखकर जो अनिवार्य समझा जाता है या समझा जा सकता है, वास्तव में वह वांछनीय नहीं है। एक सुन्दर व मनोहारिणी स्त्री को लेकर साधारणतया मनुष्य के हृदय में विकार या वासना का होना स्वाभाविकसा है, पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हर मनुष्य को यह अधिकार दे दिया जाय कि किसी भी

सुन्दर स्त्री के साथ वह अपनी वासना की तृप्ति कर सके। मनुष्य के दौर्बल्य को लेकर यदि हम औचित्य का निर्णय करेंगे और तदनुकूल नियम व विधान बनायेंगे तो गजब हो जायगा। जो अनुचित हो वह अनिवार्य हो या न हो, हमें उसे दूर करने का प्रयत्न करना ही चाहिये। दुःख अनिवार्य है फिर भी दुःख दूर करना और सुख प्राप्त करना हमारा ध्येय होना चाहिये। इसी तरह असत्य कही भी हो, किसी भी रूप में या कितनी भी मात्रा में हो, हमारा कर्तव्य यही है कि हम उसे दूर करें अथवा उसे पदच्युत करके सत्य को प्रतिष्ठित करें। हर हालत में असत्य से सदाचार की भावना को बाँधना हानिप्रद ही है। अतः यह आवश्यक है कि हम सदाचार और असत्य की यह अपवित्र सन्धि तोड़ें, और मनुष्य अब तक जो यह भूल करता आ रहा है उसका प्रतिकार हो। हमें यह भी अच्छी तरह हृदयङ्गम कर लेना चाहिये कि दूसरे को ऊपर उठाने के लिये खुद नीचे गिरना, अपना पतन है, दूसरे का उत्थान नहीं है।

प्रश्न– यदि यह मान भी लिया जाय कि असत्य अकल्याणकारी और सत्य कल्याणकारी है तब भी साधारणतया आज जो जनसाधारण अपने अपने विचारों, सिद्धान्तों, आदर्शों आदि को लेकर अपनी सामान्य मनोवृत्ति या अपना एक दृष्टिकोण बना बैठे है, और उनकी वृत्ति प्रवृत्ति या उनकी भावना या कृति मे जो एक तरह का सामञ्जस्य आ चुका है, उसे देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि एक असत्य विचार से जितनी हानि हो रही है या हो सकती है, उसको मिटा देने से अपेक्षाकृत अधिक हानि ही होगी, क्योंकि सभी असत्य विचार मनुष्य के सोचने विचारने और अनुभव करने की पद्धति से इतना घनिष्ठ संबंध रखते है कि एक-दो अलग-सी सच्चाइयों को वहाँ जगह देने से आज ऐसी हालत मे उनके साथ वहाँ अन्य सच्चाइयों के न होने से अथवा प्रायः असत्यों की ही वहाँ सङ्गति होने से व्यक्तिगत चरित्र व व्यवहार का सामञ्जस्य जो नैतिक जीवन के लिये बहुत जरूरी है, नष्ट हो जायगा और इससे मनुष्य का चरित्र गिरेगा।

उत्तर– पहले तो एक असत्य विचार का त्याग अनिवार्य रूप से सत्य विचार का ग्रहण नहीं है। एक विचार असत्य मालूम हो इसके साथ यह आवश्यक नहीं है कि एक ऐसा सत्य विचार भी तभी मालूम हो जाय जो उसकी जगह ले सके। दूसरे मानव समाज के इतिहास से पता लगता है कि गलत तरीके से विचारने पर गलत विचार की खिड़की से सहज ही आक्रमण किया जा सकता है और बहुत ही सरलता और सफलता के साथ। व्यक्ति के चरित्र व व्यवहार का सामञ्जस्य उक्त दोनों कारणों से नष्ट नहीं होने

पाता, यही नहीं इसी क्रम से धीरे-धीरे वह सत्य की ओर अग्रसर होता जाता है। मानव चरित्र का सामञ्जस्य आखिर क्या है? यही न कि मनुष्य के स्वभाव की बौद्धिक, नैतिक व व्यावहारिक प्रवृत्तियों में पूर्ण सामञ्जस्य हो, विचारों भावनाओं और संकल्पों मे परस्पर पूर्ण सहयोग हो? विचार ऐसा कोई सुझाव न दें जिनका भावनाओं से मेल न बैठ सके और ऐसा कोई निषेध न करें भावनायें जिसके प्रति विद्रोह करें, तथा संकल्प विचारों और भावनाओं के अनुकूल हों तभी चरित्र का सामञ्जस्य सभव है। यदि विचार अपनी सूचना पद्धति मे पूर्ण सत्य व शुद्ध हों, भावनायें अपने उद्-गम या प्रवाह मे निर्दोष व निर्मल हों फिर ऐसे सुन्दर विचारों और भावनाओं के अनुरूप मनुष्य के संकल्प व उसकी प्रवृत्तियाँ हों, यही मानव चरित्र की उत्कृष्ट अवस्था है। ऐसे आदर्श चरित्र निर्माण में असत्य को स्थान ही कहाँ है? कल्पना सत्य के साथ या अलग यहाँ कहाँ? यहाँ तो पूरी सच्चाई ईमानदारी और अन्तस्तल की स्वच्छता या पवित्रता अनिवार्य है। ऐसे अमूल्य चरित्र निर्माण के परम पावन मन्दिर को असत्य की कीचड़ से अशुद्ध व अपवित्र करने की कल्पना भी असङ्गत है। अतः जब भी, जहाँ भी, जितना भी और जिस रूप मे भी असत्य मिले उसे हटाना ही उचित है, आवश्यक है। तभी मानव चरित्र के पूर्ण सामञ्जस्य के आदर्श की ओर हम अग्रसर हो सकेंगे। इसमे समय लगेगा तो लगे, पर आदर्श के पास तो हम होते जायेंगे, आगे तो हम बढ़ते जायेंगे। आज असत्य के अथवा सत्यासत्य के साथ चरित्र के सामञ्जस्य को नष्ट न होने देने की हमे जो चिन्ता है वह छोड़नी होगी, यह झूठा मोह हमे त्यागना ही होगा। पर अगर यह मान भी लिया जाय कि विचार करने का सारा दृष्टिकोण बदले अन्यथा सत्यासत्य की जो खिचड़ी पकेगी, उसमे मस्तिष्क बौखला जायगा तथा नैतिकता और सदाचार को हानि पहुँचेगी तो भी कोई हर्ज की बात नहीं है, क्योंकि ऐसी डाँवाडोल स्थिति के बाद जब सत्य अपना स्थान बना लेगा और वहां जम कर बैठ जायगा, तब स्थिरता आ जायगी और सत्य अपनी ज्योति से धीरे-धीरे असत्यों को प्रकाश में लाकर उनका रहस्य उद्घाटन करेगा और तब अन्धानुकरण या अन्धविश्वास की नीति के लिये कोई स्थान न रहेगा और तभी मनुष्य सत्य पर निर्धारित सदाचार की ओर सच्चे अर्थों मे बढ़ेगा और तभी उसका वास्तविक व स्थायी कल्याण हो सकेगा। अयोग्यता को दूर करने की बजाय निकट भविष्य के लाभ की संकुचित दृष्टि से अयोग्यता को कायम रहने दिया जाय बल्कि उसे और स्थायी कर दिया जाय और इस तरह छोटे से स्वार्थ के लिये इतनी महंगी कीमत चुकायी

जाय, यह किसी तरह भी उचित नहीं है। वहमों और अन्धविश्वासों की पुरानी बोतलों में नई नई शराब डालकर जन साधारण को पिलाना और उसे गुमराह करके आमूल परिवर्तन करने से रोकना अकल्याण को बढ़ाना है और स्थायी कल्याण का मार्ग अवरुद्ध करना है।

प्रश्न– असत्य मान्यताओं का सहारा लेकर मानव समाज का कल्याण हुआ है इसलिये यह कैसे स्वीकार कर लिया जाय कि असत्य में मूल रूप से कल्याण करने की योग्यता या शक्ति जरा भी नहीं है ?

उत्तर– सचमुच इतिहास हमारे सामने ऐसे उदाहरण उपस्थित करता है जिससे नैतिक व धार्मिक रूप धारण करके झूठी मान्यताओं या कल्पनाओं से कल्याण होता दिखा है, लेकिन वास्तव में यह असत्य की उपयोगिता या कल्याणकारिता का प्रकटीकरण नही है। ऐसी हालतों मे असत्य। विचार के पूर्णतया असत्य न होने से या सत्य से पूर्णतया शून्य न होने से, जो कुछ सत्य वहाँ विद्यमान था उसी का यह कार्य था। जो असत्य वहाँ था वह बिलकुल अनुपयोगी व बेकार ही था। जो भी सुख या कल्याण वहाँ हुआ उसका श्रेय उस असत्य को नहीं दिया जा सकता जो वहाँ था। बल्कि उस सत्य को ही दिया जायगा जो उस असत्य के साथ रहकर तथा उसके अतिरिक्त अथवा उसके विरोध से जो अपना काम कर रहा था।

प्रश्न– अपने विचारों में असत्य की सम्भावना मान्य करने का सत्य या सम्यक्त्व से विरोध है क्या ? क्या ऐसी सम्भावना रखकर अपने विचारों पर दृढ़ विश्वास रखकर उसके अनुसार निर्भयता और निश्चितता से आचरण किया जा सकता है ?

उत्तर– इसमे तो सन्देह ही नहीं है कि हम सबका अपने विचारों की सत्यता पर विश्वास होना ही चाहिये अन्यथा वे हमारे अपने विचार न रह जायेंगे, लेकिन अपने विचारों की सत्यता में दृढ़ विश्वास होने और उनमें किसी भी तरह की गलती की सम्भावना न मानने में बहुत अन्तर है। दृढ़ विश्वास के साथ गलती की सम्भावना मानने का कोई विरोध नहीं है। जब कोई व्यक्ति अपने मन्तव्य पर दृष्टि डाले या उस पर विचार करे तब उसे यह अनुभूति होना स्वाभाविक ही है कि उसमें कोई गलती नहीं है और इसी तरह अन्य विचारों को भी वह अलग अलग ले और उनपर नजर डाले तो हर एक विचार के प्रति भी अलग-अलग यही धारणा होगी कि वह विचार बिलकुल ठीक है या उसमें कोई गलती नहीं है। लेकिन जब वह सामूहिक रूप से देखेगा और यह विचारेगा कि पृथ्वी पर आज तक एक भी व्यक्ति ठीक उसके जैसे सब विचारों का रखने वाला न हुआ है, न है

और न हो सकेगा तथा जब वह भूतकाल के इतिहास और मानव समाज की गतिविधि को अर्थात् भिन्न भिन्न जातियों, स्थानों व समयों के सिद्धान्तों को जो अब लुप्त हो गये है, व्यक्तियों या समुदायों की विचार करने की पद्धतियों को जो अब नष्ट हो चुकी है, तरह-तरह की पद्धतियों, परिस्थितियों, सभ्यताओं व संस्कृतियों में पले व पनपे हुए पक्षपातो और आदर्शों को, जिनकी धज्जियाँ उड़ चुकी हैं तथा सत्य के खोजियों के सदा से होने वाले वाद प्रतिवाद को जो अभी तक चला आ रहा है, व्यक्ति गौर से देखेगा और साथ ही इस वस्तुस्थिति का निरीक्षण करेगा कि उसके चारों ओर सभी मनुष्य जो है, जो जा चुके है और जो थोड़े बहुत नहीं करोड़ों है, असंख्य है, अपने-अपने विचारों के प्रति पूरी श्रद्धा व सम्मान रखते आये है या रख रहे है, तब सहज ही उसे यह बुद्धिगम्य या सहज विवेकप्रेरित यह अनुभूति होगी, और होनी चाहिये कि वह स्वयं भी अपने विचारों में गल्ती पर भी हो सकता है। इस तरह अपने प्रत्येक विचार में अलग-अलग दृढ़ विश्वास रखते हुए भी सामूहिक रूप से अपने विचारों में असत्यता की सम्भावना मानी जानी चाहिये। यहाँ कहीं भी परस्पर विरोध नहीं है, जहाँ यह दृष्टि या मनःस्थिति होती है वहाँ विचारों में या तदनुकूल आचरणों में कोई ढिलाई न होते हुए भी पूर्ण-परिपूर्ण-सम्पूर्ण सत्य का अधिकारी या एकमात्र ठेकेदार होने का झूठा अहंकार नहीं आने पाता। इतना ही नहीं, बे सिर पैर की कल्पनाओं और ख्वामखा की अटकलबाजियों में शक्ति का अपव्यय करने की कमजोरी वहाँ नहीं रह पाती है और "जो मेरा है वह सत्य है" यह अहंकारवृत्ति वहाँ न रह कर यह वृत्ति आ जाती है "जो सत्य है वह मेरा है"। सत्य की सच्ची उपासना के लिये जो भावना या वृत्ति होनी चाहिये वह वहाँ बनी रहती है और वृथा सन्तोष द्वारा सच्चे असन्तोष का गला घोंटकर सच्चे असन्तोष की आराधना-साधना वहाँ भ्रष्ट नहीं होने पाती है। सत्य या समन्वय की निर्मलता के लिये यह अनिवार्य है कि मनुष्य सत्य-साधना के ऐसे अनिवार्य या अमूल्य आधार को अक्षुण्ण बनाये रखे।

प्रश्न— आपने जो ऊपर कहा है कि एक असत्य विचार का ग्रहण अनिवार्य रूप से सत्य नहीं है। क्या इसका यह अर्थ लगाया जाय कि मिथ्यात्व का त्याग और सम्यक्त्व का ग्रहण इन दोनों स्थितियों के बीच भी कोई ऐसी स्थिति है जो मनुष्य के लिये सहज वा स्वाभाविक है ? क्या ऐसी स्थिति सम्यक्त्व के अनुकूल है ?

उत्तर— मिथ्यात्व का त्याग नकारात्मक सत्य है, सम्यक्त्व का ग्रहण

सकारात्मक सत्य है। सकार और नकार सापेक्ष शब्द हैं, वे अपने में पूर्ण नहीं हैं। प्रायः नकारात्मक सत्य से सकारात्मक सत्य का बोध हो सकता है। बोध न हो तो उसकी दिशा की ओर इंगित हो सकता है। यह भी न हो तो उसकी खोज के लिये या उसके अनुसन्धान के लिये मार्ग तो प्रशस्त होता ही है। नकारात्मक सत्य का इस अपेक्षा से सकारात्मक सत्य से खून का जैसा सम्बन्ध है वास्तव मे दोनों एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं, बलिक पूरक हैं, सहायक हैं और शायद बहुत अंशों में एक ही सत्य के दो पहलू हैं, और दोनों मे सत्य का मौलिक गुण कल्याणकारिता अनिवार्य रूप से विद्यमान है। सकारात्मक सत्य कल्याणकारी है ही, साथ ही नकारात्मक सत्य जहाँ तक सकारात्मक सत्य से अपेक्षित है वहाँ तक वह भी कल्याणकारी ही है, और उसका यह कार्य संभवतः इतना सूक्ष्म है कि इसकी अनुभूति सहज ही न हो सके। फिर भी नकारात्मक सत्य से अकल्याण तो कम या बन्द होगा ही अर्थात् असत्य से जो अकल्याण होता है, वह रुकेगा ही, और अकल्याण का यह निरोध न्यूनता या अभाव भी तो प्रकारान्तर से कल्याण की ही वृद्धि है। सकारात्मक सत्य अप्राप्य भी हो तो भी नकारात्मक सत्य का ग्रहण स्वतः एक सत्य ग्रहण करना है। मिथ्यात्व का त्याग स्वयं सम्यक्त्व है हाँ, सम्यक्त्व ग्रहण और मिथ्यात्व त्याग बिलकुल एक भी नहीं है, इन दोनों के बीच भी एक स्थिति है, जिसे सत्य के खोज की स्थिति कहा जा सकता है। मिथ्यात्व की अपेक्षा मिथ्यात्व त्याग सम्यक्त्व ग्रहण है ही, फिर भी सम्यक्त्व ग्रहण वास्तव मे और भी ऊँची चीज है, जिसे पाने के लिये हमे ऊपर उठते ही रहना चाहिए। निरन्तर हमारा यही प्रयास रहना चाहिए कि हम मिथ्यात्व छोड़ें, सत्य की खोज करें और सम्यक्त्व ग्रहण करें। मिथ्यात्व छोड़कर झूठमूठ का सम्यक्त्व या एक दूसरा मिथ्यात्व अपने ऊपर लाद लेना सत्य की खोज की परिस्थिति से भी गिरी हुई परिस्थिति है। एक आसन खाली रहे यह अच्छा है, किन्तु उस आसन पर अपात्र को बैठाना अनुचित। कल्पना-जन्य शान्ति से जिज्ञासाजन्य अशान्ति श्रेष्ठ है। असत्य विचार से अविचार उत्तम है। ज्ञान के उन्माद से अज्ञान की विनम्र अनुभूति अधिक गौरवास्पद है।

प्रश्न—प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व अलग-अलग है, अतः मतैक्य असंभव है। फिर, एक ही सत्य मे सब विश्वास करें यह व्यवहार्य नहीं है। और ऐसी हालत में सिर्फ उसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों का कल्याण हो सकेगा जो सत्य में विश्वास करते है, और का नहीं ? फिर, जनकल्याण कैसे होगा ?

उत्तर—निःसन्देह यह आशा करना कि सभी व्यक्ति अमुक एक विचार को कभी अपना सकेंगे, भ्रम है। एक व्यक्ति का सत्य प्रायः दूसरे के लिये

असत्य रहा है। सर्वजन मतैक्य न कभी हुआ है, न कभी हो ही सकेगा। हर व्यक्ति का व्यक्तित्व अलग है, उसके मस्तिष्क और हृदय की बनावट भी जुदा है, उसकी सूझ-बूझ भिन्न है, उसकी दीक्षा व संस्कार भी एक से नहीं है। उसकी परिस्थिति व वातावरण भी विशेष है, उसकी वृत्ति-प्रवृत्ति उसकी आदत एवं उसका रंग-ढंग भी निराला है, ऐसी हालत में इस भू-मण्डल पर असंख्य विभिन्न परिस्थितियों मे असंख्य विभिन्नताओं को लिये हुए इन असंख्य मनुष्यों के विचारों में एकरूपता देखने की आशा रखना शेखचिल्लीपन ही है। सत्य पर ही सद्वृत्तियाँ स्थित करने की उपयोगिता पर जोर देते समय यह कटु सत्य हमारे सामने था, फिर भी हमने इसपर जोर दिया क्योंकि किसी तत्त्व सिद्धांत या आदर्श को ठीक-ठीक समझकर और मानकर ही व्यक्ति अलग-अलग और सामूहिक रूप से भी कल्याण-मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं। सभी व्यक्ति सत्य को समझने में भले ही सहमत न हों लेकिन वे प्राय: या कम ज्यादा यह तो कर सकते हैं कि पूरी ईमानदारी के साथ, बिना किसी पक्षपात या अस्वाभाविक बन्धन के, संस्कारों की परम्परा तथा शिक्षा दीक्षा के खास साँचों में फिट होने की गुलामियों को तोड़कर किसी एक व्यक्ति या कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को ही अथवा किसी एक या कुछ पोथियों को लेकर ही बुद्धि और विवेक कौड़ियों के भाव न बेच कर तथा बहुत ही शान्ति ठंडे दिल, धैर्य गम्भीरता, हृदय की स्वच्छता, कषाय हीनता व ईमानदारी से काम लेकर जिन विचारों को सत्य समझ सके, उन्हे ही ग्रहण करें और अपने निर्णीत सत्य को ही अपनी सद्वृत्तियों व सत् प्रवृत्तियों का आधार बनाए। कोई भी व्यक्ति हर व्यक्ति से चाहे सहमत न हो लेकिन निष्पक्ष व निर्मल बुद्धि से, शुद्ध अन्त:करण से तथा मानवता के एक मात्र स्वाभाविक मानवीय दृष्टिकोण सत्यासत्य का निर्णय करे यह व्यवहार्य है, वांछनीय है, और व्यक्ति ऐसा करे तथा दूसरों से, अधिक से अधिक प्राणियों से, ऐसा कराए, यह व्यक्ति के वैयक्तिक व सार्वजनिक जीवन का लक्ष्य बनने योग्य भी है। ऐसा होने पर व्यक्तित्व के विकास की सुविधाएँ वहाँ अक्षुण्ण ही नहीं रहेंगी, बल्कि बढेंगी तथा साथ ही साथ अनेकता मे ऐसी एकता स्थापित हो सकेगी कि यह पृथ्वी ही स्वर्ग बन जायगा। तब सत्य थोड़े ही व्यक्तियों के हाथ में भले ही आए पर सत्य दृष्टि बहुतों को मिलेगी और यह दृष्टि असत्य को तथा कल्पना या अनुमान को जो एक प्रकार से असत्य के ही रूप है, विचारमार्ग से दूर हटाएगी और इस हद तक सत्य ही प्राप्त होगा। फिर सत्य दृष्टि प्राप्त होने पर पूर्ण या अधिकाधिक सत्य पाने का मार्ग खुल ही जायगा। सत्य

दृष्टि सत्य को खोजने में लगेगी तब वह सफल हो या असफल, वह प्रयास ही सत्य होकर उसके दृष्टिधारी के सामने आएगा और जो भी विचार वह अपनाएगा वे उसके लिये उसके सत्य विचार होंगे और उनसे प्रेरणा पाकर वह सद्प्रवृत्तियों से अपने चरित्र को निखारेगा, अपनी आत्मोन्नति करेगा, अपना कल्याण करेगा। यों भी कह सकते हैं कि सम्यक्दर्शन प्राप्त होने पर उस दृष्टि के परिणाम स्वरूप जो ज्ञान उसकी श्रद्धा का स्वरूप होगा, वह उसका सम्यग्ज्ञान होगा और तदनुकूल जो उसका व्यवहार या आचार होगा वह उसका सम्यक्चरित्र होगा और सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र का समन्वय या संयोग ही उसका वह मार्ग होगा जिस पर चलकर वह स्व पर कल्याण कर सकेगा। जबतक उसकी दृष्टि शुद्ध रहेगी या उसका सम्यक्दर्शन अक्षुण्ण रहेगा तब तक उसके आचरण का बाहरी रूप बदलते रहकर भी उसके निश्चय कल्याणकारी सत्य सम्यक्त्व की ओर ही उन्मुख रहकर उसे गौरवान्वित ही बनाता रहेगा और उसके चरित्र का सामञ्जस्य भी बना रहकर उसके जीवन को धन्य व कृतकार्य बनाता रहेगा।

ऊपर हमने सम्यक्दर्शन को जिस रूप में रखा है वही उसका विवेकपूर्ण, बुद्धिगम्य व एकमात्र मानव के लिये ग्रहणीय है। वह एक दृष्टि है, एक दिशा है। कुछ गिने-चुने विचारों से उसे उपेक्षा नहीं है वह सदैव. आगे बहती रहने वाली एक धारा है जिसमें बहने वाला ज्ञान रूपी जल सदैव शुद्ध, ताजा, व्यक्तित्व के स्वास्थ्य के लिये लाभदायक तथा हर तरह मनुष्य के लिये कल्याणकारी है। उस विचारधारा की गंगा मे सच्चे हृदय से नहाना ही वह सम्यक्चरित्र है जिसकी महिमा का गुणगान नहीं हो सकता। सम्यक् दर्शन को श्रद्धान अथवा श्रद्धा या भक्ति समझना भूल है। वह एक दृष्टिकोण है, वह एक विचार सरणि है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, और कर्मयोग ये त्रियोग मिलकर भी सम्यक्दर्शन के बिना बेकार है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, दोनों ही सम्यक्ज्ञान मे आजाते है और कर्मयोग को सम्यक्चरित्र कहा जा सकता है। जबतक इन तीनों योगों में सम्यक्दर्शन का भी दृष्टियोग जो वास्तव में योगराज है, न मिलेगा, सारी योगसाधना बेकार है। सम्यक्दर्शन या सत्य दृष्टि के बिना ज्ञान व चरित्र अथवा भक्ति, ज्ञान व कर्म व्यर्थ है। सर्वप्रधान सम्यक्दर्शन है। यह बड़े से बड़ा आशीर्वाद है जो एक मनुष्य अपने जीवन में पा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति यह आशीर्वाद पाये, इसी में उसकी सफलता है, कल्याण है।

सम्प्रदाय और सत्य

पं० सुखलाल संघवी

सांप्रदायिक दृष्टि एवं सत्य दृष्टि इन दोनों का क्या अर्थ है, इन दोनों के बीच में क्या भेद है और साम्प्रदायिक दृष्टि के स्थान में सत्य दृष्टि के शिक्षण पोषण और विकास की कितनी आवश्यकता है? यह सब शिक्षितों के लिए जानना अत्यावश्यक है और यह समय इसके लिए खास उपयुक्त भी है। शिक्षित ही सामान्य लोकवर्ग के प्रतिनिधि होने के कारण मार्ग-दर्शक बन सकते हैं। वे प्रस्तुत विषय का यथार्थ एवं असाधारण ज्ञान रखते हों तो अशिक्षित और अर्द्धशिक्षित जनवर्ग को विश्व की, राष्ट्र और जाति की एकता की ओर अपने असाधारण प्रयत्न से ले जा सकते हैं और अयोग्य मार्ग से उनकी चित्तवृत्ति को पराङ्मुख करके योग्य दिशा की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं। इसी आशय से शिक्षित जनवर्ग के समक्ष मैंने प्रस्तुत विषय पर कुछ कहने का विचार किया है।

बेक्टिरिया जैसे सूक्ष्मतम जन्तुओं और इतर प्राणियों में भी अभेद की भूमिका है; किंतु वह आदर्श नहीं है क्योंकि यह भूमिका ज्ञान अथवा बुद्धि साधित नहीं, पर अज्ञान मूलक है। इसमें भेद के ज्ञान का अभाव तो है पर अभेद का ज्ञान नहीं। मनुष्यत्व का आदर्श अभेद का है किंतु वह अभेद ज्ञानमूलक ही है। बुद्धि, विचार और समझपूर्वक अनुभवगम्य एकता ही मनुष्यत्व का शुद्ध आदर्श है। भेदों की विविधताओं का भान होने पर भी उससे ऊपर उठकर जितने अंश में दृष्टि अभेद, एकता या समन्वय का अनुभवगम्य कर सके उतने अंश में वह मनुष्यत्व के आदर्श के नजदीक पहुँची यह कहा जायगा। इस आदर्श में केवल आध्यात्मिकता ही नहीं किन्तु इसमें शुद्ध एवं सुखावह व्यावहारिकता का भी सामंजस्य है। प्राणिमात्र के प्रति आत्मौपम्य की दृष्टि, समग्र विश्व में परस्पर भ्रातृभाव और विशुद्ध राष्ट्रीयता, ये सभी उक्त आदर्श के जुदे जुदे और भिन्न भिन्न कक्षा वाले स्वरूप हैं, अंग हैं।

अहंकार, अज्ञान और विपरीत समझ से मनुष्य जाति ने अपने आदर्श को छोड़ केवल उन्मार्ग का अवलम्बन ही नहीं लिया किंतु बहुत सी बातों में

तो उसने अपने आदर्श का चकनाचूर कर डाला है ऐसा प्रतीत होता है। देशभेद, जातिभेद, भाषाभेद, आचारभेद और संस्कारभेद और ऐसे अन्य अनेक भेदों की भावनाओं को प्रमाण से अधिक आश्रय देकर एकता के साधन की कितनी हत्या कर डाली है यह मनुष्य जाति के इतिहास के अभ्यासियों को कहने की आवश्यकता नहीं। अपने मे जाने अनजाने साम्प्रदायिक भेद बुरी तरह से किस प्रकार घर कर लेता है, उससे व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय दृष्टि से कैसे कैसे बुरे परिणाम उठाने पड़ते है और उन परिणामों से बचने के लिए किस दृष्टि की आवश्यकता है इसकी चर्चा करना ही हमे इष्ट है।

अन्य पंथ और संप्रदाय का संस्कार रखनेवाले इतर व्यक्तियों के हृदय में चाहे जैसा अनुभव हो फिर भी वह स्वपंथ और स्वानुभव की दृष्टि से एकाङ्गी ही है अतएव मैं यहाँ पर जैन पंथ या जैन संप्रदाय को लक्ष्य करके स्वानुभूत जैसा चित्र खींचता हूँ। उमे प्रत्येक पाठक अपना चित्र मान कर, उसकी प्रत्येक भिन्न भिन्न घटनाओं को अपनी अनुभूत घटनाओ के साथ तुलना करके इस चित्र को साधारण रूप दे तो प्रस्तुत चर्चा के समझने में बहुत सरलता हो सकती है।

जन्म के प्रारम्भिक काल मे जब एक बालक माँ की गोदी मे क्रीड़ा करता है उसी समय मे वह स्तनपान और बाल जगत के अवलोकन के साथ ही अनजाने साम्प्रदायिक संस्कारो के चंगुल में फंसता जाता है। थोड़ी सी बड़ी अवस्था होते ही वे संस्कार "जय जय" "राम" 'परशु' 'भगवान्" आदि सरल शब्दों मे व्यक्त होते है। माँ बाप आदि बालक से धर्म-शब्द का उच्चारण करवाते है, बालक भी अनुकरण करता है। उसकी ग्रहण और उच्चारण शक्ति की वृद्धि के साथ ही इसके पास से "जैन धर्म" आदि शब्द उच्चारण करवाये जाते हैं। थोड़े ही समय मे बालक अपने को अमुक धर्म का कहने लगता है। उस समय उसके हृदय मे धर्म, पंथ या संप्रदाय की कोई स्पष्ट कल्पना नहीं होती, फिर भी वह परंपरा से प्राप्त संस्कारों से अपने को अमुक धर्म अथवा अमुक संप्रदाय का मानने लग जाता है। और थोड़ी बड़ी अवस्था होने पर उसके पिता-माता, पितामहादि यदि जैन हों तो बालक को यह समझाने का प्रयत्न करते है कि अपन जैन कहलाते है। अवस्था., अवलोकन और जिज्ञासा की साथ ही साथ वृद्धि होती है। पिता, पितामहादि उसके संतोषार्थ कहते जाते है कि चींटी नहीं मारनी चाहिए, बिना छाना हुआ पानी नहीं पीना चाहिए। अधिक पानी नहीं ढोलना चाहिए—क्योंकि अपन जैन कहलाते है। इतने शिक्षण

से किशोर का मानस इतना ही शिक्षण प्राप्त कर सकता है कि अमुक नियमों का पालन करना ही "जैनधर्म" है। वह किशोर अपने गुरुजनों के साथ धर्मस्थानों में जाता है या घर पर धर्मगुरुओं का दर्शन करता है तब 'ये धर्मगुरु कहलाते हैं, जैनगुरु ऐसे होते हैं, इनकी ऐसी वेश-भूषा होती है, इनको इस प्रकार प्रणाम करना चाहिए' आदि विधिएँ जान लेता है। अब तक तो इसने केवल जैनधर्म जैसे साधारण शब्द ही ग्रहण किये किये थे, उसका अर्थ भी उसने आसपास के वातावरण से साधारण रूप से ग्रहण किया था। अब कुछ वृद्धि होने के साथ ही उसका शिक्षण अन्य दिशा की ओर चला जाता है। धर्मगुरु यदि स्थानकवासी हो तो उसको ऐसी शिक्षा मिलती है कि जो मुँह पर मुहपत्ती बाँधते है, जो अमुक प्रकार के आचार का ही पालन करते है वे ही सच्चे जैन गुरु है। बालक इतने शिक्षण के पश्चात् आगे बढ़ता है। धर्म-पुस्तकों को पढ़ते समय पढ़ता है कि अमुक पुस्तकें ही जैन शास्त्र हैं और ये ही सच्चे धर्म शास्त्र हैं।

इसी प्रकार वह भिन्न भिन्न क्रियाकांड, उपासना और आचार जो उसके आसपास प्रचलित होते हैं उनको ही जैन क्रिया, जैन उपासना और जैन आचार कहने लगता है और क्रमशः उसके हृदय में इन संस्कारों की पुष्टि होने लगती है, कि जैन गुरु तो जैसे मैंने देखे वैसे ही है, अन्य नहीं। जैन क्रिया, जैन उपासना और जैन आचार जैसे मैं जानता हूँ वे ही हैं, अन्य नहीं। इस प्रकार धर्मी और जैनधर्म आदि महत्त्वपूर्ण शब्दों के भाव उसके मनमें बहुत ही संकीर्ण रूप मे चित्रित हो जाते है। और उमर की वृद्धि के साथ ही साथ उसके सामने एक नया चित्र खड़ा होता है कि जैनधर्म ही सत्य है, अन्य सभी धर्म असत्य एवं सत्य से पराङ्मुख है और जैनधर्म भी उसके लिए उसकी जन्मभूमि में प्रचलित सम्प्रदाय से अधिक कुछ नहीं रहता।

यह किशोर तरुण होकर जब जिज्ञासा के वेग में अन्य प्रकार के धर्मगुरू, अन्य प्रकार के धर्मशास्त्र, अन्य प्रकार के धर्मस्थान और अन्य प्रकार के क्रियाकांड--उपासना आदि देखता है, उनके विषय में जानता है तब उसके सामने बड़ी उलझन खड़ी होती है। इस प्रकार की उलझन में उसने यह पहिला ही कदम रखा है। उसको ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे द्वारा स्वीकृत पंथ की अपेक्षा यह सभी भिन्न प्रकार के है। इन सबों को जैनधर्म की कोटि में परिगणित कर सकते है या नहीं? साधारण रीति से ऐसी दुविधा का समाधान अयोग्य रीति से ही होता है। साम्प्रदायिक शिक्षण द्वारा बलात् हृदय में ये भावनाएँ भरी जाती हैं कि अमुक ही मौलिक जैन है, अन्य नहीं। इनके अतिरिक्त अन्य असली जैन नहीं है किन्तु विकृत है। फिर तरुण की

जिज्ञासा उत्तरोत्तर बलवती होती जाती है। वह पूछता है कि अमुक ही मौलिक है और अन्य नहीं, इसका क्या कारण है ? प्रथम उसने मूर्ति एवं मन्दिरों को धर्मकोटि में नहीं गिना था। पर अब तो वह इन सब को और प्रथम की अपेक्षा ज्ञात अन्य शास्त्रों को भी जैन-शास्त्रों की कोटि में क्यों नहीं गिना जाये ? यह प्रश्न करता है। अब तो वह देहात या ग्राम-वासी मिट कर नगरवासी बन जाता है और वहाँ वह स्थानकवासी के उप-रांत श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परंपरा की सभी विधियों का निरीक्षण करके उसको भी जैनधर्म के प्रदेश में परिगणित करना चाहता है ? प्रथम ग्रहण किये हुए शब्दों की विस्तार के साथ व्याख्या करता है। तत्पश्चात् वह युवक विद्यापीठ या अन्य स्थलों में प्रथमतः अज्ञात किसी तीसरे जैन पंथ के विषय में कुछ सुनता है, जानता है–वस्त्र रहित मुनि जैन गुरु कहलाने के अधिकारी हैं, वस्त्रों से परिवेष्टित नहीं। स्थानकवासी एवं श्वे-ताम्बरों द्वारा स्वीकृत शास्त्र मूल जैन शास्त्र नहीं। ये तो बनावटी और पीछे के हैं, सच्चे सभी जैन शास्त्र लुप्त हो गये हैं। इतना होने पर भी अनेक आचार्यों द्वारा निर्मित शास्त्र ही मूल शास्त्रों के समकक्ष हो सकते हैं अन्य नहीं। मूर्ति माननी चाहिए, किंतु नग्न प्रतिमा ही। जब वह युवक इस प्रकार प्रथम नहीं सुनी हुई बातों को सुनता है या पढ़ता है तब उसकी दुविधा का पार नहीं रहता। धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले जो जो शब्द उसके हृदय में घर किये हुए थे उसके विरुद्ध यह नया शिक्षण उसे व्यग्र कर डालता है। इस व्यग्रता से भी सत्य मार्ग की प्राप्ति नहीं होती। अंत में वह प्राप्त हुए नवीन शिक्षण को मिथ्या कह कर पुरातन पिता, पितामहादि से प्राप्त परंपरागत संस्कारों का पोषक बन जाता है। अथवा प्रथम के संस्कारों को एक ओर डाल कर नवीन शिक्षण के अनुसार इन धार्मिक शब्दों के अर्थ की पर्यालोचना करता है। यह तो केवल जैनियों के मुख्य तीन विरोधी फिरकों की विरोधी मान्यताओं में सीमाबद्ध होनेवाले जैनधर्म सम्बन्धी शब्दों एवं संकेतों की बात हुई। परन्तु अब वह चित्र अधिक वि-स्तृत होता है। अब वह बालक, किशोर, कुमार या कालेज का तरुण मिट कर विश्वशाला का विद्यार्थी बनता है। उसके सामने अनेक पंथों के अनेक रूपधारी धर्मगुरु, अनेक प्रकार के आचार और क्रियाकांड, अनेक प्रकार के धर्मशास्त्र और धार्मिक विचार उपस्थित होते हैं तब तो वह और अधिक असमंजस में पड़ जाता है। वह कहता है कि इन सब को धर्म प्रदेश में गिन सकते हैं या नहीं ? यदि ये धर्म की उस कोटि में सम्मिलित नहीं हो सकते तो क्या कारण है ? यदि गिन सकते हैं तो उनको कुलधर्म

अर्थात् प्रथम के जैन धर्म की कोटि में गिने अथवा उससे हीन कोटि में ? इस दुविधा का समाधान भी हजारों में से कोई एक ही कर पाता है।

इस प्रकार जन्म से बड़ी अवस्था पर्यंत कुल परंपरा से प्राप्त साम्प्रादायिक भावना के परिणाम स्वरूप मनुष्य जाति भिन्न भिन्न पंथों की छावनियों में एकत्रित होकर एक दूसरे के ऊपर नास्तिकता, धर्मभ्रष्टता, मिथ्यादृष्टि, आदि धार्मिक गाली गलौज की तोपें चलाते हैं और आस्तिकता, धार्मिकता एवं सम्यग्दृष्टि आदि सर्व मान्य शब्दों के कवच से अपने को सुरक्षित बनाने का पूरा प्रयत्न करते हैं। धर्म के इस युद्ध क्षेत्र को देखकर एक विचारक चिंतन में डूब जाता है और अपनी उलझन को अन्य के द्वारा सुलझवाने की अपेक्षा स्वयं ही उसकी गहराई में पैठने का प्रयत्न करता है। बाद में तो वह विविध शास्त्रों का अध्ययन करता है। और इन सभी विवाद-ग्रस्त प्रश्नों का तटस्थ भाव से विचार करता है और उसके मन में मनुष्यत्व के आदर्श और धर्म का परस्पर क्या सम्बन्ध है यह विचार होते ही उसका सारा भ्रम दूर हो जाता है, उलझन अपने आप ही सुलझ जाती है और इस नवीन ज्योति के प्रकाश में वह सांप्रदायिकता और सत्य का अंतर समझ जाता है। तब वह देखता है कि सम्प्रदाय तो किसी एक व्यक्ति विशेष की विशिष्ट साधना का प्रतीक है। इसमें तो संप्रदाय के मूल प्रवर्तक की आत्मा प्रदर्शित होती है। वह आत्मा महान् होने पर भी अन्ततः मर्यादित ही है। उसकी साधना तेजस्वी होने पर भी अन्य दूसरे प्रकाशों को अभिभूत या लुप्त नहीं कर सकती। यद्यपि उसकी साधना के पीछे विद्यमान मूल प्रवर्तक के उपयोगी अनुभव हैं फिर वे अन्य साधकों की साधना एवं अनुभवों को व्यर्थ और अनुपयोगी सिद्ध नहीं कर सकते। वे तो मात्र अपनी उपयोगिता सिद्ध करने का ही बल रखते है। ऐसे व्यापक, निष्पक्ष और समन्वयगामी चिंतन प्रवाह में से उसे ऐसी चाबी प्राप्त होती है कि अब वह संप्रदाय-संप्रदाय, पंथ-पंथ, और फिरके फिरके के बीच के छोटे बड़े सभी भेदों के विरोध की ग्रन्थि को एक दम सुलझाता है। बाद में तो वह उन स्वानुभूत सभी साम्प्रदायिक परिस्थितियों में से सिद्धान्तों को खोज लेता है और उसे ऐसा अनुभव होता है कि संप्रदायों में सत्य तो है किंतु वह मर्यादित ही। अन्य सम्प्रदाय के सत्य के साथ एक सम्प्रदाय के सत्य का कोई विरोध नहीं तथा दोनों सम्प्रदायों के आंशिक सत्य का इतर तमाम संप्रदायों के आंशिक सत्य के साथ भी कोई विरोध नहीं। ये सभी खंड सत्य एक महासत्य के अभिव्यक्त रूप हैं। उसका मन यही कहता है कि किसी मातृभक्त को अपनी माता की उत्कृष्ट

उपासना के लिए दूसरों की माता की लघुता का ढिंढोरा पीटना उचित नहीं है। स्वमाता की पूज्यता दूसरों की माता को गाली दिए बिना भी सिद्ध हो सकती है। इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों के विषय में तिरस्कार, क्षुद्रता अथवा दोष दर्शन किये बिना ही स्वसंप्रदाय के प्रति पूर्ण सन्मान बुद्धिपूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है। ऐसे विचार प्रवाहों के स्फुरित होते ही वह साम्प्रदायिक होने पर भी असाम्प्रदायिक हो जाता है, पंथ गामी होने पर भी सत्यगामी बनता है, और मनुष्यत्व के आदर्श के साथ पूर्ण रूप से सम्बन्ध रखने वाले धर्मपंथ के विषय मे विचार करता है।

अब तो वह कुरान और पुराण दोनों के साम्प्रदायिक अनुगामियों के झगड़ों को बालकचेष्टा गिनता है। वेद, आगम, पिटक, अवेस्ता, बाइबिल आदि सभी धर्मग्रन्थो मे दिखाई देने वाले विरोधों का समाधान पा जाता है। उसके सामने तो विश्व की एकता, राष्ट्रीय एकता, सामाजिक और धार्मिक एकता का स्पष्ट आदर्श उपस्थित होता है और दूसरों को परस्पर विरोधी दिखाई देने वाले इन्ही पंथों मे से उसे अभी तक साम्प्रदायिक बुद्धि से आच्छादित एकता के पोषक तत्वों का ऐतिहासिक मर्म प्राप्त हो जाता है। यदि वह जैन हो तो गीता मे से भी सत्य पा सकता है। वैदिक हो तो उत्तराध्ययन और धम्मपद का धर्मपान करता है। मुसलमान हो तो अवेस्ता और आगम पिटकों मे से भी सत्य की प्रेरणा प्राप्त करता है। जो धर्मदृष्टि एक बार संकुचित मार्ग और दुविधा की सकीर्ण गलियों मे से कठिनाई से गिरती पड़ती निकलती थी वही धर्मदृष्टि अब बन्धनमुक्त होकर मनुष्य मात्र की एकता सिद्ध करने के पुण्यकार्य मे उद्युक्त होती है।

अनुकम्पा

[एकाङ्की]

नागार्जुन

स्थान—कौशाम्बी

काल २५०० वर्षपूर्व

पात्र—सेठ धनावह, जयसेन, महाश्रमण, ऊँटसवार आदि. .

चंदना, सेठानी, दासियाँ ..

दृश्य — चार . .. गीत एक

पहला दृश्य

[दास-दासियों के बिकने की, जगह .. आम के पेड़ों का बाग..... बीच बीच में यत्र तत्र फूस के कच्चे झोंपड़े——साख के पतले खंभों के सहारे खड़े——मंडपों की तरह खुले जाड़े के दिन हैं. दुपहर के बाद की गुलाबी धूप। मंडपों के आस-पास छोटी छोटी भीड़ें . अर्धनग्न, परन्तु आज के लिये विशेष रूप से सँवारे-सिंगारे हुए दास-दासी जन . हार-केयूर-वलय-उष्णीष भूषित क्षत्रिय-ब्राह्मण और वैश्य गृहस्थ——विक्रेता और ग्राहक; उनके पीछे नौकर-चाकर... तमाशबीन भी इन्हीं वर्गों के . जनसमूह का साधारण कोलाहल, क्रय-विक्रय की बोलियाँ .

दो ऊँटसवार आते दिखाई पड़ते हैं उनके निकट आने पर एक ऊँटसवार के पीठ-पीछे बैठी नौ-दश साल की एक सुन्दर लड़की अनेकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती है। उनमें से दुहरी देहवाला एक अधेड़ आदमी आगे बढ़ आता है, एक साथी और दो अनुचर]

अधेड़ आदमी—(उत्साह से आँखें नचाकर) **मित्र जयसेन !** (साथी के कंधेपर हाथ रखता हुआ) **देखो तो** (ऊपर से उतरी हुई बालिका के प्रति भौंहों का संकेत) **जाने कहाँ से लूट लाये होंगे बेचारी को !**

जयसेन—(उँगली तर्जनी—नचाकर गंभीरतापूर्वक) **पता लगाना चाहिये, कहाँ की राजकन्या है ?** (नाक से 'खाँ-खाँ' की आवाज) **जैसी तुम चाहते थे** (मुसकुराकर) **आर्य धनावह !**

[अनुचर दोनों उल्लसित होकर सिर हिलाते हैं। उनमें से एक नतिक

आगे बढ़कर मुह बा देता है और एकटक उस लड़की की ओर ताकता रह जाता है। भीड़ों मे से अनेकों की आँख उसी पर गड़ी है, कुछ तो मटका मटकाकर और तर्जनी नचाकर उसी लड़की को निमित्त बनाकर परस्पर दृष्टि-विनमय कर रहे हैं]

धनावह–हाँ बंधु ! (स्वर में एक प्रकार का विक्षोभ) **परन्तु सेठानी का आग्रह, जानते हो, इस विषय मे क्या है ?** (गर्दन आगे बढ़ाकर) **चुप क्यो हो ?** (गर्दन सीधी कर लेता है)

जयसेन–तो (हँसकर) **यह बच्ची भला क्या बिगाड़ लेगी सेठानी का ?**

धनावह–आज की बच्ची (कृत्रिम हँसी) **कल की किशोरी होगी और कल की किशोरी** (साँस ऊपर खींचकर) **परसो जब तरुणी हो जायगी तो मेरी सेठानी के सिर पर सौतिया वहम का भूत सवार होगा** (दो पग पीछे हटकर) **ना बाबा, ना;** (घमटना है)) **यह सौदा मेरे लिये घातक साबित होगा।**

[जयसेन धनावह को लाँघकर आगे बढ़ता है ऊँटसवार की ओर ... लड़की चकित-विस्मित खड़ी है। एक ऊँटवाला दोनों ऊँटों को दूसरी ओर ले जाता है। थोड़ी देर भलीभाँति लड़की का पर्यवेक्षण करके जयसेन दूसरे ऊँटवाले के नजदीक जाता है।

सेठ धनावह की आँखों का इंगित पाकर जयसेन लड़की की ओर बढ़ता है। कुछ पूछना चाहता है उससे परन्तु दूसरा ऊँटवाला जयसेन को हाथ के इशारे से अपनी ओर बुलाता है ...]

ऊँटवाला–क्या है आर्य ? (स्वर को अधिकारपूर्ण करके) **सौदा करेंगे ?** (उँगली नचाकर) **ऐसा माल और कहाँ मिलेगा ? कौशाम्बी तो खैर कौशाम्बी ही ठहरी, श्रावस्ती तक मे ऐसी लड़की नहीं मिलेगी** (लड़की की ओर मुह करके तनिक आँख भर उसे देख लेता है) **शहद में डूबी हुई सोने की छड़ी है** (दोनों हाथों को अपनी कमर पर थामता है) **आर्य, आप, जैसे कुलीन सेठ के योग्य होगी किंतु** (दोनों हाथ और दसों अंगुलियाँ चार बार दिखलाकर) **इससे कम नहीं** (हुंकारा भरता है) **समझे ?**

[जयसेन दाहिना हाथ हिलाकर निषेधमुद्रा प्रदर्शित करता है .... ऊँटवाला भी हाथ के ही संकेत से जतलाता है–जाइए, जाइए। दोनों मित्र अनुचरों समेत पेठ (बाजार) भीड़ों में अलक्षित हो जाते हैं।

लडकी को देखने वालों की भीड़ कम होती तथा भरती रहती है। बीच बीच में सौदा पटाने के संकेत ...दोनों हाथ और दसों अंगुलियाँ

चार बार दिखलाकर वही मूल्य ...चालीस निष्क (स्वर्ण मुद्रा) मे लेना हो तो ले लो वर्ना जाओ .

इतने में सेठ धनावह और जयसेन फिर दिखलाई पड़ते है. नजदीक आकर आपस मे कुछ कानाफूसी जैसी मुद्रा . जयसेन भीड़ चीरकर लड़की के निकट और फिर ऊँटवाले के बिल्कुल समीप पहुँचता है]

ऊँटवाला–आओ भद्रमुख ! (उत्साहपूर्वक) **यह कोई मामूली गर्भ-दासी* की छोकरी नहीं** (आँखे नचाकर) **राजकुल की कन्या है। अंग और मगध के सीमान्त जंगल मे कहीं हमारे सरदार के हाथ लगी......**(विषाद की मुद्रा मे) **सूख गई बिचारी दो ही महीने मे** (हाथ मे पेट और मुँह की ओर संकेत करके) **खान-पान और साज-सँवार का कोई भी प्रबन्ध हमसे पार न लग सका। तभी इसे आज तुम्हारे महानगर में आये हैं ।** (जयसेन का हाथ अपने हाथ मे लेकर) **ले लो आर्य !** (आँख मटकाकर जयसेन की हथेली को अपनी उंगली मे कुरेदता है) **पाँच कम ही दे देना।**

जयसेन–तीन दस (तीस) ले लो (लड़की और अपने सेठ की ओर बारी बारी से ताकता हुआ) **इतना तो वैशाली और राजगिरि मे भी नहीं मिलता** (अंटी से छोटी सी पोटली निकाल कर उसमे से तीस निष्क निकाल लेता है। वहीं बैठकर दश दश निष्कों को तीन जगह रखता है)

ऊँटवाला–बस ! (उपालम्भ की मुद्रा मे जयसेन की ओर ताकता रह जाता है)

जयसेन–तो (पोटली–थैली से दो निष्क और निकालता है) **यह रहा** (हवा मे हाथ मार कर) **हटाओ, छोड़ो इस झंझट को।**

ऊँटवाला–नहीं, (दाहिने हाथ की तीन अंगुलियां दिखला कर) **इतना और......**

[सेठ धनावह आंख से स्वीकृतिसूचक संकेत करता है जयसेन तीन निष्क और थैली से निकालता है ऊँटवाले का इंगित पाकर लड़की उठ खड़ी होती है]

ऊँटवाला–आर्यो, माल की जांच-परख कर लीजिये (उंगली उठा उठा-कर गर्व के साथ) **चला-फिराकर और पूछा-पेखी करके देख लीजिये, पीछे न कहना कि ठग लिया** (आँखे चमक उठती हैं) **हां !**

[धनावह भी निकट आ जाता है . दोनो प्रसन्न मुद्रा मे . ..संकेत से वे अनुचरों को पास बुलाते है . लड़की को घर ले जाने का इशारा . ऊँटवाला पतीस निष्क अपने दूसरे साथी को सौंप देता है. धनावह

---

* जन्मजातदासी; दासी की कोख से पैदा होनेवाली दासी।

और जयसेन का बाग की ओड़ में धीरे धीरे अलक्षित हो जाना.........अनुचर दोनों, लड़की को आगे किये हुए नगर की ओर जा रहे हैं—जाते जाते उनका अलक्षित हो जाना... .बाजार की शोरगुल का भी दूरी के क्रम से धीमी धीमी पड़ते जाना]

दूसरा दृश्य

[गर्मी के दिन, दुपहर का समय। सेठ धनावह का एक चउमाल मकान..... ..आँगन सूना है ... ..कड़ी धूप..... ...सेठ का प्रवेश। गर्मी से तर। ओसारे (बरामदे) पर आकर इधर उधर नजर डालते हैं...]

सेठ—(हलके स्वर में स्वगत) **देर हो गई आज** (उँगली से भौंहो का पसीना पोंछता हुआ) **पता नहीं मित्र जयसेन कहाँ गया? सुबह से ही वह दिखाई नहीं पड़ा, और** (जोर से) **कोई है? पानी चाहिये।**

[हाथ से सोने की झारी लिये हुए एक लड़की अंदर से निकल आती है, आयु १२ साल की। अत्यन्त सुन्दर, कौशेयवसना, मणिकर्णिका। पैरो में नूपुर, हाथो में कंकण, कटि मे मेखला। शिर कुंतलीन और मुक्त ... नजदीक आने पर]

सेठ-चंदना! (आश्चर्य और उल्लास) **बेटी, ये कृष्णा कद्रू और अलसा** (दासियो के नाम) **कहाँ गई है? तू क्यों हैरान हुई?** (निकट आती लड़की को प्रीतिस्निग्ध नेत्रो से देखता रह जाता है) **मैं स्वयं पैर धो लेता।**

लड़की—कोई नहीं है आर्य! (पीछे मुड़कर देख लेती है) **सब सोई पड़ी है आर्य!** (सेठ के पैर धोने का उपक्रम करती हुई) **आप बैठ जायँ आर्य!** (झारी रखकर पीढ़ा ले आती है)

सेठ—रहने भी दे बेटी! (प्यार से लड़की के कंधे पर अपना एक हाथ रख देता है) **मित्र जयसेन ने तेरा सुशील और शान्त स्वभाव पाकर नया नाम दे दिया है—चंदना! ठीक है न?** (ठुड्डी उठाकर आँखो में आँखें डालता है)

[चंदना झारी से पानी उड़ेल कर सेठ के पैर धोने लगती है। उसके मुक्त कुंतल भूमि पर लोटने लोटने को हो जाते है।]

सेठ—ओह......(झुक कर) **ठहरो बेटी ठहरो!**

[चंदना के बालों को समेट कर पहले उन्हें उसकी पीठ पर कर देता है और ठिठक कर पल भर देख लेने के उपरान्त फिर उन्हें जूड़े की शकल में बाँध देता है। चंदना मनोयोगपूर्वक सेठ के पैर धोती रहती है।

लकड़ी की दीवार में कुछ गोल गोल छेद.........उनसे सटकर एक थुल-थुल-बदन प्रौढ़ा यह सब देख रही है, उसकी आँखों में प्रतिहिंसा के भाव स्पष्ट हैं......]

सेठ–हो तो गया (हाथ से रोककर) **जा, बेटी अब आराम कर** (गर्दन चंदना की ओर आगे बढ़ाता है) **और सब ठीक तो है बेटी ?** (चंदना सिर हिलाकर स्वीकार कर लेती है कि सब ठीक है और झारी लिये चली जाती है)

अब (बुदबुदाकर) **अपने को भी आराम करना चाहिये जाकर।** (अंदर जाता है, दूसरे दरवाजे में)

तीसरा दृश्य

[हवेली का अदरूनी हिस्सा......आँगन में मचिया पर वही थुलथुल-बदन प्रौढा सेठानी बैठी है.. मुखाकृति तमतमाई हुई .....सामने अप-राधिनी की मुद्रा में चंदना खडी है। साँवली शकल की दो दासियाँ आदेश की प्रतीक्षा में। सन्ध्या होने वाली है . .]

सेठानी–कल कैंची से इस लौंडिया के बाल काट देना कद्रू ! (एक दासी की ओर देखती है जिसका नाम कद्रू है। साँवली होने के साथ ही वह भद्दी भी है)

कद्रू–जी (मुह बनाकर) **सरकार** (जरा रुककर) **और क्या हुकुम होता है ?**

सेठानी–बस, (दूसरी दासी की ओर मुह करती है) **और तू कृष्णा......**

कृष्णा–हुजूर (तनिक आगे बढ़ आती है) **जो आज्ञा......**

सेठानी–छोकरी के (दाँत पीसती हुई) **ये गहने और कपड़े उतार लेना और टाट पहनाकर तहखाने में डाल आना** (आँखे खूब कडी हो जाती है) **साँकल चढ़ाकर भलीभाँति बन्द कर देना......** (चंदना की ओर घूरती हुई) **राँड़ कहीं की ! जिसने दूध पिलाया उसीको डसती है !** (दाँत पीस लेती है) **देखूं भला, अब कौन तुझे तहखाने से निकालता है !! चंदना ! चंदना !! चंदना !!!** (हाथ चमका कर) **विष की इस पुड़िया का जिसने ऐसा नाम रख दिया उसको....** (गले से हार को इधर उधर सरकाती) **उसको.........**

कृष्णा–करम (चंदना की ओर हाथ उठाकर फिर सेठानी का लक्ष्य करके) **फूट गया है कलमुंही का** (मुख की आकृति को खूब विद्रूप बना कर) **तभी तो अपनी जड़ आप खोद रही है,.........अम्म, अब इसका दिमाग दुरुस्त हो जायगा।** (चंदना की ओर घूरती रह जाती है)

सेठानी–हट मेरे सामने से राँड़ ! (चंदना पर लात उसाहती है) **कहाँ की यह पापिन हमारी चहारदिवारी के अंदर घुस आयी है !** (उसाँस लेकर) **हाय !**

[दोनों दासियाँ चंदना को धकेलती हुई, उसके गले पर अर्धचन्द्र–गलहत्था देती हुई एक ओर लिये जा रही है. सायंकाल निकट है नेपथ्य में वीणा की करुण और मर्मवेधी झंकार। यह झंकार क्रमश. पतली तथा कम होती हुई विलीन हो जाती है। भयानक अंधकार रंगमंच को आत्मसात् कर लेता है . पटाक्षेप]

चौथा दृश्य

[सेठों का मुहल्ला, नगर-वीथी दूर तक चली गई है। डेढ़ पहर दिन चढ़ गया है। देखने में परम भव्य एक श्रमण इस छोर से उस छोर तक उस छोर से इस छोर तक आ-जा रहा है। नागरिक-नागरिकायें, सद्गृहस्थ और गृहलक्ष्मियाँ अपने अपने द्वार पर विस्मय-विमुग्ध खड़े हैं– . .

एक बड़े प्रासाद के सामने काठ का मंडप, बड़े तख्तपोश पर बैठे पाँच-सात प्रौढ़ तथा वृद्ध नागरिक बातें कर रहे हैं]

एक वृद्ध नागरिक–यह चौथा दिन है (काँपती गर्दन से सबकी ओर जिज्ञासा और विस्मय की दृष्टि से देखता हुआ) **क्या आज भी महाश्रमण खाली लौट जाएंगे ?**

दो नागरिक साथ साथ–आश्चर्य की ऐसी घटना क्या और भी कभी घटी होगी ? (पहले औरों की ओर ताक कर फिर पहले वृद्ध पर दृष्टि गड़ा देते हैं) **तात आपकी आयु बड़ी है, परन्तु आपने भी ऐसा कभी नहीं देखा या सुना होगा !**

एक और नागरिक–श्रमण के मन की बात कौन जाने ! (उदास स्वर से) **उँह, होगा कोई !**

दूसरा वृद्ध नागरिक–जानते नहीं ? (सबकी ओर दृष्टि फेरकर) **यह महाश्रमण निगंठनाथपुत्र वीर वर्धमान हैं** (नगरवीथी में जिस ओर महा-श्रमण जा रहे हैं उस ओर हाथ उठाकर) **आपकी अनुकम्पा का पात्र–सबसे बढ़कर पात्र कौन हुआ करता है ? बता सकते हो ?** (सब चुप और विस्मित) **लो मैं** (गौरव से अपनी छाती आप थपथपा कर) **बतलाता हूँ।**

सभी एक साथ–अवश्य बतलाओ आर्य ! (एकटक सब दूसरे वृद्ध पर अपनी अपनी दृष्टि गड़ाये हुए हैं)

दूसरा वृद्ध नागरिक—**दूसरे दूसरे साधुओं की भांति यह महामुनि केवल ऐश्वर्यसम्पन्न तथा कुलीन दाताओं को नहीं खोजते फिरते** (गंभीरता और भावुकता के मधुर-मादक आवेश में जरा देर तक माथा हिलाता रह जाता है) **दलित-पीड़ित-उपेक्षित, अवहेलित मानवता को अपनी अनुकम्पा का अवसर देने मे आप महाश्रमण बेजोड़ है......आज चार दिनों से महाश्रमण किसी ऐसे ही पात्र की खोज में हैं** (दो अगुली से दूसरी हथेली पर आघात पहुँचा कर) **चार दिन हो जायेंगे पूरे आज......आप आते हैं और भिक्षा बिना लिये ही वापस लौट जाते हैं । अवश्य ही कोई बड़ा कारण होगा !** (जरा देर सोचता रह जाता है) **किसी निगड़बंधना दासी या छोटी जाति की विकलांग औरत या रोता बिलखता अकिंचन अछूत बालक या ऐसा ही कोई भगवान को भिक्षा देकर कृतार्थ होगा आज** (कपार पर तीन अंगुलियाँ ठोककर) **भाइयो, हमारे तुम्हारे करम मे इस प्रकार का सौभाग्य नहीं बदा है** (निःश्वास)

[महाश्रमण घूमते-फिरते सेठ धनावह के मकान के सामने खड़े हो जाते हैं । थोड़ा ठिठककर फिर आगे बढ़ जाते हैं, जरा दूर जाकर फिर लौट आते हैं उधर तहखाने के बाहर ऊपर बरामदे में चंदना दिखाई पड़ रही है । बाल उसके कटे, चेहरा फीका, आंखें धंसी, पर चमकती हुई । उसके सामने सूप मे कुल्थी के दाने पड़े हैं .

महाश्रमण को देखकर सहसा चंदना की आंखें चमक उठती हैं । बड़ी ही कठिनाई से वह उठती है और बरामदे के उस छोर तक पहुंचती है जो नगरवीथी के किनारे पड़ता है.......

महाश्रमण की आंखें चंदना पर पड़ती है, वह वहीं खड़े रह जाते हैं जहाँ ऊपर बरामदे में चन्दना कुल्थी लिये खड़ी है ।

श्रद्धा और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता मे चंदना जरा देर तक 'जस की तस' खड़ी रह जाती है .. चेहरे पर दुविधाजनित सकोच......

महाश्रमण अपनी अंजली उसकी ओर बढ़ा देते हैं और वह उसमें कुल्थी के दाने डाल देती है . आस-पास की नगरवीथी में लोगों की दृष्टि इन्ही दोनों पर केंद्रित.....महाश्रमण जब कुल्थी ले चुकते हैं तब चन्दना घुटना टेक कर वन्दना करती है. .....]

चंदना—**णमो अरिहंताणं....**

[महाश्रमण तत्क्षण कुल्थी की पारणा वहीं कर लेते हैं और उनका दाहना हाथ अभयमुद्रा का प्रतीक बनकर कुछ ऊपर उठ रहा है ....नेपथ्य

में वीणा की प्रासादिक तीव्र ध्वनि और मधुर-सूक्ष्म स्वर में अंतरा—

दलित और पीड़ित मानव का
मान बढ़ाने वाले—
महाश्रमण, तेरी करुणा में
जगती आज नहा ले !
द्रवित हुए, आये, भिक्षा ली
हे महान् संन्यासी
धन्य धन्य हो गई चन्दना
निगड़बंधना दासी
हे महान् सन्यासी !

[लुहार को साथ लिये सेठ धनावह का प्रवेश... महाश्रमण और चंदना को उस रूप में पाकर सेठ भी घुटने टेक देता है। लुहार औजार से चंदना के पैरों की बेड़ी काटकर एक ओर विस्मित नत-वदन खड़ा रहता है]

सेठ—णमो अरिहंताणं......... (स्वर आवेगपूर्ण और अति नम्र) **देव, चंदना को आज से मैंने मुक्त कर दिया। हमारे अपराधों को** (भूमि पर नतवदन होकर) **क्षमा करें महाश्रमण !**

महाश्रमण—क्षमा (स्मित मुख तनिक और भी विकसित हो उठता है) **महासेठ, अशेष क्षमा.........** (चंदना पर तनिक दृष्टि डालकर) **गृहपति, तुम्हारे अपराधों को क्षमा करने का चरम अधिकार इसी को है** (पहले चंदना फिर सेठ के प्रति तर्जनी उठाकर) **भद्रे, कौशांबी का सेठ धना-वह तुझसे क्षमा माँग रहा है।**

(चंदना की आँखों में आँसू छलछला आते हैं)

चंदना—पिता ! (सेठ की ओर देखने लगती है) **तुमने मुझे मुक्त कर दिया ?**

सेठ—हाँ (आँखें डबडबा आई) **बेटी जाने किस शुभ क्षण में तुझे मैं लाया था; मेरे अपराधों को** (हिचकियाँ बँध जाती हैं) **क्षमा.........**

[चंदना उठकर हथेली से सेठ का मुँह बंद कर देती है... महाश्रमण का प्रस्थान . चंदना भी बरामदे से उतर कर नगरवीथी में आ जाती है। सेठ भी आगे बढ़ आता है]

सेठ—बेटी (चंदना का हाथ पकड़ता है) **जाने दो सुखपूर्वक आप महा-श्रमण को; अपन भी** (घर की ओर इशारा) **चलें.........** (भावावेग में)

चार लाख स्वर्णमुद्राओं की मेरी सम्पत्ति है, (राह छेक कर) आज से तू ही इस सम्पत्ति की अधिस्वामिनी हुई (हल्का क्रोध) सेठानी खाना, कपड़ा भर पावेगी।

[चंदना हथेलियों में कान ढक लेती है। धीरे धीरे महाश्रमण का अनुसरण कर रही हैं। सेठ भी साथ चल रहा। कुछ दूर आगे बढ़ने पर]

चंदना–लौट जाओ पिता, (महाश्रमण की ओर हाथ उठाकर) आज से मैं इन्हीं की शरण लेती हूँ......तुम्हारी करुणा अकारण नहीं थी, इनकी करुणा अकारण है (सेठ का हाथ पकड़कर परे करती हुई) जाओ पिता अपने काम-काज देखो जाकर (गंभीर स्वर में) मुझे महाश्रमण की उपासना में खो जाने दो (पैरों पर गिर पड़ती है)

सेठ–जा बेटी (अश्रुमुख होकर) यदि इसी में तू अपना कल्याण देखती है तो मैं तुझे क्यों रोकूं ((हिचकियाँ लेता हुआ चंदना को छाती से लगाये रह जाता है कुछ क्षणों तक)

चंदना–क्षमा करना अपनी इस पुत्री को पिता ! (अलग होकर और घुटने टेककर प्रणाम करती हुई) मेरे ही कारण अम्मा तुम पर बिगड़ी रहती थीं (रोने लगती है) फिर भी तुम मुझ पर सदैव दयालु रहे ! (जरा रुककर) अब मुझे आज्ञा दो पिता (हथेलियों में आँसू पोंछती हुई) प्रणाम, सदा के लिये प्रणाम पिता.........

[सेठ हक्का-बक्का सा खड़ा रह जाता है। चंदना आगे बढ़ जाती है। महाश्रमण आगे आगे चंदना पीछे पीछे .. दोनों नगरवीथी में चले जा रहे हैं दूर सुदूर . वीणा की करुण ध्वनि और मर्मवेधी लय में––]

हे महान् सन्यासी !

इस नगण्य पर बहुत दया की
द्रवित हुए, आये, भिक्षा ली
धन्य धन्य हो गई चन्दना
निगड़बंधना दासी
हे महान् सन्यासी !.........

[फिर दोनों का अदृश्य होते जाना।]

भारतीय संस्कृति की आत्मकथा

—पण्डित इन्द्रचन्द्र एम० ए०

[३]

जीवन की साधनता—

ब्राह्मण संस्कृति में वर्तमान जीवन साध्य है। दूसरी सब वस्तुएं जीवनके लिए हैं। जो सामग्री जीवन के लिए उपकारक है वही संग्राह्य है। इसीलिए दीर्घायुष्य तथा धन धान्य आदि के लिए प्रार्थना की जाती है।

श्रमण संस्कृति में जीवन अपने आप में साध्य नहीं है। वह एक महान् लक्ष्य की पूर्ति का साधन है। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है कि जीवन का उपयोग वहीं तक है जहाँ तक वह धर्माराधन के लिए उपयोगी है। जिस समय शरीर इतना अशक्त हो जाय कि वह धर्मक्रिया न कर सके उस समय श्रमण को चाहिए कि धर्म के संरक्षण की ओर ही ध्यान देकर धीरे धीरे शरीर को छोड़ दे।

आचारांग सूत्र में जीवन के प्रति निम्नलिखित दृष्टिकोण बताया गया है :—

"जीविअ नाभिकंखेज्जा, मरणं नो वि पत्थए।
दुहओ वि न सज्जेजा, जीविए मरणे तहा॥
मज्झत्थो निज्जरापेही।"

—आचारांग १।८।४

अर्थात्—न तो जीने की आकांक्षा करे और न मरने की। दोनों में से किसी में आसक्ति न रखें। मध्यस्थ रह कर कर्मों की निर्जरा अर्थात् एक मात्र आत्मविकास का लक्ष्य रखे। ब्राह्मण संस्कृति जीवन को महत्त्व देती है, श्रमण संस्कृति मुक्ति को अर्थात् शरीर और कर्मबन्धन से छुटकारे को।

पाप का आधार—

श्रमण संस्कृति की पाप की मान्यता ईश्वर की आज्ञा पर आश्रित नहीं है, अर्थात् जो व्यक्ति ईश्वराज्ञा का उल्लंघन करता है वह पापी है, ऐसा नहीं माना गया है। इसके विपरीत व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति तथा समाज के प्रति जो कर्तव्य है उसका पालन न करना ही पाप का आधार है।

शत्रु पर विजय का साधन आत्मोत्सर्ग–

श्रमण संस्कृति में शत्रु द्वेष का विषय नहीं है। वह एक पथभ्रष्ट व्यक्ति है, इसलिए अनुकम्पा का विषय है। उसे ठीक मार्ग पर लाना श्रमण अपना कर्तव्य मानता है। किन्तु दण्ड देने से वह ठीक मार्ग पर नहीं आ सकता। इससे तो उसका क्रोध और उद्दीप्त हो जाएगा और वह पथ से दूरतर होता जाएगा। किसी के शरीर को वश में कर लेने से उसकी आत्मा वश में नहीं होती। दण्ड से आत्मा में परिवर्तन नहीं होता। आत्मा में परिवर्तन करने के लिए आध्यात्मिक साधनों की आवश्यकता है।

क्रोध आदि आत्मा के विकार हैं। विकार तभी होता है जब बाह्य कारणों से स्वभाव दब जाता है। जब आत्मा का मित्रता रूप गुण दब जाता है तभी वह द्वेष करता है। ऐसे समय यदि हम अपने त्याग द्वारा उसके उस गुण को अभिव्यक्त कर दें तो वह अपने आप ठीक मार्ग पर आ जाएगा। उस समय व्यक्ति अपने आप में कमी का अनुभव करता है। शत्रु को देखकर मनुष्य को क्रोध आता है क्योंकि वह शत्रु को दुःख का कारण मानता है। दुःख का कारण उपस्थित होने पर अपने को समझना और अशान्ति का अनुभव करना स्वाभाविक है। उस समय वह उस कारण को दूर करना चाहता है। इसीलिए क्रोध होता है। इसी प्रकार अभिमान को ठेस पहुँचने की कल्पना व्यक्ति को उसके प्रदर्शन के लिए प्रेरित करती है। यही मान है। जब मनुष्य यह मानने लगता है कि वह अपने सुखसाधनों को सीधे उपाय से नहीं प्राप्त कर सकता तब माया करता है। भविष्य में सुख साधनों की प्राप्ति के विषय में सन्देह लोभ को जन्म देता है।

यदि हम क्रोधी के मन में यह बैठा दें कि हम उसके मित्र हैं तो वह कभी क्रोध नहीं करेगा। किन्तु इस भावना को उत्पन्न करने के लिए उत्सर्ग की आवश्यकता है। उससे भी पहली आवश्यकता है कि आक्रमणकारी को हम अपना शत्रु न मानें। हमारे हृदय में किसी प्रकार का भय न हो।

भगवान् महावीर सेतविया नगरी जा रहे थे, मार्ग में चण्डकौशिक नाम का भयंकर दृष्टिविष सर्प रहता था। लोगों ने उन्हें दूसरे मार्ग से जाने के लिए कहा किन्तु वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। चण्डकौशिक के बिल पर जाकर खड़े हो गए। साँप ने फुँफकार मारी। भगवान् उसी प्रकार शान्त खड़े रहे। उनके मुँह से एक ही शब्द निकला–समझो, चण्डकौशिक ! समझो ठीक उसी प्रकार जैसे एक मित्र दूसरे मित्र को कहता है। चण्डकौशिक विचार में पड़ गया। उसकी विचारधारा बदल गई। उसी दिन से

वह अहिंसक बन गया। सांप का भी कल्याण हो गया और उसके क्रोध से मरने वाले प्राणी भी बच गए।

बौद्ध साहित्यमें अंगुलिमाल की घटना भी इसका सुन्दर निदर्शन है। अंगुलिमाल राजगृही का प्रसिद्ध डाकू था। जिसे देखता उसे ही मार डालता। जनता दूर दूर तक उसके नाम से काँपती थी। उसकी एक प्रतिज्ञा थी कि निश्चित तिथि तक एक हजार मनुष्यों को मार डालूंगा। इस कारण कोई व्यक्ति नगरी से बाहर न निकलता था। धीरे धीरे उसने ९९९ व्यक्तियों को मार डाला और उनकी अंगुलियों की माला गले में डाल ली। निश्चित तिथि आ गई किन्तु कोई व्यक्ति ही नहीं मिल रहा था। प्रतिज्ञा पूर्ण करनी आवश्यक थी। अन्त मे उसने अपनी बुढ़िया मां को मारने का निश्चय किया।

बुढ़िया को उसने पहले ही कह दिया था, जिस दिन कोई दूसरा व्यक्ति न मिलेगा तुझे मार डालूंगा। बुढ़िया मृत्यु के भय से रो रही थी। अकस्मात् भगवान् बुद्ध उधर से निकले। उन्होंने बुढ़िया को सान्त्वना दी और कहा–माता! तुम्हारी जगह मैं संख्या पूर्ण कर दूंगा।

इधर बुढ़िया को सान्त्वना देकर भगवान् बुद्ध निकले उधर अंगुलिमाल आ गया। अंगुलिमाल ने प्रहार करने के लिए खड्ग उठाया किन्तु बुद्ध शान्त खड़े रहे। उनके मुख पर भय और क्रोध के स्थान पर अनन्त करुणा और प्रेम विराज रहे थे। अंगुलिमाल का हाथ उठा का उठा रह गया। वह नीचे न आ सका। बुद्ध की करुणा के सामने वह अपनी द्वेषवृत्ति को भूल गया। उसी समय वह उनके चरणों पर गिर पड़ा और भिक्षु बन गया।

अन्तगडदशांग मे अर्जुनमाली का कथानक भी इसीका द्योतक है। महात्मा गांधी ने इसी सिद्धान्त का प्रयोग करके उसे पुनर्जीवन दे दिया है। सत्याग्रह इसीका नया रूप है।

कर्मवाद–

कर्मवाद भी श्रमण संस्कृति की महत्त्वपूर्ण देन है। इसका अर्थ है जीव जैसा कार्य करता है उसका फल भोगने के लिए भी वह स्वयं उत्तरदायी है। इसके लिए ईश्वर या किसी अन्य शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। यदि एक व्यक्ति आँखों पर पट्टी बाँध कर या देखते हुए कुए की ओर बढ़ा चला जाय तो वह उसमें पड़ेगा ही। कुए में पड़ने और उससे लगने वाली चोट के लिए वह स्वयं उत्तरदायी होगा। कूप में डालने वाला दूसरा कारण मानने की आवश्यकता नहीं है।

समता–

साम्यवाद का निर्देश पहले किया जा चुका है। किन्तु यहाँ जातिकृत

वैषम्य की ओर लक्ष्य है। समता का अर्थ है सब को बराबर मानना। न किसी के प्रति राग, न किसी के प्रति द्वेष। इसका आधार मुख्य रूप से आत्मा के परिणाम हैं।

हृदय परिवर्तन-

श्रमण संस्कृति में बाह्य क्रिया काण्ड की अपेक्षा हृदय परिवर्तन पर ओर दिया है। बाह्य रूप का यहाँ कोई महत्त्व नहीं है। मनुष्य किसी भी वेश में हो, किसी भी जाति का हो किन्तु यदि उसका हृदय शुद्ध है, आत्मा निर्मल है तो वह मोक्ष का अधिकारी बन सकता है। यहाँ चरित्र निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

जैन और बौद्ध-

यह पहले बताया जा चुका है कि श्रमण संस्कृति के उन्नायक दो महा-पुरुष हुए। महावीर और सिद्धार्थ। कैवल्य या सत्य प्राप्ति के अनन्तर महावीर जिन कहे गये और सिद्धार्थ बुद्ध। ये दोनों शब्द इन दो परम्पराओं के प्रतीक हैं। जिन शब्द का अर्थ है विजयी। जैन परम्परा ने राग द्वेष आदि आत्मा के आभ्यन्तर शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने की ओर विशेष लक्ष्य दिया है। बुद्ध का अर्थ है, जिसने बोध अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर लिया है। बौद्ध परम्परा ने ज्ञान पर विशेष भार दिया है। इन दोनों की तुलना के लिये कुछ बाते नीचे दी जाती हैं।

जैन धर्म निवृत्ति प्रधान है। इसमें सभी प्रकार के पापों से विरक्ति पर विशेष लक्ष्य दिया गया है। मुनियों के लिये जीवहिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि का सर्वथा त्याग विहित है। उसे मन, वचन और शरीर से न स्वयं हिंसा करनी चाहिये और न दूसरे से करानी चाहिये। और न करनेवाले का अनुमोदन करना चाहिये। उसी प्रकार सभी व्रतों के लिए है। मुनिव्रत अंगीकार करते समय व्यक्ति प्रतिज्ञा करता है-"सावज्जं जोगं पच्चक्खामि।" अर्थात् मैं सभी सावद्य वृत्ति का त्याग करता हूँ।

बौद्धधर्म ने विश्वहित की ओर विशेष लक्ष्य दिया। बुद्ध अपने भिक्षुओं से कह रहे हैं--

"चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, लोकानुकम्पाय, अत्थाय हिताय देवमनुस्सानं।

देसेथ भिक्खवे कल्लाणं, आदिकल्लाणं, मज्झे कल्लाणं, परियोसानकल्लाणं, केवलं परिपुण्णं ब्रह्मचर्यं पकासेथ।"

हे भिक्षुओ! ऐसी जीवनचर्या बनाओ जिससे बहुत लोगों का हित हो,

बहुत लोगों को सुख प्राप्त हो। लोक की अनुकम्पा के लिये, देव और मनुष्यों के उपकार तथा हित को अपना जीवन व्रत बनाओ।

हे भिक्षुओं! ऐसा उपदेश दो जो आदि में कल्याणकारी हो मध्य में कल्याणकारी हो तथा अन्त मे कल्याणकारी हो। पूर्ण ब्रह्मचर्य का प्रकाश फैलाओ।

इसका यह अर्थ नहीं है कि जैनधर्म विश्वहित को बुरा समझता है और बौद्धधर्म निवृत्तिमार्ग को। किन्तु दोनों ने अपने अपने क्षेत्र को प्रधानता दी है।

जैनधर्म का दृष्टिकोण समझने के लिये थोड़ा गंभीर विचार करने की आवश्यकता है। जैन शास्त्रानुसार आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से सम्पन्न है। ये गुण उसके स्वाभाविक हैं, किसी बाह्यवस्तु से प्राप्त नहीं होते। संसारी जीवों का वह स्वरूप राग द्वेष अज्ञान आदि वासनाओं से विकृत हो रहा है। कर्मपुद्गलों के आवरण से ढंका हुआ है। इसलिये जीव प्रयत्न का लक्ष्य एक ही होना चाहिये और वह है कर्मों के आवरण को हटाना। आवरण हटते ही उसकी शक्तियाँ स्वयं अभिव्यक्त हो जाँयगी। आवरण को दूर करने के लिये दो बाते आवश्यक है। संवर अर्थात् नये कर्मों के आगमन को रोकना और निर्जरा अर्थात् संचित कर्मों का तपस्या आदि के द्वारा नाश करना। संवर और निर्जरा अर्थात् आत्मशुद्धि के लिये व्यक्ति को स्वयं प्रयत्न करना होगा। उसके लिये दूसरा व्यक्ति पथप्रदर्शन कर सकता है किन्तु चलना स्वयं होगा। आत्मशुद्धि के मार्ग में कोई किसी को उठा कर नहीं ले जा सकता। इसलिये यहाँ परस्पर सहायता के लिये स्थान नहीं है। महावीर की दृष्टि आत्मप्रधान थी। उसमें लोकसेवा का उच्च भूमिका मे स्थान गौण था।

इसके विपरीत बुद्ध की दृष्टि लोकसेवा प्रधान थी। बुद्ध आध्यात्मिक चर्चा में कम पड़ते थे। वे समस्त संसार को एक ऐसा समाज बना देना चाहते थे जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की दूसरे के प्रति ममता है। जहाँ एक के दुःख से दूसरा रो उठता है। वे संसार को मैत्री और कारुण्य से भर देना चाहते थे। उन्होंने कहा है

"माया जहा निय पुत्त एकमत्तणुरक्खे।
भावय अपरिमाणं।"

अर्थात् माता जिस प्रकार अपने इकलौते बेटे पर स्नेह करती है उसी प्रकार तुम अपने स्नेह को संसार के सभी प्राणियों में फैला दो।

बुद्ध दुखी और आर्त को सेवा सुश्रूषा द्वारा सान्त्वना देते हैं। महावीर

उसे वीरतापूर्वक कष्टों का सामना करने के लिये कहते हैं। बुद्ध समाज द्वारा व्यक्ति का हित साधन करना चाहते हैं, महावीर व्यक्ति द्वारा समाज का। बुद्ध ज्ञान को प्रधानता देते हैं, महावीर चरित्र को। बुद्ध ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते हैं जिसमें व्यक्ति की चेतना समाज की चेतना में विलीन हो चुकी हो। जहाँ व्यक्ति का सुख दुःख समाज का सुख दुःख है। और समाज का सुख दुःख व्यक्ति का सुख दुःख। जहाँ व्यक्ति का स्वार्थ समाज के स्वार्थ में मिल गया हो जहाँ व्यक्ति समाज के उत्थान को अपना उत्थान और उसके पतन को अपना पतन मानता है। महावीर का ध्यान समर्थ व्यक्तित्व के निर्माण की ओर था। उनका कथन है–हम कितना ही प्रयत्न करें–समाज एक समूह ही रहेगा। वह इकाई नहीं बन सकता। ऐसी दशा मे सबके स्वार्थ को मिला देने की कल्पना अव्यावहारिक है। प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने में शक्ति उत्पन्न करे समर्थ व्यक्ति ही समर्थ समाज का निर्माण कर सकते हैं। बुद्ध का कथन है कि–दुःखों का कारण है सत्य ज्ञान का अभाव। महावीर कहते हैं कि–आत्मा अपने आप को निर्बल मान कर दुःखी होता है। समाज प्रधान होने के कारण बुद्ध ने परस्पर सद्‌व्यवहार पर जोर दिया है व्यक्ति प्रधान होने के कारण महावीर ने वैयक्तिक चरित्र निर्माण पर जोर दिया है।

ये दोनों दृष्टियाँ परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे की पूरक हैं।

परस्पर प्रभाव–

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने भाष्य मे शाश्वतिक विरोध वाली वस्तुओं का उदाहरण देते समय 'गोव्याघ्रम्, अहिनकुलम्' के साथ साथ 'ब्राह्मणश्रमणम्' भी रखा है। इसका अर्थ यह है कि पातञ्जलि के समय इन दोनों सम्प्रदायों मे काफी विरोध था। यदि आत्मा की दृष्टि से देखा जाय तो इन दोनों संस्कृतियों का शाश्वतिक विरोध असङ्गत नहीं प्रतीत होता। ब्राह्मण संस्कृति शासकवर्ग द्वारा आत्मरक्षा के लिये निर्माण किया गया दुर्ग है, श्रमण संस्कृति उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप जनता का जागरण है। मनुष्य में अन्तर्द्वन्द्व के रूप में चलने वाला देवासुर संग्राम इन्हीं संस्कृतियों के संघर्ष का प्रतीक है ब्रह्मण संस्कृति अपनी अधिकार सीमाओं को उत्तरोत्तर बढ़ाना चाहती है। श्रमण संस्कृति महात्मा गाँधी के शब्दों में अधिकार के स्थान पर कर्तव्य की ओर ध्यान देने के लिये कह रही है।

इस प्रकार परस्पर विरोध होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि श्रमण संस्कृति को मानने वाले ब्राह्मण संस्कृति के प्रभाव से बचे हैं।

आठवीं सदी के पश्चात् बौद्ध धर्म का प्रभाव उत्तर भारत में कम हो गया। विद्वान् बौद्ध भिक्षु बाहर चले गये। जो भारत वर्ष में रह गये वे बाममार्गी बन कर ब्राह्मणधर्म की शाखा बन गये। इसलिये बौद्धों पर ब्राह्मण संस्कृति का प्रभाव नही बताया जा सकता। जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या उत्तरोत्तर घटने पर भी वह अक्षुण्ण रूप से चला आ रहा है। इसलिये जैन समाज को देख कर उस पर आये हुए ब्राह्मण संस्कृति के प्रभाव को बतलाया जा सकता है।

भक्तिवाद–

ब्राह्मण परम्परा की देखादेखी जैन समाज मे भी व्यक्ति पूजा चल पड़ी है। यहाँ भी भक्त लोग भगवान् से रोगमुक्ति, धनसम्पत्ति तथा दूसरे वर माँगने लगे। बहिनें मन्दिर में जाकर भगवान् से सन्तान भी मांग लेती हैं। इसी प्रकार सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिये विविध प्रकार के अनुष्ठान भी चल पड़े हैं।

जात पांत–

ब्राह्मणों की देखादेखी जैन समाज भी छुआछूत को मानने लगा है। अछूतों को मन्दिर मे नही घुसने देता। दिगम्बर जैन समाज में तो छुआ-छूत अपनी सीमा तक पहुँच गई है। वहाँ साधु भी शूद्र के हाथ का पानी भी नहीं पीते। गृहस्थों को साधु लोग शूद्र के जलत्याग का नियम कराते हैं। उन्हीं के समान यज्ञोपवीत धारण करना, विवाह पद्धति भिन्न होने पर भी श्री गणेश के स्थान पर विनायक की स्थापना, अग्नि, इन्द्र आदि वैदिक देवताओं के स्थान पर अपने देवताओं का नाम लेकर तर्पण करना, स्वाहा आदि कहना ब्राह्मणों का प्रभाव है।

अर्थ प्रधानता–

वर्तमान समय मे जैन समाज एक अर्थप्रधान समाज है। इसे ब्राह्मणों का प्रभाव न कहकर भोगैषणा का स्वाभाविक जागरण कहना चाहिये। श्रमण संस्कृति ने धन को कभी महत्त्व नहीं दिया। वह तो त्याग के आदर्श पर आश्रित है। अब त्याग केवल साधुसंस्था के लिये रह गया है। वह भी यहीं तक कि वे अपने पास पैसा नहीं रखते। उन्हे भी अपना कार्य चलाने के लिये पूंजीपतियों का आश्रय तो लेना ही पड़ता है।

यों तो वैदिक काल से ही यज्ञसंस्था के साथ साथ उसके प्रति सन्देह चला आ रहा है किन्तु उसका ब्राह्मणपरम्परा पर कोई प्रभाव नहीं हुआ।

हिंसात्मक यज्ञ बराबर चलते रहे। ऐसे यज्ञों में कमी महावीर और बुद्ध के पश्चात् हुई हैं। अब हिंसात्मक यज्ञ ब्राह्मण समाज से प्रायः लुप्त हो गये हैं। कर्मकाण्ड की अपेक्षा ज्ञानकाण्ड को अधिक महत्त्व प्राप्त हो गया है। राज्यसत्ता विदेशियों के हाथ में चली जाने पर राज्याश्रय बन्द हो गया। इस कारण ब्राह्मणसमाज में राजभक्ति और अर्थदृष्टि भी कम हो गई। जब हम चने चबाकर विद्याध्ययन करने वाले ब्राह्मण तपस्वी विद्वानों को देखते हैं तब कहना पड़ता है कि उन्होंने अपने को नया रूप दे दिया है। यज्ञ याग आदि को प्रधानता देनेवाला मीमांसादर्शन ब्राह्मण संस्कृति का अब एक अंगमात्र रह गया है। ब्राह्मण साहित्य शुद्ध दार्शनिक चर्चा तथा सूक्ष्म आध्यात्मिक छानबीन से भरा हुआ है। गीता सरीखा ग्रन्थ प्राचीन ब्राह्मण संस्कृति की एक प्रतिक्रिया है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान ब्राह्मण समाज अपनी प्राचीन ब्राह्मण संस्कृति पर दृढ़ हैं।

इतना ही नहीं, जैन और बौद्ध दर्शन को समुन्नत करने का श्रेय स्वतंत्र ब्राह्मण विचारकों को है। दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र तथा विद्यानन्द आदि बड़े बड़े जैन एवं बौद्ध तार्किक ब्राह्मण ही थे।

वर्तमान समस्या–

सदियों की गुलामी के बाद भारत स्वाधीन हुआ है। अब इसे अपनी नवीन संस्कृति का निर्माण करना है। ऐसे समय में संस्कृति के प्राचीन तत्त्वों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। हमें अपने देश को एक कर्मठ एवं शक्तिशाली राष्ट्र बनाना है। इसके लिये हमारे पास श्रमण संस्कृति की अविच्छिन्न धारा है। अशोक साम्राज्य का स्वर्णयुग उस संस्कृति के गौरवपूर्ण इतिहास को बताता है। आवश्यकता है केवल इस संस्कृति को प्रोत्साहन देने की। जिन रूढ़ियों और कुप्रथाओं को दूर करने के लिये हमारे बड़े बड़े मस्तिष्क महीनों सोचते हैं, जिन साम्प्रदायिक संस्कारों को नष्ट करने के लिये हमारी सरकार चिन्तित है, जिन सामाजिक सुधारों के लिये हमारी विभिन्न संस्थाएँ प्रयत्नशील है, श्रमण संस्कृति को प्रोत्साहन देने पर उन सबका कार्य सुगम हो जायगा। कम्युनिज्म तथा दूसरी समस्याओं का भी इसके द्वारा समाधान हो सकता है।

प्रलय सृजन

मानव, तुम करो विद्रोह !
अमर विद्रोही !
तुम्हारा चित्र है यह ?
यह अटूट कतार चलती बन्दियों की
कमर में जिनके बधी है
शृंखला मे चिर विवशता की कथा सी
ये बुझी आँखे कही खोयी हुई ज्यों दूर नभ मे
ये बधे कर जो कि मानव के नही है।
लड़खड़ाते से चरण ये
खोजने निकले मरण रे
यह रुदन खोया हुआ जिसको कुचल कर
निठुर झझावात कितने जा चुके है।
प्रश्न पर यह पूछना मे क्यो
कि क्या तुम जी रहे हो ?
तुम अमृत हो !
कालजित तुम !
पी सुरा अज्ञान का पर
हाथ मे मायाविनी के
है लुटा तुमने दिया सर्वस्व अपना
रह गये हो तुम न अपने
स्वय को पहचानना भी भूल बैठे
कठिन समरसता तुम्हारी
है न जिसमे राग और विराग कुछ भी।
पर न क्या तुम सुन रहे हो
दूर से आती हुई ध्वनि
'डिडिम डिम डिम'
रुद्र का डमरू कही पर बज रहा है।
गगन यद्यपि शान्त नीरव
पर क्षितिज पर यह धुआँ सा उठ रहा कुछ
लो, दिशाओ की धुली ये घाटियाँ भी
इन धुओ के बादलो मे भर रही है।
और तुम बेसुध भला कब तक रहोगे ?
आज जीवन सिधु की
लहरे तुम्हे ललकारती है
बुझ गये अगार प्राणो के तुम्हारे
किन्तु भस्मीकृत नयन-चिनगारियो ग

तुम जला लो आज मुक्ति-मशाल प्यारे !
रोम-तारों में बंधी विद्युत लहरियाँ
बन्दिनी बन कर युगों से सो रही है।
तुम उन्हें क्षण भर जगा दो।
शान्त हो ज्वालामुखी तुम
बन्द युग-युग से नयन आग्नेय अपने
खोल दो अब !
गहन तम के इन स्तरों में
फेंक दो तुम एक चिनगारी नयन की !
तडप कर भभके सुलगती आग क्षण में
कडकड़ा कर वज्र सा फूटे गगन मे
दासता की शृंखलायें
एक क्षण में टूट जायें
बन्धनों को क्षार कर
ज्वालों-तरंगे मुसकरायें

*

उधर विप्लव की घटायें
घेर कर घिर कर धरा नभ बीच छायें
अग्नि का उमड़े असीम अथाह पारावार
जिसमें
चर-अचर सब कुछ समायें
और लपटों की भुजायें
जब तुम्हारी ओर आयें
तुम करो स्वीकार उनको,
स्वयं विप्लव-शृंग फूंको
प्रलय के स्वर में मिला स्वर
घोर घन-रव
रुद्र का जिसमे भयंकर क्रुद्ध ताण्डव
कूद जावो क्षुब्ध लहरों बीच, मानव !
जब करें वे चण्डिका बन घोर नर्तन
तुम करो उनका नियंत्रण।
सर्पिणी सी क्रुद्ध बनकर अति उठा फन
वे करें फुफकार
करने के लिये जब मृत्यु-दंशन
तुम बनो निर्द्वन्द्व निर्भय
कूद उन पर बैठ जाओ
उन तरंगों का सभी विष पी निमिष में
नीलकण्ठ बनो
लपट की चोटियों पर मुसकराओ

*

भस्म जब हो जाय जीवन की विषमता
लीन ज्वाला की लपट में हो

जगत की अखिल जडता
जब तिमिर-घन की शिलायें
जो दिशाओ के किरणमय चेतना-स्पन्दित हृदय पर
जम गयी थीं भार बन गुरु
काल को गति हीन कर ज्यों
बह चले उच्छ्वास से गल कर तुम्हारे
अग्निमय यह रूप अपना छोड
ज्योतिर्मय बनो नव
अरुण किरणों से सजे तुम
धूम्र पारावार के ऊपर उठो फिर
तिमिर सागर चीर जैसे
सृष्टि के पहले दिवस
था आदि रवि निकला गगन मे
तुम भरो फिर चेतना जड मे
अगति-निस्पन्द उर मे अमर स्पन्दन।
मृत्तिका की सर्द आहो मे भरो तुम उष्ण जीवन
अगति मे गतिमय प्रकम्पन
बन बहो फिर ज्योति निर्झर
विश्व के मन मे नयन मे
धार विद्युत की बनो तुम,
फैल जाओ जगत के प्रत्येक कण मे।
फिर करो झंकृत शिरायें सृष्टि की सब,
व्याप्त हो दिक्काल बीच
प्रलय-सृजन-सगीत का
आरोह और अवरोह
मानव, तुम करो विद्रोह !

–शम्भुनाथ सिंह

संस्कृति श्रम और अर्थ

श्री देवेन्द्रकुमार

संस्कृति वह समाज रचना है जिसकी नींव श्रम और अर्थ के संतुलन पर रखी जाती है। आचार, विचार, कला और साहित्य सभी मानव-संस्कृति को व्यक्त रूप देते हैं, पर यदि उसकी नींव में अर्थ और श्रम की समरसता नहीं तो उसका बाह्य रूप कदापि सुंदर और भव्य नहीं हो सकता।

विश्व संस्कृतियों मे भारतीय संस्कृति बहुत बड़ी उदात्त और पुरानी संस्कृति कही जाती है। इतना ही नहीं इतिहासकारों का यह भी विश्वास है कि भारतीय संस्कृति ने आधी से अधिक दुनिया को सभ्य बनाया। दूसरे देश के वासियों ने इस देश के अग्रजन्माओं से शिक्षा ग्रहण की। अन्धकार से प्रकाश, असत् से सत् और मृत्यु से अमरत्व पाने का आविष्कार यदि कहीं हुआ तो वह भारतीय संस्कृति की उन्मुक्त छाया में। यहाँ प्रकृति ने भी इस सांस्कृतिक निर्माण में पूरा सहयोग दिया?

संस्कृति, काल के स्तरों पर बहती हुई धारा है। मनुष्य उससे अपनी प्यास भी बुझाता है और शुद्धि भी करता है। इस मानव-संपर्क से उसमें विकृति आती है, और कभी कभी बाहरी तत्त्व भी उसमे घुल मिल जाते हैं। किसी नदी की धारा में भी ये बाते होती हैं, परन्तु इससे उसका गुण रूप नहीं बदलता, इसी प्रकार संस्कृति भी सभी विकारों को उदरस्थ करती हुई अपनी सनातन प्रवृत्ति नहीं छोड़ती, यह उसका निज स्वभाव है। भारतीय संस्कृति इसलिए बड़ी नहीं है कि साहित्यिक कृतियां और स्मारक उसकी उच्चता का जयघोष करते हैं, वरन् इसलिए कि वह शुरू से ही अर्थ और श्रम के संतुलन पर जोर देती आई है। वैदिक वाङ्मय में आर्य-संस्कृति का जो चित्र मिलता है—उसमें आर्थिक वैषम्य नहीं दीख पड़ता। कर्म और धर्म में स्त्री पुरुष को एक से अधिकार थे। खेती पाती और पशुपालन ही उनकी आजीविका के साधन थे। आगे उपनिषद् और बुद्ध महावीर काल में श्रम अर्थद्वारा शोषित होने लगा, फलतः आर्य विचारकों ने धर्म अर्थ और काम के सामंजस्य पर जोर दिया। तीनों में धर्म को मुख्य स्थान दिया गया। जन साधारण में यह भावना बैठाने का जतन

किया गया कि जहाँ अर्थ और काम की विशुद्ध वितृष्णा है वहाँ शुद्ध आर्य जीवन नहीं पनप सकता, यह भावना धार्मिक कही जा सकती है पर उसका पहला लक्ष्य सामाजिक था । मनुष्य, अपनी शुद्धि से अर्थ संचय के नये नये साधन खोजता गया और धर्म-शास्त्र उस पर नियंत्रण करने की चेष्टा करते रहे, बुद्ध और महावीर के सामाजिक नियमों मे यह बात साफ दिखाई देती है। किन्तु भारतीय जीवन मे आगे चल कर आर्य जीवन और चिन्तन मे आपसी सम्पर्क कम होने लगा। लोग यह समझने लगे कि धर्म का और दर्शन का जितना भी आचरण एवं चिंतन है, वह परलोक और मुक्ति के लिए—वर्तमान जीवन से उसका कोई सरोकार नहीं, इस विचारमूढ़ता से विषमता की खाई और गहरी होती गई।

चतुर्वर्णी व्यवस्था के कारण सामाजिक विषमता बहुत पहले से थी, पर अब आर्थिक विषमता भी आर्यो में तेजी से बढ़ने लगी। बुद्ध, महावीर से लेकर कबीर तक—अनेक तपस्वियों और संतों ने सांस्कृतिक ऊंचनीच की भावना को दूर करने का प्रयत्न किया—पर आर्थिक विषमता उनकी दृष्टि से ओझल हो गई। यद्यपि उपनिषदों के—'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' महावीर के अपरिग्रहवाद तथा बुद्ध के तृष्णा उच्छेद में आर्थिक विषमता के उच्छेद का संदेश अवश्य निहित था, और उन्होंने कुछ हद तक आध्यात्मिक समाजवाद का आदर्श भी प्रस्तुत किया, पर उससे आर्थिक विषमता का बिष कम नहीं हुआ। उसे आध्यात्मिक कहकर—शोषण का मजबूत हथियार बना दिया गया। इसका फल हम साफ देखते हैं कि राजा शासन के नाम पर शोषण करते, सेठ साहूकार दान पुण्य के नाम पर अपनी तिजोरियां भरते और धर्मनेता धर्म के नाम पर प्रसाद पाते रहे। और जनसाधारण का पूंछना ही क्या! वह खून पसीना एक करने शोषित होती रही। उसके लिए राजा ईश्वर का अवतार था, सेठ साहूकार पुण्यवान् थे और पुरोहित पुजारी साक्षात् देवदूत थे। किसी वर्णाश्रमी ने कहा—तुम जिस कुल मे जन्मे हो—वह इस भव और समाज मे नहीं बदल सकता, और कर्मवादी ने कहा—जिस पाप और अशुभ कर्म के उदय से तुम दीन दरिद्र हुए हो—वह धुलना असाध्य है। इस तरह दुहरी विषमता की दार्शनिक छाया में आज जनता की बौद्धिक चेतना और शारीरिक बल धीरे धीरे क्षीण होता रहा। उनके जीवन के सभी स्रोत सूख कर पथरा गए हैं। उनकी आत्मतृप्ति में साधन बहुत ही हीन और हेय हो उठे हैं। मनुष्यता में उन्हें जीवित अभिशाप ही कहना चाहिए।

शोषक और ऊँचे कर्म के लोग भी अपने व्यक्तिगत वर्ग जीवन से असन्तुष्ट

हैं। आर्थिक अनाचारों और भौतिक पिपासा से उनका जीवन पीड़ित है, वह जितना ही विलासिता के समुद्र मे गोते लगाता है उतना ही ज्वालामुखी की आग उसे संतप्त बना देती है। उस वर्ग के लोग श्रमजीवी है। तो इस वर्ग के लोग अर्थजीवी। वे इसलिए दुखी और असंतुष्ट है कि उनके श्रम का उपभोग अर्थपति कर लेते है, और वे इसलिये 'बेचैन' है कि उनकी रगीन कल्पनाओं और आकांक्षाओं की सीमा नहीं है? यदि सीमा भी है तो वहाँ तक जाने की उनकी सामर्थ्य नहीं है। पंतजी की ये पंक्तियां आज की सामाजिक परिस्थिति पर ठीक उतरती है—

जग पीड़ित है अति दुख से।
जग पीड़ित है अति सुख से।
सुख दुख दोनों बट जॉये।
सुख दुख से दुख सुख से।

प्रश्न है सुख दुख का यह बटवारा कैसे हो? क्योंकि मनुष्य की यह स्वाभाविक दुर्बलता है कि वह दुख को बाँटना चाहता है और सुख को संजो कर रखना चाहता है। वर्तमान भारतीय जीवन मे जो इतनी विकृतियां उभर आई है और जो चतुर्दिक् सामाजिक भ्रष्टाचार के लक्षण लक्षित हो रहे है—उससे साफ है कि भारतीय संस्कृति की नींव हिल चुकी है, और यह सुनिश्चित है कि पुराने आदर्शों से इस दुरवस्था का अंत नहीं किया जा सकता। गांधी जी का ट्रस्टीवाद और सर्वोदय समाज भी इस दिशा मे अधिक कार्यकर नहीं, ज्यों त्यों समय बीतता जाता है उनकी असफलता उजली होती जाती है। पर इस असफलता का कारण आदर्शों की न्यूनता नहीं किन्तु इतिहास की वह स्थिति है जिसने समाज के पूरे आर्थिक जीवन को बदल दिया है। आर्य और मध्य युग के विचारक व्यक्तिपर अधिक जोर देते थे क्योंकि उस समय कमाने के साधन व्यक्तिगत थे, पर अब विज्ञान, विदेशी अनुकरण और यंत्रों ने शोषण को समाजगत बना दिया है। अतः उसके अन्त का निदान भी सामाजिक होना चाहिए न कि व्यक्तिगत।

यह नारा बिल्कुल निराधार है कि समाजवाद की स्थापना से भारत की आध्यात्मिक संस्कृति खतरे में पड़ जायगी। अर्जन और शोषण के अमेरिकी साधन अपनाने से जब देश की संस्कृति अक्षुण्ण बनी रहती है। तब समाजवाद की स्थापना से भी उसका कुछ नहीं बिगड़ता। श्रमिक और अर्थ के बीच जो एक नया वर्ग पैदा हो गया है उसका अंत किये बिना स्वस्थ समाज का निर्माण सम्भव नहीं है। यदि अपने ढंग से समाज का ढाचा

शूद्र मुक्ति

पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

[१]

मुक्ति का अर्थ पूर्ण स्वतंत्रता है । वह अवस्था, जिसमे शरीर, वचन, मन और स्वासोच्छ्वास के भी बिना जीव स्वावलम्बन पूर्वक जीता है वह मुक्ति है । इसमे भूख-प्यास, रोग-शोक और जन्म-मरण इन सबसे मुक्ति मिल जाती है । जीव शरीर के निमित्त से होनेवाली विविध प्रकार की बाधाओं से मुक्त होकर केवल आत्मस्वरूप में स्थित हो जाता है । यह परम स्वावलम्बन को दशा है । धर्म का कार्यक्षेत्र भी यही है । धीरे धीरे घर, स्त्री, पुत्र, धनादिका अवलम्बन छोड़कर स्वावलम्बी बनने का अभ्यास करना और अन्त में शरीरादि के अवलम्बन के विकल्प से रहित होकर उनसे सदा के लिये छुटकारा पा लेना ही जीव की मुक्ति है यह उक्त कथन का तात्पर्य है ।

यों तो इसका अधिकारी प्राणिमात्र माना गया है किन्तु इसकी प्राप्ति मनुष्य पर्याय से ही होती है । उसमें भी सब मनुष्य इसके अधिकारी नहीं माने गये है । किन्तु वे सब योग्यताएँ वर्तमान पर्याय मे जिन्हें मिली है जिनके सद्भाव मे जीव मुक्ति प्राप्त करता है वे ही इसके अधिकारी माने गये है । ऐसी योग्यताओं में चरमशरीर होना मुख्य है । सब मनुष्य चरमशरीरी नहीं होते है किन्तु जो उसी पर्याय से मोक्ष जाते है वे ही चरमशरीरी

शीघ्र नहीं बदला तो कोई विदेशी संस्कृति आकर उस पर हावी हो जायगी । इस तरह विजयिनी संस्कृति निश्चय ही भारतीय संस्कृति को उसकी सारी अतीत परम्परा के साथ नष्ट कर देगी । विदेशी संस्कृति का यह तूफान लाल क्रांति के नाम से समुद्री छोर से भारतभूमि पर प्रवेश कर चुका है । दुर्भाग्य से पिछले दो हजार बरसों की घटनाएँ, वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति और जीर्णशीर्ण समाज व्यवस्था इस वात्याचक्र का सामना करने में अक्मर्थ है । चीन के पतन ने यह साफ कर दिया है कि शासक और विदेशी सहायता भी उसका मुकाबला नहीं कर सकते । उसका सही मुकाबला किया जा सकता है तो वर्णवर्ग और वादहीन समाजव्यवस्था द्वारा, और तभी हम भारतीय संस्कृति को बचा सकते है । अर्थ और श्रम की ससहायता ही संस्कृति की आत्मा है जिसमें वह नहीं, उस संस्कृति को धराशायी होते देर नहीं लगती ।

होते हैं और उन्हीं के मोक्ष प्राप्त करने का नियम है। ये किसी जाति कुल या वर्ण से बंधे हुए नहीं हैं। किन्तु सब जातियों, सब कुलों और सब वर्णों में ये पाये जाते हैं। वास्तव मे जाति, कुल, और वर्ण कल्पित हैं। पुराणों में तो जातियों का इतिहास मिलता ही नहीं, कुलों और वर्णों का मिलता है। उसे देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये वास्तविक नहीं हैं। जिस प्रकार किसी का नाम नेमिकुमार और किसी का नाम पार्श्वनाथ रख दिया जाता है उसी प्रकार ये जाति, कुल और वर्ण हैं। ये बदले भी जा सकते हैं और समाप्त भी किये जा सकते हैं। आन्तर योग्यता से इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका एक ताजा उदाहरण बड़नगर और उसके आसपास रहने वाले नेमा जाति के कुछ व्यक्ति हैं। अब ये खण्डेलवाल कहे जाने लगे हैं। इन्हें जैन होने के कारण अपनी जाति बदलनी पड़ी है। इससे इन जातियों और वंशों के बनने बिगड़ने का पता लगता है। वर्ण का भी यही हाल है। आजकल जिसप्रकार प्रोफेसरी करनेवाले को प्रोफेसर और सराफी का काम करनेवाले को सराफ कहा जाता है उसी प्रकार प्राचीन काल में आजीविका के आधार से वर्णों की कल्पना की गई थी और उसमें इतनी गुंजाइश रक्खी गई थी कि आजीविका के साधन बदल जाने पर वर्ण बदल जाता है। जैनपुराणों में इस क्रिया को ही वर्णलाभ क्रिया कहा गया है। केवल ध्यान इस बात का रखा गया था कि एक व्यक्ति अनेक मार्गों से आजीविका न कर सके। इससे देश की आर्थिक स्थिति का संतुलन रखने मे सहायता मिलती थी। इसलिये मोक्षप्राप्ति में कोई जाति, कुल या वर्ण बाधक है यह तो माना ही नहीं जा सकता। फिर भी कुछ भाईयों का ऐसा ख्याल है कि मुक्ति के अधिकारी प्रारम्भ के तीन वर्णवाले ही है, शूद्रवर्णवाले नहीं। अपने इस मत की पुष्टि में वे श्रावकाचार व आचार ग्रन्थों के प्रमाण भी पेश करते हैं। कुछ श्रावकाचारों मे शूद्र को क्षुल्लक तक की दीक्षा लेने का अधिकारी बतलाया गया है। तथा आचारग्रन्थों में सुकुली को ही मुनिदीक्षा लेने का अधिकारी बतलाया है। इसी पर से वे ऐसा निष्कर्ष निकालते हैं।

अब देखना यह है कि सुकुली कौन और जैन परम्परा मे कुल का क्या अर्थ लिया गया है? षट्खण्डागम की धवला टीका मे कुल को गोत्र का पर्यायवाची बतलाया है और गोत्र के विवेक के लिये आचारपक्ष की मुख्यता मानी गई है। इसलिए आचारग्रन्थों मे जहाँ भी सुकुली शब्द आता है वहाँ उसका अर्थ सदाचारी लेना चाहिये। यह आवश्यक है कि जिनधर्म की कोई भी दीक्षा लेनेवाला मनुष्य सदाचारी होना चाहिये। किन्तु ऐसा

सदाचार तीन वर्ण वाले व्यक्तियों में ही पाया जाता है शूद्र वर्णवाले व्यक्तियों में नहीं पाया जाता ऐसा कोई नियम नहीं है। तथापि यह सामान्य नियम है। जनता को सन्मार्ग में लगाने के लिये यह बात कही गई है। विशेष रूप से तो कोई भी व्यक्ति यदि अपनी पुरानी आचार परम्परा का त्याग कर जिन धर्म की दीक्षा लेता है और वह सकल परिग्रह का त्याग करता है तो वह वैसा करने का अधिकारी माना गया है। स्वयं गौतम गणधर गृहस्थ अवस्था में जैन धर्म के अनुसार कहाँ के सदाचारी थे। वे हिंसा को धर्म मानते थे और उसका प्रचार भी करते थे। फिर भी मानस्तम्भ का दर्शन कर जब उनका मानस बदल गया तो वे जिन दीक्षा के अधिकारी बने और भगवान् महावीर के पट्ट शिष्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। वे ब्राह्मण थे इसलिए दीक्षा के अधिकारी नहीं माने गये थे। सच पूछा जाय तो जैन धर्म की वर्णव्यवस्था के अनुसार तो वे ब्राह्मण वर्ण के थे ही नहीं। जैनधर्म के अनुसार तो ब्राह्मण वर्ण का वह कहलाता है जिसने श्रावकों के व्रत स्वीकार कर लिये हैं। जैन शास्त्रों में उन्हें यदि कहीं ब्राह्मण लिखा भी है तो वह रूढ़िवश ही लिखा है। गृहस्थ अवस्था में वास्तव में वे ब्राह्मण नहीं थे।

अधिकतर विचारकों से गलती होने का कारण यह है कि वे वर्ण की कल्पना जन्म से या रूढ़ि से किये बैठे हैं। हमारे माता पिता यदि क्षत्रिय कहलाते रहे तो हम भी क्षत्रिय हैं फिर चाहे कर्म वैश्य का या शूद्र का ही क्यों न करें। आजकल जो ब्राह्मण कहलाते हैं उनके यहाँ जूतों की भी दुकानें देखी जाती हैं और जो क्षत्रिय कहलाते हैं वे नौकरी या खेती का काम करते हुवे पाये जाते हैं तो क्या इन्हें कर्म से वर्णव्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण या क्षत्रिय माना जा सकता है? यदि इस गलती को सुधार दिया जाय तो यह व्यवस्था सुनिश्चित हो जाती है। जनता को इस रूढ़ि का परित्याग करना है। इससे समूची व्यवस्था के सुधार में सहायता मिलती है। फिर जन्म से किसी को नीच और किसी को ऊँच मानने की आवश्यकता नहीं रहती और ऊँच-नीच भेद का वर्तमान आधार ही बदल जाता है।

शूद्र क्षुल्लक दीक्षा तक का अधिकारी है ऐसे वचनों की भी हमें समीक्षा करनी होगी। सर्वप्रथम यह देखना होगा कि शूद्र किसे कहा जाय? जैनधर्म के अनुसार जो तीन वर्णवालों की सेवा स्वीकार करता है वही शूद्र है और यही उसकी न्यग्वृत्ति है। इस आजीविका में सर्वथा पराधीनता होने से इसे न्यग्वृत्ति कहा गया है। यदि कोई कथित शूद्र माता पिता के उदर से उत्पन्न हुआ है और वह स्वतन्त्र आजीविका करता है तो ऐसे

व्यक्ति को शूद्र नहीं कहा जा सकता है। जिस वर्ण के अनुकूल उसकी आजीविका होगी वह उस वर्ण का ही कहा जायगा। अधिकतर लोग इस अर्थ का परित्याग करके ही मनुष्यों में रूढ़ि से शूद्रपने की कल्पना करते हैं। वर्तमान में ऐसे कितने ही व्यक्ति देखने में आते हैं जो जन्म से शूद्र माने जाते हैं पर वास्तव में वे खेती, किसानी या इसी प्रकार की दूसरी आजीविका करके अपना निर्वाह करते हैं तो क्या उन्हें शूद्र मानना उचित होगा? सच तो यह है कि हमने अपनी बुद्धि पर ही ताला लगा लिया है और समीचीनता का विचार किये बिना मात्र रूढ़ि के गुलाम बने हुए हैं। यही कारण है कि हम ऐसी कल्पित धारा का समर्थन करने में लगे हुए हैं जिसे विचारकों ने कभी भी स्वीकार नहीं किया है। हमे अपने दृष्टिकोण को बदलना ही होगा और ऐसे दृष्टिकोण को स्वीकार करना होगा जिसके प्रकाश में ऐसे वचनों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। ये वचन परिस्थितिवश स्वीकार किये गये हैं। यही दृष्टि समीचीन है। इसे स्वीकार करने में ही जैनधर्म की आत्मा प्रकाश में आती है। शूद्र के मन में सकल परिग्रह के त्याग के भाव ही नहीं आ सकते यह बुद्धि को पटनेवाली बात तो नहीं है। जिस प्रकार अन्य वर्ण का मनुष्य परिग्रह का त्याग कर सकता है उसी प्रकार शूद्र भी उसका त्याग कर सकता है। इसमें सिद्धान्त बाधा की तो कोई बात ही नहीं है। हमे आचार ग्रन्थों का विचार सिद्धान्त ग्रन्थों के प्रकाश में ही करना चाहिए। जो आचार ग्रन्थों के वचन सिद्धान्त ग्रन्थों के वचनों के अनुकूल पड़ें वे ही हमें ग्राह्य हो सकते हैं। अन्य वचनों के त्याग से हमें किसी प्रकार की हिचक नहीं होनी चाहिए। यों तो जैनग्रन्थों में योनिपूजा तथा गोबर व गोमूत्र द्वारा पूजा का भी विधान है पर हम इन सब की रक्षा कहाँ तक करते रहेंगे? प्रत्येक स्थल पर हमें सैद्धान्तिक कसौटी से ही तो काम लेना होगा। इसके बिना काम नहीं चलेगा। इसलिए सर्वप्रथम हम सिद्धान्त ग्रन्थों के आधार से इसका विचार करेंगे और देखेंगे कि शूद्र मुनिदीक्षा या मुक्ति का अधिकारी नहीं है यह कथन कहाँ तक सत्य है।

[क्रमशः]

जटिल मुनि

[कहानी]

प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

"मुनिवर, आज बड़ा अनर्थ हो गया। पुरोहित चण्डशर्मा ने चौलुक्याधिपति को शाप दिया है कि–दस मुहूर्त में वह सिंहासन के साथ पाताल हमें धँस जाँयगे। दुर्वासा की तरह वक्र भ्रूकुटि लालनेत्र और सर्प की तरह फुंफकारते हुए जब चण्ड ने शाप दिया तो एक बार तो चौलुक्याधिपति हतप्रभ हो गये। मैं उन्हें सान्त्वना तो दे आया हूँ। पर जी आन्दोलित है। मुनिवर, चौलुकाधिपति की रक्षा कीजिए।" राजमन्त्री ने घबड़ाहट से कहा।

जटिलमुनि– मन्त्रिवर, घबड़ाने की बात नहीं है। क्या चौलुक्याधिपति ने पुरोहित की सम्पत्ति छीन ली या उसका अपमान किया? बात क्या हुई?

मन्त्री—कुछ नहीं मुनिवर, राजसभा में चर्चा चल रही थी कि यह वर्णभेद क्यों हुआ। इसी प्रसंग में चौलुक्याधिपति ने कहा था कि–"जब प्रजाओं का बनाने वाला एक ही ब्रह्मा है तब यह जातिभेद कैसा? एक ही पिता की चार सन्तानों में जातिभेद की कल्पना बुद्धिगम्य तो नहीं है। जैसे कि एक वृक्ष की विभिन्न शाखाओं में उत्पन्न होने वाले फलों में जातिभेद नहीं है उसी तरह एक ब्रह्म की सन्तति में यह जन्मना जातिभेद कहाँ से आ गया? ब्राह्मण ही चन्द्रमा के समान गौर वर्ण, क्षत्रिय ही छेवले के फूल के समान आरक्त वर्ण, वैश्य ही पीत-वर्ण तथा शूद्र ही कृष्णवर्ण नहीं देखे जाते, सभी वर्णों में सभी प्रकार के मनुष्य हैं। हमारे पुरोहित जी ही का रंग कृष्ण है। सभी वर्णवालों का चलना फिरना, शरीर, केश, खून, चमड़ा हड्डी आदि एक जैसे हैं उनमें कोई तात्त्विक वर्णभेद नहीं हैं फिर यह मानव-मानव में विषमता कैसी?" इतना सुनते ही पुरोहित चण्डशर्मा का पारा तेज हो गया। वे राजसभा की मर्यादा को भूल गये और बोले–चौलुक्याधिपति, सावधान, तुम ब्रह्मतेज को नहीं जानते। क्या वेद प्रतिपादित सतयुग से प्रचलित वर्ण व्यवस्था झूठी है? उस समय भी चौलुक्याधिपति ने पुरोहित को शान्त करते हुए नम्र भाव से कहा कि पुरोहित जी,

आपने ही पहिले यह बताया था कि कृतयुग में वर्णभेद नहीं था, त्रेता में भी प्रजाएँ वर्णविहीन थीं। द्वापर युग में ही यह वर्णव्यवस्था प्रचलित की गई तथा कलियुग में लोभ मोह द्वेष विश्वासघात आदि से वर्ण व्यवस्था चौपट हो गई है। आप ही बताइए कि श्रेष्ठ काल तो वही है जिसमें सभी मानव समानता से रहते थे, यह जातिगत उच्चनीच भाव नहीं था। इस व्यवस्था के मूल में ब्राह्मणप्रभुत्व की भावना ही कार्य कर रही है। मानव जाति का एक बड़ा भाग अछूत और अस्पृश्य बना हुआ है, उनकी दशा पशुओं से भी बदतर है। चौलुक्याधिपति के इन सयुक्तिक वाक्यों ने भी चण्डशर्मा की क्रोधाग्नि में घी का काम किया। वह आपे से बाहर होकर चौलुक्याधिपति से बोला—मूर्ख, तू इन श्रमणों के चक्कर में है। अब तेरा विनाश काल निश्चित है। शास्त्रपातकिन्, तू दस मुहूर्त में ही ससिंहासन पाताल में धंस जायगा, मैं अनुष्ठान करता हूँ। इतना कहकर पुरोहित राजसभा से जाने लगा। मैंने अधिपति की रक्षा के लिए पुरोहित को जेल मे डाल दिया है। वह वहीं मन्त्र पाठ कर रहा है। मुनिवर, समय थोड़ा है। मेरा चित्त भी कुछ चंचल हो रहा है।

जटिलमुनि— मन्त्रिवर, चिन्ता की विशेष बात नहीं है। मन्त्र अपने में कोई सामर्थ्य नहीं रखता। वे शब्द जिनका मुख से उच्चारण किया जाता है, पौद्गलिक है। असली शक्ति तो उच्चारणकर्त्ता की आत्म-शक्ति है। आत्मबल ही शब्दों के द्वारा सामने वालेके ऊपर अपना प्रभाव डालता है। फिर जब अमुक शब्दों के द्वारा दस बीस प्रभाव-शाली व्यक्ति आत्मप्रभाव व्यक्त कर चुकते है तो वही मन्त्र बन जाता है।

जिन शब्दों के पीछे जितने अधिक समर्थ पुरुषों का साधनाबल रहता है वे दूसरे साधकों को उतने ही शीघ्र मन की एकाग्रता करके अपना प्रभाव दिखाने लगते है। यही मन्त्रसामर्थ्य का रहस्य है। आप शीघ्र जाकर चौलुक्याधिपति को यहाँ लिवा लाइए।

इतने में ही सपरिकर चौलुक्याधिपति स्वयं आकर नमस्कार करके मुनिराज से बोले—

मुनिवर—चण्डशर्मा को शाप दिए हुए आठ मुहूर्त व्यतीत हो गए, पर अभी तक तो पाताल में जाने जैसी बात नहीं दीखती। फिर भी मेरा मन भावी अनिष्ट की आशंका से विचलित सा हो रहा है।

जटिलमुनि—राजन्, आप चिन्ता न करें। आप क्षत्रिय परम्परा को स्वीकार करने

वाले दृढ़परिकर्मा वीर पुरुष इन अन्धविश्वासों को छोड़ें, और अपने क्षात्रवीर्य को स्मरण करें तथा मन से हिंसा और द्वेषबुद्धि निकाल कर जगत्कल्याण की सर्वभूतमैत्री की भावना भावें। उस अनुपम आत्मरस में विभोर होकर अब आप मैत्री प्रमोद करुणा और माध्यस्थ भाव में लीन होंगे तब इन कषायाविष्ट पामर जनों की शक्ति अनायास ही कुण्ठित हो जायगी। आप समस्त विकल्पों को त्याग कर निराकुल होइए और परम अहिंसक भावों की आराधना कीजिए। सब अच्छा ही होगा। मै आपकी रक्षा का प्रबन्ध भी कर देता हूँ।

मुनिराज ने राजा के आश्वासन के लिए कुछ क्रिया कर दी। राजा मन्त्री आदि सभी शान्त वातावरण मे अहिंसा और अद्वेष का विचार करने लगे। इस अहिंसक चरचा में पता नहीं चला कि दस मुहूर्त कब बीत गए। जब चरचा टूटी तो चौलुक्याधिपति का ध्यान घटिका यन्त्र पर गया वह हर्षातिरेक से बोला, ग्यारह मुहूर्त हो गये। बुलाओ उस मिथ्याचारी को। ये झूठे ही शापका भय दिखाते है। इन लोगों ने न जाने कितने अज्ञानी लोगों को शाप के भयसे त्रस्त कर रखा है। एक मामूली द्वारपाल के आदेश से ये हतप्रभ होते है और हमारी अनुवृत्ति के लिए ही शास्त्र मन्त्र और शाप आदि के हथियारो का प्रयोग करते है। चौलुक्याधिपति को इस तरह क्रोधाविष्ट देखकर मुनिराज जटिल ने कहा–राजन्, क्षमा वीरों का भूषण है। आप चण्डशर्मा के हृदय के चण्डत्व को जीतिए। जिससे वे स्वय मानव-समत्व के पुण्य दर्शन कर सकें और अपने प्रभाव का उपयोग व्यक्ति और जातिगत स्वार्थ से हटाकर मानव मात्र के उद्धार में लगावें।

इतने में द्वारपाल चण्डशर्मा को लेकर आ गया। देखते ही चौलुक्याधिपति का क्रोध फिर भभका। पर मुनिराज जटिल ने उन्हे शान्त कर दिया। उनने चण्डशर्मा से आश्वस्त वाणी में कहा–

पुरोहितजी, शक्ति और प्रभाव का उपयोग मानवमात्र ही नहीं प्राणिमात्र के कल्याण में करना चाहिए। इस जीवन को जगदुपकार में लगाइए। जाति कुल रूप आदि देहाश्रित है। वर्ण आजीविका और क्रिया के आधीन है ये तो व्यवहार है। यह तो आपको विदित ही है कि–व्यास वसिष्ठ कमठ कठ द्रोण पराशर आदि जन्म से ब्राह्मण नहीं थे पर तपस्या और सदाचार आदि से उनने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था। यह संसार एक रंगशाला है। इसमें अपनी वृत्ति के अनुसार यह जीव नाना वेशों को धारण करता है। कम से कम धर्म का क्षेत्र तो ऐसा उन्मुक्त रहना

चाहिए जिसमें मानवमात्र क्या प्राणिमात्र शान्तिलाभ कर सके। आप ही बताइए, शूद्र यदि व्रत धारण कर ले और सफाई से रहने लगे, विद्या और शील की उपासना करने लगे, मद्य मांसादि को छोड़ दे तो उसमे और हममें क्या अन्तर रह जाता है? शरीर का रक्त मांस हड्डी आदि में क्या जातिभेद है? शरीर मे तो ब्राह्मणत्व रहता नहीं है। आत्मा के उत्कर्ष का कहीं कोई बन्धन नहीं है। आज ही राज्य में अनेक तथोक्त नीचकुलोत्पन्न भी ऊंचे पदों पर प्रतिष्ठित है। हमारा तो यह निश्चित सिद्धान्त है कि :—

"क्रियाविशेषाद व्यवहारमात्रात् दयाभिरक्षाकृषिशिल्पभेदात्।
शिष्टाश्च वर्णाश्चतुरो वदन्ति न चान्यथा वर्णचतुष्टयं स्यात्॥"
[वरांगचरित्र २५।११]

अर्थात्—दया आदि व्रतों के धारण करने से, रक्षा कार्य करने से, कृषि करने से और शिल्प आदि से ही ब्राह्मण आदि चारों वर्णों की व्यवस्था है। यह क्रियाश्रित है और व्यवहार मात्र है। दूसरे प्रकार से वर्ण व्यवस्था नहीं है।

जटिलमुनि के इन शम और समपूर्ण वचनों को सुनकर चण्डशर्मा पानी पानी हो गया। वह गद्‌गद हो चरणो मे पड़कर बोला—श्रमणवर, आज आपने मुझे सच्चे ब्राह्मणत्व का मार्ग बताया। मेरी तो जैसे आँखेही खोल दीं हों। आज तो मुझे दुनिया कुछ दूसरी ही दिख रही है। मेरा तो नकशा ही बदल गया है। मुनिवर, मुझे उपासक मानें। आपने चालुक्येश्वर की कोपाग्नि से मेरी रक्षा की, मुझे अभय दिया। धन्य।

प्रयाग संग्रहालय में जैन पुरातत्त्व

मुनि कान्तिसागर

[२]

बाहर की प्रतिमाएँ--

नगरसभा-संग्रहालय के उद्यान में दक्षिण की ओर प्रवेश करते समय उन दो विशाल जैनमूर्त्तियों पर दृष्टि केन्द्रित हो जाती है जो दाएं बाएं रखी गयी है। यद्यपि दोनों प्रतिमाएं निम्न साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की शिकार हो चुकी है तथापि उनका शारीरिक गठन एवं सौंदर्य आज भी कलाविदों को खींचे बिना नहीं रहता। आकार प्रकार में प्रायः दोनों समान प्रतीत होती है पर निर्माण शैली और रचना कालमें बड़ा अन्तर है। बायीं ओर की मूर्त्ति का मुख यद्यपि खण्डित है तथापि उसका शेष शारीरिक गठन और विन्यास स्वाभाविक है। उदराकृति तो सर्वथा प्राकृतिक प्रतीत होती है। मूल प्रतिमा के उभय और चामरधारी परिचारक है जिनके खड़े रहने का ढंग और कटि प्रदेश पर पड़ी हुई उगलियाँ रसवृत्ति उत्पन्न करती है। दायें परिचारक के निम्न भाग मे एक स्त्री आकृति एवं तदधोभाग मे एक पुरुष बैठा है और सम्मुख एक स्त्री कर बद्ध अञ्जलि किये खड़ी है। बाएँ परिचारकका भाग खण्डित हो चुका है। केवल स्त्री का धड़ हाथ मे कमल लिए दिखायी देता है। मूल प्रतिमा का आसन कमल की पंखुडियों से सुशोभित हो रहा है। निम्न भाग मे मकराकृतियाँ इस प्रकार बनी हुई है मानो सम्पूर्ण प्रतिमा उन्हीं पर आधृत हो। इनके स्कन्ध प्रदेश पर रोमराजि व्यक्त कराने मे कलाकार ने बड़ी कुशलता से काम लिया है। एक एक रोम गिने जा सकते है। प्रतिमा के मस्तक के पृष्ठभाग मे सुन्दर सूक्ष्म खुदाई और रेखाओं वाला भामण्डल-प्रभावलि-प्रतिमा की रमणीयता मे अति वृद्धि करता है, जैसा कि बुद्ध प्रतिमाओं में भी पाया जाता है। सच कहा जाय तो इस प्रभावलि की ललितकला के कारण ही मूर्त्ति में कलात्मक आकर्षण रह गया है। मस्तक का भाग बुरी तरह खण्डित है। केवल दायीं कर्ण-पट्टिका का एक अंश बच पाया है। तदुपरि भाग मे छत्र का दण्ड भी खण्डित हो गया है। जिस प्रकार यक्ष या कुछ देवियों की मूर्त्तियों में दण्ड द्वारा छत्र रखनेका रिवाज था, जैन प्रमिाओं में भी कहीं कहीं उसकी स्मृति दृष्टिगोचर होती है, जिसे उपर्युक्त प्रथा का भ्रष्ट संस्करण कह सकते है। छत्र के ऊपर के

भाग में अशोक वृक्ष की पत्तियाँ स्वाभाविकतया प्रदर्शित हैं। उभय ओर पुष्पमाला लिए देवियाँ गगन विचरण कर रही हों, ऐसा आभास होता है। कलाकार ने पाषाण पर बादल की घटाएं बहुत ही उत्तम ढंग से व्यक्त की हैं। देवियों का मुख-मण्डल प्रसन्नता के मारे खिल उठा है। उपर्युक्त पंक्तियों के बाद बिना कहे नहीं रहा जा सकता कि न जाने इसका मुख-मण्डल कितना सुन्दर और आध्यात्मिक ज्योति पूर्ण रहा होगा। प्रतिमा की रचनाशैली से विदित होता है कि मूर्त्ति १०वीं या ११वी शती के भीतर की होगी। (देखें चित्र १)

बाएं भाग पर पड़ी हुई प्रतिमा डील डौल से तो ठीक उपर्युक्त मूर्त्ति के अनुरूप ही है परन्तु कला की दृष्टि से कुछ न्यून है। निर्माण में अन्तर केवल इतना ही है कि इसके पृष्ठ भाग में देवी और परिचारक के मध्य में हस्ती पर आरूढ़ दोनों ओर दो देव देवियाँ हैं, एवं निम्न भाग में मृग-युक्त खड़ा धर्म चक्र स्पष्ट बना हुआ है। यद्यपि इसका मस्तक सर्वथा खण्डित नहीं परन्तु मुख का अग्रभाग खण्डित है। वक्षस्थल पर छेनी के चिन्ह बने हैं। ग्रीवा पर रेखाएं एवं जिस आसन पर मूर्त्ति आधृत है उसका भाग भी उपर्युक्त प्रतिमा की अपेक्षा पृथक रेखाओं वाला है। (चित्र २)

मुख्य फाटक के फौव्वारे के सामने जैन प्रतिमाओं के अलग अलग चार अवशेष रखे हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैः—

(१) प्रस्तुत खण्डत पाषाण पर सोलह जैन प्रतिमाएं ११ × १५ इंच की शिला पर उत्कीर्णित हैं। निम्नस्थान खण्डित है। अनुमानतः खण्डित स्थान मे भी आठ खड़ी जैन प्रतमाएं अवश्य ही रही होंगी। प्रस्तुत शिला पट्ट के प्रधान पार्श्वनाथ हैं।

(२) चुनार की २२ × २५ की शिला पर २४ जैन प्रतिमाएं अंकित हैं। चार पंक्ति मे पाँच पाँच और उपरि भाग मे ४ इस प्रकार चतुर्विंशति पट्ट है। प्रतिमा विधान की दृष्टि से यह चतुर्विंशतिपट्टिका महत्त्व की है। अंग विन्यास बड़ा सुन्दर और भाव-दर्शक है। प्रायः सभी की मुखाकृति थोड़े बहुत अंश मे खण्डित है जैसा कि चित्र ३ से स्पष्ट है। गुजरात मे भी इस प्रकार का प्रतिमाएँ बनती थीं जिनके उपर के भाग मे शिखराकृतियाँ मिलती हैं।

(३) इस परिकर युक्त प्रतिमा का केवल मस्तक के ऊपर का भाग ही बच पाया है। त्रुटित भाग की मानवाकृतियों से पता चलता है कि निः-संदेह प्रतिमा बहुत ही सुन्दर और कला पूर्ण रही होगी।

(४) इस प्रतिमा का केवल निम्न भाग और मस्तक अलग लअग पड़े

है। मेरे ख्याल से (३) वाले उपरिभाग का यह निम्न अंश होना चाहिए। अनजान के लिए निम्न भाग को देखकर शंका हुए बिना नहीं रहती कि प्रस्तुत अंश का संबंध किस धर्म से है। बारीकी के साथ निरीक्षण करने से ज्ञात हुआ कि इसका सीधा संबंध श्रमण संस्कृति की एक धारा जैन संस्कृति से है, कारण कि प्रतिमा के निम्न भाग पर जो आकृतियाँ है वे निर्णय करने में बहुत बड़ी मदद देती है। दक्षिण निम्न भाग मे गोमुख यक्ष और बायीं ओर चक्रेश्वरी की मूर्त्तियां है। मध्य में वृषभ का चिह्न अंकित है। इससे प्रतीत होता है कि प्रस्तुत अवशेष ऋषभ देव का प्रतिमा का है। इस पर अंकित धर्मचक्र के उभय भाग मे मकर एवं तन्निम्न भाग मे नवग्रहों की मूर्तियां बनी हुई है। प्रस्तुत प्रतिमा का निर्माण काल अंतिम गुप्तो का समय रहा होगा। इसकी चौड़ाई २३'' है। अतः दोनों एक ही है।

उत्तराभिमुख बहुत से भिन्न भिन्न खण्डित अवशेष बिखरे पड़े है जिनमे ऋषभ देव आदि तीर्थंकरों की मूर्त्तियां है।

संग्रहालय के पूर्व की ओर टीन का विशाल गोलाकार गृह बना हुआ है जिसमें भूमरा के बहु संख्यक सुन्दर कलापूर्ण एवं अन्यत्र अनुपलब्ध अवशेष रखे गये है। प्राचीन भारतीय इतिहास और शिल्प स्थापत्य कला की दृष्टि में इनका बहुत बड़ा महत्त्व है। अभी तक सांस्कृतिक दृष्टि मे इनपर समुचित अध्ययन नहीं हो पाया है। इन सभी को सरसरी तौर पर देखने से प्रतीत हुआ कि इसमे भारतीय लोक जीवन की विशिष्ट धाराओं के इतिहास की कड़ियाँ बिखरी पड़ी है, शैव संस्कृति के इतिहास पर उज्ज्वल प्रकाश डालने वाली कलात्मक सामग्री भी पर्याप्त रूप मे है। शिव जी के समस्त गण कई लाल प्रस्तरों मे बँटे है। इसी गृह मे प्राचीन मंदिरस्थ स्तम्भ के टुकड़े पड़े है जिनपर नर्तकियों की भावपूर्ण मुद्राए अंकित है। सचमुच इनकी भाव भंगिमाएं ऐसे सुन्दर ढंग से व्यक्त की गई है, मानो उन दिनों का सुखी जन-जीवन ही जीवित हो उठा हो।

महेश्वर, गणेश, आदि अन्य अवशेषों का महत्त्व न केवल सौंदर्य की दृष्टि से ही है अपितु आभूषण और मुद्राओं की दृष्टि से भी कम नही।

जल-कूप के निकट विशाल टीन का छप्पर बना हुआ है। इसमे कौशाम्बी खजुराहो और सारनाथ से लाये हुए भारतीय संस्कृति की सभी धाराओं के अवशेष पड़े हुए है, उनमें अधिकांश मंदिरों के विभिन्न अंश है। कुछ शिल्प तो ऐसे सुंदर और प्राकृतिक है कि जिनकी स्वाभाविकता और सौंदर्य को लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ एक दो शिल्प ही पर्याप्त होंगे। एक प्रस्तर पर माता के उदर में रहे हुए दो बच्चों का

जो उत्खनन कलाकार ने अपनी चिर साधित छेनी द्वारा, कल्पना को साकार रूप देकर, किया है वह अनुपम है। विशेषतः बच्चों की मुख मुद्रा पर जो भाव प्रदर्शित हैं उनको व्यक्त करना कम से कम मेरे लिए तो संभव नहीं है। एक ऐसा भी अवशेष है जिसमें बताया गया है कि गौ खड़ी हुई अपने बछड़े की पीठ को स्नेहवश चाट रही है। बच्चा पय.पान कर रहा है। गौ के मुख पर वात्सल्य रस झलक रहा है। एक शिल्प मे दो स्त्रियाँ मथानी से विलोड़न कर रही है। बालक अपनी भोली भाली मुख मुद्रा लिए मक्खन के लिए याचना कर रहा है। कल्पना कर सकते है कि इस चित्र मे कृष्ण की बाल लीला के भाव है। इस मण्डप की सामग्री साधारण प्रेक्षकों को तो सम्भवतः संतुष्ट न कर सके, परन्तु पत्थरों की दुनिया मे विचरण करनेवाले कोमल हृदय के कलाकारों को आश्चर्यान्वित किये बिना नहीं रहती।

उपर्युक्त मण्डल के पास ही लंबी पंक्ति में भिन्न भिन्न प्रान्तीय सती स्मारकों के अवशेष दृष्टिगोचर होते है जिनमें से बहुतों पर लेख भी है। इन स्मारकों का सामाजिक दृष्टि से थोड़ा बहुत महत्त्व है इन पर अभी अधिक अन्वेषण अपेक्षित है। इन सती स्मारकों के सामने बहुत से टुकड़े स्थानाभाव के कारण इस प्रकार अस्त--व्यस्त पड़े है, मानो उनका कोई महत्त्व ही न हो। इनमे भी चार जैन मूर्त्तियों के खण्डितांश पड़े है।

जल कूप के निकट एक दूसरा टीन का गृह और बना हुआ है। इसमें वे ही अवशेष संगृहीत है जो खजुराहो से लाये गये थे। शिल्पकला से अपरिचित व्यक्तिको भी यहाँ आनन्द मिले बिना नही रह सकता। प्रवेश-द्वार पर ही खजुराहो के एक प्रवेश द्वार का कुछ अंश रखा है ! जिसमें नर्तकियों की विभिन्न भाव भंगिमाओं से युक्त मूर्तियां, कलाकार को अभिनंदित करने को बाध्य करती है। भारतीय नारी जीवन का आनंद स्वाभाविक रुपेण इन मूर्त्तियों के अंग अंग पर चमक रहा है। अंग विन्यास, उत्फुल्ल वदन, स्वाभाविक स्मित हास्य, संगीत के विभिन्न उपकरणों ने इनका महत्त्व और भी बढ़ा दिया है। इन सभी का महत्त्व शिल्प-कला की दृष्टि से समझा जा सकता है, हृदयंगम भी किया जा सकता है. परन्तु वर्ण माला के सीमित अक्षरों में कैसे बाँधा जाय! इन अवशेषों मे कुछ जैन अवशेष भी है जिनका परिचय इस प्रकार है। अवशेषों की संख्या अधिक है। कुछ तो श्याम पाषाण पर उत्कीर्णित है। मैंने मध्य प्रांत मे भी ऐसे ही श्याम पाषाण पर खुदी हुई मूर्तियाँ देखी है। बहुरीबंद वाली मूर्ति मे यह पाषाण समा-

नता रखता है। संभव है त्रिपुरी का जब उत्कर्ष काल रहा होगा तब शिल्पकला के उपकरण के रूप में पाषाण भी बुंदेलखंड में कलाकारों द्वारा मध्यप्रांत से जाता रहा होगा। क्यों कि खजुराहो जबलपुर से बहुत दूर नहीं है।

एक जैन प्रतिमा का निम्न भाग पड़ा है। इस चरण को देखते ही कल्पना की जा सकती है कि प्रस्तुत प्रतिमा भी ६० इंच से क्या कम रही होगी, क्योंकि २२ इंच तक तो घुटने का ही भाग है। शिल्पकला के पारखी भलीभाँति परिचित है कि किसी भी विषय की सम्पूर्ण प्रतिमा के सौंदर्य को समझने के लिए उसका एक अंग ही पर्याप्त होता है। इस दृष्टि से तो मुझे यही कहना पड़ेगा कि प्रस्तुत मूर्त्तिको शिल्पी ने गढ़ ही डाला है। उनके हाथ और छेनी ही काम कर रही थीं। हृदय और मस्तिष्क शायद शून्यवाद में परिणत हो गये होंगे। सौभाग्यसे सम्पूर्ण संग्रहालय में यही एक ऐसी जैन तीर्थंकर की प्रतिमा है जिस पर निर्माण-कालसूचक लेख भी खुदा हुआ है, जिसमे बलात्कारगण, वीरनंदी और वर्धमान के नाम पढ़े जाते है। १२१४ फाल्गुन सुदी ९ बताया गया है। यदि इस संवत् को सही मानते है तो लिपि और निर्माण काल मे अन्तर होने के कारण उसपर ऐतिहासिक और मूर्त्तिविज्ञान के विशेषज्ञ एकाएक विश्वास नही कर सकते। बाजू में ही २७४ नं० का एक टुकड़ा है जो २७३ से संबंधित प्रतीत होता है। इन टुकड़ों के निम्न भाग मे बहुत ही सुन्दर और सूक्ष्म ७ प्रतिमाएं खुदी है जो नग्न है। इन अवशेषों से ही विदित हो जाता है कि प्रतिमा बड़ी सौंदर्यसम्पन्न रही होगी।

नं० ३०२—यह प्रतिमा ऋषभदेव की है।

२३५—यह प्रतिमा किसी मुख्य प्रतिमा के बायें भाग का एक अंश दिखती है। यद्यपि प्रतिमाविधान की दृष्टि से स्वतंत्र मूर्त्ति ही माने तो बुरा नहीं है। इसका मस्तक किसी हृदयहीन व्यक्ति ने जानबूझ कर खंडित कर दिया है। परन्तु किसी सहृदय व्यक्ति ने उसे सीमेण्ट से भद्दे रूप से चिपका दिया है।

४२—२३ इंच की मटमैली शिलापर प्रस्तुत जिन प्रतिमा उत्कीर्ण है। इसका निर्माण सचमुच में कुशल कलाकार द्वारा हुआ है। भावमुद्रा और शिलोत्कीर्णित परिकर का गठन सौंदर्य के प्रतीक है। परन्तु बायाँ घुटना जानबूझकर बुरी तरह से खंडित कर दिया है। मूल प्रतिमा पद्मासनमें है। उभय और १८ इंच की दो खड्गासनस्थ प्रतिमाएं है। उनमे शांत रस का

प्रयाग संग्रहालय की कुछ जैन मूर्तियाँ

[चित्र सं० ५]
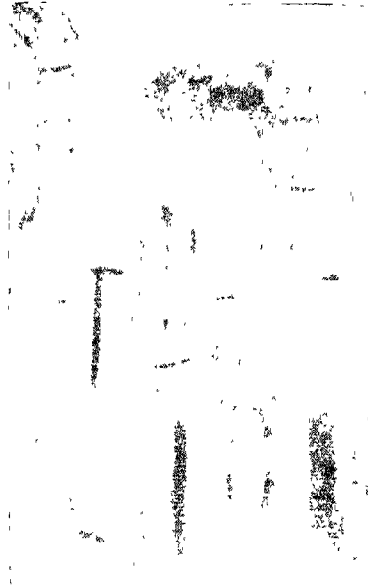
[चित्र सं० ६]
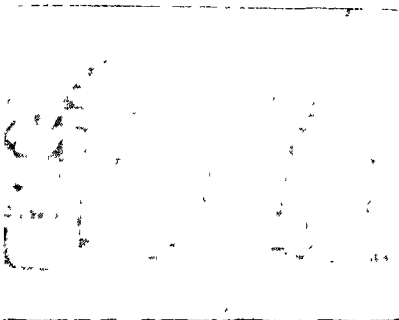
[चित्र सं० ७]

[चित्र सं० ८]

उद्दीपन स्पष्ट है। मुखमुद्रा में समत्व की भावना झलक रही है। दोनों के निम्न भाग में एक एक पार्श्वद है। उपर्युक्त प्रतिमा का निम्न भाग स्वभावतः पाँच भागों में बँट गया है। दक्षिण प्रथम भाग मे एक गृहस्थ हाथ जोड़े, घुटना टेक कर वंदना कर रहा है। बाजू में सुखासन में एक मूर्त्ति खुदी हुई है। शिल्पशास्त्र की दृष्टि से तो इस स्थान पर अधिष्ठाता गोमुख यक्ष की प्रतिमा होनी चाहिए, क्योंकि यह प्रतिमा ऋषभदेव स्वामी की है। दिगम्बर और श्वेताम्बर शिल्पशास्त्रों मे वर्णित अधिष्ठाता का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। सब से बड़ा भिन्नत्व यही पाया जाता है कि यक्ष के चार हाथ होने चाहिए जब कि यहाँ पर जो प्रतिमा खुदी है वह दो हाथों वाली ही है। अतः इसे किस रूप में माना जाय ? मैं अपने अनुभवों के आधार पर दृढ़तापूर्वक कह सकूँगा कि यह सुखासनस्थ विराजित प्रतिमा कुबेर की ही होनी चाहिए। कारण कि मुझे सिरपुर से नवम शताब्दी की एक ऋषभदेव स्वामी की धातुप्रतिमा प्राप्त हुई थी उसमें भी इसी स्थान पर कुबेर की प्रतिमा विराजमान थी और और बायीं ओर द्विभुजी अम्बिका की। प्रस्तुत प्रतिमा मे भी बायीं ओर आम्रलुम्ब लिए और बाये हाथ से एक बच्चे को कटि पर थामे अम्बिका की मूर्त्ति स्पष्ट दिखाई गयी है। बाजू मे एक गृहस्थ स्त्री भक्ति पूर्वक वंदना करती हुई प्रतीत होती है। यद्यपि ऋषभदेव स्वामी की अधिष्ठातृदेवी गरुड़वाहिनी चक्रेश्वरी के है अतः यहाँ पर उसी की मूर्त्ति अपेक्षित थी, जब कि यहाँ अम्बिका है। प्राय. बहुसंख्यक प्राचीन कई तीर्थकरों की ऐसी प्रतिमाएं देखने मे आयी है जिनको अधिष्ठातृ देवी के स्थान पर अम्बिका के ही दर्शन होते है, विशेषतः पार्श्वनाथ और ऋषभदेव आदि की मूर्त्तियों मे। यों तो अम्बिका भगवान् नेमिनाथ की अधिष्ठात्री है। जैन मूर्तिविधान शास्त्र मे इसके दो रूप मिलते है परन्तु शिल्प स्थापत्यावशेषों मे तो वह, अनेक ऐसे रूपों मे व्यक्त हुई है कि उनके विभिन्न पहलुओं को पहचानना भी कहीं कही कठिन हो जाता है। अत: जैन प्रतिमाविधान शास्त्र मे अम्बिका सचमुच मे एक विकट समस्या ही है।

जिस प्रतिमा की चर्चा यहाँ पर की जा रही है, उसके आसन का भाग इस रूपसे बना हुआ है मानो कोई सुन्दर चौकी ही हो, आसन के रूप में वस्त्राकृति है। जिस पर वृषभ का चिन्ह है। और दो मकरों के बीच में खड़ा धर्म चक्र है। प्रतिमा के मुख के पश्चात् भाग मे प्रभावली है, साधारण रेखायें भी है। उभय और पुष्पमाला लिए गगनविचरण करते हुए देववृन्द है, तदुपरि दंडयुक्त छत्र है। दाये भाग मे एक हाथी का

चिन्ह है, बायीं ओर इन्द्र। छत्रके ऊपर का भाग बड़ा ही कलापूर्ण है। अशोक वृक्षकी पत्तियाँ, और दो हस्त ढोल बजा रहे हैं। छत्र के दोनों भागों में पद्मासनस्थ दो जिनमूर्तियाँ भी अंकित हैं। इतने लम्बे विवेचन के बाद भी एक प्रश्न रह ही जाता है कि इसका निर्म्माणकाल क्या हो सकता है? कलाकारने संवत् का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया, अतः केवल अनुमान से ही काम लेना पड़ रहा है। यह मूर्ति खजुराहो से लाई गई है, प्रस्तर भी वहाँ के अन्य अवशेषों से मिलता जुलता है। इस प्रकार की अन्य प्रतिमाएँ देवगढ़ में पायी गई हैं, जिनपर संवत् भी है। खासकर अम्बिका और कुबेर की प्रतिमाएँ इसके साथ सम्बन्धित हैं, उनके अध्ययन के बाद कहा जा सकता है कि इसका रचना काल ९ वीं से ११ शती का मध्य भाग होना चाहिए, क्योंकि अलंकरणोंका विकास जैसा इसमें हुआ है वैसा उन दिनों खजुराहो और त्रिपुरी-तेवर की सभी धर्मावलम्बियों की प्रतिमाओं में हुआ था। विशेषतः अन्तर्गत मूर्तियों का उपरि भाग—जो मगध की स्मृति दिला रहा है—बुंदेलखंड के विष्णु और शाक्त प्रतिमाओं में पाया जाता है। ५ संख्या वाली उपर्युक्त प्रतिमा जहाँ पर सुरक्षित है ठीक उसके पश्चात् भाग में ही एक और जैनमूर्ति है जो मटमैले पाषाण पर खुदी हुई है। पार्श्वदेवी के अतिरिक्त और भी खड्गासनस्थ मूर्तियाँ हैं। निःसन्देह मूर्ति का सौंदर्य और शारीरिक विकास स्पर्धा की वस्तु है। परन्तु प्रश्न होता है कि क्या मूर्ति का स्वाभाविक अंग इतना ही था जितना आप चित्र में देख रहे हैं? मुझे तो सन्देह ही है, कारण कि दक्षिण भाग जितना स्पष्ट है उतना ही वाम भाग अस्पष्ट। मेरा तो ध्यान है कि यह विशालकाय प्रतिमा के परिकरका एक अंग मात्र है। ऊपर जिस मूर्तिका चित्र आप देख रहे हैं उसके दक्षिण भाग की ही आप कल्पना करें तो इन पंक्तियों का रहस्य स्वतः समझ में आ जायगा। यह त्रुटितांश एक बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेता है कि पूर्व प्रतिमा कितनी मनोहर रही होगी।

इस छप्पर वाले संग्रह में उत्थितासन की कुछ जैन मूर्तियाँ हैं पर कला की दृष्टि से उनका विशेष मूल्य न होने से उल्लेख ही पर्याप्त है।

नगरसभा संग्रहालय के मुख्य गृह के पश्चात् भाग में एक और टीन की मजबूत चादरों से ढँका, एक छप्पर है, जो जालियों से घिरा हुआ है। इसमें उन्मुक्त भावनाओं के पोषक कलावशेष कैद हैं। परन्तु बन्दी जीवन यापन करने वालों में जो रसवृत्ति का स्थायित्व भाव देखा जाता है वह सात्त्विक

मनोभावना का अद्‌भुत प्रतीक है। इस गृह को मैंने बन्दीखाना सकारण ही कहा है। जब हम लोगों ने इसमें प्रवेश किया तब इतना कूड़ा कचरा भरा हुआ था मानों महीनों से सफाई ही न हुई हो, जहाँ सर ऊँचा किया कि जाले लगे। मूर्तियों पर तो इतनी धूल जम गई थी कि मुझे साफ करने में पूरा १॥ घंटा लगा। कलातीर्थ मे भी इस प्रकार की घोर अव्यवस्था किसी भी दृष्टि से क्षम्य नहीं। हमारे देश की संस्कृति के प्रतीकसम इन अवशेषों का संग्रह, यदि दूसरे देश के किसी संग्रहालय में होता तो शायद इनसे तो अच्छी ही हालत में होता!

इस गृह मे भरहूत, खजुराहो, नागौद और जसो आदि नगरों से लाए हुए अवशेषों का संग्रह किया गया है। इनमे कुछेक ऐसी ईंटे है जिन पर लेख भी है। निःसंदेह यह संग्रह अनुपम है। एक मंदिर का मुख्य द्वार भी सुरक्षित है, जिसमे केवल कामसूत्र के आसन ही खुदे हुए है। यों तो प्राचीन शिल्पस्थापत्य-कला से सम्बन्ध रखने वाली पर्याप्त साधन सामग्री इसमे है, परन्तु जैन मूर्तियों का भी सबसे अच्छा और व्यवस्थित संग्रह भी इसी मे है। सौभाग्य से ये साथ मे एक ओर सजाकर रखी गयी है। इन सब की संख्या दो दर्जन से कम नहीं होगी। (परिचयार्थ देखें चित्र६-७) प्रतीत होता है किसी जैन मंदिर मे ही खड़े हो!

बायीं ओर से मै इनमे से कुछ का परिचय प्रारंभ करता हूं। प्रतिमाएँ ऊपर नीचे दो पंक्तियों मे है।

एक अवशेष ३२" × १२" का है, जिसके उभय भाग मे १५ जिन प्रतिमाएँ खड्गासन और पद्मासन मे है। अवशिष्ट भाग को गौर से देखने से प्रतीत होता है कि यह किसी मंदिर के तोरण का अंश है या विशाल प्रतिमा का एक अंग (देखे चित्र ६) पत्थर लाल है। इसी टुकड़े के पास एक और वैसा ही खंडितांश ४० × १७ इंच का है इसका विषय तो उपर से मिलता जुलता है पर कला-कौशल्य और सौदर्य की दृष्टि से इस का विशेष महत्त्व है। इसके मध्य भाग मे शेर पर बैठी हुई अम्बामाता की प्रतिमा है। इसके बायें घुटने पर बालक एवं दक्षिण हस्त मे आम्रलुम्ब है। ऊपर के हिस्से में चार जिन प्रतिमाएँ क्रमशः उत्कीर्ण है। बायीं ओर ऋषभ और दाईं ओर पार्श्वनाथ तदुपरि देववृन्द विविध वाजित्र लिए, स्वच्छंदता पूर्वक गगन विचरण कर रहे है। भाव बड़ा ही सुन्दर है। इसके समीप ही किसी स्तम्भ का खंडितांश है। १३ × १० इंच। मध्य भाग में पद्मासन और उभय भाग मे खड्गासनस्थ मूर्तियाँ है।

६८७ × ३५ किसी जैन मंदिर का स्तंभ है। दो मूर्तियाँ है।

६८८ × ३४ स्तंभांश पर पार्श्व प्रतिमा है। २२ × ११।। इंच।

६१०–यह एक खड्गासनस्थ प्रतिमा है। ३८ × २१ इंच। मस्तक पर सप्तफण स्पष्ट है। उभय ओर पार्श्वद है। बायाँ भाग खंडित है। लंछन के स्थान पर बहुत ही स्पष्ट रूपसे शंख दृष्टि गोचर होता है। मूर्ति विलक्षण सी जान पड़ती है और देखकर एकाएक भ्रम भी उत्पन्न हो जाता है, कारण कि मस्तक पर नागफन और शंख लंछन, ये दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व हैं। फन स्पष्ट होने के कारण इसे पार्श्वनाथ की मूर्ति मानना चाहिए शंखका चिन्ह भगवान् नेमिनाथ का है अतः मूर्त्ति नेमि जिन की भी मानी जा सकती है। ऐसी मान्यता के दो कारण हैं एक तो शंख लंछन और दूसरा सबल प्रमाण है आम्र वृक्ष की लताएँ, जो भगवान् के मस्तक के ऊपरी भाग के समस्त प्रदेश में झूम रही हैं। संभव है आमलताएँ अम्बिका का प्रतीक हो, क्योंकि ऊपर पंक्तियों में प्रसंगतः उल्लेख हो चुका है कि अम्बिका के हाथ में आम्रलुंब रहती है। मूल प्रतिमा के मस्तक के बाये भाग में एक ऐसी देवी का शिल्प अंकित है जिसके बाये घुटने पर बालक बैठा है। मन तो करता है इसे ही क्यों न अम्बिका मान लें। ऐसा प्रतीत होता है मानो आम्र-वृक्ष की सुकुमार डालियों पर वह झूल रही हों परंतु, पुष्ट प्रमाण के अभाव में इसे अम्बिका कैसे मान लें? मैंने अपने जीवन में ऐसी एक भी जैन तीर्थंकर की प्रतिमा नहीं देखी, जिसके मस्तक के ऊपर के भाग में अधिष्ठाता या अधिष्ठातृ देवी के स्वरूप अंकित किये गये हों। हां, उभय के मस्तक पर जिन मूर्ति तो शताधिक अवलोकन में आई हैं। मेरे लिए तो यह बड़े ही आश्चर्य का विषय था। कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ता था कि इसका निर्णय कैसे किया जाय। मेरे परममित्र मुनि श्री कनकविजय जी ने मेरा ध्यान पार्श्वनाथ भगवान् के जलवृष्टिवाले उपसर्ग की ओर आकृष्ट करते हुए कहा कि यह सम्भवतः उसीका प्रतीक हो, परन्तु वह भी मुझे नहीं जँचा। कारण कि यदि उपसर्गका प्रतीक होता तो धरणेन्द्र और पद्मावती भी अवश्य ही उपस्थित रहते। एक कल्पना और जोर मार रही है कि मानो शंख प्रक्षालनार्थ रखा गया हो, जैसा कि बौद्ध प्रमिाओं में पाया जाता है। परन्तु यहां पर यही उद्देश्य हो तो साथ में और भी पूजा के उपकरण चाहिए। यदि शंख, लंछन के स्थान पर न हो तब तो मेरी कल्पना काम आ जाती, क्योंकि प्राचीन पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्तियाँ ऐसी अवलोकन में आई हैं जिनके पास अम्बिका की प्रतिमा है। यहाँ पर भी माना जा सकता था कि जो आम्रवृक्ष है वही अम्बिका का प्रतीक है और फनों के कारण मूर्त्ति पार्श्वनाथ की है। जबतक कि प्राचीन शिल्प स्थापत्य के ग्रन्थों में इस प्रकार

के स्वरूप का पता न चले और इसी शैली की अन्य प्रतिमाएँ उपलब्ध नहीं हो जातीं, तबतक जैन मूर्ति विधान में रुचि रखने वाले अभ्यासियों के सामने यह समस्या बनी रहेगी। एतद्विषयक गवेषकों से मेरा विनम्र निवेदन है कि वे अपने अनुभवों से इस समस्या पर प्रकाश डाले। यह मूर्ति खजुराहो से प्राप्त की गई है और निर्माण काल दशम शताब्दी प्रतीत होता है।

६११-संख्यावाली प्रतिमा ३८''×३०'' इंच है, यह है तो बड़ी ही सुन्दर पर दुर्भाग्य से उनका परिकर पूर्णतः खंडित है। जैसा कि आप चित्र ८ मे देख रहे है। जो भाग बच पाया है वह इसकी विशालता की सूचक है। प्रधान प्रतिमा का मुख मंडल भरा हुआ है, ओजपूर्ण है। मस्तक पर केश गुच्छ है जैसा कि और भी अनेक जैन प्रतिमाओंमें पाया जाता है भामंडल भी कलापूर्ण है। प्रतिमा के स्कंध प्रदेश पर पड़ी हुई केशावली से अवगत होता है कि मूर्ति श्री ऋषभदेव की है। अधिष्ठातृ देवी के रूप मे, इसमे भी अम्बिका ही है। इस प्रतिमा के पृष्ठ भाग की ओर ध्यान देने से विदित होता है कि मूर्ति न जाने कितनी विशाल रही होगी। आश्चर्य नहीं चतुर्विंशतिका पट्ट भी हो। दक्षिण भाग मे खंडित घुटने वाली दो खड़ी जैन मूर्तियां है, और इनके भी उपर तीन खड़ी हुई है। खंडितांश से तो पता लगता है कि ऊपर के और भागों मे भी मूर्तियां होंगी, क्योंकि प्रभामंडल आधे से अधिक खंडित है। इस अनुपात से तो कम से कम २॥ फुट से उपर की प्रस्तर पट्टिका चाहिए, जिसमे छत्र, देवागना, अशोक वृक्ष आदि अष्टप्रतिहार्य चिन्ह रहे होंगे। बॉयी ओर भी दक्षिण के समान ही मूर्तियां होंगी। इस ओर का भाग अपेक्षाकृत अधिक खंडित है। मुझे तो लगता है कि यह जान बूझ कर किसी साम्प्रदायिक मनोवृत्तिवाले ने तोड़ दिया है। कारण कि खडित करने का ढंग ही कह रहा है। आज भी ऐसा करते मैंने तो कइयों को देखा है। राजिम (C. P.)मे एक कट्टर ब्राह्मण ने पार्श्वनाथ की मूर्ति को एक जैन के देखते देखते ही लाठी से दो टुकडे कर दिए।

प्रश्न होता है-इसका निर्म्माण काल क्या रहा होगा? पुरानी सभी जैन प्रतिमाओं के लिए यही समस्या है। इसे अपने अनुभवों के आधार से ही सुलझाया जा सकता है। इस मूर्ति मे तीन बाते ऐसी पाई जाती है जो काल निश्चित करने मे थोड़ी बहुत मदद दे सकती है - (१) आसन के नीचे का भाग, (२) मस्तक पर केश गुच्छक, (३) भामंडल-प्रभावली। मथुरा की प्रतिमाओं से कुछेक के आसन प्लेन होते है या साधारण चौकी जैसा स्थान होता है। इस प्रकार की पद्धति के दर्शन मध्यकालीन जैन मूर्तियों

में होते है, पर कम । मकराकृतियाँ या कीर्तिमुखका भी अभाव इस प्रतिमा में है । (२) केश गुच्छक पुरानी मूर्तियों में और गुप्तकालीन महुडी की जैन मूर्तियों मे दिखलाया गया है, पर वह सारे मस्तक को घेरे हुए है । जब ७ वीं शती के बाद वह केवल तलुआ तक ही सीमित रह गया है । इस प्रकार का केश गुच्छ मध्यकालीन प्रस्तर और धातु की मूर्तियो में दिखाई पड़ता है । ११ वीं शताब्दी तक इसका प्रचार रहा, बाद मे परिवर्तन हुआ, (३) भामंलड-प्रभावली की कमल पँखुड़ियाँ भी मध्यकालीन बौद्ध प्रभामंडल से मिलती है । इन तीनों कारणों से यह निश्चित होता है कि मूर्तिका रचना काल ९ वी शती से ११ वीं के भीतर का भाग होना चाहिए । इसी काल की और भी मूर्तियाँ प्राप्त होती है । उनके तुलनात्मक अध्ययन से भी यही फलित होता है ।

६१२—संख्यावाली प्रतिमा तत्र स्थित समस्त जैन प्रतिमाओं मे अत्यन्त विशाल है । लम्बाई चौड़ाई ५१''× १८'' है । कला की दृष्टि से और सौदर्य की दृष्टि से इसका कुछ भी महत्व नहीं है क्योंकि शारीरिक गठन बड़ा भद्दा है । चरणों को देखने से पता लगता है कि दो खम्भे खड़े कर दिये हों । दोनों परिचारकों के साथ भक्त स्त्रियों के शिल्प अंकित है, जो उत्तरीय वस्त्र और कछौटा धारण किये हुए है । बायीं ओर मकर के बगल में कुबेर, एवं तदुपरि अम्बिका, गोद मे बच्चे लिए है । इसके ऊपर दो खड्गासनस्थ जैन प्रतिमाएं है । मस्तक के दोनों ओर देव देवियाँ है । दक्षिण भाग के कटाव से प्रतीत होता है कि इस विशाल मूर्त्ति का परिकर काफी विस्तृत रहा होगा । सम्पूर्ण प्रतिमा को दखने से ऐसा लगता है कि यह किसी स्वतंत्र मंदिर से संबंधित न होकर किसी स्तम्भ से जुड़ी हुई रही होगी । इसका प्रस्तर लाल है ।

६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६८९M३५, ६९०M३५ ६९२M३५, ६९३M३०, ६९४M३९, ६९५M२२, इन संख्याओं वाली समस्त मूर्तियाँ जैन है । स्थानाभाव के कारण इनका कलात्मक विस्तृत परिचय दिया जाना सम्भव नहीं जान पड़ता । उपर्युक्त प्रतिमाओं के अतिरिक्त और भी श्रमण संस्कृति से संबंधित फुटकर अवशेष काफी तादाद में वहाँ पड़े हुए है । उनमें से एक ऐसे सुंदर अवशेष पर दृष्टि केंद्रित हुई जिसका उल्लेख किए बिना निबंध अधूरा ही रहेगा । मुझे यह अवशेष इसलिए बहुत पसन्द आया कि इस प्रकार की आकृतियाँ अन्यत्र कम देखने को मिलती है । यह अवशेष एक दृष्टि से अपने आपमें पूर्ण है पर इसका स्वतंत्र अस्तित्व भी संभव नहीं । ९ वें चित्र में आप देखेंगे तो प्रधानतः तीन तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ

दृष्टि गोचर होंगी, जिनके मस्तक पर सुंदर शिखर भी बने हुए हैं, जिन के अग्रभाग में एक एक पद्मासनस्थ जैनप्रतिमा उत्कीर्णित हैं। प्रधान तीनों प्रतिमाओं में उभय ओर सात एवं पाँचफण युक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमाएं हैं। मध्य में ऋषभदेव की तीनों के उभय ओर दो दो कायोत्सर्ग मुद्रा मे प्रतिमाएं खुदी हैं। तीनों मूर्त्तियों के मध्यवर्ती भाग में दायीं, बायीं, क्रमशः अम्बिका और चक्रेश्वरी अधिष्ठातृ देवियाँ सायुध अवस्थित हैं। यहाँ पर आश्चर्य तो इस बात का है कि दोनों अधिष्ठातृ देवियों के निकट भाग मे दो दो कायोत्सर्ग मुद्रा की मूर्तियाँ हैं। अन्यत्र देवियों के पार्श्ववर्त्ती प्रदेश में जैन तीर्थंकर की मूर्त्तियाँ नहीं मिलतीं। यदि मिलती है तो वीतराग के परि-कर मे ही। उपर्युक्त दोनों शिखरों के मध्यभाग मे दो हिस्से पड़ जाते हैं जो दोनों देवियों के ऊपर हैं। इनमे भी तीन तीन पद्मासनस्थ जैन मूर्त्तियाँ हैं। समस्त मूर्त्तियाँ यद्यपि वीतराग भावना का प्रतीक हैं तथापि मुख मुद्रा में सामञ्जस्य नहीं पाया जाता। इस सम्पूर्ण पट्टिका मे स्वतंत्र मंदिर का अनुभव होता है। अब इसे स्वतंत्र मंदिर मानें या किसी मंदिर के तोरण का उपरि अंश ? इसका निर्माण काल ११वीं शती के बाद का प्रतीत होता है।

[क्रमश]

साहित्य समीक्षा

मेरी जीवन गाथा–

लेखक–पूज्य क्षुल्लक पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी

प्रकाशक–गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला भदैनी काशी

मूल्य लागत मात्र ६।) रु०। पक्की जिल्द। छपाई आदि उत्तम।

प्रशममूर्ति परम दयालु श्रमणोपासक पूज्य क्षुल्लक पं० गणेशप्रसाद जी वर्णी के द्वारा अपनी सीधी सरल भाषा मे लिखी गई मेरी जीवनगाथा जैन समाज की गत ५० वर्षो की गतिविधि का शब्दचित्र है। यह अपने माने मे स्वयं एक धर्मशास्त्र है। इसमे धर्म के उस हृदय के दर्शन पग पग पर होते है जो किसी साधक की जीवन साधना के सहज फल है।

इसमें हरिजनों के संबध के निम्नलिखित दो प्रकरण तो वर्णी जी की अन्तरात्मा की निर्मलता के अप्रतिम निदर्शन है।

"......समय की बलिहारी है, आत्मा तो सब का एक लक्षण वाला है, केवल कर्मकृत भेद है। चारों गतिवाला जीव सम्यग्दर्शन का पात्र है फिर क्या शूद्रों के सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता? पुराणों मे चाण्डालों तक के धर्मात्मा होने की कथा मिलती है। निकृष्ट से निकृष्ट जीव भी सम्यग्दर्शन का धारी हो सकता है। सम्यग्दर्शन की बात दूर रहे अस्पृश्य शूद्र श्रावक के व्रत धर सकता है।" (पृ० ३५२)

".........लोकमर्यादा इसी को कहते है कि हम अस्पताल की दवाइयाँ खावें जहाँ के प्रत्येक कार्य की सफाई करने वाले यही भंगी होते है, जहाँ की औषधियाँ मांस और मदिरा से भरी रहती है, जहाँ ताकतवर औषधि में प्राय: मछली का तेल दिया जाता है.........होटलों मे खायें जहाँ कि उच्छिष्ट का कोई विचार नहीं रहता.........इन सब कार्यों में लोकमर्यादा बनी रहती, पर एक भंगी के पैसे से बनी हुई धर्मशाला मे ठहरने से लोकमर्यादा नष्ट हो जाती है याने यहाँ की पृथ्वी ही अशुद्ध हो गयी?" (पृ० ६०२)

इस जीवनगाथा के प्रत्येक प्रकरण में एक सन्त की स्वानुभूति का उन्मेष है। उनका जीवन स्वयं पंडित है, त्यागी है, संस्था है, विद्या है, धर्म है। वे 'अजातशत्रु' है। उनके इन सभी स्वरूपों की झांकी इस जीवनगाथा में मिलती है।

प्रत्येक साक्षर को इस पुण्यगाथा को पढ़कर जीवन संशोधन करना चाहिये और वर्णी जी की तरह धर्म की आत्मा को पहिचानना चाहिए।

वर्णीग्रन्थमाला का उनकी जीवनगाथा से प्रारम्भ होना उसके उत्कर्ष का उत्तम मङ्गल है।

वर्णी वाणी–

सम्पादक—वि० नरेन्द्र जैन। प्रकाशक उपरोक्त। मूल्य ४)

इस पुस्तक में पू० वर्णी जी के प्रवचनों से छोटे छोटे धर्मसूत्रों का संकलन किया गया है। मानवजीवन को संस्कारी बनाने के लिये ऐसे संकलनों की बड़ी उपयोगिता है। इसमें सब कुछ है। पृ० २३९ पर संसार प्रकरण में 'मोक्षप्राप्ति' में उच्च गति आवश्यक नहीं' इस शीर्षक की जगह 'मोक्षमार्ग में' या 'सम्यक्त्व प्राप्ति में' यह असन्दिग्ध शीर्षक होना चाहिये था। यद्यपि परम्परा कारणों की दृष्टि से और देवगति की दृष्टि से उक्त शीर्षक की भी संगति बैठाई जा सकती है।

वर्णी ग्रन्थमाला का यह प्रकाशन मानव साहित्य का समुज्ज्वल रत्न है। प्रत्येक व्यक्ति को इसे सदा अपने पास रखना चाहिए। –म० कु०

आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर की ग्रन्थ सूची–

सं० श्री कस्तूरचंद जी कासलीवाल एम. ए. शास्त्री

प्रकाशक–सेठ० रामचन्द खिन्दूका मंत्री श्री दि० जैन महावीर अतिशय क्षेत्र कमेटी जयपुर। पृ० सं० २१८। मू० ५)

भारतीय भाषा और विभिन्न विषयक साहित्यिक शाखाओं के विकास में जैनों ने जो योगदान दिया है उसका मूल्यांकन स्वतंत्र भारत में होना चाहिये। साहित्य प्रणयन, लेखन और संग्रह तीनों दिशा में जैनों ने अपनी असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति का परिचय दिया है। भारत में हस्तलिखित प्रतियों के संग्रह उपलब्ध होते हैं उनमें राजस्थान स्थित भंडारों का बहुत बड़ा महत्व है। डाक्टर बुलर, पिटर्सन, किनहोर्न, पूर्णचन्द्र नाहर और भारतीय विद्याभवन के प्रधान नियामक मुनि श्री जिनविजय जी आदि अध्यवसायी विद्वानों ने इस विषय पर काफी अन्वेषण किया है और ये प्राचीन ग्रन्थों की उपयोगिता और उनके सार्वभौमिक महत्व को प्रकाश में लाये हैं। आलोच्य ग्रन्थ में आमेर मन्दिर स्थित शास्त्र भंडार के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। एक समय था जब आमेर का राजनैतिक दृष्टि से बहुत महत्त्व था। वहाँ जैनों की पर्याप्त संख्या थी, भट्टारकों का भी समाज पर अच्छा प्रभाव था। इन लोगों ने जैन साहित्य की सुरक्षा में उतना सहयोग दिया है जितना कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यतियों ने। परन्तु दोनों के भीषण पतन के कारण जैन साहित्य की जो क्षति हुई है उस पीड़ा को किन शब्दों

में व्यक्त किया जाय। सम्पादक महोदय लिखते है कि "इनकी असावधानी से सैकड़ों शास्त्र दीमक के शिकार बन गये। सैकड़ों स्वयं जल गये सैकड़ों शास्त्रों को विदेशियों के हाथ बेच डाला गया।" अवशिष्ट सोलहसौ (१६००) ग्रन्थों का उल्लेख प्रस्तुत सूची में है जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और राजस्थानी आदि भाषाओं में गुम्फित हैं। १६७ पृष्ठों में आमेर ज्ञान भंडार का और अवशिष्ट पत्रों में चाँदनगाँव स्थित ३०८ ग्रन्थों का परिचय दिया है। दोनों भंडारों मे जितने भी ग्रन्थ उपलब्ध है उनमें महाकवि पुष्पदंत रचित महापुराण की प्रति १३९१ की सर्व प्राचीन है। राष्ट्रभाषा हिन्दी की जननी अपभ्रंश साहित्य का यहाँ अनुपम संग्रह है। सूची बनाने के पूर्व संपादक महोदय ने यदि लिम्बडी खम्भात और पंजाब के ज्ञान भंडारों के प्रकाशित सूचीपत्र और पिटर्सन, डा० भंडारकर, किलहौर्न, वेबर आदि विद्वानों के इतिवृत्त को देखा होता तो न केवल उनका समय और श्रम ही बचता अपितु सूची भी विशुद्ध वैज्ञानिक रूप से तैयार होती। संपादक जी यदि संख्या, ग्रन्थनाम, पृष्ठ, कर्ता, रचनाकाल, लेखनकाल, भाषा, विषय, पंक्तियाँ, प्रतियों के आकार प्रकार और विशेष इन शीर्षकों में सूची विभाजित करते तो किसी भी ग्रन्थ के विषय में पूरी कल्पना विद्वान् को आ जाती। पूरी सूची मे भी संपादक एक शैली को नहीं अपना सके हैं। कहीं कहीं ग्रंथकर्ताओं के नाम भी गलत दिये है। जैसे कि आचारांग के टीकाकार आचार्य शिलाङ्का (जब कि इनका वास्तविक नाम शिलांकाचार्य है।) एवं गुटकों मे जो ग्रन्थ है उनके कर्ताओं के नाम बिलकुल नहीं दिये गये है दो दर्जन से भी अधिक ऐसी भूलें भरी हुई है। संपादक महाशय पृष्ठ १३५ में लिखिते है महाकवि बनारसीदास के समयसार पर श्री रूपचन्द ने गद्य भाषा मे अर्थ लिखा है। टीका संवत् १७२३ दिया है पर वह सही नहीं (इसके लिये १९४८ मार्च विशाल भारत का अंक देखना चाहिये।) पाशा केवली (पृष्ठ १००) के रचयिता गर्ग ऋषि प्रसिद्ध है। ज्योतिष रत्नमाला के रचयिता केवल श्रीपति है न कि श्रीपति महादेव है। इन सब बातों के बावजूद भी प्रस्तुत सूची शोध विषयक कार्य करने वाले विद्वानों के लिये बहुत ही उपयोगी है। अति प्रसन्नता की बात है कि आमेर ग्रन्थ भंडार के ग्रंथों की प्रशस्ति भी निकट भविष्य में प्रकाशित होगी। आशा है संपादक महोदय एतद्विषयक इतिवृत्तों को देख लेंगे। और मै यह आशा करूँगा कि वे जयपुर के राज्यान्तर्गत ज्ञानभंडारों के साथ साथ तत्र स्थित पुरा अवशेषों पर भी ध्यान दें।

इस सूची निर्माण मे सम्पादक महोदय ने जो श्रम किया है वह भुक्तभोगी ही अनुभव कर सकता है। एतदर्थ बधाई के पात्र हैं—सूची संग्रहणीय है।

—मुनि कान्तिसागर

ज्ञान धारा

जैन हिन्दू ही हैं, लेकिन किस अर्थ में ?

—वि० दा० सावरकर

मैं हिन्दू क्यों ?

इस समय जैनों के हिंदुत्व के विषय में फिर से वाद उपस्थित हुआ है। यदि 'हिन्दु' शब्द की व्याख्या पहले से ही ठीक हुई होती तो इस तरह के वाद उपस्थित नहीं होते। जबतक हिंदु शब्द की सत्य स्पष्ट, अनुत्तरणीय (Unanswerable) एवं निर्विवाद व्याख्या सामने नहीं आती तब तक यह वाद कभी मिट नहीं सकता। जब कर्मठ हिन्दू ही "मैं हिन्दू क्यों" इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर नहीं दे सकता तब 'तुम हिन्दू क्यों' यह संशय में पड़े हुए दूसरे लोगों को कैसे समझाया जा सकता है ?

हिन्दुत्व की स्पष्ट व्याख्या आजतक निश्चित न होने का मुख्य कारण यह है कि मुसलमानी धर्म या ईसाई धर्म की तरह हिन्दू धर्म भी किसी एक विशिष्ट ग्रन्थ पर या एक विशिष्ट पैगम्बर आदि के स्वरूप पर आधारित है' यह बात प्रत्येक व्यक्ति मानने लगा। दूसरी दिशाभूल यह हुई कि हिन्दू-धर्म का अर्थ 'हिंदुत्व' ही माना गया। इस शताब्दी में जो लगभग ५० के करीब व्याख्यायें हुई हैं, वे इसी गलत दृष्टिकोण से बनी हैं। उनमें से बहुत सी व्याख्यायें नाटेशन एण्ड क० द्वारा प्रकाशित किए 'Who is Hindu' इस पुस्तक में संगृहीत की गई हैं। उनको देखने से उपर्युक्त कथन की सत्यता सिद्ध होती है

हिन्दुत्व की व्याख्या—

इसलिये मैंने हिन्दुत्व की व्याख्या उपर्युक्त प्राचीन विचारों को छोड़कर उस शब्द के मूल इतिहास के अनुसार करने की कोशिश की है। जब अनेक अर्थों के कारण संक्लिष्ट हुए अर्थ का मुख्यार्थ एवं उसका मर्म निश्चित करना होता है तब उस शब्द के मूल को देखकर उसके इतिहास के अनुसार चलने

से उस शब्द का मुख्यार्थ मिल जाता है। इसी मार्ग का अवलम्बन करके 'हिन्दू' शब्द की व्युत्पत्ति, उत्पत्ति एवं इतिहास के आधार से हिन्दुत्व की नई व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। इससे केवल धार्मिक दृष्टिकोण से ही उस शब्द को देखने से प्राचीन व्याख्याओं में जो गड़बड़ी थी वह नहीं रहती है और निर्विवाद ऐतिहासिक आधार पर सुस्पष्ट सर्वसंग्राहक एवं बुद्धि-ग्राह्य व्याख्या बन जाती है। यह व्याख्या पारलौकिक श्रद्धा अदृष्ट विषयक तत्त्ववाद ग्रंथ विशेष या व्यक्ति की धार्मिक निष्ठा की वादग्रस्त नींव पर से नहीं बनी है। अतः यह बुद्धि की किसी भी कसौटी पर टिकती है।

"आसिन्धु सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारतभूमिका।
पितृभू: पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृत ॥"

[अर्थात्–सिन्धु नदी से लेकर समुद्र पर्यन्त की भारतभूमि (हिन्दभूमि) जिनकी पितृभू–पूर्वजों का स्थान और पुण्यभू अर्थात् धर्मसंस्थापक प्रवर्तक तीर्थ भाषा आदि का स्थान है वे सब हिन्दू हैं।]

सौभाग्य से यही व्याख्या स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा हंसराज, भाई परमानन्द प्रभृति आर्यसमाजी भाइयों ने अत्यन्त उत्सुकता एवं संतोष से सबसे पहले स्वीकृत की। रत्नागिरी, नासिक, पूना, नागपुर और अन्य स्थानों की हिन्दूसभाओं ने इस व्याख्या को स्वीकार किया है। हिन्दू महासभा में यही व्याख्या मानी जाती है। इस व्याख्या को समझाने के लिये प्रथमतः हिन्दू शब्द के विषय में प्रत्येक विचारक हिन्दू को निम्न विधानों को ख्याल में रखना जरूरी है।

कुछ विधान–

(१) 'हिन्दू' शब्द किसी धर्मग्रन्थ, ईश्वर प्रेषित दूत, अवतार या देवता के नाम पर से नहीं निकला है। वेद, इस ग्रन्थ पर से तो 'वेदों' का जो अनुयायी वह वैदिक यह शब्द निकला है। क्राइस्ट का जो अनुयायी वह क्राइस्ट, जिन मुनि का जो अनुयायी वह जैन, बुद्ध का जो अनुयायी वह बौद्ध, शिवपूजक वह शैव, विष्णुपूजक वह वैष्णव, इस प्रकार किसी भी धर्मग्रन्थ पंथ या व्यक्ति के साथ 'हिन्दू' शब्द धर्मदृष्टि से बंधा नहीं है, यह उसकी उत्पत्ति से स्पष्ट ज्ञात होता है। जैसे मुहम्मद पैगम्बर के कुरान के पारलौकिक संदेश को माननेवाला मुस्लिम, अद्वैत को माननेवाला अद्वैती, नानक गुरु के पारलौकिक संदेश को माननेवाले सिख, ये शब्द हैं उस प्रकार

का 'हिन्दू' शब्द नहीं हैं। 'हिन्दू' शब्द के धात्वर्थ और उपयोग से स्पष्ट होता है कि यह शब्द किसी पारलौकिक तत्त्व, मत या पंथ के अनुयायी का वाचक नहीं है। शब्दों का अर्थ निश्चित करने मे एवं उसकी व्याख्या करने के लिये धात्वर्थ का विचार और मौलिक उपयोग अत्यन्त उपयोगी होता है।

(२) 'हिन्दू' शब्द की उत्पत्ति सिंधु शब्द से हुई है। वेद में उसके अपने समय के राष्ट्र को सप्तसिंधु नाम से संबोधित किया है; उसी प्राचीन समय में मुसलमानों के उदय के पूर्व में सैकड़ों वर्षों से प्राचीन पारसी हमारे राष्ट्र को उसी सप्तसिंधु शब्द से निकले हुए 'हप्तहिंदु' नाम से संबोधित किया करते थे? प्राचीन बाबिलोनियन हमारे देश को 'सिंधु' कहते थे। उस शब्द के इस प्राचीनतम अर्थ का आज भी अवशिष्ट और प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सिंधु नदी के किनारे पर स्थित एक प्रान्त का वही प्राचीनतम नाम हमेशा रहा है और अभी भी उसे सिंधु-देश, सिंधु-राष्ट्र (सिंधु, सिंध) ऐसा कहते हैं। सिंधु शब्द का ही प्राकृतिक भाषा के ('स' का 'ह' होने के) नियमानुसार हिन्दु यह प्राकृत शब्द बना। इस शब्द के इस अत्यन्त संक्षेप में बताये गये उत्पत्ति के इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि, हिन्दू यह शब्द वेदकाल में सप्तसिंधु इस अतिप्राचीन मूलरूप से किसी भी पारलौकिक मत का यानी धर्म का निदर्शक न होकर एक देश का यानी एक विशिष्ट राष्ट्र का वाचक रहा है। इसका अर्थ सर्वस्व मूलतः धर्मनिष्ठ न होकर देशनिष्ठ या राष्ट्रनिष्ठ होता है।

एक प्राचीन उल्लेख—

भविष्य पुराण में इस विषय का एक उल्लेख जितना कौतुकपूर्ण है उतना ही स्पष्ट होने के कारण इस शब्द के वास्तविक अर्थ के एक बहुत पुराने प्रमाण के रूप में उसे यहाँ दे सकते हैं। शालिवाहन नाम के राजा के समय वर्णन के प्रसङ्ग में पुराण में लिखा है कि—

> "जित्वा शकान् दुराधर्षान् चीनतैत्तिरिदेशजान्।
> वाल्हीकान् कामरूपाश्च रोमजान् खरजान् शठान्॥
> तेषां कोशान् गृहीत्वा च दण्डयोग्यानकारयत्।
> स्थापिता तेन मर्यादा म्लेच्छार्याणां पृथक् पृथक्॥
> सिन्धुस्थानमिति प्राहुः राष्ट्रमार्यस्य चोत्तमम्।
> म्लेच्छस्थानं परं सिन्धोः कृतं तेन महात्मना॥"

[भविष्यपुराण प्रतिसर्ग पर्व अ० २

इसका मतलब यह है कि शकादिकों को जीतनेवाले उस आर्यराजा ने अपने श्रेष्ठ आर्यराष्ट्र की सिंधु यही सीमा रक्खी। सिंधु के इस पार (पूर्व) के देश का सिंधुप्रदेश और उसपार (पश्चिम) के देश का म्लेच्छ प्रदेश नाम पड़ा। इन श्लोकों से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में भी 'सिंधु' (हिन्दू) शब्द किसी धर्मविशेष का वाचक नहीं था।

जैन हिन्दू क्यों ?

(३) हिन्दू शब्द का यही राष्ट्रनिष्ठ अर्थ, जैनियों के प्राचीन साहित्य में निःसंदिग्धता से स्वीकार किया गया है। इस बात को जैन विद्वान् अवश्य जानते हैं। जैन साहित्य में हिन्दू शब्द का गौरव से उल्लेख है और हिन्दू का अर्थ है आर्य–जो हिंसा को या हीनकर्मो को बुरा मानता है, उसकी निन्दा करता है–इस तरह उसका विश्लेषण किया है।

हिन्दू शब्द को जैन, वैदिक, शाक्य, शैव, सांख्य या वैष्णव इस तरह किसी विशेष धर्मों से अथवा धर्ममतों से संबंधित नहीं किया है। जिस आर्यपद्धति को जैन बड़े अभिमान से मानते आये हैं, उसी अर्थ में 'हिन्दू' शब्द का भी उनके साहित्य में गौरव हुआ है।

(४) इन सब कारणों से यह स्पष्ट है कि 'हिन्दू' शब्द की व्याख्या किसी भी धर्मनिष्ठ अर्थ पर ही उपस्थित करना बड़ी मोटी भूल है। 'हिन्दू' शब्द मूलतः देशवाचक–राष्ट्रवाचक है। उसका मुख्य आधार 'आसिंधु-सिंधु' यही है। 'आसिंधु-सिंधु' भारतभूमि में अत्यन्त प्राचीन काल से जिनके पूर्वज परम्परा से निवास करते आये हैं, इसी राष्ट्र में प्रचलित संस्कृति घड़ा गया इतिहास, बोली गयी भाषा, अनुसरण किये गये धर्म, जिनके संस्कृति इतिहास, भाषा और धर्म हैं, वे सब हिन्दू हैं, उस राष्ट्र के घटक हैं।

यही सत्य सूत्र रूप से उक्त श्लोक में कहा है। हिन्दुत्व की ऐतिहासिक एवं सार्थ व्याख्या यही कि जिसकी जिसकी यह आसिंधु सिंधु तक भारत-भूमि, पितृ भूमि और पुण्य-भूमि है वह हिन्दू है। अर्थात् व्यक्ति के सदृश जो जो धर्म वा पंथ इस हिन्दू जाति में एवं इस हिन्दुस्तान में जन्मे यानी जिस जिस धर्म की वा पंथ की यह भारतभूमि पितृभूमि, और पुण्य-भूमि है वह प्रत्येक धर्म एवं पंथ हिंदू है, 'हिन्दू-धर्म' है।

इन विविध धर्मों में वा पंथों में सत्य कौनसा और श्रेष्ठ कौनसा इसका इस व्याख्यासे बिल्कुल संबंध नहीं है। अर्थात् 'हिन्दूधर्म' यह नाम किसी एक विशिष्ट धर्म का या पंथ का वाचक नाम या पंथ या धर्म विशेष का अभिन्न नाम नहीं है। वरन् जिन अनेक धर्मों की एवं पंथों

ी यह भारतभूमि, पितृभूमि एवं पुण्यभूमि है, उन सभी को सम्मिलित]
रनेवाले धर्मसंघ का 'हिन्दुधर्म' यह नाम है। हिन्दुत्व की यह व्याख्या
मारे जैन बंधुओं के पक्ष में भी कैसी ठीक मिलती है, देखिए--

ेन भारतवासी हैं-

कोई भी निष्ठावंत भारतीय जैन इस बात से कभी भी इन्कार नहीं
रेगा कि यह भारतभूमि उसकी मातृभूमि है। क्योंकि अत्यन्त प्राचीनतम
दकाल से जो आर्य इस भूमि पर रहते आये जैन उन्हीं के परपरागत
शज है। जिस अभिमान से वैदिक धर्मानुयायी अपने को आर्य कहते आये
उसी अभिमान से जैनधर्मानुयायी अपने को अखंडित, परंपरागत आर्य
कहते आये है। वैदिक और जैन एक ही आर्यवंश की संतान है। भगवान्
महावीर, भगवान् बुद्ध के सदृश एक गणतंत्रशाली सुविख्यात क्षत्रिय जाति
मे जन्मे थे। अनेक बड़े बड़े ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जैनधर्म की दीक्षा लेकर
जनों के बड़े बड़े प्रचारक साधु, श्रावक, श्रमण आदि हुए है। दिगम्बर हो
या श्वेताम्बर, भारतीय जैनों की मूल पितृभूमि भारत ही है. चीन
अरेबिया, रूस नहीं। संसार का अन्य कोई भी देश इनकी पितृभूमि का
पितृलोक का स्थान नहीं पा सकता। यह वस्तुस्थिति निर्विवाद है, यह
स्वयंसिद्ध इतिहास है।

इतने ही निर्विवाद रूप से यह भी सिद्ध है कि जैनधर्म के मूलाधार
तीर्थंकरादि धर्मधुरंधर महापुरुष, शास्ता, धर्मग्रन्थ, तीर्थ, क्षेत्र आदि इसी
भारत भूमि मे ही उदित हुए है, एवं अपने अस्तित्व से इसी को पावन
करते आये है। यही भारतभूमि जैनों की भी पुण्यभूमि (Holy Land) है।
मुसलमानों की धर्मभूमि जैसी अरेबिया, ज्यू और ईसाईओ की पुण्यभूमि
जैसी पलेस्टाइन, जेरुसलेम, पारसियों की जैसी पर्शिया, वैसे ही जैनों की
धर्मभूमि, पुण्यभूमि यह भारतभूमि है। इसी भारतीय जाति मे जैनधर्म
पैदा हुआ और उसका विकास हुआ।

अर्थात् जिसकी जिसकी यह भारतभू पितृभू एवं पुण्यभू है वह वह
हिंदू, इस व्याख्या के अनुसार भारतीय जैन संपूर्णतः हिन्दू है यह निश्चित
है। किसी भी जैन बंधु को इस व्याख्या के अनुसार 'मै हिन्दू हूँ' ऐसा
संतोष एवं अभिमान से कहने मे संकोच नही होना चाहिए। आप
किसी भी जैन बंधु को पूछिए कि उसकी पितृभूमि कौन है ? तो वह
यह अवश्य कहेगा कि उसकी पितृभूमि यह भारतभूमि है। आप किसी भी
जैनबंधु को पूछिए कि उसकी पुण्यभू, धर्मभू कौन है ? तो वह कहेगा कि

यही भारतभूमि। अर्थात् इन उपरोक्त दो बातों से ही जो स्पष्ट होती है वह हिन्दुत्व की व्याख्या उस जैन बंधु पर बिलकुल लगती है और इसी अर्थ में जैन बंधु निर्विवाद हिन्दू है।

हिन्दू धर्म की ही शाखा–

इन दो बन्धनों के अलावा तीसरा बन्धन यह व्याख्या उपस्थित नहीं करती है। जैनधर्म के स्वातन्त्र्य में इससे कोई भी बाधा नहीं है। वैदिकधर्म, जैनधर्म, बुद्धधर्म स्वतंत्र हों या परस्पर की शाखा हों; अस्तिवादी हों या नास्तिवादी हों, इस किसी भी प्रकार के परलोकविषयक तत्त्वज्ञान-पर या धर्मपर हिन्दुत्व की यह व्याख्या मूल ही में उपस्थित नही है। इसीलिए इस व्याख्या की दृष्टि से अपने को हिन्दू कह लेने मात्र से अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता मे या गौरव में या श्रेष्ठता में थोड़ी-सी न्यूनता आने का भय जैन बंधुओं को मूल मे ही रखने की आवश्यकता नही है। जैनों को ही क्यों, परन्तु वैदिक, बुद्ध , सिख, लिंगायतादि किसी भी भारतीय धर्म या पंथ को इस तरह का भय इस व्याख्या के कारण नही रहता। यह व्याख्या इन धर्मों के विषय में यह निर्विवाद प्रत्यक्ष एवं सत्य बात स्पष्ट करती है कि चूँकि सारे धर्म वा पंथ इस भारतीय जाति मे एवं इस भारतभू में ही पैदा हुए है और विकसित हुए हैं इसी कारण उन सबकी यही भारतभूमि पितृभूमि एवं पुण्यभूमि है। इस बात को एक शुद्ध ऐतिहासिक सत्य (A fact) होने के कारण वैदिक, अवैदिक, सिख, बौद्ध या जैन कोई भी हिन्दू साभिमान स्वीकार करके स्वयं मानेंगे और सगर्व कहेंगे कि–'यह भारतभूमि हमारे जैनों की या हमारे वैदिकों की पितृभू एवं पुण्यभू है। इसमें संशय नहीं।

लेकिन फिर जैन बंधुओं को इस विषय में संशय क्यों उत्पन्न हुआ? जब बहुत से जैन बंधु साभिमान अपने को हिन्दू कहते है तब दूसरे कुछ जैन लोग अपने को हिन्दू क्यों नहीं कहते? इसका विचार करना चाहिए। अपने को हिन्दू नहीं माननेवाले जैन बंधुओं के आक्षेपों का समाधान उपरोक्त व्याख्या के अनुसार ही केवल जैन हिन्दू है, यह कहकर करने पर और हिन्दुत्व के उपरोक्त सच्चे अर्थके अनुसार 'हिन्दू' शब्द की देशनिष्ठ और राष्ट्रनिष्ठ व्याख्या करने पर भी जिन आक्षेपों के कारण वे लोग अपने को हिन्दू कहने में डरते है वे आक्षेप मूलतः लंगड़े है। उनका मुख्य आक्षेप है–'जैनधर्म हिंदूधर्म से मूल से ही स्वतन्त्र है, वह हिन्दुधर्म की शाखा नहीं है, अतः जैन हिन्दू नहीं है।'

आक्षेपों का निरसन–

उनका यह आक्षेप वस्तुतः वैदिक धर्म पर है। उनका कहना है कि जैनधर्म वैदिकधर्म की शाखा न होकर वह एक स्वतन्त्र धर्म है। उनका यह कहना खरा मान भी लिया जाय तो भी उससे केवल इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि जैन वैदिक नहीं है। परन्तु इस कारण उनके हिन्दू होने में कोई बाधा नहीं है, यह हिन्दू शब्द के सत्यार्थ से स्पष्ट है। 'जिन' और 'वेद' इन शब्दों से बने जैन और वैदिक ये दोनों शब्द जितने निर्विवादता से मूलतः धर्मनिष्ठ, एक पारलौकिक एवं आध्यात्मिक तत्त्व पद्धति के या धर्मग्रन्थ के द्योतक हैं उतने ही निर्विवादता से हिन्दू शब्द उस प्रकार किसी भी धर्म वाचक शब्द से नहीं बना है। अपितु वह मूलतः और मुख्यतः देशनिष्ठ और राष्ट्रनिष्ठ है। 'जो वेद का अनुयायी वह हिंदु' ऐसा हिन्दु शब्द का पूरा अर्थ नहीं है। परन्तु हिन्दु शब्द का वैदिक इस शब्द के स्थान में गलती से उपयोग होने के कारण ही हमारे कुछ जैन बंधुओं को इस शब्द के त्याग करने की इच्छा होती है। परन्तु उपरोक्त हिन्दू शब्द की व्याख्या के ऊपर जिसे हिन्दूमहासभा ने भी स्वीकृत किया है, यह आक्षेप नहीं आ सकता है। अतः इस व्याख्या के अनुसार ये दूसरे पक्ष के लोग भी अपने को हिन्दू मानेंगे? क्योंकि व्याख्या के कारण वैदिक धर्म से जैनधर्म का स्वातन्त्र्य संरक्षित रखने में उनको किसी प्रकार की पाबन्दी नहीं है। कौन सा धर्म स्वतन्त्र है या शाखा है यह उनका विषय है ही नहीं। यह व्याख्या इतना ही देखेगी कि धर्म स्वतन्त्र हो या किसी धर्म की शाखा हो, हमारी इस भारतीय जाति में जन्म लेने के कारण उसकी पितृभूमि एवं पुण्य-भूमि आसिंधुसिंधु भारतभूमि ही है, या नहीं?

गलत व्याख्या के कारण नासमझी हो गई–

'जो वेद को प्रमाण मानता है वही हिन्दू' ऐसा समझने की भूल हम सब से हो गई। इसी भूल के कारण हिन्दुराष्ट्र में के अवैदिक–बुद्ध, सिख, जैन आदि के मन में जो कलुषता उत्पन्न हुई है उसका दोष उनका अकेले का नहीं है। 'जो वैदिक वही हिंदू' ऐसा हम जब तक भूल से कहते आये, तब तक जिनको वेदप्रामाण्य मान्य नहीं था, जिनकी निष्ठा जैन, बौद्ध प्रभृति धर्म स्वतन्त्र धर्म हैं' ऐसी थी, उनको वैदिक के अर्थ में ही उपयोग किए गये हिन्दू शब्द के त्याग करने की स्वभावतः इच्छा हुई। हिन्दुराष्ट्र में के बहुसंख्यक लोग आज भी 'श्रुति-स्मृति पुराणोक्त सनातन धर्म के अनु-यायी होने के कारण बहुसंख्या के नाम पर उस उस समाज को स्थूल लक्षण से

संबोधते जाते हैं, इसमें किसी ने भी हेतुपुरस्सर, किसी भी दृष्ट हेतु से वैदिक अर्थ में हिन्दू शब्द का उपयोग किया ऐसी बात नहीं है तथापि अत्यन्त विशाल, विविधार्थक एवं बहुसंग्राहक शब्द का बिनचूक अर्थ निश्चित कर उसकी सुनिश्चित व्याख्या करने का प्रयत्न करना कठिन था। पूर्वाचार्यों ने दिशा भूल से अनेक व्याख्या करके उस शब्द को तोड़ मोड़ कर उसको निश्चित अर्थवाला बनाने का प्रयत्न तो किया। उनके उस प्रयत्न के परिणाम के प्रकाश के कारण ही दिशाभूल क्यों हुई और वास्तविक दिशा कौन सी यह स्पष्ट हो सका एवं हिन्दू शब्द की स्पष्ट एवं बहुतांशी निर्णायक व्याख्या प्राप्त हुई। अब इस व्याख्या के अनुसार वैदिक या सनातनी बंधु ही केवल हिन्दू नहीं यह सिद्ध हुआ है तब सबको गत भूलों को छोड़कर इस पितृपूज्य हिन्दुत्व के ध्वजा के नीचे इकट्ठा होना उचित है। 'श्रुतिस्मृति पुराणोक्त ही केवल हिन्दू' इस गलत व्याख्या के कारण तथा 'हिन्दू शब्द परकीय है' इस भ्रम के कारण ही एकबार वैदिक धर्म के कट्टर अभिमानी आर्यसमाजी भाईयों ने भी हिन्दू शब्द स्वीकार नहीं किया था। परन्तु इस व्याख्या के कारण एवं वह शब्द वैदिक शब्दोत्पन्न नहीं है इस संशोधन के कारण वह शब्द आर्यसमाजियों के द्वारा स्वीकृत हुआ है। उसी प्रकार इस व्याख्या के अनुसार हमारे जैन भाईओ को भी उस अर्थ की अपेक्षा उस शब्द को अंगीकार करना चाहिए।

कुछ फुटकर आक्षेप–

इससे 'जैनधर्म' वैदिक धर्म की शाखा न होकर वह एक स्वतन्त्र धर्म है; अतः जैन वैदिक नहीं है' केवल यही सिद्ध होता है। हिन्दू शब्द का इस आक्षेप से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस उपरोक्त कथन से हिन्दू कह लेने मे जो जैन भाईओं का आक्षेप है उसका जिस तरह समाधान हो सकता है, उसी तरह शेष फुटकर आक्षेपों का भी समाधान हो सकता है। उदाहरणार्थ उनका यह आक्षेप है कि "प्राचीन इतिहास में जैन और हिन्दुओं के बीचमें झगड़े हुए है, अतः जैन अपने को हिन्दू कैसे कहेंगे?" इस आक्षेप में भी हिन्दू शब्द को वैदिक अर्थ के उपयोग में लाने की भूल है। उस आक्षेप को इस तरह कहना चाहिए–'जैन और वैदिकों के बीच पीछे और आज झगड़े होते है, अतः जैन अपने को वैदिक कैसे कहेंगे?' हिन्दू शब्द के उपरोक्त मूल एवं निश्चित अर्थ मे प्रयुक्त उस शब्द को यह आक्षेप नहीं लगता है। फिर हमको यह सोचना चाहिए कि धार्मिक झगड़े धर्मतत्त्व नहीं होते है। यदि उनको धर्मतत्त्व मानने लगें तो कोई भी धर्म वा पंथ अखंड नहीं हो सकता। वैदिक और जैनों में जिस तरह झगड़े

हुए हैं उसी तरह वैदिक वैदिक में भी झगड़े हुए है। शैव और वैष्णवों के, सनातनी और आर्यसमाजियों के झगड़े हुए है। तुकाराम का छल मंबाजी बुवा ने किया इसलिए क्या उनमें से किसी ने 'हमारे प्रतिपक्षी वैदिक हैं अतः मैं वैदिक नहीं हूँ' ऐसा कहा है? जैनों में भी झगड़े क्या कम हुए है? दिगंबर और श्वेताम्बर, यह जैन राजकुल और वह जैन राजकुल, यह जैन जाति श्रेष्ठ और या वह? इस प्रकार के झगड़े हो रहे थे; इसलिए क्या दिगंबर जैन हमारे प्रतिपक्षी श्वेताम्बर झगड़ते है अतः हम जैन नहीं है ऐसा कहेंगे? झगड़ों के विषय मे कहें तो हमारे हिन्दू राष्ट्र के वैदिक, बौद्ध, जैन, सिख, लिंगायत, आर्य, ब्रह्मसमाजी, सनातनी, सुधारक प्रभृति उपांगों के झगड़े संसार के किसी भी अन्य धर्मों के आपस के झगड़ों से तुलनात्मक दृष्टि से, सौम्य, कम और अपवादमय हैं यह इतिहास मुक्तकंठ से उद्घोषित करता है?

अन्य धर्मों में भी इसी प्रकार–

मुसलमानों में सुन्नी की शियों ने, खलीफो की खलीफों ने, बहावीयों को बिन बहावीयो के द्वारा की गईं कतले, दिए हुए शाप-प्रतिशाप, पीढ़ी दर पीढ़ी किये गये छल एवं द्वेष देखिए! लेकिन सुन्नी वा शिया, वा बहावी कोई भी, अपना प्रतिपक्षी मुसलमान है अतः मैं मुसलमान नहीं ऐसा कहता है? ईसाइयों मे केवल तुम प्रोटेस्टेंट, मैं कैथोलिक इस प्रश्न पर ही सिर कटते थे। एक समय पोप ने इसीलिए प्रोटेस्टेंट पंथ के संपूर्ण नेदरलेण्ड को प्राणान्त की सजा दे दी। पचास पचास लाख लोगों को एकसाथ 'प्राटेस्टेन्ट' इस एक नाम से कहकर शिरच्छेद की सजा दे दी! लेकिन क्या प्रोटेस्टेंट या कैथोलिकोंने वह ईसाई इसलिए हम ईसाई नहीं ऐसा कहा है? भाई भाई मे भारतीय युद्ध थे, इसलिए क्या उस सहोदर भाई के मा-बाप मेरे मा-बाप नहीं ऐसा दूसरा भाई कहेगा? ये सारे आक्षेप हिन्दू शब्द को वैदिक वा सनातनी इस एक ही उपांगसे लगाने की भूल से हुए हैं। यह भूल सुधार ली जाय तो ये आक्षेप मूल मे ही कैसे निरर्थक है यह उपरोक्त दिग्दर्शक चर्चा से हमारे जैन भाईओं को ही नहीं वरन् वैदिक, लिंगायत, बुद्ध, सिख प्रभृति सभी धर्मियों की समझ में आ जायगा ऐसी हमे आशा है।

हम सगे जाति-भाई हैं–

हम सब की पितृभूमि यही भारतमाता है। हम सबकी पितृभाषा एवं मातृभाषा और धर्मभाषा भी यही एक संस्कृत या प्राकृत है। हमारे सब धर्मसंस्थापक, ईशप्रेषित अवतार और आचार्य, वशिष्ठ, व्यास, बुद्ध, महावीर,

शंकर, बसव, दयानन्द, हमारे इस हिन्दू जाति के सामाजिक पूर्वज हैं। हमारे इस भारतभूमि में वे उत्पन्न हुए हैं, उनसे हम पैदा हुए, उस जाति के हम सब औरस संतति हैं। प्राचीन काल में हम सबके सामयिक पूर्वजों मे आर्यों आर्यों में ही नहीं किन्तु आर्य-अनार्य नागादि कुल में भी जब अनुलोम-प्रतिलोम विवाह सतत हुए थे और आज भी सिख और वैदिक वैदिक और जैन, जैन और आर्यों में शिष्टाचार से विवाह होते है, तब हम सब एक ही रक्तबीज के सगे जात भाई हैं। एकजाति, एकजीवी हैं। हमारा इतिहास वैदिक काल से सामयिक हैं। यवन, हूण, शक, बर्बर आदि प्राचीन और अर्वाचीन म्लेच्छों के आक्रमणों के संकट सबको समान थे। वैदिकों का जो परशत्रु वही जैनों का, जो जैनों का वही सिखों का। उन सामयिक शत्रुओं से और परकीय आक्रमणकारियों से जिन गंभीर युद्धों को कर उनको हरा दिया, वे राष्ट्रीय महायुद्ध भी हमने एक हिंदू ध्वजा के नीचे ही किये और आगे भी करेंगे।

उपसंहार–

परन्तु महामंत्र के सदृश हिन्दू शब्द का बिलकुल दुरुपयोग और दुरुच्चार नहीं होने के लिए हम सबको प्रयत्न करना चाहिए। हिन्दू शब्द का आजतक हर एक ने अपनी इच्छा के अनुसार अर्थ लेकर दुरुपयोग करने के कारण ही वैदिक, जैन, सिख आदि में अनावश्यक मनोमालिन्य उत्पन्न हुआ। इस आपत्ति से दूर रहने के लिए जिन दो बातों को करना चाहिए वे निम्न प्रकार हैं :—

(१) हिन्दुत्व की व्याख्या सरकार द्वारा लिखा लेना–

व्याख्या का अर्थ है अखंड में खंड करना। त्रिकोण, चौकोन की गणितीय व्याख्या भी सीमा में शंकाकुल होती है। फिर समाज की या धर्म की कोई भी व्याख्या अपने सीमाप्रदेश में कुछ अंश मे विवादास्पद रहेगी ही। लेकिन अन्य व्याख्याओं में से अधिक सर्वसंग्राहक और किसी भी धर्म स्वातन्त्र्य में वा धर्मतत्त्व में बाधा उपस्थित न करते हुए केवल ऐहिक प्रत्यक्षावगम्य और ऐतिहासिक लक्षणों पर आधारित हिन्दुत्व की उपरोक्त 'आसिंधु सिंधु पर्यन्ता' यह व्याख्या हम सबको याद रखना चाहिए और सरकार द्वारा लिखा लेना चाहिए, इससे सरकार को भी हिन्दू कौन यह निश्चित करने में स्वच्छन्दता नहीं रहेगी, और आगामी जन गणना में 'जिसकी जिसकी यह भारतभूमि, पितृभू एवं पुण्यभूमि है, वह 'हिन्दू' इस व्याख्या के अनुसार भारतीय–वैदिक, जैन, आर्य, सिख, लिंगायत, बौद्ध प्रभृति

अपने यच्च यावत् हिन्दुभाई उनके उनके धर्म स्वतन्त्र कहकर भी हिन्दू लिखने के लिए सरकार को मजबूर किया जा सकेगा। हर एक को अपना धर्म ऐसा कहना चाहिए—वैदिक हिन्दु, जैन हिन्दु, सिख हिन्दु, बौद्ध हिन्दू, लिंगायत हिन्दु आदि इससे अपना अपना वैदिक या जैन या बौद्ध, धर्म स्वतंत्र रखने में किसी भी प्रकार की पाबंदी नही रहेगी, और हिन्दूराष्ट्र में से पृथक् जाने का किसी भी राष्ट्रघातक, संस्कृतिघातक अतः आत्मघातक कृत्य करने की नौबत नहीं आयेगी।

(२) हिन्दू शब्द उपयोग में लाना सीखिए–

हिन्दू शब्द यह एक 'सनातन' धर्म के वा 'वैदिक' धर्म के अनुयायियों को ही केवल लगाने की आदत छोड़नी चाहिए। 'वैदिक और जैन' ऐसा कहना चाहिए; 'हिन्दू और जैन' ऐसा कहना गलत है। जो हिन्दू महासभा वा हिंदूसंघटक वैदिक–जैन आदि सभी हिन्दूभाईयों को एकत्रित करने के लिए प्रयत्न करते है, उनके भाषणों में और लेखों मे यह हास्यास्पद परन्तु अत्यन्त हानिकारक वदतोव्याघात हमेशा होता है। इच्छा मुड़ गयी तो जीभ मुड़ती नहीं। बुद्ध, सिख, जैन ये हिन्दू ही है यह सिद्ध करनेवाले लेख मे 'जैन और हिन्दू' जैनों की संख्या इतनी है और हिन्दू की इतनी' 'सिक्खों के नायकों को हिन्दू के नायकों से मतैक्य करना चाहिए' ऐसे वाक्य बिना समझे उपयोग मे लाए जाते है। इससे जो वैदिक, वा सनातनी वही हिन्दू ऐसा दुष्ट अर्थ उस वाक्य से निकलता है और हिन्दू यह शब्द वैदिक, जैन, सिख आदि अपने यच्च यावत् हिन्दू भाईयों का समाने वाला है यह मुख्य विधान लूला पड़ जाता है। अतः अपने को कभी भी 'हिन्दू और जैन हिन्दू और सिख, हिन्दू और आर्यसमाजी, इस तरह अत्यन्त आत्मघातक प्रयोग नहीं करना चाहिए। वैदिक और सिख, वैदिक और जैन, सनातनी और आर्यसमाजी, ऐसे शुद्ध प्रयोग कर हिन्दू यह शब्द अपने अखिल हिन्दू-राष्ट्र के सामुदायिक राष्ट्र के उल्लेख के लिये उपयोग मे लाना चाहिए।

['केसरी' २३ और २६ अगस्त १९४९]

अनु०—नेमिकुमार गोविन्दराव जैन

—०—०—

एक महत्त्वपूर्ण पत्र

[जैन हिन्दू समाज के अंग हैं]

—पं० सुखलाल संघवं

जैन समाज-हिन्दू समाज

हिन्दू समाज केवल वैदिक समाज ही नहीं है। उसका वास्तविक अर्थ अतिविशाल है। हिन्दुस्तान में जिनके मूलशास्त्रों का प्रणयन हुआ, मूल पुरुष पैदा हुए, जिनके तीर्थस्थान भी यहीं हैं उन सबका समावेश हिन्दु समाज में होता है। जैन समाज के छोटे बड़े संघों के बीज पूर्ववैदिक कालीन हैं, संभवतः पूर्वद्रविड़ियन भी हैं। चाहे जो हो, फिर भी ये अल्प-संख्यक होने के बावजूद भी वैदिकों से विशेषकर ब्राह्मणों से अर्वाचीन तो अवश्य ही नहीं हैं। ऐसी स्थिति मे जैन समाज हिन्दु समाज नही है तो क्या है ? जैन के अतिरिक्त और समाज भी हिन्दुसमाज मे गिने जाते हैं और उनमे से कोई कोई बहुमत मे भी है। केवल इतने मात्र से ही जैन समाज हिन्दुसमाज का अंग कैसे मिट सकता है। हिन्दु समाज यदि शरीर है तो उसके अंगों मे एक अंग जैन समाज भी है।

खानपान, व्यापार और कभी कभी विवाह आदि भी दोनों मे परस्पर समानभाव से संबद्ध हैं। अतः सामाजिक दृष्टि से 'जैन समाज हिन्दुसमाज से पृथक् है' यह कहना तो उसीके लिए संभव है जो हिन्दु समाज का वैदिक समाज यह संकुचित अर्थ मानता हो। निःसन्देह व्यवहार मे बहुत से लोग हिन्दुसमाज का 'वैदिक समाज' अर्थ करते हैं परन्तु यह अर्थ भ्रान्त है। जैसे कि बहुत से लोग सामान्य जैन शब्द का व्यवहार दिगम्बर परम्परा के रूप मे करते हैं और विशेष के लिये श्वेताम्बर जैन आदि की योजना करते हैं। जैसे कि उपर्युक्त कथन सत्य नहीं है वैसे ही 'हिन्दु समाज इस सामान्य शब्द को केवल वैदिक समाज के अर्थ में व्यवहार करना या समझना। सत्यदिशा की प्रतीति होने पर भ्रान्ति और असत्य का परिमार्जन कर लेना अत्यावश्यक है। 'जैन समाज हिन्दुसमाज से पृथक् है' इस विचार का उद्‌गम भय से हुआ है। जब हिन्दुसमाज को लागू होने वाले नये कानून रूढ़िचुस्त जैनों को रूढ़िविरुद्ध मालूम होते हैं तब उस रूढिधर्म को बचाने के लिए वे धर्म और समाज का एकीकरण कर अपने समाज को नये कानूनों के चंगुल से छुड़ाने के लिये इस प्रकार की भिन्नता के विचार करने लगते हैं। धार्मिक द्रव्य और हरिजन मन्दिरप्रवेश जैसे कानूनों में से निकल भागने

की प्रवृत्ति से ही इस समय यह जैन और हिन्दु के भिन्नत्व की भावना उत्पन्न हुई है। यदि धार्मिक द्रव्य और हरिजन मन्दिरप्रवेश इन दोनों मामलों में जैनी खुद उदार दृष्टिबिन्दु से काम लें और अपने समाज को आगे बढ़ावें तो इस प्रकार के भयमूलक भिन्नत्व का प्रश्न खड़ा ही नहीं होता। ऐसी दशा में जब जब हिन्दुओं को सर्वांगीण लाभकारी कानून बनेंगे तब तब जैनियों को भी अपने समाज के लिए वैसे ही लाभकारी कानून बनवाने का आन्दोलन करना पड़ेगा। मान लीजिये अफ्रीका आदि देशों में यह कानून बने कि 'हिन्दुओं को अमुक अधिकार मिलेंगे' या अमेरिका में 'अमुक हिन्दुओं को अमुक छूट मिलेगी' उस समय क्या जैन अपने लाभ और छूट के लिए वहाँ पृथक् प्रयत्न करेंगे?

जो अस्पृश्यता का भूत मूलतः ब्राह्मण तथा अन्य अन्धविश्वासी लोगों में था और जिसे जैनों ने भी स्वीकार किया था। अब जब हिन्दुओं की ओर से अस्पृश्यता के निवारणार्थ सुधार आता है तब उनसे अपने को जुदा कहना क्या जैन समाज का वैधानिक स्वरूप हो सकता है? यह तो चल सकता है हम अपने को 'जैनहिन्दु' कहें पर 'हम हिन्दु ही नहीं हैं' यह कभी नहीं चल सकता।

जैनधर्म-हिन्दूधर्म–

मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ कि प्रायः लोग बहुसंख्यक होने के कारण वैदिक धर्म को ही हिन्दु धर्म का पर्यायवाची समझते हैं और व्यवहार में लाते हैं। परन्तु वस्तुतः सत्य अर्थ में केवल वैदिक धर्म ही हिन्दु धर्म नहीं है। हिन्दु धर्म में वैदिक अवैदिक आदि अनेक धर्म शामिल हैं, उनमें जैनधर्म भी है। अतः यदि मैं जैनधर्म को वैदिक मानने या मनवाने का अतार्किक और इतिहास विरुद्ध विचार करूं तो मानना चाहिए कि मेरा माथा ठीक नहीं है। वैदिक और अवैदिक या ब्राह्मण और अब्राह्मण के बीच में धार्मिक दृष्टि से पूर्वकाल में ही पर्याप्त अन्तर रहा है और आज भी ऐसा ही है। जिस प्रकार इस समय यह कोरी कल्पना है कि मुसलमान अपना मजहबीपन भूलकर इस भारतभूमि में सुवर्णयुग लायेंगे उसी तरह यह भी एक स्वप्न ही है कि वैदिक और अवैदिकों में से धार्मिक संकुचितता और माना जाने वाला विरोध नष्ट होगा तथा एक सामान्य युग आयगा। अतः मैं जैन और वैदिकों को पृथक् मानकर ही विचार करता हूँ। वैदिकों या ब्राह्मणों के प्रभाव के नीचे खासकर खोटे प्रभाव के नीचे नहीं जाना यह जैनियों का मूल मुद्रालेख है। अतः जहाँ वैदिक धर्म के मुख्य पुरस्कर्ता ब्राह्मणों की धर्ममर्यादा या विचारमर्यादा संकुचित और भ्रान्त हो वहाँ कभी भी सच्चे जैनधर्मचिन्तक और अनुयायी मध्यस्थ भाव से चुप नहीं बैठ सकते, वे गान्धी जी की तरह उन विचारों का प्राणपण से विरोध ही करेंगे।

उनमें अल्पसंख्यक होने पर बहुमत से जूझने का बल आना ही चाहिए।

दक्षिण या अन्य प्रान्त में ब्राह्मण और अब्राह्मण का संघर्ष है। यद्यपि यह बात सत्य है कि बहुत सी बातों में अब्राह्मण—जिनमें जैन भी शामिल हैं—ब्राह्मणों द्वारा किये गये अनेक अन्यायों को भी सहते हैं। फिर भी जब एक सामान्य भूमिका पर बैठना हो तो प्रतिरोध की शक्ति रखते हुए भी उनके साथ बैठने में न तो संकोच ही होना चाहिये और न भय ही। 'हिन्दूधर्म' शब्द की सामान्य भूमिका में जैन बैठें और अपने धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के प्रति बुद्धिपूर्वक वफादार रहें तो वे इससे वैदिकों की संकुचित मनोवृत्ति का भी सुधार करेंगे और अपने वास्तविक उदारस्वरूप को प्रकट करने का मौका भी नहीं जाने देंगे। 'जैनधर्म हिन्दूधर्म से पृथक् है' ऐसा मान भी ले और कानून में लिखवा भी दें तो भी इतने मात्र से वैदिक धर्म के प्रभाव से नहीं बच सकते। इसका इतिहास साक्षी है। 'जैनधर्म वैदिक धर्म नहीं है वह ब्राह्मणधर्म नहीं है' यह हम स्वयं मानते हैं और ब्राह्मणों से भी यही कहते हैं कि 'जैनधर्म अवैदिक है' तो भी क्या जैनधर्म कुछ बातों में वैदिकों के प्रभाव से मुक्त है? एक बार निश्चय और व्यवहार दृष्टि से मुख्य मुख्य आचार और विचार के मुद्दों की सूची बनाइए तब प्रत्येक मुद्दे को ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि हम कहाँ हैं? अतः ब्राह्मणों और वैदिकों के मिथ्या प्रभाव से बचने का प्रश्न मात्र 'हम हिन्दू नहीं हैं' ऐसा मानने या मनवाने से हल नहीं हो सकता।

एक तरफ तो प्रत्येक सम्प्रदाय के रूढ़िचुस्त जैन ब्राह्मणों को बहुत मानते जानते हैं, ब्राह्मणों को गुरू मानकर भी चलते हैं और दूसरी ओर वे 'हिन्दूधर्म से हम पृथक् हैं' यह भावना भी रखते हैं। यह केवल दम्भ, भय और मूर्खता के सिवाय और क्या हो सकता है? इसलिए इन तथोक्त गुरुओं की सारी बातें गले नहीं उतरती। पर अनेक असत्य बाते और अनेक निरर्थक रूढ़वादियाँ उनको गुरु मानने के कारण जीवन में आ ही जाती हैं। यह वस्तुस्थिति कट्टर से कट्टर साम्प्रदायिक जैन में भी दृष्टिगोचर होती है। अतः जैनधर्म वैदिक अर्थात् ब्राह्मणधर्म से बिलकुल पृथक् है यह खुशी से कहा जा सकता है। क्योंकि यह वस्तु तो जैनधर्म के मूलविधान में ही है। परन्तु जो हिन्दूधर्म शब्द का अज्ञानवश 'वैदिकधर्म' यह अर्थ किया जाता है उस अज्ञान का बोझ ढोकर स्वयं अज्ञानी मत बनो यही मेरा वक्तव्य है। मैं तो यह स्पष्ट कहता हूँ कि उनके एक भी सद्गुण का प्रथम सम्मान करके फिर उनके हजार भी दोषों का स्पष्ट रूप से विरोध किया जाय। इसी तरह अपने असत् अंशों को पहिले दूर करके ही दूसरों के सामने अपने धर्म के सत् अंशों को कहने की बात कहता हूँ।

जिस जिस धर्म के जो जो अनुयायी व्यक्ति प्रथम अपने दोषों को दूर करके ही अपने धर्म का सच्चा रहस्य उपस्थित करेंगे वे ही विजयी होंगे। भ० महावीर ने भी अपने जीवन में यही किया है। भूल तो हम लोगों से हुई है। इसलिए हमने अपना सब कुछ खोया है। मेरा इस समस्त चर्चा का उद्देश्य केवल इतना ही है कि हम स्वयं आन्तर और बाह्य तेज से पुष्ट हों और दूसरों के लिए अनुकरणीय सामर्थ्य प्राप्त करें। इसके बिना केवल हिन्दूधर्म से अपने को जुदा कहने मात्र से हमारी मुख्य समस्या हल नहीं हो सकती। धर्म के ऐसे कौन धुरंधर त्यागी पंडित धनवान् और विचारक हैं जो विद्या और व्यवहार में ब्राह्मणों का अनुसरण न करते हों? जब ब्राह्मणों ने एक वर्ग को अस्पृश्य माना तो जैनों ने भी उनकी देखादेखी अस्पृश्यता मानने का अनुसरण किया ही।

प्राचीनकाल में ब्राह्मण अपने को आर्य कहते थे, अपने धर्म को आर्य-धर्म और देश को आर्यावर्त्त। जैन और बौद्धों ने अपने धर्म को आर्य क्यों कहा? अपने आचार्य को अज्ज (आर्य) क्यो कहा? अपने धर्म को २५॥ आर्य देशों मे क्यों सीमित रखा? यह तो दूसरे शब्दो मे वैदिक धर्म का ही अपनाना हुआ। जो धर्म म्लेच्छों को आर्य बनाने के लिए निकला था उसने म्लेच्छों और अपने में ऐसा अन्तर खड़ा किया कि वह इस जन्म मे तो म्लेच्छो को अपना नहीं सकता। यदि जैनधर्म को इसी तरह एकांगी बना रहना है और ऐसी ही विच्छेदक परम्पराओं का समर्थन करना है तो वह अपने को वैदिक धर्म से पृथक् कैसे रख सकता है?

यह सब कहने के बाद मे एक चेतावनी देना कर्तव्य समझता हूँ कि हिन्दु महासभा या ऐसे ही बहुतसी साम्प्रदायिक सस्थाएं जो 'हिन्दू' शब्द के नाम पर अधिक से अधिक लोगों को अपने संकुचित बाड़े मे लेकर यथेच्छ व्यवहार करना चाहती है मैं किसी भी जैन को उन सस्थाओ मे सक्रिय सहयोग देने की बात तो दूर रही पर साधारण सदस्य होने तक की सलाह भी नहीं दे सकता, क्योंकि ऐसी संस्थाएँ पहिले से ही भोले, अज्ञानी और वणिग्वृत्ति वाले लोगों से मदद लेकर अन्त मे ब्राह्मणों के हित मे ब्राह्मणों द्वारा ही संचालित होती है। एक बार ब्राह्मणातिरिक्त अन्य वर्ग को हिन्दुत्व का भूत लगा और उसके अभिमान का पोषण हुआ कि उसका लाभ उस भूत को लगानेवाला विद्याजीवी वर्ग ही लेता है। इसीलिए जैनों को यह स्पष्ट कह देना चाहिये कि हम हिन्दू समाज का एक अंग होते हुए भी ऐसी संस्थाओं की साम्प्रदायिक नीति मे विश्वास नही रखते किन्तु उसका विरोध करते है। हिन्दुसभा जैसी संस्थाओ मे पहिले से ही ब्राह्मण

११

और खासकर साम्प्रदायिक ब्राह्मण ही नेता रहे हैं इसलिए मैं जैनधर्म के संबंध मे यह जोर देकर कहता हूँ कि जैनी अपने को हिन्दू का एक अंग गिन और जैनधर्म को विशाल हिन्दुधर्म के अंग या आर्यधर्म के रूप में भी मान ले पर उन्हे यह विवेक तो सदैव रखना ही होगा कि कहाँ अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व संभालना है और उसे उद्दीप्त करना है।

इस समय सभी रूढ़िचुस्त जैन धार्मिक प्रश्नों के संबंध मे जिन जिन बातों का समर्थन जैनधर्म के नाम पर कर रहे है वे प्रकारान्तर से अधिकतर ब्राह्मणधर्म या वैदिकधर्म का ही समर्थन कर रहे हैं। सुधारकवर्ग जिन जैन सम्मत सुधारों या संशोधनों की बात करते है वे सब बाते उन रूढ़िवादियों को जैनधर्म के विरुद्ध मालूम होती हे। यदि ऐसा न होता तो आ० शान्तिसागर जी के अन्न त्याग की समस्या खड़ी ही न होती।

एक और नूतन बात विचारणीय है कि हिन्दु संस्कृति के प्रचारक हिन्दुधर्म और हिन्दु समाज का नाम लेकर कितनी ही ऐसी इतिहास एव सिद्धान्त विरुद्ध बातों का भी हमेशा से प्रचार करते आये हे। जो हिन्दुओ के बहुत बड़े भाग को अमान्य हैं। मुख्य रूप से जिन बातों पर भार देते है वे हैं—१ वेद की मुख्यता २ संस्कृत भाषा की श्रेष्ठता ३ ब्राह्मणों का गुरुपद और जन्ममूलक वर्ण व्यवस्था। इन बातों का विरोध बुद्ध और महावीर के हजारों वर्ष पूर्व से ही होता आया है। इस विरोध मे न केवल जैन ही थे किन्तु द्रविण, वैष्णव, शक्ति, शैव, अवधून और ऐसे ही अनेक समूह भी थे। वे सब ब्राह्मणीय स्मार्तमान्यता का विरोध करते ही आये हे। पर इतने प्रबल बहुमत से विरोध करने वालों पर भी ब्राह्मणों ने अपने बुद्धिबल और संस्कृति की वफादारी के कारण विपरीत ही प्रभाव डाला। इतना ही नहीं, किन्तु उनने बहुत से पन्थों को तो ब्राह्मणीय स्वीकार करके वैदिक ही बना डाला। इस समय तो यह जानना कठिन है कि वैष्णव, शैव आदि आगमवादी कभी वेदविरोधी भी थे। अब जैनियों को देखना यह है कि उनके कतिपय मौलिक सिद्धान्त उनके किसी विशेष प्रयत्न बिना कैसे सफल हुए हैं। उदाहरणार्थ लोकभाषा का सिद्धान्त, आत्मौपम्य और मानवसमानता का सिद्धान्त, अहिंसा और अपरिग्रह का सिद्धान्त। यद्यपि अर्धमागधी और प्राकृत अंशतः संस्कृत से पराभूत हो गई थी फिर भी उसके पीछे लोकभाषा का जो सिद्धान्त था उसे अन्ततः केन्द्रीय सरकार ने बहुमत से सम्मानित करके लोकभाषा हिन्दी को राष्ट्रभाषा मान लिया है। यह लोकभाषा की विजय बुद्ध और महावीर के सिद्धान्त की ही विजय है। इसी तरह अस्पृश्यता निवारण का प्रश्न भी जो सफल हुआ है वह भी मानव

समानता के सिद्धान्त की ही विजय है। असाम्प्रदायिक राज्यव्यवस्था की मान्यता की स्वीकृति में आत्मौपम्य के सिद्धान्त की ही पूरी सफलता है। अनेकान्तवाद की यह विजय नवयुग में नवीन रीति से हुई है, अर्थात् जो अन्ततः सत्य की ही विजय हुई है।

जैनों को उपर्युक्त परिस्थिति समझकर हिन्दूधर्म और समाज के नाम पर प्रचलित ब्राह्मणवाद का प्रबल विरोध करने के लिये स्वयं तो कटिबद्ध होना ही चाहिये, साथ ही साथ अपने सम सिद्धान्तवाले वैष्णव आदि का भी संघटन करना चाहिए और जहाँ जहाँ वैदिक या ब्राह्मणवादी असत्य और मानवघातक प्रवृत्तियाँ हो वहाँ वहाँ संघटित रूप से उनका समक्ष विरोध कर पुरुषार्थ का परिचय देना चाहिए। अभी भी समझदार जैन ज्ञान और चरित्र सम्पन्न हैं। यदि वे पूर्ण ऐतिहासिक ज्ञान और विवेकपूर्वक उक्त पंक्तियों पर विचार करेंगे तो द्रविड़, वैष्णव, शैव और तांत्रिक आदि अनेक पन्थों को अमुक विषयों में अपने पक्षवाला बनाकर विरोध में पूर्ण विजयी होंगे। यदि इन विषयों में भी जैन और बौद्ध समान भूमिका नहीं बना सकते तो वे अतीत की तरह गच्छ गण आदि अनेक भेद प्रभेदों में ही बँटे रहेंगे और उनके हाथ में शून्य ही रहेगा जैसा कि अभी तक रहा है। हिन्दू संस्कृति के नाम पर चलनेवाली विडम्बनाओं को रोकने के लिये भी जैनों को हिन्दु के एक भाग के रूप में ही रहना उचित है। इसी तरह अन्य समानशील भागों का नेतृत्व प्राप्त करने की दृष्टि से भी जैनों को हिन्दुत्व से पृथक् रहने में मुझे तो कोई सार नहीं मालूम होता।

सम्पादकीय

जैन बनाम हिन्दू–

'ज्ञानधारा' स्तम्भ मे हिन्दू महासभा के संरक्षक श्री वि० दा० सावरकर का लेख और जैन समाज के साक्षराग्रणी पं० सुखलाल जी संघवी का एक महत्त्वपूर्ण पत्र छापा गया है। इनकी विचारधारा स्पष्ट है। वस्तुतः आजतक हिन्दू' की परिभाषा न की जाने के कारण यह शब्द वैदिक धर्म वैदिक संस्कृति और वेदानुयायियों का प्रतिनिधित्व करने लगा है।

'हिन्दू' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उन विदेशी मुसलमानों ने किया है जो पश्चिमी वायव्य कोण से इस भारत मे आक्रमण करने आये थे। उनने 'सिन्धु' से पूर्व की भारत भूमि को 'हिन्दू' इस क्षेत्रवाची शब्द से कहना प्रारम्भ किया और उन्हीं के उत्तराधिकारियों ने सिन्धु से पूर्व में रहने वालों को 'हिन्दू' इनकी संस्कृति को 'हिन्दू संस्कृति' इनके धर्म को 'हिन्दूधर्म' इनकी भाषा को 'हिन्दी' यह नाम दिया। चूंकि सिन्धु से पूर्व की भारतभूमि मे बसने वाली प्रजा का बहुभाग वैदिक धर्मानुयायियों का था अतः बहुमत के हिसाब से, सरसरी तौर से हिन्दू शब्द की व्याप्ति प्रधानतया वैदिकों मे हो गई।

श्री सावरकर ने अपने लेख मे इस भ्रान्ति की ओर जननेताओं और सरकार का ध्यान खासतौर से खींचा है। आज अरब आदि देशों मे भारत के मुसलमानों को भी 'हिन्दू मुसलमान' इस क्षेत्रवाचक शब्द से ही कहते हैं। अतः इस शब्द के इतिहास की दृष्टि से सिन्धु से पूर्व के भाग में रहने वाले वैदिक, बौद्ध, जैन आदि सभी हिन्दू हैं। मुसलमान बादशाहों ने हिन्दू मन्दिरों के नाम पर वैदिक मन्दिरों की तरह जैन मन्दिरों और बौद्ध बिहारों को भी ध्वस्त किया है। यद्यपि उनका यह ध्वंसकार्य साम्प्रदायिक के साथ आर्थिक भी था।

जैन शास्त्रों में इस विशाल भारतखंड को आर्य और म्लेच्छ दो विभागों मे बाँटा है। आर्यखंड 'सिन्धु' से पूर्व का भाग ही कहा जाता है। यहाँ के निवासी आर्य हैं। सिन्धु से पश्चिम का भाग म्लेच्छखंड कहा जता है। काशी, कौशल आदि देशों के रहने वाले (चाहे वे किसी धर्म के मानने वाले क्यों न हों) क्षेत्रार्य कहे गये हैं। इक्ष्वाकु जाति भोज आदि कुलों में

समुत्पन्न जात्यार्य बताये गये है (चाहे वे किसी भी धर्म के मानने वाले क्यो न हों)। असि (शास्त्रजीवी) मषी (मुनीमी) कृषि (खेती किसानी) विद्या (अध्यापनादि) शिल्प (लुहारी, नाईगिरी, सुनारी) वणिक्कर्म (व्यापार) इन छह कर्मों से जीवन व्यवहार चलानेवाले कर्मार्य कहे गये है। इस विभाजन से स्पष्ट है कि आर्य विभाग मे क्षेत्र जाति और जीवन व्यवहार के साधनों के आधार से किया है, उसमे धर्म का कोई हस्तक्षेप नही है। जैन पुराणों मे अनेक राजवंशों का ऐसा वर्णन मिलता है जिनमे पति यदि जैन है तो पत्नी वैदिक या बौद्ध है। धर्मपालन से यहाँ की राष्ट्रीयता और वंशानुगत कुलीनता मे अन्तर नहीं आता था। इन्ही आर्यो मे से जिनने जैनधर्म धारण किया वे जैन, जिनने वैदिक धर्म की उपासना की वे वैदिक और जिनने बौद्ध धर्म की आराधना की वे बौद्ध आदि धर्म की दृष्टि से कहे जाते हैं। जो म्लेच्छ आर्यखंड मे जाकर आर्यो के साथ वैवाहिक संबंध आचार व्यवहार से आर्यरक्त मे शामिल हो गये वे शक, हूण आदि सभी इस आर्य महासागर मे समा गए।

इस विवेचन का यह निष्कर्ष है कि—

(१) सिंधु से पूर्व के प्रदेशों का 'आर्यक्षेत्र' यह प्राचीन नाम है।

(२) आर्यक्षेत्र का 'हिन्दु' यह नाम विदेशियो द्वारा दिया गया है।

(३) विदेशियों ने ही इस आर्यक्षेत्रवासी या हिन्दुक्षेत्रवासियो के धर्मो को 'हिन्दूधर्म' कहा है।

(४) 'हिन्दू' यह शब्द बहुमत की दृष्टि से भ्रान्तिवश यद्यपि वैदिकों मे रूढ़सा हो गया है परन्तु यह मूलतः आर्यखंड के सभी धर्मवालो को समानभाव से ग्रहण करने वाला है।

(५) जाति अर्थात् रक्तसंबंध की दृष्टि से वैदिक बौद्ध जैन आदि सभी एक आर्य रक्त से अनुबद्ध है। इनमे परस्पर अनुलोम-प्रतिलोम, विवाह 'कौन किस धर्म का अनुयायी है' यह विचार किए बिना ही होते रहे हैं तथा आज भी होते है। अतः हम सब हिन्दुओं अर्थात् आर्यक्षेत्रवासियों की रक्तपरम्परा एक है। इनमे परस्पर धर्म परिवर्तन होते रहे हैं। महावीर के मुख्य शिष्य गौतम आदि गणधर वैदिक ब्राह्मण ही थे।

(६) इस आर्यक्षेत्र (हिन्दूदेश) वासियों की धर्मभाषा या व्यवहारभाषा प्राकृत, मागधी, संस्कृत, अपभ्रंश आदि ही समानभाव से रही है। इनके धर्मग्रन्थ उन संस्कृत-प्राकृत आदि मे लिखे गये है जो इसी भूमि की भाषायें है।

(७) इनके रीतिरिवाज होली, दीवाली, सावन, आदि बड़े बड़े त्यौहार, शवदाह आदि प्रथाये धर्मभेद और पन्थभेद किए बिना ही समान रूप से वैदिक, बौद्ध, जैन आदि आर्यों में एकानुबद्धता सूचित करती हैं।

(८) चूंकि सभी में परस्पर विवाह संबंध होते थे अतः उत्तराधिकार आदि की सामाजिक प्रथाएँ कुछ मौलिक अन्तर से प्रायः एक जैसी रही हैं।

(९) हिन्दू ट्रस्ट, हिन्दू संस्थाओं में जैनों ने बराबर योगदान दिया है और उनसे लाभ भी उठाया है।

(१०) जैन, वैदिक और बौद्ध आदि कोई भी एक दूसरे की शाखा नही हैं। यदि शाखाएँ है तो सभी विशाल आर्यधर्म की शाखाएँ हैं।

ऐसी स्थिति में हमे इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना होगा। यदि हिन्दू संस्कृति का अर्थ वैदिक संस्कृति है तो जैन शत प्रतिशत उनसे भिन्न है, क्योंकि जैन और बौद्ध श्रमणधारा की संस्कृतियाँ है। पर सावरकर सा० के द्वारा किए गए 'हिन्दू' शब्द के 'जिनकी पितृभूमि और पुण्यभू-धर्मभूमि यह सिन्धु से पूर्व का भाग है वे हिन्दू-इस अर्थ के अनुसार यहा के आदिवासी जैनों को हिन्दू कहलाने में कोई आपत्ति नहीं है।

कोई भी जैन आज भी अपने को 'अहिन्दू' कहलाने में गौरवान्वित नहीं है। 'अवैदिक' कहने तथा कहलाने मे उसे पूरी प्रसन्नता है। क्योंकि उसकी संस्कृति की रक्षा हो जाती है। हमें यही प्रयत्न करना चाहिए कि भारत सरकार 'हिन्दू' शब्द की सावरकर द्वारा की गई बहुव्यापक परिभाषा को स्वीकार कर ले या फिर इस मुसलमानी युग के शब्द का परित्याग करके प्राचीन आर्य शब्द को स्वीकार करे।

जैन संस्कृति निवृत्तिप्रधान संस्कृति है। उसने मनुष्य को परिग्रह-संग्रह से निवृत्त होने का ही प्रधानतया उपदेश दिया है। अतः प्रायः जैनग्रन्थों मे दायभाग आदि के प्राचीन उल्लेख नहीं मिलते। यही कारण है कि सोम-देव आचार्य ने उन सभी लौकिक विधियों को व्यवहार मे स्वीकार करने की घोषणा की थी जिससे सम्यक्त्व की हानि और व्रतों में दूषण न लगे।

"सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधि ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ।।"

अतः हमारा लौकिक आचार व्यवहार पारसी, ईसाई या मुसलमानों से नहीं मिलता किन्तु हिन्दुओं से ही मिलता।

सावरकरकृत व्याख्या के मान लेने पर भौगोलिक दृष्टि और परम्परागत आर्यत्व की दृष्टि से हम हिन्दू होकर भी जैसी कि पं० सुखलाल जी की सूचना है-हिन्दू महासभा के सदस्य हरगिज नहीं बनना चाहते। क्योंकि

वर्तमान में उसका संघटन, वर्णव्यवस्था और ब्राह्मणप्रभुत्व के वर्गोच्चत्व की भावना पर है। भगवाध्वज उसी श्रुतिस्मृत्यनुमोदित परम्परा का प्रतीक है। अतः हमारा हिन्दू महासभा के कर्णधारों से अनुरोध है कि यदि वे 'हिन्दू' शब्द की उक्त व्याख्या जैनों से स्वीकार कराना चाहते है तो वैदिक संस्कृति के प्रतीक 'भगवाध्वज' के स्थान पर सर्वानुमोदित ध्वज स्वीकार करें। उसमें रही वर्णोच्चत्व की भावना को दूर कर समान आधारों से सर्वसंग्राहक संघटन करें।

भारत सरकार से भी हमारा अनुरोध है कि वह 'हिन्दू' शब्द की भौगोलिक और आर्यत्व मूलक व्याख्या को स्पष्टरूप से घोषित कर दे ताकि इस संबंध मे बार बार उत्तेजक विवाद उपस्थित न हों।

जैन समाज के नेताओं से भी निवेदन है कि वे अलगाव के नारों को छोड़कर 'हिन्दू' की ही व्यापक परिभाषा करने पर जोर दे। 'हम वैदिक नहीं, यह शत प्रतिशत ठीक है। पर हम 'हिन्दू' भी नहीं यह तो अपनी अखण्ड भारतीय संस्कृति के प्रति अन्याय होगा।

एक बात खासतौर से विचारने की है कि आजतक वैष्णव और जैन अग्रवालों में शादियाँ होती आई है और वे हिन्दू ला के अनुसार वैध है और उत्तराधिकार भी कानूनी है। यदि आज अग्रवाल जैन अपने को 'अहिन्दू' घोषित कर देते है तो इन हिन्दू और अहिन्दू विवाहों की वैधता के लिये सिविल मैरिज एक्ट की शरण लेनी पड़ेगी। अतः संस्कृति के नाम पर लगाये जानेवाले संघी नारों से सावधान रहकर 'हिन्दू' शब्द की व्यापक परिभाषा का ही प्रयत्न करना चाहिये।

बम्बई सरकार की विज्ञप्ति–

हरिजनों का मंदिर प्रवेश जैन संस्कृति के अनुकूल है, उच्च मानव समत्व का पोषक है और जैनधर्म के मूलरूप का प्रकाशक है। अतः बम्बई सरकार ने हरिजनो की उस अयोग्यता का निवारण कर दिया है जिससे मात्र हरिजन होने के कारण ही वे ऐसे मंदिरों मे जाने से वंचित थे जिनमें अन्य सवर्ण हिन्दू जा सकते है। बम्बई सरकार का यह कार्य समयोपयोगी है। परन्तु उसने हिन्दू शब्द की सुनिश्चित वैदिक बौद्ध जैन संग्राहक परिभाषा किए बिना ही जो सामान्य रूप से 'हिन्दू' मे ही जैनों को शामिल कर लिया है वह भ्रम उत्पन्न करता है। आज हिन्दू शब्द भ्रान्तिवश वैदिकों में सरसरी तौर से प्रचलित है अतः इस शब्द की भौगोलिक या ऐसी अन्य परिभाषा करनी चाहिए जिससे भारतीय धर्मो का उनकी अपनी मौलिकता सुरक्षित रहकर भी सर्वसंग्रह हो जाय।

इस संबंध में सावरकरकृत परिभाषा बहुव्यापक है। सरकार उसे स्वीक करे और हिन्दू शब्द का विशाल 'आर्यधर्म' अर्थ में प्रचलन करे जिससे जै आदि को अपनी संस्कृतियों का वैदिक संस्कृति में विलीन होने का भ न रहे। जैनो ने सदा राष्ट्र की अखंडता कायम रखी है और वे स्वभाव बिलगाववादी नहीं है। पर वे ऐसे सामान्य शब्द के मोह में फँसकर जिस परिभाषा अनिश्चित है और जो भ्रमवश वैदिक संस्कृति में रूढ़सा ह गया है अपनी संस्कृति की मौलिकता भी नष्ट नहीं कर सकते। इस वैदिक संस्कृति के प्रमादवश जैनों मे यह वर्णव्यवस्था घुस आई है। अत उससे जैन संस्कृति भिन्न है इसकी घोषणा नितान्त आवश्यक है।

क्या कालकाचार्य देशद्रोही थे ?

किसी भी देश के भावी निर्माण मे उसकी विगत जनता का एव उसको उन्नति के शिखर पर पहुँचाने वाले नेताओं का जीवन कितना महत्त्व रखता है यह आज बताना नहीं पड़ेगा। अभी तक हमारे सम्मुख जितन भी इतिहास के नाम पर ग्रंथ उपस्थित है उनका संबंध शासकों तक ही सीमित है। जनता की इसमे घोर उपेक्षा की गयी है। इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त इतिहासों का प्रणयन साम्राज्यवादियो की प्रतिच्छाया में हुआ था। परन्तु आज भारत स्वतंत्र है और कहा जाता है कि अब जनता का राज्य है। अतः भारत के अग्रिम नव-निर्माण के लिये गत जनता का ही इतिहास सांस्कृतिक दृष्टि से लिखा जाना चाहिए। इतिहास लिखने के पूर्व तत्कालीन जानतिक परम्पराओं का मूल्यांकन पक्षपात रहित दृष्टि से अपेक्षित है। इतिहास न केवल तथ्यों को ही प्रकाश मे लाता है, अपितु मनुष्य को सत्य के निकट भी ला खड़ा करता है। अतः तथ्यान्वेषण का कार्य साधारण नहीं। इसके लिये वर्षों की गहन साधना और विशद अध्यवसाय की अपेक्षा है। और सबसे अधिक आवश्यकता है तथ्यान्वेषण मे पक्षपातशून्य समत्व की भावना की। वर्तमान युग में भी यदि आत्मीय विभूतियों का मूल्यांकन समुचित रूप से न हुआ तो निःसन्देह इतिहासकारों की ओर से, महादेश भारत के प्रति भारी अन्याय होगा। मुझे बड़े परिताप के साथ लिखना पड़ रहा है कि वर्तमान युग में जिन विद्वानों का जो क्षेत्र नहीं है उसमें भी अनुचित रूप से चञ्चु प्रवेश करने का और उसपर अपनी अन्तिम सम्मति प्रदान करने का रोगसा लग गया है। हाल ही की ऐसी एक घटना मेरे सामने है। ता० ३०-७-४९, शनिवार को रात दस बजे आल-इण्डिया रेडियो दिल्ली से "शक-विजय" नामक एक नाटिका श्री उदयशंकर भट्ट द्वारा लिखित प्रसारित की गयी थी जिसमें जैन संघ के महान् प्रभावक आचार्य कालकाचार्य पर देशद्रोह का मिथ्या-

रोप लगाया गया है। इस छिछले और अध्ययनशून्य-मानस-प्रसूत आक्षेप का यों तो सांस्कृतिक मूल्य हो ही क्या सकता है, परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि रेडियो के कार्यकर्ताओं ने तनिक भी इस ओर ध्यान तक देना न जाने क्यों उचित नहीं समझा ?

कालकाचार्य को देशद्रोही कहना, सिवाय पक्षपात के और क्या कहा जा सकता है। इससे लेखक का इतिहास और परम्परा विषयक ज्ञान कितना कमजोर है इसका पता चल जाता है। मुझे स्वयं आश्चर्य है कि कालिकाचार्य जैसे मानव-परम्परा के उन्नायक आचार्य को भी देशद्रोही कहने में भारत के उच्च शिक्षा प्राप्त विद्वान को क्यों तनिक भी हिचक नहीं होती। आज के राष्ट्रीय युग में संसार के किसी भी मानवसमाज का सदस्य, चाहे वह अत्यन्त निम्नश्रेणी का क्यों न हो, अपनी आत्मीय विभूतियों के प्रति ऐसे महान् अपमानजनक शब्द को हरगिज बर्दाश्त नहीं कर सकता। जब कि जैन समाज तो इन्हें अपना युगप्रवर्तक महान् आचार्य मानता है। आचार्य श्री कालिकाचार्य के जीवन में ऐसी कोई घटना नहीं घटी जिससे उन्हें देशद्रोही कहा जा सके। हाँ, उनके जीवन में एक ऐसी घटना अवश्य आती है जिसके वास्तविक रहस्य को बिना समझे ही कुछ लोगों ने अपने भ्रमपूर्ण विचार बना लिये हों, तो आश्चर्य नहीं।

आर्य कालक राजकुल में उत्पन्न हुए थे। सरस्वती नामक उनकी एक परम सुन्दरी भगिनी थी। उस समय क्षात्र वृत्ति वालों में विशेषतया आध्यात्मिक विद्या का प्रचार था। क्रमशः भाई बहिन ने श्रमण दीक्षा अङ्गीकृत की।.आर्य कालक विचरण करते हुए उज्जैनी में आये। वहाँ गर्दभिल्ल का राज्य था। यद्यपि भारतीय इतिहास में गर्दभिल्ल एक उलझी हुई पहेली ही है परन्तु जैन कथा साहित्य में कालकाचार्य जी के प्रसङ्ग में इसकी भी विशद चर्चा पाई जाती है। प्राचीन कथाओं में कहा गया है कि वह नैतिक दृष्टि से अत्यन्त पतित था। परस्त्री में उसकी मनोवृत्ति बड़ी क्रूर थी। स्पष्ट कहा जाय तो अपनी पैशाचिक वासना की पूर्ति के लिए वह सब कुछ कर सकता था। भिक्षुणी सरस्वती के सौन्दर्यको देखकर गर्दभिल्ल अपनी कुत्सित वृत्ति सम्भाल न सका और अपने अनुचरों द्वारा उसका अपहरण करवा उसे महल में डलवा दिया। उद्यान में ठहरे हुए आर्य कालक ने जब उपर्युक्त घटना सुनी तो बहुत व्याकुल हुए। अन्त में आर्य कालक ने राजा से कहा कि एक सती साध्वी स्त्री का अपहरण करना आपके लिए उचित नहीं। उन्होंने राजा को सब प्रकार से समझाया बुझाया परन्तु उसका कामुक हृदय कथमपि न पिघला। तत्पश्चात् वहाँ के सम्मानित नागरिकों

ने भी राजा से प्रार्थना की कि आप जैसों के लिए यह कुकृत्य शोभा नहीं दे
क्योंकि इनके ज्येष्ठ बन्धु, जो कि जैनसमाज के एक महान् आचार्य
सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं। अतः यदि अब भी आप सरस्वती को मुक्त कर
तो देश को भावी विपत्ति से बचाया जा सकता है। किन्तु गर्दभिल्ल के
लिए सब कुछ व्यर्थ था। उसका तो विनाश उपस्थित था, फिर उसकी बु
ठिकाने कैसे आती। निदान श्री कालकाचार्य ने कोई दूसरा मार्ग न दे
शकों को लाकर गर्दभिल्ल को पराजित कराया और अपनी भगिनी सरस्वती
की मुक्ति करवाई। तदनन्तर कालिकाचार्य के भानजे बलमित्र और भानुमित्र
(जो भृगुकच्छ-भड़ोंच के राजा थे गर्दभिल्ल को परास्त करने में भी सहायक
थे) ने शकों को भी परास्त कर पुनः भारतीय शासन की स्थापना की।

उपर्युक्त घटना को यदि भट्ट महोदय समझने की चेष्टा करते तो आर्य कालक पर देशद्रोह का आरोप करने का दुस्साहस कदापि न करते। संसार में जिन्दादिल ऐसा कौन होगा जो अपनी माता और बहन पर ढाते हुए अत्याचारों को देख कर मौन रह सके। आर्य कालक ने यदि गर्दभिल्ल को शिक्षा न दी होती तो पिछले राजा ऐसे घृण्य कार्य करते तनिक भी न हिचकते। सत्य की रक्षा के लिए उद्दण्ड शासक को दण्ड देने की लिए आर्य कालक ने जो यह कार्य किया वह न केवल नैतिक दृष्टि से ही, अपितु किसी भी हेतु से बुरा न था। स्पष्ट कहें तो उन्होंने कठोर सत्य की रक्षा की है। हाँ, इतना अवश्य कि यदि शकों का उज्जैनी में अधिक समय तक शासन रहता और इनके भानजे उनको परास्त करने के लिए कोई प्रयत्न न करते, तो शायद ये देशद्रोह के अपराधी होते। परन्तु कालकाचार्य के समय में ही शक उज्जैनी से खदेड़े जा चुके थे। यहाँ पर मैं केवल उन विद्वानों से इतना ही पूछना चाहता हूँ—जो इस प्रकार की विचारधारा से प्रभावित हैं—कि अपनी और नैतिक परम्परा की रक्षा के लिए किसी की सहायता लेकर प्रतिपक्षी को पराजित करने का प्रयास क्या देशद्रोह है? यदि हाँ, तो क्या महाराणा साँगा इस प्रकार के अपराध से बच सकते हैं? सुभाषचन्द्र बोस भी इस दृष्टि से देशद्रोही ही ठहरेंगे जिन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए विदेशी शासन की सहायता ली थी।

यहाँ पर यह भी न भूलना चाहिए कि उन दिनों भारत में आज के अर्थ में राष्ट्रीयता की भावना थी ही नहीं। यदि हम वर्तमान राजनीति के प्रकाश में इस प्रकार की घटनाओं को देखेंगे तो हमें अपने कितने ही प्रिय आराध्यों को देशद्रोहियों की पंक्ति में खड़ा करना पड़ेगा।

—मुनि कान्तिसागर

सस्ता साहित्य मंडल के नये प्रकाशन

१. **प्रार्थना-प्रवचन** * दो खंड—**महात्मा गांधी** दोनों खंडों का मूल्य ५॥)
[१ अप्रैल १९४७ से २९ जनवरी १९४८ तक के दिल्ली की प्रार्थना सभाओं में किये गए २२८ प्रवचन]

२. **शांति यात्रा**—**आचार्य विनोबा** सजिल्द मूल्य ३॥) अजिल्द २॥)
[पिछले साल की यात्रा में विविध विषयों पर दिये गए व्याख्यानों का सार]

३. **महाभारत-कथा** [दो भाग]—**चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य**
दोनों भागों का मूल्य ५)

४. **बापू के चरणों में**—**श्री ब्रजकृष्ण चांदीवाला** मूल्य २॥)
[बापू के मधुर और शिक्षाप्रद संस्मरण]

५. **राष्ट्रपिता**—**पंडित जवाहरलाल नेहरू** मूल्य २॥)
[महात्मा गांधी के सम्बन्ध में नेहरूजी के लेखों और भाषणों का संग्रह]

६. **श्रद्धाकण**—**श्री वियोगी हरि** मूल्य १)
[भावनापूर्ण शब्दों में बापू के प्रति श्रद्धांजलि]

७. **पृथिवी पुत्र**—**डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल** मूल्य २॥)
[जनपदीय अध्ययन के लिए प्रेरणा देने व मार्ग सुझानेवाली पुस्तक]

८. **अशोक के फूल**—**आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** मूल्य २॥)
[सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा ज्योतिष-संबंधी लेखों का संग्रह]

नोट—* चिह्नित पुस्तक गांधी साहित्य के अंतर्गत है जिसमें गांधीजी की समस्त रचनाओं को लगभग २५ जिल्दों में प्रकाशित करने का आयोजन किया गया है। इस माला में गीतामाता, अनीति की राह पर तथा पन्द्रह अगस्त के बाद, तीन पुस्तकें शीघ्र प्रकाशित होंगी।

व्यवस्थापक—

सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
भार्गव भूषण प्रेस, बनारस

ज्ञानोदय

श्रमण संस्कृति का अग्रदूत मासिक

भारतीय ज्ञानपीठ काश

नवम्बर १९४९ [५] वीर नि० २४७६

सम्पादक

मुनि कान्तिसागर : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

*

इस अंक में—

*

वार्षिक ६) * एक प्रति ।।=)

'ज्ञानोदय'

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

१ "अम्बिका की कलापूर्ण प्रतिमा,'
परिचय पृ० ३५४

अम्बिका और यक्ष, प्रयाग,
परिचय पृ० २७६

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

वर्ष १ * काशी, नवम्बर १९४९ * अंक ५

अभिनिष्क्रमण से पूर्व

[यह टुकड़ा "महाश्रमण वर्धमान" नामक अप्रकाशित खंडकाव्य के प्रथम सर्ग से हमने लिया है। महावीर घरबार छोड़कर कल निकलनेवाले हैं। उससे पहले की यह घटना कवि की कल्पना-प्रसूत है।

भाषा ऐसी प्रांजल और प्रवाह इतना तीव्र है कि इसे पढ़ते समय उपन्यासका आनंद आता है। मसाला बौद्ध और जैन आगम से लिया गया है। अभिव्यंजना के लिए उपनिषद्, मज्झिमनिकाय, बुद्ध-चर्या, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, वाल्मीकि, अश्वघोष, भास और कालिदासकी मदद ली गई है। —सम्पादक]

कि इतने में आ पहुँचा एक
वृद्ध ब्राह्मण, लकुटी वह टेक
उठा कर कंपित दहिना हाथ
लगा कहने जय हो गणराज
'नन्दिवर्धन लिच्छविकुलकेतु !
सुखी हो दोनो, हो अतिदीर्घ
वीरवर वर्धमान की आयु
सुधी जन का मानस जलजात
कहाँ है अनुज तुम्हारा तात ?
स्पर्श कर उसका मस्तक आज
चाहता देना आशीर्वाद

---

१ श्वे० मान्यता के अनुसार।

छू चुकी है अब मेरी आयु
वत्स, जीवन का अन्तिम छोर
सकूँगा देख न कर लूँ स्पर्श
ज्योति पाये आँखों की कोर
याद आता रह रह छविमान
सुरक्षित चम्पक-तरु उपमान

स्नेह विह्वल सुन द्विज की बात
हो गया द्रवित वीर का चित्त
उठीं आँखें अग्रज की ओर
मिला तत्क्षण इंगित अनुकूल
बढ़े सुकुमार सँभाल दुकूल
सिंह गति से आकर नजदीक
कुब्ज कंधे पर रख कर हाथ
कहा, यह लो, मैं आया तात
स्पर्श में है क्या ऐसी बात !

म्लान पंकजके दलकी भाँति
विप्र के होठों की वह 'काँति'[1]
हो उठी थी भास्वर क्षणमात्र
हो उठा था पुलकित कृशगात्र
टेक लकुटी पर दोनों हाथ
और हाथों पर ठोडी टेक
रहा गुम थोडी-देर विवेक
बुढ़ापा खडा रहा साकार
स्वयं जाने क्या चीज निहार

सभी चुप थे, सब थे निस्तब्ध
धरा थी मौन, गगन था मौन
प्रकृति थी स्तिमित, बोलता कौन
वृद्ध ब्राह्मण का भावावेश
बन गया सहसा अश्रु-प्रवाह
धँसी गालों की सीमा लाँघ
गिरी भू पर बूँदों की माल

तोड़ कर फिर वज्रोपम मौन
वीर बोले : मत रोओ विप्र,
बता दो आखिर क्या है बात ?
तोडकर क्यों धीरज का बाँध
हुआ है प्रकट तरल आवेग ?
कौन सी व्यथा कौन सा खेद
रहे हैं तुमको तात, कुरेद ?

---

१ 'काति' का मैथिली रूप

लतापत्रांकित पट-परिधान
रहा था कंधो पर से झूल
उठा कर उसका छोर कुमार
पोछने लगे विप्र के नेत्र
स्नेह पाकर, होकर आश्वस्त
वीर के सिरपर धर कर हाथ
उठाकर ऊपर धुधली दृष्टि
लटकती भौहों पर बल डाल
वृद्ध बोला कुछ क्षण उपरान्त :–

तात, देखा है मैंने स्वप्न
कि तुम निकले हो सब कुछ छोड़
स्वजन-परिजन से नाना तोड़
हुए हो बिल्कुल बे-घर-बार
जन्म औ मृत्यु जरा औ रोग
अविद्या, भव तृष्णा अज्ञान
सभी को कर डाला निर्मूल
नही है शूल, नही है फूल
किया है तप ऐसा घन-घोर
कि यश फैला है चारो ओर
परे करके सुख-सुविधा-भोग
शरण आये है लाखो लोग

तात, देखा है मैंने स्वप्न
कि ऐरावत पर चढ देवेन्द्र
गगन से उतरा है चुपचाप
तुम्हारे पास पहुँचकर आप
परिक्रमाएँ की है दो तीन
उत्तरासंग एकास लिये–
वंदना की है घुटने टेक
और फिर तेरे सिर पर वत्स
तान डाला है अपना छत्र
(अ-कर्णिक काचनमय शतपत्र
रहा ज्यों नभ मे उलटा झूल)
किंतु तुम शांत दात अ-विकार
रहे पहले की भाति निहार
अचचल है दृग, थिर हैं 'ठोर' [१]
न उठती है किंचित हिलकोर
देख आकृति निःस्पृह निरपेक्ष
इन्द्र को होता है आश्चर्य

---

१ 'अधर' का मगही-मैथिली पर्याय

लौट जाता है वह तत्काल
धरा फटती गिरता है वज्र
दिशाओ से उठते तूफान
किंतु तुम लोकाचल के तुल्य
डटे हो अडिग अटल अविकंप
स्वप्न देखा है पिछली रात
बताओ यह सब क्या है तात ?

नही सुन सके, उठे तत्काल
नंदिवर्धन को दिखा अनिष्ट
कुँवर से कहा पकड़ कर हाथ :
तात, बकता है जो यह वृद्ध
न देना उसपर कुछ भी ध्यान
टहलने चलें चलो उद्यान
'हजमु'[१], लीची, कटहल औ आम
शलीफा, कदलीथभ ललाम. ...
गणो में ज्यो हम लिच्छवि श्रेष्ठ
फरो मे त्यो यह राजा आम
बहुत बैठे हम आयुष्मान !
टहलने चलें चलो उद्यान

नही सुन लेते तुम भी अहा—
उठा कर आँख वीर ने कहा
वृद्ध ब्राह्मण आये हे तात
सुनो कर लेने दो दो बात
शान्त होगा इनका भी हृदय
पुण्य मेरा भी होगा उदय
टहल आओ तुम देव अवश्य
चित्त होता हो यदि उद्विग्न
देखकर आगत संध्याकाल
बाग-उपवन-पोखर-तालाब
नदी-तट पथ-पाँतर वन-खेत
पेड़-पौधे, लतिकाएँ घास
ग्रामकी हद, अभिजन-सीमान्त
प्रतीक्षा मे रहते तल्लीन
कि प्रातःकाल, कि सायंकाल
देखने आएगा भूपाल
पिता वह, हम सब हैं सन्तान
टहल आओ, जाओ तुम तात
हमें कर लेने दो कुछ बात

---

१ 'जामुन' का तिरहुतिया रूप

देख कर उस ब्राह्मण की ओर
अनुजका मन नवनीत समान
'ठीक है' कहा हिलाकर शीश
और बाहर निकलें चुपचाप
टहलने गये अकेले आप
नन्दिवर्धन-लिच्छविकुलकेतु

हो गई सध्या, फिर भी इधर
बात कर रहे थे ही कुँवर
वृद्ध की आँख रही थी चमक
मुदित मुह खूब रहा था दमक
'तात, देता हूँ आशीर्वाद'—
घोल कर वाणी में आह्लाद
स्थूल स्वर मे बोला तब विप्र
रहेगा क्या यह खूसट याद ?
हाय, यह भूमि कोस दश-बीस
धान्य-धन दासी-दास सुवर्ण
बाप-दादों की शुभ संपत्ति
स्वजन का स्नेह प्रजा की भक्ति
सभी कुछ तुम जाओगे छोड़
मुक्त होओगे बधन तोड़
कालकी स्थितिकी सीमा लाँघ
फैल जायेंगे देश-विदेश
वीर, तेरे निर्मल उपदेश
तरुण तापस, तेरा वैराग्य
बदल देगा दुनिया का भाग्य
त्रस्त धरती पाएगी त्राण
जीव पायेंगे फिर से प्राण
बिकेंगे आगे नही मनुष्य
नही बोलेगा कोई झूठ
बन्द होगें सब ईर्ष्या द्वेष
रहेगा नही घृणा का नाम
देव से बढ कर होगे मनुज
शुद्ध आचरण, बुद्धि अवदात
भिन्न रुचि पर शुचि मानसमध्य
खिलेंगे समता के जलजात
दूर होगा ब्राह्मण का दंभ
शान्त हो जायेगा राजन्य
वैश्य का लालच होगा नष्ट
शूद्र होगा उन्नत स्वाधीन
स्त्रियाँ होंगी पुरुषों के तुल्य
बढ़ायेंगे बस गुण ही मूल्य

शील पर ही जाएगा ध्यान
विकट यह तप, उत्कट यह त्याग
देख धरती जाएगी जाग
तुम्हारी बातें बारंबार
सुनेगा सारा ही संसार

तात, यद्यपि मैं हूँ अतिवृद्ध
किंतु करता हूँ तुम्हें प्रणाम
क्योंकि तुम तजकर घर-परिवार
जा रहे ज्ञानार्जन के हेतु
भटकता रहा समूची आयु
वत्स, मैं तो निज लाभ निमित्त
धन्य हो ज्ञातृकुलोदधि चंद्र
राजकुल में पाया है जन्म
पली है सुख सुविधा में देह
मिला है सभी तरफ से स्नेह
तुम्हे क्या कमी कि कौन अभाव
कि होओगे यों बे-घरबार ? ....
चाहिए तुमको केवल ज्ञान ?
यही वह प्यास, यही वह भूख
कि जिससे रहते हो बेचैन ?
वृद्ध हूँ, ब्राह्मण हूँ, स्वार्थांध
किन्तु बेटा, तुमको तो आज
दे रहा हूँ निश्छल आशीस
प्राप्त होगा ही केवल ज्ञान
जायगा बन उज्वल आख्यान
तात, यह अभिनिष्क्रमण महान........
दे रहा हूँ निश्छल आशीष

चले द्विज बकुली लाठी टेक
सहारा बनी वीर की बाँह
लगे कहने वह जा कुछ दूर
चला जाऊँगा अब मैं वत्स
छोड दो, गई घड़ी भर रात

कुँवर लौटे अपने अधिवास
विप्र को प्रचलित पथ पर छोड
न खाना ही खाया उस रात
न शय्या पर ही डाली देह
न जानें कहाँ नींद उड़ गई
चित्त की धारा ही मुड़ गई

—नागार्जुन

'श्री-ज-प्रतापादित्य' अंकित मुद्राएँ किसकी ?

डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर

काश्मीर के राजाओं में ललितादित्य मुक्तापीड़ प्रतापादित्य ही एकमात्र ऐसा शक्तिशाली शासक था जिसने काश्मीर की सुन्दर घाटियों को पारकर बाहर भी राज्य विस्तार करने में सफलता प्राप्त की थी। कल्हण हमें बतलाता है कि किस प्रकार उसने कन्नौज के राजा यशोवर्मन् को पराजित किया था और किस प्रकार अपने राजमहल के चौक की भांति गंगा-यमुना के द्वाबे पर उसका अधिकार था। शत्रु की सेनाएँ नदियों की भांति उसके सम्मुख सूख जाती थीं इसलिए उसने 'प्रतापादित्य' की उपाधि ली और 'श्री प्रताप' अभिलेख वाले अनेक प्रकार के सिक्के प्रचलित किये। इस प्रकार के सिक्के काश्मीर में प्रचुर परिमाण मे मिलते हैं।

कतिपय वर्षों पूर्व बाँदा जिले मे प्रतापादित्य के १६४४८ सिक्कों का एक ढेर मिला था जिससे काश्मीर के इतिहासकार कल्हण के उस उल्लेख का समर्थन हो गया कि यू० पी० कुछ समय तक उक्त राजा के अधिकार में था। उक्त ढेर में प्रतापादित्य के अतिरिक्त और किसी भी राजा की मुद्राएँ नही है, इससे पता चलता है कि प्रतापादित्य के पूर्वाधिकारियों या उत्तराधिकारियों का यू० पी० के इतिहास से कुछ विशेष संबंध न था। किंतु बाँदा ढेर के कुछ सिक्कों पर 'श्री प्रताप' के स्थान पर 'श्री-ज-प्रताप' अभिलेख अंकित है। इसी ढंग के कतिपय सिक्के काशी के समीप राजघाट की हाल की खुदाइयों में मिले थे। इस अभिलेख का सच्चा तात्पर्य क्या है यह अभी रहस्य ही है। इसके रहस्य-भेदन का हमें प्रयत्न करना चाहिये।

इसके पूर्व कि हम यह विचार करे कि 'श्री-ज-प्रताप' अभिलेख वाली मुद्राएँ किसकी है अच्छा हो आठवीं शती के काश्मीर के राजाओं का थोड़ा उल्लेख कर दें। इन राजाओं मे ललितादित्य-मुक्तापीड़-प्रतापादित्य सबसे प्राचीन है। उसने ३७ वर्ष तक शासन किया था। अधिक संभव है उसने ७०० ई० से ७३७ ई० तक राज्य किया होगा। उसके सिक्कों से उसके संबंध में पता चलता है। उसके पश्चात् उसका पुत्र कुवलयापीड़ राज्य का उत्तराधिकारी हुआ जिसने केवल एक साल के अल्पकाल तक राज्य किया। उसकी किसी मुद्रा का पता नहीं। अगला शासक कुवलयापीड़ का भाई

वज्रादित्य था जिसने सात साल (७३८–४५ ई०) तक शासन किया। परन्तु इसके सिक्कों का भी पता नहीं मिलता। वज्रादित्य का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र संग्रामपीड़ हुआ जिसने केवल ७ दिन राज्य किया और कोई भी सिक्का नहीं चलाया। संग्रामपीड़ के अनन्तर उसका छोटा भाई जयापीड़–विनयादित्य उत्तराधिकारी हुआ। यह एक शक्तिशाली शासक था। इसने ३१ साल (७५२–८३ ई०) तक शासन किया। उसके 'विनय' अभिलेख अंकित सिक्के प्रचुर परिमाण में मिलते हैं। कल्हण बतलाता है कि जयापीड़ के बड़प्पन की उसके योग्य पितामह मुक्तापीड़ प्रतापादित्य ने भविष्यवाणी की थी। सिंहासनारोहण के अनन्तर उसने अपने पितामह के आदर्श का अनुगमन करने की चेष्टा की और सर्वप्रथम कन्नौज तक अभियान किया। फिर उसने प्रयाग और अनन्तर बंगाल तक अभियान किये। जब वह काश्मीर से बाहर था उसके साले जज्जा ने उसकी अनुपस्थिति में सिंहासन पर कब्जा कर लिया। परन्तु जयापीड़ ने दिग्विजय से लौटने पर बड़ी आसानी से उसे खदेड़ दिया। जज्जा ने केवल ३ साल तक राज्य किया था।

रा० ब० प्रयागदयाल ने बाँदा ढेर के प्रतापादित्य के सिक्कों पर एक नोट प्रकाशित किया है। जिसमें आपने 'श्री-ज-प्रतापादित्य' अभिलेख वाली मुद्राओं के प्रवर्त्तक के सम्बन्ध में विचार किया है। आपका मत है कि ये मुद्राएँ जयापीड़ के साले जज्जा ने प्रवर्तित की होंगी जिसने उसके सिंहासन पर अधिकार कर लिया था परन्तु यह सुझाव पूर्ण नहीं है। इस प्रकार के अपहर्त्ताओं द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से अपनी मुद्राएँ प्रचलित करने के उदाहरणों की कमी नहीं जैसा कि 'श्री-ज-प्रताप' अभिलेख वाले सिक्कों को जज्जा का मान लेने से भी अनुमित है। उसने खुले आम अपने नाम के सिक्के चालू करने का साहस न किया होगा। इसने आसन्न भूत के शक्तिशाली सम्राट मुक्तापीड़ प्रतापादित्य के नाम से सिक्के चलाये होंगे और अपनी निशानी नाम का पहला अक्षर 'ज, उस अभिलेख में सम्मिलित कर दिया होगा। इस प्रकार 'श्री प्रताप' का रूप 'श्री-ज-प्रताप' हो गया होगा। डायोडोरस नामक सिकन्दर के बैक्ट्रियन गवर्नर ने भी खुले आम अपने नाम के सिक्के चलाने का साहस नहीं किया अपितु उसने अपनी निशानी △ सिल्यूकस के सिक्कों पर अंकित करा दी थी[1]।

फिर भी उक्त मत के स्वीकृत करने में कई कठिनाइयाँ हैं। यदि हम यह मान भी लें कि अपहर्त्ता जिज्जा ने ही अपने बहनोई जयापीड़ के शासनकाल में

१ जे० ए० जे० बी० एन० एस०, १९२७

ये सिक्के चलाये, फिर भी क्या कारण है कि उसके सिक्के खास काश्मीर में ही नहीं मिलते जहाँ कि उसका शासन अवश्य रहा होगा। बल्कि ये बाँदा और बनारस जैसे दूर के स्थानों मे मिलते हैं जहाँ शायद उसका कोई नाम भी न जानता हो। क्या जज्जा ने इसका विशेष ध्यान न रखा होगा कि उसके सिक्के काश्मीर से बाहर न जाने पावे जिससे वे प्रकृत राजा विनयादित्य जयापीड़ की दृष्टि में न आ जायँ ताकि वह क्रुद्ध न हो उठे।

इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि मध्यान्तर के कुवलयापीड़, वज्रादित्य और संग्रामपीड़ नामक राजाओं की कोई मुद्रा नहीं मिलती। यह संभव हो सकता है कि इन राजाओं ने प्रतापादित्य की मृत्यु के अनन्तर भी उसी के नाम के सिक्के प्रचलित किये हों और अपहर्ता जज्जा ने केवल अपनी निशानी 'ज' बढ़ा दी हो। परन्तु यह केवल एक संभावना ही है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि ऐसा हुआ ही होगा। इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता कि क्यों 'श्री-ज-प्रताप' अभिलेख वाले सिक्के काश्मीर में न मिलकर यू० पी० में मिलते हैं। फिर हमें यह भी अनुमान करना पड़ेगा कि काश्मीर का शासन यू० पी० मे बनारस तक तब भी अक्षुण्ण रहा जब काश्मीर में अत्यन्त दुर्बल शासक थे और शासन के सूत्रधार शीघ्रता से बदल रहे थे। परन्तु कल्हण ने तो स्पष्ट लिखा है (४–४०१) कि राज्यश्री प्रतापादित्य और जयापीड़ विनयादित्य के शासन के मध्य के १२ वर्षों मे मंदप्रभ थी।

'श्री-ज-प्रताप' अभिलेख वाले सिक्कों की 'श्री प्रताप' अभिलेख वाले सिक्कों के साथ प्राप्ति का अर्थ होता है कि दोनों एक समय में प्रचलित हुए। क्या ये सचमुच जयापीड़ विनयादित्य के शासन काल मे ही प्रचलित हुए ? क्या उक्त शासक के 'श्री-विनय' अभिलेखांकित सिक्के भी बाँदा और बनारस के ढेरों मे मिलते हैं ? अबतक तो ऐसा कोई भी सिक्का नहीं मिला।

हम पहले ही देख चुके हैं कि कल्हण ने जयापीड़ विनयादित्य को कन्नौज और काशी की पुनर्विजय का श्रेय दिया है। कल्हण बतलाते हैं कि उसके सैनिक प्रयाग पहुँचकर थक गये और घर लौट गये। परन्तु वह अकेले बंगाल तक बढ़ गया जहाँ उसने पाँचों वंगों को जीत लिया और एक वंग राजकुमारी का पाणिग्रहण भी किया। वहाँ से वह अपनी राजधानी को लौटा।

कल्हण का जयापीड़ के द्वारा वंग-विजय का वर्णन इतिहास से अधिक काव्य ही है। परन्तु यह असंभव नहीं कि अपने नव-अभियान में वह प्रयाग तक पहुँच चुका था।

असम्भव नहीं जयापीड़ विनयादित्य ने ही अपने इस अभियान मे 'श्री-ज-प्रताप' अभिलेख वाले सिक्के चलाये हों। बाँदा और काशी की जनता उसके पिता की 'श्री-प्रताप' अभिलेख वाली मुद्राओं से परिचित थी ही इसलिए उसने इसमें एक नाम मात्र का परिवर्तन कर 'श्री-ज-प्रताप' नामक नये अभिलेख की पुराने ढंग की ही मुद्राएँ चलायी हों।

किन्तु इस मत को स्वीकृत करने मे भी कई कठिनाइयाँ हे। यदि मान ले कि काशी और बाँदा की ढेरों के 'श्री-ज-प्रताप' अभिलेख वाले सिक्के जयापीड़ ने अपनी यू० पी० की पुर्नविजय के समय चलाये तो भी कोई कारण नहीं कि उक्त राजा के 'श्री प्रताप' नामक प्रकृत अभिलेख वाले सिक्के इन ढेरों में कतई ही न मिलें। बाँदा के ढेर में १६४०० से कुछ अधिक ही मुद्राएँ थीं। यदि इसमे १३१ ऐसी मुद्राएँ मिल सकती हे जिसमें 'श्री-ज-प्रताप' अभिलेख अंकित हो तो एक दर्जन ही सही ऐसी मुद्राएँ अवश्य मिलनी चाहिये थीं जिनपर श्री विनयादित्य अंकित होता। क्या विनयादित्य ने अपनी पुर्नविजय सूचक अपने ही पूरे अभिलेख की मुद्राएँ न चलायी होंगी। उसके अपनी नयी प्रजा के सम्मुख इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप में आने का क्या तात्पर्य? उसने काश्मीर में अपने नाम के सिक्के चलाये इससे यू० पी० मे भी उसे चलाना चाहिए था। परन्तु "विनयादित्य" अभिलेख वाली कोई मुद्रा यू० पी० में नहीं मिली। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि जयापीड़ विनयादित्य के शासनकाल मे 'श्री-ज-प्रताप' अभिलेख वाली कोई मुद्रा प्रचलित नहीं हुई।

बाँदा की ढेर के १६४४८ मुद्राओं मे १३१ मुद्राओं पर 'श्री-ज-प्रताप' अभिलेख अंकित है इससे सिद्ध होता है कि दोनों मुद्राएं समकालीन थीं। निश्चय ही इस ढेर की मुद्राएँ अभियानोन्मुख सेना के खर्च के लिए यू० पी० में बाहर से आयी होंगी और 'श्री-प्रताप' और 'श्री-ज-प्रताप' अभिलेख की मुद्राएँ समकालीन होंगी। कल्हण बतलाता है कि ललितादित्य-मुक्तापीड़-प्रतापादित्य ने अपने पौत्र विनयादित्य के गौरव की भविष्यवाणी की थी। इससे अधिक संभावना है कि जयापीड़ ने अपने पितामह के मध्यदेश के अभियान में भाग लिया हो और अपनी नेतृत्व-शक्ति और वीरता से उन्हें प्रभावित किया हो।[1] जयापीड़ उनके ज्येष्ठ राजकुमार का पुत्र न था इससे

१—७०० ई० में अपने राज्यारोहण के समय मुक्तापीड़ ३५ वर्ष का था क्योंकि वह अपने पिताका, जिसने ५० वर्ष तक राज्य किया था, कनिष्ठ पुत्र था। उसका दूसरा पुत्र वज्रादित्य ६९० ई० में उत्पन्न हुआ होगा। और वज्रादित्य का पुत्र विनयादित्य ७१५ में। इस प्रकार वह अपने पितामह के ७३२ ई० के यू० पी० के अभियान के समय १८ साल का था। ठीक यही बात शुंग राजकुमार वसुमित्र के साथ भी थी जिसने १६ वर्ष की वय में अपने पितामह अग्निमित्र के अश्वमेध यज्ञ में सहयोग दिया था।

उसके काश्मीर के सिंहासन पर बैठने की बहुत न्यून संभावना थी। कल्हण ने उसकी साहसिकता की वर्णना की है। इससे उसने अपने लिए एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना के उद्देश्य से अपने पितामह के अभियान में अवश्य भाग लिया होगा। क्योंकि काश्मीर के सिंहासन पर उसका कोई सीधा अधिकार न था। जब प्रतापादित्य ने कतिपय वर्षों में मध्यदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया होगा तो स्वाभाविक है कि उसने अपने साहसिक पौत्र विनयादित्य को पूर्वी यू० पी० का शासक नियुक्त किया हो। प्रयाग या काशी के आसपास से उसने अपने पितामह के नाम के सिक्के चलाये होंगे। परन्तु उसने उस अभिलेख में अपनी निशानी 'ज जोड़ कर 'श्री-ज-प्रताप' अभिलेख से सिक्के चलाये होंगे। या मुक्तापीड़ प्रतापादित्य ने यू० पी० में स्वयं अपने पौत्र के नाम के प्रथमाक्षर के साथ सिक्के चलाये होंगे ताकि वहाँ की जनता अपने नये शासक से पूरी तरह परिचित हो जाय।

इस प्रकार इस समस्या का भी उत्तर सम्यक् रूप से मिल जाता है कि क्यों 'श्री-प्रताप' और 'श्री-ज-प्रताप' अभिलेख वाले सिक्के साथ साथ मिलते हैं और क्यों दूसरे प्रकार के सिक्के यू० पी० में ही मिलते हैं, काश्मीर में एक दम नहीं तथा क्यों विनयादित्य जयापीड़ के अपने सिक्के यू० पी० के ढेरों में नहीं मिलते। विनयादित्य के यू० पी० के अभियान की ऐतिहासिकता पर बहुतों को संदेह है। कल्हण का वर्णन आश्रयदाता की प्रशंसा मात्र हो सकता है। संभव है उसने पितामह के साथ की विजयों को उसकी मृत्यु के अनन्तर अपने आश्रयदाता के साथ नये अभियान के रूप में सम्मिलित कर दिया हो।

अवतारवाद या उत्तारवाद

उपाध्याय मुनि श्री 'अमर'

ब्राह्मण-संस्कृति अवतारवाद में विश्वास करती है। ईश्वर एक सर्वोपरि शक्ति है। वह भूमण्डल पर अवतार धारण कर मनुष्य आदि का रूप लेती है और अधर्म का नाश कर धर्म की स्थापना करती है। यह है अवतारवाद की मूल भावना। संसार में राम, कृष्ण आदि जितने भी महापुरुष हुए है ब्राह्मण-संस्कृति ने सबको ईश्वर का अवतार माना है और कहा है कि भूमि का भार उतारने के लिये समय-समय पर ईश्वर को विभिन्न रूपों में जन्म ग्रहण करना पड़ा है।

इसके विपरीत श्रमणसंस्कृति, फिर चाहे वह जैन संस्कृति हो अथवा बौद्ध-संस्कृति, अवतारवाद की धारणा में किसी भी तरह का विश्वास नहीं रखती। श्रमण संस्कृति का आदि काल से यही आदर्श रहा है कि इस संसार को बनाने बिगाड़ने वाली ईश्वर या अन्य किसी भी नाम-की कोई भी सर्वोपरि शक्ति नहीं है। अतः जब ईश्वर ही कोई नहीं है, तब उसके अवतार लेने की बात को अवकाश ही कहाँ रहता है? यदि कोई ईश्वर हो भी तो वह सर्वज्ञ शक्तिमान् क्यों नीचे उतर कर आये? क्यों मत्स्य, वराह एवं मनुष्य आदि का रूप ले? क्या वह जहाँ है वहाँ से ही अपनी अनन्त शक्ति के प्रभाव से भूमि का भार हरण नहीं कर सकता? अवतारवाद के मूल मे एक प्रकार की मानव हीनता की भावना ही काम कर रही है—वह यह कि—मनुष्य आखिर मनुष्य ही है, वह कैसे इतने महान् कार्य कर सकता है? अतः संसार में जितने भी विश्वोपकारी महान् पुरुष हुए है वे वस्तुतः मनुष्य नहीं थे, ईश्वर थे और ईश्वर के अवतार थे। ईश्वर थे तभी तो इतने महान् आश्चर्यजनक कार्य कर गये। अन्यथा बिचारा आदमी यह सब कुछ कर सकता था? कदापि नहीं।

अवतारवाद का भावार्थ ही यह है——नीचे उतरो, हीनता का अनुभव करो, अपने को पंगु, बेबस, लाचार समझो। जब भी कभी महान् कार्य करने का प्रसंग आये, देश जाति या धर्म पर घिरे हुए संकट एवं अज्ञान के बादलों को साफ करने का अवसर आये, तो बस ईश्वर के अवतार लेने का इंतजार करो, सब प्रकारसे दीन-हीन एवं पंगु मनोवृत्ति से ईश्वर के चरणों में शीघ्र से शीघ्र अवतार लेने के लिए पुकार करो। वही संकटहारी है, अतः वही कुछ परिवर्तन ला सकता है। अवतारवाद कहता है कि—देखना,

तुम कहीं कुछ न कर बैठना, तुम मनुष्य हो, पामर हो, तुम्हारे करने से कुछ नहीं होगा। ईश्वर का काम भला दो हाथ वाला हाड़ मांस का क्षुद्र पिंजर मनुष्य कैसे कर सकता है ? ईश्वर की बराबरी करना नास्तिकता है, पहले सिरे की मूर्खता है। इस प्रकार अवतारवाद अपने मूलरूप में दासभावना का झंडाबरदार हैं।

अवतारवाद की मान्यता पर खड़ी की गई संस्कृति, मनुष्य की श्रेष्ठता एवं पवित्रता में विश्वास नहीं रखती। उसकी मूलभाषा में मनुष्य एक द्विपद जन्तु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मनुष्य का अपना भविष्य उसके अपने हाथ में नहीं है, वह एकमात्र जगन्नियता ईश्वर के हाथ में है। वह जो चाहे बना सकता है। मनुष्य उसके हाथ की कठपुतली है। वह पुराणों की भाषा में कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम् की व्याख्या से विश्व का सर्वाधिकारी सम्राट् है। "भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"–गीता।

मनुष्य कितनी ही ऊँची साधना करे, कितना ही सत्य अहिंसा के ऊँचे शिखरों पर विचरण करे, परन्तु वह ईश्वर कभी नहीं बन सकता। मनुष्य के विकास की कुछ सीमा है, और वह सीमा उसकी और ईश्वर की इच्छा के नीचे है। मनुष्य को चाहिए कि वह उसकी कृपा का भिखारी बन कर रहे। इसीलिए तो श्रमणेतर संस्कृति का ईश्वर कहता है—'मनुष्य ! तू मेरी शरण में आ, मेरा स्मरण कर, तू क्यों डरता है ? मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा, शोक मत कर। हाँ, मुझे अपना स्वामी मान और अपने को मेरा दास ! बस इतनी सी शर्त पूरी करनी होगी, और कुछ नहीं। 'अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः'–गीता।

कोई भी विचारशील साधक विचार कर सकता है कि यह मान्यता मानवसमाज के नैतिक बल को घटाती है या नहीं ? कोई भी समाज इस प्रकार की विचार परंपरा का प्रचार कर अपने आचरण के स्तर को ऊँचा नहीं कर सकता। यही कारण है कि भारतवर्ष की जनता का नैतिक स्तर बराबर नीचे गिरता आ रहा है। लोग पाप से नहीं बचना चाहते, पाप के फल से बचना चाहते हैं और पाप के फल से बचने के लिए भी किसी ऊँची कठोर साधना की आवश्यकता नहीं है, केवल ईश्वर या ईश्वर के अवतार राम, कृष्ण आदि की शरण में आ जाना ही इनकी दृष्टि में सबसे बड़ी साधना है, बस इसी से बेड़ा पार है। जहाँ मात्र अपने मनोरंजन के लिये तोते को रामनाम रटाते हुए वेश्यायें तर जाती हों और मरते समय मोहवश अपने पुत्र नारायण को पुकारने पर सर्वनियन्ता नारायण के दूत दौड़ आते हों एवं उस जीवन भर के पापी अजामिल को स्वर्ग में

ले पहुँचते हों, वहाँ भला जीवन की नैतिकता और आचरण की महत्ता का क्या मूल्य रह जाता है ? सस्ती भक्ति, धर्माचरण के महत्त्व को गिरा देती है।

अवतारवाद के आदर्श केवल आदर्शमात्र रह जाते हैं। वे जनता में अपनाने योग्य यथार्थता का रूप कभी नहीं लेते। अतएव जब किसी अवतारी महापुरुष राम, कृष्ण आदि की जीवनलीला लोग सुनते हैं तो किसी ऊँचे आदर्श की बात आने पर झटपट कह उठते हैं कि अहा क्या कहना है ? अजी भगवान् थे, भगवान ! भला भगवान् के अतिरिक्त और कौन दूसरा यह काम कर सकता है ? इस प्रकार हमारे प्राचीन महापुरुषों के अहिंसा, दया, दान, सत्य, परोपकार आदि जितने भी श्रेष्ठ एवं महान् गुण हैं, उन सबसे अवतारवादी लोग मुंह मोड़ सकते हैं, अपने को साफ बचा सकते हैं। अवतारवादियों के यहाँ जो कुछ भी है, सब प्रभु की लीला है। वह केवल सुनने भर के लिये है, आचरण करने के लिए नहीं। भला, सर्वशक्तिशाली ईश्वर के कामों का मनुष्य कहीं आचरण कर सकता है ?

कुछ प्रसङ्ग तो ऐसे भी आते हैं, जो केवल दोषों को ढाकने का ही प्रयत्न करते हैं। जब कोई विचारक किसी भी अवतार के रूप में माने जाने वाला व्यक्ति का जीवनचरित्र पढ़ता है, और उसमें कोई नैतिक जीवन की भूल पाता है और विचारक होने के नाते वह आलोचना करता है, अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहता है, तो अवतारवादी लोग विचारक का यह अधिकार छीन लेते हैं। ऐसे प्रसंगों पर वे प्रायः कहा करते हैं— अरे तुम क्या जानो ? यह सब उस महाप्रभु की माया है। वह जो कुछ भी करता है, अच्छा ही करता है। जिसे हम आज बुराई समझते हैं, उसमें भी कोई न कोई भलाई ही रही होगी ! हमे श्रद्धा रखनी चाहिए, ईश्वर का अपवाद नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अवतारवादी लोग श्रद्धा की दुहाई देकर स्वतंत्र चिन्तन एवं गुणदोषपरीक्षण के सिहद्वार सहसा बन्द कर देते हैं। श्रीमद्भागवत् के दशम स्कन्ध में जब राजा परीक्षित ने श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ उन्मुक्त व्यवहार का वर्णन सुना तो वह चौंक उठा। भगवान् होकर इस प्रकार अमर्याद आचरण। कुछ समझ में नहीं आया। उस समय श्री शुकदेव ने, देखिए, कैसा अनोखा तर्क उपस्थित किया है। वे कहते हैं–'राजन् ! महापुरुषों के जीवन सुनने के लिए है, आचरण करने के लिए नहीं।' कोई भी विचारक इस समाधानपद्धति से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। वे महापुरुष हमारे लिए बहुत काम के कैसे हो सकते हैं जिनके जीवनवृत्त केवल सुनने के लिए हों, विधिनिषेध के रूप में अपनाने के लिए नहीं ? क्या इनके जीवन-चरित्रों से फलित होने वाले आदर्शों को अपनाने के लिए अवतारवादी

साहित्यकार जनता को कुछ गहरी प्रेरणा देते हैं ? इन सब प्रश्नों का उत्तर यदि ईमानदारी से दिया जाय तो अवतारवादिनी विचारपरंपरा में एकमात्र नकारके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

श्रमणसंस्कृति का आदर्श ईश्वर का अवतार न होकर मनुष्य का उत्तार है। यहाँ ईश्वर का मानव रूप में अवतरण नहीं माना जाता, प्रत्युत मानव का ईश्वर के रूप में उत्तरण माना जाता है। अवतरण का अर्थ है—नीचे की ओर आना और उत्तरण का अर्थ है ऊपर की ओर जाना। हाँ, तो श्रमण संस्कृति में मनुष्य से बढ़कर और कोई दूसरा श्रेष्ठ प्राणी नहीं है। मनुष्य केवल हाड़ माँस का चलता फिरता पिंजरा नहीं है, प्रत्युत वह अगाध अनन्त शक्तियों का पुंज है। वह देवताओं का भी देवता है, स्वयं सिद्ध ईश्वर है। परन्तु जब तक वह संसार की मोह माया के कारण कर्ममात्र से आच्छादित है तब तक वह अन्धकार से घिरा हुआ सूर्य है, फलतः प्रकाश दे तो कैसे दे ? सूर्य को प्रकाश देने से पहले रात्रि के सघन अन्धकार को चीरकर बाहर आना ही होगा।

हां, तो ज्यों ही मनुष्य अपने होश मे आता है, अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप को पहचानता है, पर परिणति को त्याग कर स्वपरिणति को अपनाता है तो धीरे धीरे निर्मल, शुद्ध एवं स्वच्छ होता चला जाता है और एक दिन अनन्तानन्त जगमगाती हुई आध्यात्मिक शक्तियों का पुंज बनकर मान-वता के ऊर्ध्वमुखी विकास की चरम कोटि पर पहुँच कर शुद्ध, बुद्ध परमात्मा अरिहन्त, ब्रह्म तथा ईश्वर बन जाता है। श्रमणसंस्कृति मे आत्मा की चरम शुद्ध दशा का नाम ही ईश्वर है, परमात्मा है। इसके अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं ! 'कर्मबद्धो भवेज्जीवः कर्ममुक्तस्तथा शिवः।'

यह है श्रमणसंस्कृति का उत्तारवाद, जो मनुष्य को अपनी ही आत्म-साधना के बल पर ईश्वर होने के लिए ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा देता है। यह मनुष्य के अनादिकाल से सोये हुए साहस को जगाता है, विकसित करता है, उसे सत्कर्मों की ओर मोड़ता है, उसे पामर मनुष्य कह कहकर भंग नहीं करता। इस प्रकार श्रमणसंस्कृति मानवजाति को ऊपर चढ़ना सिखाती है।

श्रमण संस्कृति का हजारों वर्षों से यह प्रघोष रहा है कि वह सर्वथा परोक्ष एवं अज्ञात ईश्वर मे बिलकुल विश्वास नहीं रखती। इसके लिए उसे तिरस्कार, अपमान, लाञ्छना, भर्त्सना, घृणा जो भी कड़वे से कड़वे रूप मे मिल सकती थी, मिली। परन्तु वह अपने प्रशस्त पथ से विचलित नहीं हुई। उसका बारम्बार यही कहना रहा कि जिस ईश्वरनामधारी व्यक्ति की स्वरूप संबंधी कोई रूपरेखा हमारे सामने नहीं है, जो अनादि काल से

मात्र कल्पना का विषय ही रहा है जो सदा से अलौकिक ही रहता चला आया है, वह हम मनुष्यों को क्या आदर्श दिखा सकता है ? उसके जीवन एवं व्यक्तित्व पर से हमें क्या कुछ मिल सकता है ? हम मनुष्यों के लिए तो वही आदर्श आराध्यदेव चाहिए, जो कभी मनुष्य ही रहा हो। हमारे समान ही संसार के सुखदुख एवं मोहमाया से सत्रस्त रहा हो, और बाद में अपने अनुभव एवं आध्यात्मिक जागरण के बल से संसार के समस्त सुख भोगों को ठुकराकर निर्वाणपद का पूर्ण अधिकारी बना हो ; फल स्वरूप सदा के लिए कर्मबन्धनों से, रागद्वेष से मुक्त होकर अपने मोक्ष स्वरूप अन्तिम आध्यात्मिक लक्ष्य पर पहुँचा हो।

श्रमण संस्कृति के तीर्थंकर, अरिहन्त, जिन एवं बुद्ध सब इसी श्रेणी के साधक थे। वे कुछ प्रारम्भ से ही ईश्वर न थे, ईश्वर के अंश या अवतार न थे, अलौकिक देवता न थे। वे बिलकुल हमारी तरह ही एक दिन इस संसार के क्षुद्र पामर प्राणी थे, वासनाओं के गुलाम थे, पापमल से लिप्त एवं दुःख, शोक, आधि, व्याधि से संत्रस्त थे। इन्द्रिय सुख ही एकमात्र उनका ध्येय था और उन्हीं वैषयिक कल्पनाओं के पीछे अनादिकाल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते, जन्म मरण के झंझावात में चक्कर खाते घूम रहे थे। परन्तु जब वे आध्यात्मिक साधना के पथ पर आए, सम्यक्दर्शन के द्वारा जड़ चेतन के भेद को समझे, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख के अन्तर को ध्यान में लाये, फलतः संसार की वासनाओं से मुंह मोड़ कर सत्पथ के पथिक बने, और आत्मसंयम की साधना में लगातार अनेक जन्म बिता कर अन्त में एक दिन वह मानव जन्म प्राप्त किया कि जहाँ आत्मसाधना के विकास स्वरूप अरिहन्त, जिन एवं तीर्थंकर रूप में प्रकट हुए। श्रमणसंस्कृति के प्राचीन धर्म ग्रन्थों में आज भी उनके पतनोत्थान संबंधी अनेक महत्वपूर्ण अनुभव एवं कर्तव्य साधना के क्रमबद्ध चरण चिन्ह मिल रहे है, जिनपर यथासाध्य चलकर हर कोई साधक अपना आत्मकल्याण कर सकता है, अरिहन्त एवं जिन बन सकता है। राग द्वेष विजेता अरिहन्तों के जीवन सम्बन्धी उच्च आदर्श, साधक जीवन के लिए क्रमबद्ध अभ्युदय एवं निःश्रेयस के रेखा चित्र उपस्थित करते है। अतएव श्रमण संस्कृति का उत्तारवाद केवल सुनने भरके लिए नहीं है,जीवन के हर अंग में गहरा उतारने के लिए है। उत्तरवाद, मानव जाति को पाप के फल से बचने की नहीं, अपितु स्वयं पाप से ही बचने की प्रेरणा देता है और जीवन के ऊँचे आदर्शों के लिए जनता के हृदय में अजर, अमर, अनन्त सत्साहस की ज्योति जगा देता है।

अपरिग्रहवाद : साम्यवाद

रघुवीरशरण 'दिवाकर'

संसार मे जितनी भी विचारधाराएँ है, प्रायः सभीने किसी न किसी रूप में अपरिग्रह की भावना को मान दिया है। अलग-अलग भाषाओं में तरह-तरह के नामो से इसे पुकारा गया है और समय-समयकी परिस्थितियों व समस्याओं को सामने रखकर इसका कथन किया गया है। लेकिन परम्परा के मोह और दृष्टिकोण की संकीर्णता मे फंसकर हम एक विशेष समय व परिस्थिति के सत्य को भूल कर सार्वत्रिक व सार्वकालिक दृष्टि से ही अपरिग्रहवाद के किसी एक बाह्य रूप को ही पकड़ बैठे है और आज की विशेष परिस्थितियों व मनःस्थितियों पर उसे लाद देना चाहते है। हम यह भूल जाते है कि किसी भी सिद्धान्त या वाद का कोई भी बाह्य या व्यावहारिक रूप स्वयं वह सिद्धान्त वाद नहीं है। पारिभाषिक शब्दों में हम यह कह सकते है कि आज हम व्यवहार को ही अपनी विचार-सरणि का विचार-स्तम्भ बना बैठे हैं और यह भूल गये है कि "वास्तविक या ठोस दृष्टिकोण या साम्यदर्शन निश्चयनय को लेकर ही हो सकता है। व्यवहार वही उपादेय है जो निश्चय की ओर जाता हो।" ऐसी हालत में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की परिस्थितियाँ बदलने के साथ-साथ व्यवहार या बाहरी आचरण का बदलना भी अनिवार्य ही है। यही नहीं, जहाँ यह व्यवहार-परिवर्तन नहीं होगा, वहाँ निश्चय या मूल-सत्य की रक्षा होना असंभव है। अपरिवर्तन या प्रतिक्रियावादी नीति ग्रहण कर अपरिग्रहवाद की मूल भावना व उसकी सच्ची साधना को हमने क्षति ही पहुँचाई है। हम साधन को साध्य बनाकर अपने मार्ग से च्युत हो गये है। यह सीधा साधा सरल सत्य भी हमारे उपयोग का विषय नहीं रहा है कि साधन साध्य की साधना में सहायक हो, यही उसका औचित्य है। यदि वह साध्य को पदच्युत करके स्वयं उसके आसन पर बैठ जाए तो यही होगा कि साध्य ठोकर खाए, साधक भटक जाए और साधना व्यर्थ जाए। अपरिग्रहवादके विषय में भी ऐसी ही भूल जो हम सदियों से कर रहे हैं, दूर करें, यह आज की परिस्थिति व विचारधाराकी एक बड़ी जबरदस्त माँग है। साम्यवाद–समाजवाद की जो आँधी दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक चल रही है, और ललकार रही है, वह हमें विवश कर रही है

कि यदि हमें आज के मानव की समस्याओं को सुलझाना है तो हम अपरिग्रहवादके सच्चे स्वरूप को देखने और समझने का प्रयत्न करें।

कई हजार वर्ष पहले समाज व्यवस्था और विशेषतया उसका आर्थिक पहलू बहुत पेचीदा नहीं था। उस समय व्यक्तिवाद के आधार पर ही अपरिग्रहवाद की भावना को टिकाना यथेष्ट था। समष्टि या समाज के धरातल पर उसे लाने की समस्या उस समय सामने नहीं थी। आज की समाज व्यवस्था ऐसी-ऐसी जटिल समस्याएँ हमारे सामने रख रही है, जिसका स्वप्न या कल्पना भी हजारों वर्ष पहले का मानव नहीं कर सकता था। जन-वृद्धि, अर्थ-संघर्ष व अन्य राजनैतिक और सामाजिक कारणों से आज हम ऐसी स्थिति में आ गए हैं कि हम व्यक्ति को लेकर ही कोई ऐसी व्यवस्था नहीं बना सकते जिससे मनुष्य का कल्याण हो। यह ठीक है कि व्यक्तिवाद एक सत्य है और किसी भी युग में उसे दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। पर समाज भी तो आखिर व्यक्तियों का ही समूह है। व्यक्ति समाज की इकाई है, वह समाज का मूलाधार है। अनेक व्यक्ति मिलकर अपने अपने व्यक्तित्व का कुछ भाग एक जगह संगृहीत करके ही तो एक बृहत् समाज-व्यक्ति को जन्म देते हैं। यह एक आदान-प्रदान-मय व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता का कुछ अंश समाज के हाथों मे सौंपता है और बदले मे अपनी शेष स्वतंत्रता में किसी दूसरे की ओर से हस्तक्षेप न होने का संरक्षण पाता है। वास्तव में इस पारस्परिक पराधीनता का ध्येय वैयक्तिक स्वतंत्रता ही है। समाज निर्माण के इस सत्य को हम समझें तो समष्टिवाद की विचारधारा को हम व्यक्ति का विरोधी न मानकर उसका सहायक या संरक्षक ही मानेंगे। तब हमें यह प्रस्ताव न खटकेगा कि 'समष्टि की दृष्टि से अपरिग्रहवाद या किसी भी व्यवस्था का नया रूप तैयार किया जाय या कोई नयी व्यवस्था बनाई जाय।' तब हमें 'समाज व्यक्ति के लिए है' व्यक्तिवाद की यह दुहाई समष्टिवाद के उस मन्तव्य से कि 'व्यक्ति समाज के लिए है' दूर न दिखाई देगी। 'व्यक्ति समाज के लिए है' इसका भाव यही है कि व्यक्ति पर यह जिम्मेवारी है कि जिस समाज का उसने अपने संरक्षण व विकास के लिए संघटन किया है, उसे वह समुन्नत व विकसित करे ताकि सामूहिक रूप से समाज का या अधिक से अधिक व्यक्तियों का अधिक से अधिक कल्याण हो, समष्टि के लिए व्यक्ति का बलिदान हो। वास्तव में व्यक्ति का हित व कल्याण इसी में है। ऐसी परिस्थिति में अपरिग्रहवाद को आज हम व्यक्तिवाद के एकान्तवादी दृष्टिकोण से ही देखते रहें, यह किसी भी तरह ठीक नहीं है। हमें अपरिग्रहवाद की सच्ची प्रतिष्ठा

करती है। यही नहीं, बल्कि व्यक्तिवाद के दृष्टिकोण के अनुसार भी यदि अपरिग्रहवाद को उसके वास्तविक अर्थ में जीवित रखना है तो भी हमें अपरिग्रहवाद का सामाजिक संस्करण बनाना ही होगा।

परिग्रह पाप है क्योंकि परिग्रह के संग्रह से मनुष्य राग, द्वेष, मोह, माया ममत्व, मूर्छा आदि विकारों की दुखदायी दलदल में फँसता है। परिग्रहके निमित्त से मनुष्य के हृदय या मस्तिष्क या आत्मा में विकार भाव उत्पन्न होते हैं। इससे व्यक्ति के अन्तरङ्ग समय की हिंसा होती है। और वह व्यक्ति के गुणों को तथा व्यक्ति के सच्चे सुख और आनन्द को नष्ट करती है। इसलिए अपरिग्रह व्रत की अहिंसक साधना से ही मनुष्य का वास्तविक कल्याण है : यह है संक्षेप में अपरिग्रहवाद की विचारधारा। इस विचारधारा को लेकर व्यक्ति को यह उपदेश दिया जाता रहा है कि वह उतना ही परिग्रह रखे जितना उसके लिए आवश्यक हो। परिग्रह वास्तव में कोई बाह्य पदार्थ नहीं है बल्कि वह ममत्व या मोह है जो व्यक्ति बाह्य पदार्थों के प्रति रखता है। अपरिग्रह व्रत में संग्रहमात्र का निषेध नहीं है किन्तु उसके अधिक संग्रह का निषेध है ताकि कोई व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक परिग्रह रखकर दूसरे के न्यायोचित अधिकारों का अपहरण न करे। जिन महात्माओं नें अपरिग्रह पर विशेष रूप से जोर दिया है और परिग्रह को मूल पापों मे गिना है, उन्होंने भी बताया है कि जिस परिग्रह से रागादि भाव उत्पन्न न हों, ममत्व, मूर्छा या आसक्ति के भाव हृदय मे न आये या ऐसे ही दूसरे अशुद्ध विकार उत्पन्न न हों, वह परिग्रह पाप नहीं है। ऐसा परिग्रह गृहस्थ तो क्या, साधु, त्यागी, मुनि आदि के पास भी पड़ा रह सकता है। पाप केवल बाहरी क्रिया का ही नाम नहीं है किन्तु यह अभिप्राय या भाव पर निर्भर है। जहाँ अनुचित रूप मे स्वामित्व की व अधिकार की भावना है, जहाँ दूसरों के अधिकार का अपहरण है, वहीं परिग्रह पाप है। लेकिन जितना परिग्रह हमें अपने जीवन-निर्वाह व कर्तव्य-पालन के लिए आवश्यक है, उसका संग्रह व उपभोग करना अनासक्त व निर्लिप्त रहते हुए उपयोगी व आवश्यक परिग्रह को काम में लाना पाप नहीं है।

अपरिग्रहव्रत त्याग मूलक नहीं है किन्तु अग्रहण मूलक है। यह रहस्य कुछ सूक्ष्म है पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसे न समझने से काफी अनर्थ हो सकता है, जैसा कि हुआ भी है। व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक परिग्रह का संग्रह करे और तत्पश्चात् उसमें से दान करे या अपने पुत्रादि को देकर उसका त्याग करे, यह मूल रूप से अपरिग्रहव्रत नहीं है। अपरिग्रह-

वाद आवश्यकता से अधिक ग्रहण न करने का विधान करता है। इस अपेक्षा से जो भी अनावश्यक रूप से परिग्रह का संग्रह करता है वह पापी है। फिर यदि वह उस परिग्रह-भंडार मे से कुछ का त्याग करता है तो सैद्धान्तिक दृष्टि से उसे भूल सुधार या पूर्व संचित पाप का प्रायश्चित ही कह सकते हैं। मूल रूप से उसे पुण्य या एक सद्वृत्ति कहना अपरिग्रहवाद के आदर्श के साथ न्याय करना न होगा। त्याग का यह रूप कि 'व्यक्ति अपनी संपत्ति अपने पुत्र, मित्र व अन्य संबंधियों को देकर स्वयं साधु बन जाय' ऐसा महान् नहीं है जिसे ऊँचे आसन पर बिठाया जा सके। इस त्यागरूपी अमृत में मोह की तलछट जमी हुई है। विश्वबन्धुत्व रूप साधु-धर्म की दीक्षा लेते समय सन्तान परिवार आदि का यह अनुचित मोह उसके नवजीवन की एक अमाङ्गलिक भूमिका है। समाज व्यवस्था के नियमों के अनुसार जितनी संपत्ति पर संतान आदि का न्यायोचित अधिकार है, उसके अतिरिक्त संपत्ति का संग्रह करके फिर त्याग करना मोह प्रेरित कार्य है। यह अपरिग्रहवाद की सच्ची भावना से कोसों दूर है, और कभी भी सराहनीय या क्षम्य नहीं है। त्याग और दान का अपना एक मूल्य है और वह मूल्य चमक उठता है जब कि वह त्याग या दान समाज के लिए ही हो। आवश्यकता से अधिक जो कुछ अपने पास है, समाजहित के लिए उसका त्याग प्रकारान्तर से अपरिग्रहव्रत का पालन है। लेकिन यह सत्य कभी न भुलाना चाहिए कि आवश्यकता से अधिक संग्रह करने के बाद सच्चे अर्थों मे अपरिग्रह व्रत के लिए क्षेत्र नहीं रह जाता है। अपरिग्रहवाद की साधना न तो आवश्यकता से कम परिग्रह रखने में है और न आवश्यकता से अधिक परिग्रह जोड़ने में ही। वह साधना तब शुरू होती है जब कि व्यक्ति आवश्यकता के अनुसार परिग्रह-संग्रह के बाद अधिक परिग्रह स्वीकार नहीं करता है अर्थात् अधिक परिग्रह मिल सकने की परिस्थिति में भी उतना ही परिग्रह रखता है जितना आवश्यक है। यह स्पष्ट ही है कि ऐसी साधना में अग्रहण है, गृहीत का त्याग या दान नहीं है।

प्रश्न—तो क्या त्याग या दान अपरिग्रहवाद की साधना का अंग न होने से पुण्य नहीं है। फिर क्यों बड़े बड़े विचारकों ने दान को एक पुण्य व्रत माना है और उसका माहात्म्य गाया है?

उत्तर—जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके है, हजारों वर्ष पहले पूंजीवाद का वह विकराल दानव मानव-समाज के सामने नहीं था जैसा कि आज है। उस समय पूंजीवादी व्यवस्था के पाप का घड़ा भरा नहीं था और फलतः ऐसी समस्याएँ सामने नहीं थीं कि ज्यादा गहराई में जाकर पूंजी-

वाद के जीवन के भविष्य के विषय में शंका उठाई जाती। इसलिए उस समय के विचारकों ने अपनी अर्थ-दृष्टि पूंजीवाद के भीतर ही डाल पायी थी और तभी वे दान और परिग्रह-त्याग को मनुष्य के कल्याण का कारण समझे थे। लेकिन आज वह परिस्थिति नहीं है कि पूंजीवाद का किला अभेद्य दिखलाई दे। केवल आदर्श या विचारधारा की अपेक्षा ही नहीं किन्तु व्यवहार की दृष्टि से भी आज पूंजीवाद की अपरिहार्य आवश्यकता की दुहाई अमान्य हो चुकी है। आज आर्थिक समानता या साम्यवाद की विचारधारा ने विचार-जगत् में तहलका मचा दिया है। इससे आज का मानव प्राचीन काल से चली आई हुई इस पूंजीवादी व्यवस्था को विकृति-पूर्ण व हेय मानता है : वह इसके मूलोच्छेदन में ही मनुष्य का कल्याण देखता है। दान की दिखनेवाली उपयोगिता या आवश्यकता तभी है जब कि समाज की आर्थिक व्यवस्था पूंजीवादी हो या जब कि समाज में आर्थिक विषमता, जैसी कि आज अधिकतर है, हो। इसलिए आदर्श समाज वही है जिसमे दान को आवश्यक बनाने की कोई परिस्थिति ही न हो। मनुष्य का ध्येय यह होना चाहिए कि वह संसार में फैली हुई आर्थिक विषमता को दूर करके समता लाए। ऐसी हालत मे दान को पुण्य या मूल रूप से सद्वृत्ति मानने का प्रश्न कहाँ खड़ा होगा ? दान को गौरव प्रदान करने से आर्थिक समानता का महान् आदर्श गिरेगा ही। दान मे कुछ सहज दोष भी स्वभावतया है। दान देने वाले मे अहवृत्ति या अहंमन्यता की भावना व्यक्त या अव्यक्त रूप से परिपुष्ट होती है, यशस्वी होने या महान् कहलाने का झूठा संतोष मिलता है, और उसके परिणाम स्वरूप जीवन विकास की सच्ची साधना को हानि पहुँचती है। दूसरी ओर दान लेने वाले में दीनता, अकर्मण्यता, मुफ्तखोरी या हरामखोरी, परावलम्बन का भाव तथा कृतज्ञता की गुलामी मिश्रित भावना आती है जो व्यक्तित्व के सच्चे विकास को रोक देती है कहीं कहीं दम्भ को भी प्रश्रय देता है और सूक्ष्म रूप से धन संग्रह को प्रोत्साहन देता है। इससे परिग्रह को पाप मानने की भावना नष्ट हो जाती है। जहाँ सत्याराधना की दृष्टि से दान को निष्कलंक नहीं कहा जा सकता, वहाँ नीति व व्यवहार धर्म की दीर्घकालीन दृष्टि से भी उसे संयम के आसन पर विराजमान नहीं किया जा सकता। हाल ही मे जो यह विचारधारा चली है कि पूंजीपति गरीबों, किसानों, मजदूरों व अन्य श्रमजीवियों के ट्रस्टी, संरक्षक या अविभावक बनकर रहें, वह भी दान की तरह ही एक प्रतिक्रिया वादी भावना है। मूल में ही जो त्रुटि है उसको आधार बनाकर कैसी भी अच्छी से अच्छी व्यवस्था बनाई जाय, वह आदर्श के

आसन पर नहीं बिठाई जा सकती। आदर्श कहलाने का गौरव तो उस मूल में ही जो भूल है उसके सुधार की योजना को देना होगा। इस तरह हम देखते है कि आज मनुष्य के सामने दान का आदर्श नहीं है बल्कि उस आर्थिक समानता का आदर्श है जो दान को अनावश्यक ठहराती है।

यहाँ हम एकदम आर्थिक समानता या साम्यवाद के सिद्धान्त पर आ जाते है और हम यह देखना चाहते है कि अपरिग्रहवाद के पुरातन आदर्श का दृष्टिकोण को यहाँ आदर मिला है या नहीं, अथवा अपरिग्रहवाद के सामाजिक या समष्टिवादी संस्करण का प्रश्न अर्थात् आज के युग की समस्याओं व आवश्यकताओं को देखते हुए उसके नए बाह्य रूप के बनाने या ढूंढ़ने का प्रश्न यहाँ हल होता है या नहीं ? बड़े ही आश्चर्य के साथ हम यह देख पाते है कि बहुत अंशों मे हमारी यह कठिनाई साम्यवाद हल करता है या कम से कम इस कठिनाई को हल करने के लिए एक मार्ग हम वहाँ पाते है।

अपरिग्रहवाद के मूल में यह भाव है कि व्यक्ति किसी बाहरी पदार्थ में अपनेपन का या स्वामित्व का अथवा मोह-ममत्व का भाव न रखे, इधर साम्यवाद निजी संपत्ति को समाप्त करता है और ऐसी स्थिति लाता है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी पदार्थ को 'अपना ही' न कह सके और उसमें उसकी विशेष आसक्ति या मूर्च्छा आदि न हो, संसार की सारी संपत्ति व उत्पादन के समस्त साधन सामूहिक रूप से सारे मानव समाज द्वारा ही अधिकृत हों। जैसे अपरिग्रहवाद किसी भी व्यक्ति को आवश्यकता से अधिक परिग्रह रखने का निषेध करता है वैसे ही साम्यवाद का लक्ष्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता के अनुसार काम करे और अधिकार रूप से अपनी आवश्यकता के अनुसार धन पाए। इस तरह साम्यवाद एक बड़े पैमाने पर समाज की व्यवस्था ऐसी बना देना चाहता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति निष्परिग्रही बने। जिसमें अपरिग्रहव्रत का पालन व्यक्ति के लिए अनिवार्य हो। जिसमें आवश्यकता के अनुसार ही परिग्रह पाकर व्यक्ति अनासक्त भाव से उसको काम में लाए। साथ ही निर्लिप्त भाव से समाज के कार्यक्षेत्र में वह जैसी भी अच्छी से अच्छी और मानव हितकारी और समाजोपयोगी देन दे सकता है, दे। यहाँ अपनी विशेष या अलग संपत्ति का प्रश्न न होने से आसक्ति, लिप्सा, पारस्परिक प्रतियोगिता, ईर्ष्या, ममत्व या मूर्च्छा, लोभ या प्रलोभन, पापपूर्ण धनोपार्जन तथा किसी भी ऐसी बुराई की जड़ जमने का प्रश्न खड़ा नहीं होता। मनुष्य की यह मान्यता कि वह समाज की इकाई है, और जहाँ समाज उसके लिए है वहाँ वह भी

समाज के लिए है उसमें कर्तव्य पालन की उत्कट भावना उत्पन्न करती है। वह व्यक्ति के आचार-विचार के ऊँचे स्तर पर और समय पड़ने पर समाज के कल्याण के लिए अपना बलिदान करने के लिए भी तैयार करती है। यहां तो आवश्यकता के अनुसार ही ग्रहण करने और गृहीत के सेवन करने का सीधा-साधा प्रश्न ही सामने है। इस तरह हम गहराई से देखें तो हमें पता लगेगा कि साम्यवाद अपरिग्रहवाद का जिसके तरह तरह के बाह्य रूप वैयक्तिक दृष्टिकोण से पूंजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा हमारे सामने आते रहे हैं—एक सामाजिक रूप का नया विधान है। या यों कहिये कि साम्यवाद अपरिग्रहवाद का सामाजिक संस्करण है। यह सामाजिक संस्करण सामूहिक रूप से मानवसमाज को परिग्रहवाद के चंगुल से छुड़ाने का ही काम नहीं करता बल्कि जैसा कि साम्यवादी विचारधारा व उसके मूलभूत सिद्धान्तो के परिणाम स्वरूप समाज की आर्थिक व्यवस्था का होना देश काल की दृष्टि से अनिवार्य है, करने की प्रेरणा देता है। ऐसी हालत में यदि स्थूल रूप से यह कहा जाय कि साम्यवाद अपरिग्रहवाद की भावना का ही एक मूर्तिमन्त स्वरूप है या ये दोनों वाद मूलतः एक ही है, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

एक बात और है। साम्यवाद अपरिग्रहवाद का एक दूसरा ही रूप नहीं है बल्कि यह उसका ऐसा परिष्कृत रूप है जिसमे अपरिग्रहवाद की अति के लिए कोई स्थान नहीं रह पाता है। अपरिग्रहवाद के नाम पर मनुष्य को जड़वत् निरर्थक कष्ट सहन करने वाला, अनावश्यक रूप से निवृत्तिवादी तथा अकर्मण्य, अनुद्योगी, आलसी, अनुपयोगी और स्वार्थी बनाने की जो आँधी त्याग तपस्या और आत्मशुद्धि के नाम पर चली है, उसे साम्यवादी अपरिग्रहवाद मे प्रश्रय नहीं मिल सकता। अपरिग्रहवाद को विशेषतया श्रमण संस्कृति के प्रवर्तकों ने प्रतिभासित किया है। निश्चयरूप से श्रमण संस्कृति की सबसे बड़ी देन 'श्रम का महत्त्व' साम्यवाद का आधार स्तम्भ है। यहाँ निर्लिप्त व निष्काम भाव से कर्तव्य पालन करने की परिस्थिति है। श्रम यहाँ गौरवान्वित है। स्वावलंबन यहाँ स्वयं प्रतिष्ठित है। प्रत्येक व्यक्ति समाज की इकाई होने से यहाँ समान है। रंग, जाति, संप्रदाय, राष्ट्र, लिंग किसी भी तरह के भेदभाव को लेकर ऊँचनीच का प्रश्न यहाँ पर नहीं है। सहज ही इस व्यवस्था में आदर्श और व्यवहार ऐसी अच्छी तरह समन्वित व एकरूप हो गये है कि निवृत्ति के एकान्तवाद को यहाँ स्थान नहीं है और साथ ही प्रवृत्ति की अति के लिए भी कोई गुंजाइश नहीं है। यहाँ समष्टि के हित का प्रश्न सदैव व्यक्ति की लालसा पर सात्त्विक बंधन है।

यहाँ व्यक्ति नियमरूप से अपरिग्रहव्रती है, साधक है, समाज-सेवक है, वास्तविक मनुष्य है। ऐसे दिव्य अपरिग्रहवाद को या साम्यवाद[१] को जिसमें अपरिग्रह-वाद के सर्वोत्कृष्ट स्वरूप के निर्माण की उपादान सामग्री विद्यमान है, कौन अपरिग्रहवादी प्रणाम न करेगा? कौन वह व्यक्ति है जो सच्चे हृदय से यह नहीं चाहता है कि परिग्रहरूपी पाप की कालिमा से यह मनुष्य छुटकारा पाए। कौन समता के इस परम पावन मन्दिर में आकर नतमस्तक न होगा?

---

१ इस लेख में साम्यवाद शब्द का प्रयोग साम्यवाद के मूल सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर ही किया गया है। बहुत से साम्यवादी कहलाने वाले व्यक्तियों के द्वारा आज साम्यवाद की जो अप्रभावना हो रही है, उसके परिणाम-स्वरूप साम्यवाद के नाम पर फैली हुई भ्रमपूर्ण धारणाओं की यहाँ अपेक्षा नहीं की गई है। मूल रूप से साम्यवाद एक अपूर्व अहिंसात्मक समतावाद है और इस अध्यात्मवाद से उसके संघर्ष का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता है बल्कि यदि अध्यात्मवाद और साम्यवाद को ठीक ठीक रूप में समझा जाय तो दोनों एक दूसरे के पूरक ही दिखेंगे।

—लेखक

सेवाग्राम और शान्तिनिकेतन

–ठाकुरप्रसाद सिंह

सेवाग्राम और शान्तिनिकेतन केवल दो स्थान ही नहीं हैं। दोनों के साथ इस युग की दो विभूतियों का नाम जुटा हुआ है। सेवाग्राम के पीछे गान्धीजी के ७९ वर्षों का अनुभव है और जीवन के साथ जितना भी प्रयोग किया गया है उसका मूर्त्तरूप यहाँ देखा जा सकता है। शान्तिनिकेतन गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की कला का केन्द्र है और उनकी विश्वबन्धुत्वकी कल्पनाका बीजरूप है। जीवन और कल्पना यदि दो वस्तुएँ है तो सेवाग्राम और शान्तिनिकेतन में अवश्य अन्तर है।

मैंने शान्तिनिकेतन पहले देखा इसलिए सेवाग्राम देखते समय हमेशा शान्तिनिकेतन पृष्ठभूमि मे अवस्थित रहा। शान्तिनिकेतन की पृष्ठभूमि में यों सेवाग्राम तो नहीं था पर सदाकत आश्रम ऐसे कुछ छोटे मोटे आश्रम अवश्य थे। लोग कहेंगे कि एक विश्वविद्यालय को एक आश्रम के साथ रखना क्या उचित होगा ?

आश्रम के साथ विद्यालय रखना तो उचित नहीं किन्तु यहाँ मैं सहूलियत के लिये ही इसे आश्रम या विद्यालय बना रहा हूँ। असल मे दोनों प्रयोग–क्षेत्र हैं और आनेवाले हिन्दुस्तान मे इनकी सफलता पर ही तो दो विभूतियों का निर्णय होगा। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि एक युग की विभीषिकाओं मे नरवलिस्तानों से इन प्रयोगों का मतलब केवल इतना ही नहीं होता कि उस युग के लोगों को राह मिले और राहत मिले। इन प्रयत्नों का तात्कालिक महत्त्व जो होता है वह तो होता ही है पर भविष्यत् का महत्त्व भी इनका कम नहीं होता। यह इसलिए कि इनमे निर्माता का अगली दुनिया का स्वप्न छिपा रहता है। मौका पड़ने पर वे इस स्वप्न का प्रयोग यथार्थ जगत् में अवश्य करेंगे इसकी आशा हम सबको रहती है। आज गान्धी और रवीन्द्र हमसे दूर हो गये हैं। भारत स्वतंत्र अवश्य हुआ है किन्तु जिन नयनों ने उसके स्वर्गोपम रूप का चित्रण दूर अन्धकार मे देखा था वे आज बन्द हो गये हैं। टैगोर ने सोचा था :—

Where the mind is free
And the world is not been broken
in to narrow domestic walls
Into that land of freedom My Father
let my country awake!

'उस स्वतंत्रता के देश में मेरा देश जाग्रत हो' की कल्पना करते ही टैगोर ने जब आँखे मूंदी तब चारों ओर अन्धेरा ही था और मनुष्य संकीर्ण दीवारों को तब भी न ढहा पाया था किन्तु उनका वह स्वप्न बीज रूप में जहाँ साँसें ले रहा है उसका पोषण अब तक हो रहा है और भविष्य ने अगर उसे स्वीकार किया तो संभवतः उसके साथ कवि भी सफल हो जाय।

दूसरी ओर गान्धी का स्वप्न है जो भारत के साथ ही विश्व के परिवर्तन के लिए 'नूह' की नाव बनकर सागर की लहरों पर उछल रहा है। वह स्वप्न ऐसा नहीं है जो जीवन से दूर कुछ जोड़ने या लगाने से पूरा हो। वह तो मनुष्य को स्वयं अपने भीतर की अतल गहराइयों मे उतरने को कहता है। विषमताओं के ढेर के नीचे जो सच्चा मानव दबा पड़ा है उसके उद्धार की कामना यहाँ की गयी है। चर्खे को मूल में रखकर जो एक व्यवस्था का क्रम चलाया जाता है उसकी जड़ यथार्थ के पास ही अधिक है। आदर्शवादी दोनों है पर राह दोनों की दो ओर से आती है। टैगोर जीवन के झूले को स्वप्न की छाया मे कल्पना की डाल पर झुलाना चाहते है जिसमे निगाह हमेशा ऊपर रहती है। गान्धी जीवन को जीवन की विषमता में पाना चाहते हैं। वे जीवन की गारण्टी अवश्य देते है पर साथ ही विषमताओं और रूढ़ियों के ऊबड़ खाबड़ पथ से भी ऊपर उठना नहीं चाहते। एक इस एकता को स्वर्गिक मानता है और दूसरा जागतिक। इस अवसर पर गान्धी और टैगोर के एक पुराने विवाद की याद आती है। असहयोग आन्दोलन के समय जब एक ओर गान्धी जी विदेशी संस्कृति तथा अर्थधारा को भारत में एकाएक रोक देने की घोषणा कर रहे थे उस समय टैगोर ने इसका उग्र प्रतिरोध करते हुए कहा था कि यह जैसे जीवन की नयी धारा को ही रोक देना होगा। जब एक पक्षी नये प्रभात में प्रसन्नता से विभोर होता है तब उसके पंख भी खुले होने चाहिये और कंठों से एक नया स्वर निकलेगा ही। इस समय ऐसा नहीं केवल कह देने से तो काम नहीं चलेगा। उनके बड़े पत्र का यही सारांश था जिसका उत्तर देते समय गाँधी जी भी एक बार यथार्थवादी के साथ साथ कवि बन गये थे। उन्होंने एक घटना का उल्लेख करते हुए कहा कि, 'जब उड़ीसा में भयंकर अकाल पड़ रहा था तब मैं गाँव गाँव घूम रहा था। वहीं घूमते घूमते एक पेड़ के नीचे एक पक्षी को पड़ा देखा जिसकी चेतना तो एकदम गायब थी और शीत तथा भूख से जिसकी देह अकड़ गयी और पंख बेकार हो गये थे और चोंच खुल गयी थी। सामने सबेरा हो रहा था किन्तु उसकी किरणों का कोई भी प्रभाव उस पक्षी पर नहीं पड़ रहा था। मेरे विचार से

उस पक्षी की सी ही दशा हमारी है। हमारे लिए पहले आवश्यक है जीना ; अपने पैरों पर खड़ा होना ; नहीं ऐसे ऐसे एक दो नहीं सैकड़ों प्रभात आवेंगे और उनका हमारे पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

यहीं दोनों व्यक्ति एक दूसरे से अलग खड़े थे। दो उदाहरणों में ही दोनों के भारत का चित्र स्पष्ट है। स्पष्ट ही ये चित्र एक नहीं कहे जा सकते।

इसीलिए जब मैंने शान्तिनिकेतन देखा तब भी और जब सेवाग्राम देखा तब भी उन दो पक्षियों की याद आये बिना नहीं रही। प्रसिद्ध विद्वान् श्री रोमांरोलाँ ने अपनी पुस्तक मे गान्धी और टैगोर का जो रूप निर्धारित किया है उसके मूल में भी यही दृष्टि स्पष्ट झलकती है। आज देश में विचारकों के कई दल हो गये हैं और सभी के पास अपनी अपनी भारत-उद्धार की योजनायें है। विद्वानों तथा अधिकारियों के बीच भी कई दल हैं। एक ओर शान्तिनिकेतन मे भाषण करती हुई श्रीमती सरोजनी देवी कहती हैं कि इसे विश्व एकता का प्रतीक बनाना है। दूसरी ओर गान्धी जी की मृत्यु के पश्चात् सेवाग्राम मे देश भर के कर्मठ कार्यकर्ता और दार्शनिक एक होकर सोच रहे हैं कि अब कैसे इसे आगे ले चला जाय ?

इस पर विचार करने के पहले यह भी देख लेना है कि दोनों के पीछे कितना बल है ? फिर यदि विभेद है तो वह एक दूसरे का पूरक है या विरोधी।

सेवाग्राम के पीछे अभी कल तक स्वयं गान्धी जी की शक्ति थी। अब गान्धी जी नहीं हैं पर उनकी ही खड़ी की हुई पंक्ति एक ओर भारत का शासनसूत्र संभाले हुए है दूसरी ओर देश की रचनात्मक शिराओं मे रक्त बनकर दौड़ रही है। वर्धा मे एक पुरुष की छाया के नीचे भारत के प्रधान मंत्री पंडित नेहरू और गान्धी के प्रथम शिष्य बिनोवाभावे एक साथ नत-जानु हुए थे। गान्धी के स्वप्न को यथार्थ मे बदलने के लिये इतनी बड़ी शक्ति है जो यदि ईमानदारी से कार्य करे तो देश का ढांचा बदला जा सकता है। सेवाग्राम के पीछे खादी–प्रतिष्ठान, सदाकत आश्रम, गान्धी आश्रम, सेवापुरी, साबरमती आश्रम तथा अन्य भी सैकड़ों जीवन केन्द्रों की परम्परा है। सर्वोदय को पहले देश फिर विश्वहिताय विकसित करने का व्रत लेकर कार्यकर्ता देश में कार्य कर रहे हैं। यह बहुत कुछ अशोक और उपगुप्त की भांति राजा और साधक की एकता सा लगता है। एकदिन तब भी विश्व की अनीति दुराचार के कंटकों से भरी राह पर कुछ साधक आगे बढ़े थे। आज वही ऐतिहासिक अवसर हमारे सामने है और किसी न किसी रूप में

हमारा भी सहयोग इस प्रयत्न से है। इसलिए इस ऐतिहासिक स्थिति की कल्पना भी हमें अपने साथ रखनी है।

दूसरी ओर शान्तिनिकेतन का भी एक ऐतिहासिक मिशन है जिसका संबंध हमारी वृहत्तर नीति से है। नेहरू जी ने जिस एशियाई और अखिल विश्व की एकता का स्वप्न देखा है उसके मूल मे टैगोर का विश्व बन्धुत्व है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। शान्तिनिकेतन के संस्थापक की हैसियत से तथा स्वयं अपनी हैसियत से इस दिशा मे किये गये कविगुरु के प्रयत्न नेहरू जी के इस कार्य की पहली किश्त समझे जायेंगे। भारत और चीन की एकता का प्रतीक 'चीना-भवन' शान्तिनिकेतन का एक महत्त्वपूर्ण अंश है और जब भवन के लाल, पीले, हरे शीशों की छाया मे सीढ़ियों पर बैठे हम पास ही खड़े देश देश के प्रतिनिधियों को देखते है तब विश्व-ऐक्य की कल्पना का एक अंश पूरा सा हुआ लगता है। जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों (जिनका भारत की सांस्कृतिक स्मृति में एक बड़ा अंश है और जो अगले एशिया के निर्माण मे भारत के साथ है) पर रचित टैगोर का साहित्य एशियायी एकता के पथ पर रखा गया प्रारंभिक कदम है। टैगोर ने पहले जापान के विकास का समर्थन किया पर चीन पर आक्रमण होने से सत्य सामने आ गया। इस समय उन्होंने वहाँ के प्रसिद्ध कवि 'योननागूची' की कितनी भर्त्सना की थी यह सभी को मालूम है।

हमने देखा कि एक ओर जहाँ अपने निर्माण के लिए सेवाग्राम का नेतृत्व स्वीकार करना होगा वहीं विश्व की मानवता के उद्धार के लिए शान्तिनिकेतन की आवश्यकता पड़ेगी ही। बहुत दूर तक दोनों विरोधी होकर भी पूरक ही है और एक स्थान ऐसा आता है जहाँ वे एक ही काम साथ साथ करते हैं। प्रधानमंत्री नेहरू जी के मस्तिष्क मे दोनों की एकता होने पर से ही बहुत काम हो जायगा किन्तु जनता के कार्यक्षेत्र में दोनों की स्थिति कैसी है इस पर विचार करना आवश्यक हो जाता है।

अब मैं फिर शान्तिनिकेतन की रूपरेखा की ओर आता हूँ। वहाँ पहुँच कर जो कुछ देखा वह सुन्दर था पर जैसे लगता था कि उसका संबंध आज की सड़क से छूट गया है। शान्तिनिकेतन की श्रृंगारमयी झंकार में जैसे कला ने जीवन को दबा दिया है। यहाँ का खर्च ऊँचा है ऐसा लोग कहते हैं और रहने का ढंग भी कलापूर्ण है ऐसा देखा जा सकता है पर लगता था जैसे यह किसी एक समाज का चित्र नहीं है। सब स्थानों पर के कला-प्रिय मन यहाँ तितलियों की भांति एक स्वतंत्र लोक में विचर रहे हैं। 'गेस्ट हाउस' के सामने एक 'सीमेन्ट माडल' खड़ा किया था जिसको देखकर

कुछ अर्थ निकालना मुश्किल था। मैं उस समय आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के साथ घूम रहा था इसलिए कौतूहल का प्रश्न उनसे हुआ। सुनते ही वे मुस्कराये और स्वयं अपनी बात न कहकर एक घटना का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि उसी पुराने व्यक्ति की तरह मैं भी कह सकता हूँ कि यदि तुम समझते हो तो भी चुप रहो यदि नहीं समझते हो तो भी चुप रहो (If you understand it then keep quiet and if you do not then also keep quiet) मेरी समझ से तो यहाँ कला इतनी हो गयी है कि जीवन का स्वरूप ही कुछ साफ नहीं हो पाता। यही बात मैंने द्विवेदी जी से भी कही जिसपर वे मुस्कराते रहे। फिर यही बात सेवाग्राम में जाकर मैंने काका कालेलकर से भी पूछी जिसका उन्होंने अपने रूप में निर्णयात्मक स्वरूप बतलाया। आज शान्तिनिकेतन मे चमड़े की दस्तकारी का भी काम होता है पर उसे साधारण जीवन की आवश्यकता नहीं कहा जा सकता। सुन्दर कलापूर्ण नक्काशी और चित्रों से युक्त फाइलें, डाकूमेन्ट बक्स, मोढ़े सभी कुछ हैं पर उनको ग्रहण करनेवाले हाथ हमारे आपके नहीं हैं। एक खास वर्ग की सुरुचिसम्पन्न स्थिति मे ये सब फिट बैठेंगे। यही कहा जा सकता है कि यहाँ की सब सुरुचि, नागरिकता संस्कृति इतनी ऊँचाई पर है कि उस तक साधारण जनता का पहुँचना मुश्किल है। जब सुधार और सुरुचि अधिक कलापूर्ण हो जाय तो उसे आदर्श न कहकर 'विलास' कहना अधिक अच्छा होगा।

दूसरी ओर सेवाग्राम है। कम से कम मे कैसे सुरुचिपूर्ण ढंग से रहा जा सकता है उसका प्रतीक। यहाँ भोजनालय एक लम्बा बरामदा है जहाँ शान्तिनिकेतन की संगमरमरकी टेबुले नहीं है और न तो ऊपर बिजली के पंखे हैं। भोजन शान्तिनिकेतन के लिए चुहल का समय है पर सेवाग्राम के लिए काम का कार्यक्रम बनाने का एक अवसर। सब कुछ साधारण और बापू की झोपड़ी तो सबसे साधारण, जिसमें एक कोठरी में एक आने का ताला लगाकर वे उस समय साम्प्रदायिकता से जूझने चले गये थे। जीवन की हलकी हलकी रेखाये भी यहाँ छूटती नहीं और कुछ को इसलिए विश्वास के साथ रखा गया है कि हम यथार्थ से अलग न हो जाये और उन्हीं के द्वारा हमारे 'अहं' की दवा होती चले।

किन्तु मैं ठहरा कलाप्रिय भावुक कवि। वहाँ देखा तो हाथों, पावों और आँखों को व्यस्त रखने के इतने साधन, पर मस्तिष्क और मन की दवा—पुस्तकों में दीमक लगे जा रहे थे (मेरा मतलब चर्खा संघ के 'महादेवभवन' के पुस्तकालय से है)। माना कि पुस्तकालय है पर उस ओर बहुत रुचि

नहीं दीखी। सदाकत आश्रम से होकर करीब करीब सभी आश्रमों में मैंने लोगों को देखा पर पुस्तकों के लिए किसी को बेचैन या व्यस्त मैंने नहीं देखा। साहित्य-संगीत की अद्भुत कमी देखकर शान्तिनिकेतन की याद आने लगी। शान्तिनिकेतन में मुझे कर्म की याद आगयी थी अब यहाँ आकर कला और संगीत की याद आयी। इसी समय मुझे तालीमी-संघ का दफ्तर दीखा और श्री आर्यनायकम् (जो स्वयं शान्तिनिकेतन के प्राण थे) तथा श्रीमती शान्तिदेवी आर्यनायकम् (पहले ये काशी में थीं फिर शान्तिनिकेतन में गयीं, अब तालीमी संघ में हैं) से काफी देर तक इसी स्थिति पर बहस होती रही। यहाँ मैंने अपना विरोध भी प्रकट किया। शान्तिदेवी ने अपनी पूरी योजना सामने रखी और स्वयं मुझसे संत कवियों के संग्रह माँगे और कोई उनको ठीक से गानेवाले गायक की माँग भी मुझसे की गयी। मुझे देखकर खुशी हुई कि गान्धी जी की छाया में यह विद्रोह भी चल रहा है। स्पष्ट ही यह सेवाग्राम की योजना में जोड़ी हुई चीज लगती है पर इसी से मेरी पहली परस्पर पूरक होनेवाली बात को भी प्रमाण मिल जाता है। यहाँ गान्धी और टैगोर का समन्वय मुझे मिला जिसे देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। किन्तु जब चलते चलाते मैंने फिर उसी बात पर व्यंग किया तो शान्ति देवी ने मुस्कराते हुए जवाब दिया 'कवि जी हम जीवन जीने का प्रयत्न कर रहे हैं हमें इन सब की फुरसत कहाँ!' बात तो ठीक थी पर इसका अर्थ तब दूसरा था जब स्वयं गान्धी ने यही भाव प्रसिद्ध दार्शनिक कलाकार श्री दिलीपकुमार राय के प्रश्न पर प्रकट किया था। यहाँ तो वह जवाब खुद उस कहनेवाले के खिलाफ गिरता था जिसने सेवाग्राम में बैठकर साहित्य और संगीत पर पूरे समय तक बात की ओर अपनी सार्वदेशिक कला केन्द्र खोलने की इच्छा का रूप मुझे सुनाया।

यही बात मन में लेकर जब मैंने काका कालेलकर से प्रश्न किया तो उन्होंने भी वही कहा जो मैं सोच रहा था। उनके कथनानुसार सेवाग्राम में इस तत्त्व की कमी खटकती देखकर ही इसका आयोजन करने का निवेदन बापू जी से किया गया। उन्हीं की इच्छा से शान्तिनिकेतन से आर्यनायकम् और शान्तिदेवी आयीं।

इस कथा से सेवाग्राम और शान्तिनिकेतन की परस्पर प्रश्न उत्तर होने वाली बात पर प्रकाश ही पड़ता है। काका साहब ने भी बात के सिलसिले में शान्तिनिकेतन की याद दिलाने पर कहा कि एक युग तक किसी के विचार का चित्र बनकर कोई चीज बहुत दिन तक अपनी उपयोगिता नहीं बनाये रख सकती। काका साहब उस समय सेवाग्राम में बैठे थे पर यही बात

यदि शान्तिनिकेतन में पूछी जाती तो सेवाग्राम का यथार्थ वे प्रशंसामात्र के लिए स्वीकार करते। उसे जीवनक्रम बनाने की बात पर उन्हें कितना पसीना हो जाता इसका अन्दाज मैं नहीं लगा सकता।

अन्त मे चलते चलाते दोनों जगहों की एक एकता में व्याप्त वैषम्य की ओर भी विचार करते चलें। शान्तिनिकेतन मे 'सन्त साहित्य' की बड़ी प्रतिष्ठा है और इस समय के सन्त साहित्य के अध्येताओं में से दो प्रमुख व्यक्ति श्री आचार्य क्षितिमोहन सेन तथा पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी वहीं हैं तथा सन्तरूप आचार्य गुरुदयाल मल्लिक का नाम भी शान्तिनिकेतन के साथ जुटा हुआ है। दूसरी ओर सेवाग्राम के प्राण गान्धी जी सन्त कवियों के कितने बड़े भक्त थे और वहीं मुझसे व्यंग मे कहा गया कि आपके हिन्दी साहित्य में सन्तों को छोड़कर और है ही क्या? पर इस आश्चर्यजनक एकता में व्याप्त विभिन्नता पर भी ध्यान रखना है। सेवाग्राम सन्त साहित्य को अपनी विभोर होनेवाली स्थिति तक ले जाने का वाहक मानता है जब कि शान्तिनिकेतन ने उसे अपनी विवेचना और रिसर्च के लिए चुना है। वे मुग्ध होते हैं पर वहीं नहीं रुकते, उनका निरूपण भी करते हैं। गान्धी जी मुग्ध होते और उसका जीवन में प्रयोग करते थे। यही अन्तर है दोनों स्थानों मे। एक जगह लोग अधिक 'एकेडेमिक' हो गये हैं दूसरी जगह प्रायोगिक रूप ही है। सबके मूल मे दोनों की, एक नया स्वप्नलोक स्थापित करने, मनुष्य को और उसकी चिन्तना को नयी भूमि देने की प्रवृत्ति स्पष्ट ही लक्षित होती है। स्वामी रामकृष्ण, श्री अरविन्द आदि सभी प्रचलित लौहपथ की लीक छोड़कर नयी राह बनानेवाले हैं इसलिए सभी ने अपने साथियों को साँस लेने और जीने के लिए अलग गाँव बसाये है, आश्रम बनाये हैं। समाज की डगमग नींव और सड़ाँद से भर गये अस्तित्व के गर्व के मुकाबले मे थे सब विनम्र उत्तर की तरह खड़े हैं।

शताब्दियों पहले भी एक गर्व के विरुद्ध महावीर और गौतम दो राजकुमारों ने आवाज उठायी थी। उन्होंने निश्चय किया, जमीन बदली और एक दिन दुनिया ने देखा कि वे राजकुमार नही रह गये हैं।

जिस श्रमणसंस्कृति की दो कोंपले उस दिन वसंती वायु की लहरों में चंचल हुई थीं आज उसी ने विशाल बट का रूप धारण कर लिया है और एक नई परम्परा उसकी गंभीर छाया मे नया जीवन बना रही है। सेवाग्राम और शान्तिनिकेतन उसी परम्परा के विश्वास से रखे गये दो चरण हैं।

दो अन्तर

रतन 'पहाड़ी'

आशा, वैभव, यौवन और जीवन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे। अथ का साम्राज्य इति में लीन हो चुका था। जीवन मृत्यु मे समा चुका था और पथ पर चलती अर्थी चिता में समाविष्ट होने चार कन्धों पर चली जा रही थी।

वैभव से परिपूर्ण आभा, शोभा से परिव्याप्त अट्टालिका तथा प्रासादों में आवास करने वाला मानव जिसने आजीवन अस्त व्यस्त जीर्ण शीर्ण झोपड़ी को मात ही दी उसे सर्वदा सदा ही हेय माना आज निर्धूम जलती धू धू शिखा में प्रविष्ट होने निर्जीव बनकर जीवन की चरम सीमा प्रदर्शित करने जा रहा था। गति निस्पन्द थी। वातावरण शान्त। क्रिया मौन और जीवन पारबिन्दु पर अवस्थित। कि.........

पथ पर एक अर्धनग्न तत्सम अर्थी उसी ओर–श्मशान की ओर कृश कन्धों पर वैभवपूर्ण अर्थी के साथ चल पड़ी। दोनों अर्थी दोनों को समक्ष पाकर थिरक गई। वैभव और जीवन, मानव और यौवन, आभा और शोभा धन और रोटी एक पलक में भीग गये और दोनों शान्त, टकटकी लगाये निर्निमेष निरभ्र शून्य–महाशून्याकाश मे देखते रहे–देखते रहे। वे अपना अभिनय जगतीतल पर समाप्त कर चुके थे। जीवन की समस्त भौतिक अभिलाषाएं, गर्व, मान, दम्भ और माया मे बह चुकी थीं। निःशेष अब वे समत्व में समाए जा रहे थे। कि.........

चिता धू धू कर जल उठी।

वैभव मानव चिता में अशेष हो रहा था।

दीन मानव चिता मे समाप्त।

अभिलाषा अट्टहास कर उठी। दोनों के चिता की धू धू धूमशिखा आकाश छूने लगी और आशा, वैभव, यौवन, जीवन, झांककर मानव के पल-पल, क्षण-क्षण और जीवन की सफलतम अनुभूतियों का उपहास करने लगे।

मृत्यु वैभव को खींच लाई। शिखा ने उसके कल्मष पूत कर दिये और धूमशिखा ने उसे उच्चासन पर आसीन कर दिया।

दीन मानव की चटकती चिता भस्मावशेष बन गई, और वैभव और दीनता धन और जीवन दोनों एक जल में प्रवाहित हो उठे।

कल कल छल छल करती सरिता दोनों के भस्मावशेष अपने अंक में छिपाये बोल उठी– "मिटती बनती काया मे दोनों दोनों की हार हुई"

आलोक का एक पत्र

बुद्धिवादी युग का उत्तर : जैन तत्त्व दर्शन

सं० वीरेन्द्रकुमार

[हिन्दी पत्रों में इधर उधर आलोक के पत्र प्रकाशित हुए हैं। उनका परिचय भी बार बार दे चुका हूँ। यहाँ नये सिरे से इतना ही कहूँगा कि आलोक के व्यक्तित्व की जिस सुन्दरता ने मुझको मुग्ध किया है, वह है उसकी बहुमुखता, अनैकान्तिकता, जो कि स्वयं चिर परिणयनशील सत्ता का निसर्ग रूप है। उसके चिन्तन की सारी चेष्टा विविध के सापेक्ष सत्य को स्वीकार करते हुए, एक अविरोध, अखण्ड, परिपूर्ण में सर्व का समापन करने के लिये है। चारो ओर जब छिन्न भिन्न की क्रूर लीला चल रही है, तब एकत्व के ऐसे जीवन्त द्रष्टाओं की हमें जरूरत है।

'उदयन'
बम्बई
२५ अप्रैल। ४७

........हाँ, शतदल के झुलस जाने का खतरा तो पल-पल है; पर शतदल अपना सारमधु जो भी उस बेचारे के बस का था, दे देने के बाद भी अगर इन मनुष्य कहे जाने वाले असुरों के पैरों तले ही रौंदा जा रहा है, तो फिर उसका वह्निमान हो जाना ही इष्ट है। झुलस कर वह भस्म नहीं हो सकता फिर तो वह चैतन्य की अमर ज्वाला का प्रताप और प्रकाश बनकर ही फूटेगा।

'........मन्दिर' के काम के लिये अपने को उत्सर्गित पाता हूँ। मेरे अपने बस का कुछ भी नहीं रह गया है, मुझमें जो भी पात्रता देखें, उसका उपयोग कर ले। हिन्दी प्रकाशन की दिशा में नवीन सर्जना कराना ही अधिक इष्ट होगा। जिनशासन का एक सृजनात्मक तथा कल्पक (Visionary) इतिहास आवश्यक है। मेरी मंशा उस निसर्ग ज्ञानधारा से है, जब उसका; जैन नाम भी न रहा होगा; जब कैवल्य का मुक्त आलोक मत-पन्थ की जड़कारा में बन्दी न हुआ होगा। दर्शन में भी परिभाषा से मुक्त अधिक

मनोवैज्ञानिक और जीवन सापेक्ष दृष्टि से जैन तत्त्वज्ञान पर मौलिक, स्वतंत्र और व्याख्यात्मक (Interpretative) चिन्तन प्रस्तुत करना होगा। विवेकानन्द, थियोसॉफी, और योगीन्द्र अरविन्द ने जो काम वेदान्त पर किया है, वही काम जैन तत्त्वदर्शन पर भी होना चाहिए। आजकी विश्व-समस्याओं में मुझे उसकी पुकार सुनाई पड़ रही है।

आज की समूची ज्ञान-दृष्टि आत्यन्तिक रूप से वैज्ञानिक हो उठी है। वह वस्तु के तद्गत सत्य को यथावत् पा लेना चाहती है। सत्य के आत्म-लक्ष्यी (Subjective), तदाकार दर्शन से उसे सन्तोष नहीं है। उपनिषद् और वेदान्त का समूचा अध्यात्म और दर्शन आत्म-लक्ष्यी और भावात्मक है। वेदान्त वस्तु-जगत् की कोई यथार्थ, पारमार्थिक सत्ता स्वीकार नहीं करता। उसके लिए यह सारी दृश्यमान इन्द्रियगम्य सृष्टि निरी माया है, छलना है। आत्म या ब्रह्म से अलग उसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। 'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' वह केवल ब्रह्म की छाया-लीला है और अन्ततः उस निर्गुण, निराकार, अनाम, अज्ञेय ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। वह ब्रह्म नितान्त शून्य है और वहाँ सारी गुणात्मकता निःशेष हो जाती है। इसी से कहा है कि 'नेति-नेति' : अन्तहीन नकार में ही उसकी प्राप्ति है। इस तरह हम पाते हैं कि वेदान्त सर्वथा अनुभूतिमूलक, अत्म-लक्ष्यी और अवैज्ञानिक दर्शन है। तर्क को वह अस्वीकार करता है। यह अतर्क्यता या अवैज्ञानिकता ही एक प्रकार से उसकी सबसे बड़ी शक्ति और सिद्धि है।

इस तरह हम देखते हैं कि वेदान्त यदि आत्मा का काव्य है तो जैन तत्त्व-दर्शन आत्मा का विज्ञान है। एक ही स्वीकृत सत्य तक पहुँचने की ये दो परस्पर पूरक, शब्द की सीमा मे यथाशक्य पूर्णतम सुन्दर दृष्टियाँ हैं। पर जैसा कि पहले कह चुका हूँ, आज के मनुष्य की मनीषा एकान्तरूप से तार्किक और वैज्ञानिक हो उठी है। पदार्थ के किसी भावमूलक (ideation) या (abstraction) से उसे परितोष नहीं। पदार्थ जैसा सामने दीख रहा है, उसके यथावत्, यथार्थ सत्य की मीमांसा वह चाहती है। इमीसे आत्मा के शुद्ध विज्ञान जैन तत्त्वदर्शन के द्वारा ही आत्मा की विद्या सुगमता से उस तक पहुँचाई जा सकेगी। जैन दर्शन के लेखे यह दृश्यमान जगत् कोरी निःसत्त्व माया नहीं है। इसकी अपनी एक सनातन, पारमार्थिक सत्ता है। ज्ञाता द्रष्टा आत्म या ब्रह्म से भिन्न इस लोक की अपनी एक स्वतंत्र, तद्गत (obsjective) सत्ता है। यह लोकसत्ता शाश्वत है, निसर्ग है, अनादि अनन्त है। इसकी इन्द्रिय-गम्यता इसके व्यक्त और पौद्गलिक स्वरूप के कारण है। मैटर यानी पुद्गल आत्मा से भिन्न स्वभाव रखनेवाला एक स्व-

तंत्र पदार्थ है। उसकी सत्ता उतनी ही शाश्वत है और सत्य है जितनी आत्म या ब्रह्म की। अन्तर केवल इतना ही है कि अभिव्यक्ति में जब वह पुद्-गल सघन, स्थूल रूप धारण करता है, तो उसमें पर्यायायिक, परिवर्तन, घटन-विघटन, योग-विच्छेद प्रकट रूप से घटित होता है। इस तरह उसमें विच्छिन्नता दिखाई पड़ती है, उसके निजरूप की एकरसता और अखण्डता हमारे लिये दृष्टिगम्य नहीं होती। इस कारण पर्याय दृष्टि से हम इस चाक्षुष जगत को मिथ्या कह देते हैं। पर पर्यायों में भी परम्परा और सन्तति की दृष्टि से एक निरवच्छिन्नता, अविरामता या अखण्डता है। इस तरह जैन तत्व-दर्शनके अनुसार द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक दोनों ही दृष्टियों से इस दृश्यमान लोक की एक तद्गत, पारमार्थिक सत्ता है।

प्राप्ति के स्थल पर जैन दर्शन में भी ज्ञाता और ज्ञेय, लोक और आत्म का अद्वैतीकरण स्वीकार किया गया है। अथवा यों कहे कि जैन-दर्शन प्रत्येक सत्ता की स्थिति को अद्वैतरूप से मानता है, पर उसकी अभिव्यक्ति द्वंद्वात्मक है, इसी से उसका सारा बहिर्मुख विकास भी द्वंद्वात्मक है। और इस द्वंद्व के दोनों पक्ष समान रूप से सत्य है, यथार्थ है।

आत्म-विद्या की यह वैज्ञानिक और पर-लक्ष्यी (obsective) दृष्टि आज के मनुष्य की तार्किक मनीषा को अधिक भायेगी। यह ज्ञेय, दृश्य, व्यक्त जगत् निरा Idea (ख्याल) या माया नहीं है, बल्कि एक द्रव्यार्थिक, ठोस सत्य है, यह आज के भौतिकवादी मनुष्य को अधिक आश्वासन और परितोष देगा। नेतिमूलक, निर्गुण, शून्य ब्रह्म की बात पर वह शुरू में एकाएक नहीं ठहर सकेगा। जैन दर्शन तो आत्मा को भी उसके शुद्ध, निसर्ग द्रव्य रूप में (यानी सिद्धात्मा, परमात्मा या परब्रह्म को भी) सगुण, द्रव्यात्मक, विधायक सत्ता मानता है। उसके भी उसके निज रूप और स्वभाव में भी एक गुणात्मक परिणमन, घटन-विघटन सतत चल रहा है। वह आत्म इस लोक का ज्ञाता-द्रष्टा है; अतएव इस बहिर्गत लोकमें जब सतत परिवर्तन-परिणमन चल रहा है तो इसका ज्ञाता-द्रष्टा एकान्त स्थिर, कूटस्थ रहकर इसे नहीं जान सकता। ज्ञेय के साथ एकतान, तद्रूप, अद्वैत होकर ही वह उसे पूर्णतया जान सकता है, उपलब्ध कर सकता है। एक प्रकार से आत्म-लक्ष्यी दृष्टि से उस सिद्धावस्था में इस ज्ञेय की सारी परिणमन-लीला उस ज्ञाता आत्मा या ब्रह्म में चल रही है। इस प्रकार आत्मलक्ष्यी दृष्टि से जैन तत्त्व दर्शन और वेदान्त दोनों प्रायः एक ही बिन्दु पर पहुँचते हैं।

पर यह तो महासत्ता के सामान्य स्वरूप की बात हुई। जहाँ अभिव्यक्ति आती है और विशेष पदार्थ प्रस्तुत होता है, भिन्नता सामने आती है, वहाँ जैनदर्शन की अनेकान्तवादी सापेक्ष वैज्ञानिक दृष्टि ही आज के मनुष्य को

अधिक समाधान दे सकती है। इसी से कहा है कि आज की विश्व-समस्या को सुलझाने के लिये आज के मानव को हमें—जो आध्यात्मिक जीवन दर्शन प्रदान करना है, वह यदि हम जैन तत्त्वदर्शन के वैज्ञानिक और पारमार्थिक रूप में उस तक पहुँचायेंगे तो वह उसके लिये अधिक सुग्राह्य और सुगम होगा। सीधे आत्मा का भावात्मक काव्य उसे अपील नहीं करेगा। उसकी वैज्ञानिक मनीषा को पहले आत्मा का विज्ञान ही देना होगा। जैन दर्शन के पास उस विज्ञान को समर्थन देने के लिय खूब प्रबल तार्किक आधार भी है।

इसके लिए दर्शन को हमें पारिभाषिक जटिलता के जाल से मुक्त करके अधिक सुलभ, सार्वजनीन भाषा में प्रस्तुत करना होगा। उसकी युगानुरूप और जीवन-परक व्याख्या करनी होगी। उसके बीजों में से उसकी प्रगति शक्ति और प्रकाश के नवीन स्रोत मुक्त करने होंगे। इस काम के लिये हमें कुछ सृजक प्रतिमाओं को तैयार करना होगा। ये प्रतिमाएँ निरी शास्त्रीय पंडित न होकर, ऐसी प्रज्ञा के लोग होंगे जो जन्म से ही मौलिक दर्शन, अवलोकन का प्रकाश लेकर आये हैं। चुनकर ऐसे मनीषियों की एक 'गेलेक्सी' बनानी होगी। उन्हें इसके लिये कौटुम्बिक और जागतिक यानी आर्थिक चिन्ता से मुक्त कर देना होगा। उन्हें अपनी साधना में डूबने का अनन्त अवकाश और अनुकूलता दे देनी होगी। एक सर्वांगीण सुपुष्ट ग्रंथागार उनके अधीन कर देना होगा। इस ग्रंथागार में संसार के धर्म दर्शन, विविध विज्ञान, साहित्य, कला, राजनीति, समाज-शास्त्र, इतिहास और पुरातत्त्व के चुनिन्दा, अनन्य ग्रन्थ होने चाहिए। अमलनेर मे जैसे भारतीय दर्शन के साधकों और चिन्तकों के लिये उपयुक्त ग्रंथागार और आवश्यक साधन-सुविधाएँ हैं, वैसे ही 'मन्दिर' का भी एक साधना-मन्दिर होना चाहिए। गिने पैसे देकर (जिससे जी सकना भी कठिनाई से संभव होता हो) पाई-पाई के बदले काम वसूल कर लेने की नीयत से अपने विद्वानों को हम अपनी संस्थाओं में निरे प्रश्रयित नौकर की तरह रखकर साधना नहीं करवा सकते। प्रज्ञा की आदि जन्म-भूमि भारत में ज्ञान के साधकों को मद-गर्वित धन-सत्ता के अनादृत दासों की तरह रक्खा जाना बड़ी ही हीनता और लज्जा की बात है। उन्हें तो राजपुत्रों की तरह निश्चिन्त करके गुरु-जनों के महिमामय आसन पर बैठाया जाना चाहिए। आज तो ज्ञान की संस्थाएँ भी तथोक्त भद्रपुरुषों के महत्ता-प्रदर्शन की एक दूकानदारी हो गई है। और दूकानदारी ही तो आज की दुनिया का मूल रोग है। उसी से जगत् को छुटकारा दिलाने के लिए हमारी यह साधना है, फिर दूकानदारी के रास्ते ही वह साध्य कैसे सिद्ध हो सकेगा ?

'........मन्दिर' की प्रवृत्तियों का संचालक मंडल हर बार मिलकर हिसाब के आँकड़ों की जाँच करने में जितना दिलचस्पी लेता है, उतना प्रवृत्तियों के उन्नयन और नव-नवीन संयोजन-आयोजन में नहीं । 'मन्दिर' कोई व्यापारिक कम्पनी तो नहीं है कि डाइरेक्टर मिलकर सदा घाटे-मुनाफे के आँकड़ों पर बहस किया करे। वह तो ज्ञान की यज्ञशाला है । वहाँ के व्यय का कैसा हिसाब ? पर तुम वणिक जो ठहरे । तिस पर ट्रेजेडी यह हो गई कि जिन-शासन आज एकान्त रूप से वणिकों के हाथ पड़ गया है ; इसीसे महावीर का नाम इतिहास के पट पर इतना मन्द पड़ गया है । ब्राह्मण संस्कृति के उच्च-वर्गीय प्रभुत्व और अधिकार-गर्वित रूढ़ वर्णव्यवस्था के प्रभावतले रहकर श्रमण प्रभु वर्द्धमान का समतावादी और अपरिग्रही शासन भी सत्ता और अर्थप्रधान पूंजीवादी संस्कृति का ग्रास बन गया। वर्ण जाति और वर्णभेद की विच्छेदक और विनाशक सुरंगों मे ग्रस्त मानवता को मुक्ति दिलानेवाला समता-प्रधान, मूलग्राही, और स्वतंत्र सत्तावादी जीवन-दर्शन भारत में तो हमें श्रमण संस्कृति से ही प्राप्त होता है ।

और आज के मुक्त प्रज्ञाशील, प्रबल तर्क-पीड़ना से नास्तिक हो उठे मनुष्य को तत्व का यथार्थ बोधमूलक सम्यक्दर्शन भी श्रमण तत्त्वज्ञान द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

पर ऐसा कहकर मैं वेदान्त (व्यक्ति की अखण्डता) के महत्त्व की अवज्ञा नहीं कर रहा ! बुद्धि-चेतना की तृप्ति द्वारा आत्म-विकास की विज्ञान भूमिका सिद्ध करने के लिए यदि आत्मा का विज्ञान जैन दर्शन आवश्यक है तो आनन्दभूमिका के अनुभूतिमूलक साक्षात्कार के लिए आत्मा का काव्य वेदान्त भी उतना ही आवश्यक है ।

जीवन की व्यथा एक

ईश्वरचन्द्र एम० ए०

सुनोगे कथा एक—
जीवन की व्यथा एक ?
कोमल, किशोरि, किसलय सी मधुबाला वह,
प्राणो में आई और प्राणो में चली गई।
मेरी मनोवेदना थी उस दिन छली गई।
जिसकी स्मृति में नत मस्तक हो मेरा मन,
सौ-सौ बिच्छुओं की दंशन की पीडा मे
व्याकुल हो उठते हैं मेरे प्राण, मेरा तन।

*

वे थे दिन जब कि जन-जन का रक्त गहरा था,
वाणी और विचारों और सांसों पर पहरा था !
नगर-नगर, गाँव-गाँव, मग-मग औ डगर-डगर,
जन-जन के जीवन और मरण का प्रतीक यह
शस्य, श्वेत, पीत पट
प्राणों के मोल और रक्त की हिलोर पर
प्रेम और सत्य की शक्ति बन फहरा था !
वे थे दिन मानवता, सत्य, प्रेम, न्याय की—
समष्टिगत कब्र पर शासन का डेरा था।
व्यक्ति औ राष्ट्र की परीक्षा के वे थे दिन,
सत्य और अहिंसा की दीक्षा के वे थे दिन,
जब मैंने रक्त के उबाल और जोश से,
हिंसक को प्रताडना देने के रोष में
खादी का झोला छोड,
जीवन की धारा मोड,
निश्चय किया अपने ही रक्त से तिलक कर,
(कि) मैं अब लूंगा नहीं कायर अहिंसा की आड़ !

*

और कुछ दिनों बाद मास्टर का भेष बना,
निकट के ही गाँव के जीवन में जा सना—
रेल, तार, डाक, और मोटर—बसों से दूर,
सरस आम्र कुंजों की छाया से जो था घना।
वहीं कहीं पीपल तले,
मौन सन्नाटे की ढलती धूप बेला में—
खोया-खोया-सा, जगकर भी सोया-सा—
लंबे पैर लेटा था।
कि तार-तार चुनरी में अपना तन समेटे-सी,
चिथड़ों को कि लहंगे को, पैरों पर लपेटे सी,

रूक्ष केश, सरस नयन, चंचल तन, अल्हड़ मन,
भोला मुख जैसे वह बचपन हो यौवन का।
तन-मन पर बिखरा हो सौरभ मधुवन का।
और वह सोना थी—सोना वन प्रान्तर की,
नव विकसित कलिका-सी,
रूप,रस,भार से अपरिचित वह यौवना,
चुनती थी कंडे और बिनती लकड़ियाँ थी।
मैंने कहा, "सोना, ओ सोना, जरा सुनना इधर,
मेरा यदि एक काम तू कर पायेगी,
जनम-जनम को भवसागर तर जायेगी।
तेरी यशःकथा लहरों पर लिखेंगे कवि
कीर्त्तिध्वजा तेरी शिखर-शिखर लहरायेगी।
गाँव उस पार जो टामियों का डेरा है—
हाँ, हाँ, वे गोरे-गोरे लोग जो रहते हैं।
देश के दुश्मन वे, खून के प्यासे हैं,
जालिम हत्यारे वे जहर के बताशे हैं!
हाँ ना वह पास में कुआँ जो खूब गहरा है,
वहीं-वहीं जिस पर बंदूक का पहरा है,
और जहाँ घर घर करती मशीन एक चलती है।
चुनती-चुनाती उसके निकट जाकर तू
चाहे तो हँसकर और थोड़ा गुनगुनाकर भी,
ले यह पुड़िया उस कुएँ में देना डाल।
भूलकर भी कहना मत इसका किसी से हाल।"
"बाबू जी, क्या है यह?"
मैंने कहा—"विष है!"
पीछे हटी, सहमी और डर कर वह बोल उठी—
(उसकी थी जैसे समग्र चेतना डोल उठी)
"बाबू, यह हिंसा, यह हत्या, यह पाप-करम!
यह तो कभी नहीं गाँधी बाबा का धरम!!
नहीं नहीं मेरा मन डरता और काँपता है,
मेरे इस गाँव को कलंक लग जायेगा।
जनम जनम को मेरा धरम टल जायेगा।"
मैंने कहा—"दूर हट, मूर्खा है, कायर है,
देश के कभी तू क्या काम आ पायेगी?
भीख माँग माँग कर जनम तू गँवायेगी।
अब भी सोच काम यदि मेरा कर देगी तू,
पगली, अखबारों में नाम छप जायेगा,
सारा देश तुझको सर आँखों पर उठायेगा,
सोने का ढेर तेरे घर पर लग जायेगा!"
"राम, राम! बंद करो अपनी यह पाप-कथा,
मन्दिर में चलकर कहीं प्रायश्चित्त कर डालो,

गंगा के जल से मुंह अपना शुद्ध कर डालो,
पैरों में पड़ती हूँ, इसकी मत चर्चा करो,
सब-कुछ जो देखता है, उसके डर से तो डरो।"
"खूब, खूब, तुम भी इस पंक मे पकज हो!
बुद्ध, महावीर और गाँधी की वंशज हो!!
बंद करो देवि, यह धर्मकथा अपनी।"
उसको यो झिड़क कर स्वय ही मैं चल दिया।
मेरे इस निश्चय ने मुझको ही बल दिया।
और वह सहमी, डरी सी, सकपका गई,
आँसू भरी भोली सी, मुझे रही देखती।
और कुछ दूर चले आने पर .
पीछे से काँपती, हाँफती, सी—
भय में कही खोयी-सी, मेरे निकट आ गई।
बोली—"दो पुड़िया, यह काम अब करूँगी मैं,
देश तो बड़ा है, गाँव हित ही मरूँगी मैं।"
मैंने कहा—"सोना, तू सचमुच बड़ी अच्छी है।
यह ले" कह पुड़िया दे उसे हम आगे चले।
मौत की विभीषिका मे दोनो बढे चले।

*

मै था अपने ही स्वप्न-सागर में भूला हुआ,
मेरा हिंस्र पशु था मुझमे ही फूला हुआ!
कि मैंने पीछे से हल्की कराह सुनी,
मुड़कर जो देखा, तो सोना लड़खड़ाती थी!
पहुँचा कि मुझपर वह टूट-गिरी शाखा सी!
वाणी थी बंद और मुह पर पसीना था।
मृत्यु नीलिमा का अनावरण झीना था!
और उन अपलक नयनो का मूक सवेदन
जैसे विराट प्रेम उतग उन आँखो पर,
कोई निराकुल खग सोया हो पाँखों पर!
सोना थी कि मेरी ही आत्मा के विष को पी
मेरे ही हाथों पर मेरा शव लेटा था।

*

और अब जब-जब यह तिरंगा लहराता है,
मेरी आँखो में मुख सोना का आता है।
भोली, अजान देवबाला की बलि से—
लगता है मुझको यह तिरंगा बहुत ऊँचा है
और मै हिंसक हूँ अपनी ही आत्मा का,
मेरी ही हिंसा से मेरा सर नीचा है!!

आकाश

चन्द्रकुँवर बर्त्वाल

जग के सुख दुख उच्छ्वास हास
सब कुछ तुममें होते विलीन
तुम लेते सब बन निर्विकार
हे महाकाश, तट-तीर-हीन !

अनगिनित सूर्य अगणित तारे
देते झिलमिल धुंधला प्रकाश
इन सबसे पीछे पड़े हुए
तुम तिमिर-मग्न, नीरव, उदास

अरबों वर्षों तक चल आता
जिन तारों का जग में प्रकाश
हे परिधि हीन, वे भी तुम से
जगती के कितने पास पास

यह धरा धूल सी जो करती
रवि कण के चारों ओर नृत्य
देखा न स्वप्न में भी तुमने
होगा इसका यह क्षुद्र कृत्य

पर इसी धूलि कण के भीतर
रहता सारा संसार एक
बसते हैं जिसमें जीव जन्तु
पशु-पक्षी-नर-वानर अनेक

ये घोर-नाद करती नदियाँ
ये गर्जन कर बहते समुद्र
हमको ये सब कितने महान्
तुमको बुद्बुद् की भांति क्षुद्र

ये काल मेघ जो कर देते
गर्जन से पृथ्वी को अधीर
हमको अनंत तुम को लगते
कुहरे की मिटती-सी लकीर

जब रवि-शशि तारे थे न कहीं
तब तुम ही थे हे निराकार,
जब ये न रहेंगे तब तुम ही
सब ओर रहोगे हे अपार !

तुमने स्थिर हो देखा कितने
ब्रह्माण्डों का उत्थान पतन
जाने कितने विधि-हरि-हर ने
पाई तुममें कल्पान्त शरण !

हे आदिहीन, हे अन्तहीन
काल के आदि मध्यावसान
तुम ही हो ईश्वर अथवा क्या
तुम हो ईश्वर से भी महान्

थक जाती सारी वुद्धि-शुद्धि
कल्पना माँगती है विराम
तुम जो कुछ भी हो हे अनन्त
तुम ग्रहण करो मेरा प्रणाम !

सुख है पहिले की भांति तुम्हें
द्यो पिता समझने जाने में
सुख है जल यहाँ चितानल मे
आखिर तुम मे मिल पाने में

सुख है नित गीली चितवन से
तुमसे अपना दुख कहने में
सुख है विश्वास बाँध तुम पर
अन्यायो का दुख सहने में

पृथ्वी के ऊपर पड़ जाती
जब रजनी की छाया काली
तब तुम सहस्र आँखों से जग
करते रहते हो रखवाली

धिक् है विज्ञान ज्ञान जिसने
तुमको जीवन से दूर किया
धिक् है विज्ञान ; देवता को
जिसने दानव-सा क्रूर किया

मेरे प्राणो के ऊपर तुम
हे सुख के नील-वितान तनो
मै पुत्र तुम्हारा चिर अनुगत
तुम मेरे स्नेही पिता बनो।

पाँच सानेट

प्रो० शम्भूनाथ सिंह, एम० ए०

---

१ हिमालय दर्शन

मौन हिमगिरि मै तुम्हारे बन्धनों में
आज बँध शतदल कमल सम खुल रहा हूँ
घाटियों के बीच इन मरकत वनो में
मै तुम्हारे मत्र स्वर से धुल रहा हूँ।
तन प्रकम्पित देवदारु विशाल बन कर
चपल पूर्वा की लहर मे झूमता है
मत्त गज-सा, मै तुम्हारे इस शिखर पर
हूँ खड़ा. मन मुक्त नभ में घूमता है।
सोमरस जो घाटियो की प्यालियो में
छलकता, पी अमर होता जा रहा मैं
स्वर्ण-गल अविराम नीलम डालियो से
झर रहा, उसमें अतृप्त नहा रहा मैं।
स्वर तरंगित यह कहाँ से आ रहा है,
प्राण में प्रतिध्वनित हो लहरा रहा है।

*

२ हिमगिरि-सागर

मेरा कवि बनकर इस अनन्त छवि का प्रहरी
बैठा नभ-आँगन बीच आज इस चोटी पर
सम्मुख लहराता गहन नीलिमा का सागर
निर्बन्ध बह रही है जिसमें यह दृष्टि-तरी !
उठतीं गिरती उन्नत हिम-शिखरो की लहरें
अनजान तटों से दूर क्षितिज पर टकराती
तैरती दूर से छाया-नौकाएँ आती
खोलें जलदों के पाल, स्वप्न थे ज्यों बिखरे।

नीले जलनिधि का तट उभरा है हिम मण्डित
उत्तर दिशि की सीमा पर ज्यों प्राचीर धवल
जिसपर ज्योतित आकाश दीप सा ध्रुव शोभन।
हिमगिरि-सागर में यह असीम छवि प्रतिबिम्बित।
इस छवि छाया का चतुर चितेरे नयन विकल
कर पा न रहे सीमित प्राणो पर आलेखन।

*

३ जलद-फूल

थी पार्वती धरती जलती तप से निर्जल
था महाकाल ज्यों समाधिस्थ निर्द्वन्द्व अचल
सहसा अनंग का धनु झंकृत, शर छूट पड़े
बन पन्चबाण के पुष्प बरसने ये बादल !
क्षण भर घाटी की भँवरो में कर आवर्तन
क्षण भर शिखरो के उपलों का कर आलिंगन
इस महाशून्य की डाली से झरझर शाश्वत
बह रहे पवन की धारा में ये मेघ-सुमन !
क्षण बन दुकूल शृंगो का, क्षण पन्गियो का पर
बन देवदारु का वलय, वनों की बीच बिखर
अधखुले नयन नभ में तिर तिर बनते मिटते
ये कामरूप-घन, दिवा स्वप्न के फूल सुघर !
किसने फैलाया यह हरीतिमा का दुकूल
बँध पा न रहे जिसमें पारद के जलद-फूल

*

४ गिरि-पत्थर

पत्थर भी है कितना रसमय यह जान गया
इस जड़ में भी है चेतन ता मै मान गया
पत्थर की छाती पर सोई है हरियाली
भुजबन्धन में कस रही लता पहिचान गया !
मानिक मदिरा से भरी घाटियों की प्याली
मधुबालाएँ, चम्पई, धूप, छाया काली

वासना नही बुझती फिर भी पीकर क्षण क्षण
काँपते खड़े शत देवदारु बन रोमाली !
घन की उड़ती परियाँ करती है आलिंगन
पथरायें अधरो का भरती विद्युत चुम्बन
बहने लगता गिरि शिरा शिरा में रस मन्थर
खिल जाते है तन में लघु लघु मुसकान सुमन !
निर्झर नदियों में गल बहता जिसका अन्तर
जाने क्यों फिर भी कहलाता वह गिरि पत्थर !

*

५ हिमगिरि और मैं

कितना उन्नत हिमगिरि, मै हूँ कितना लघु नर !
कितना श्लथ मै, कितनी है इसकी विषम डगर !
फिर भी आ बैठा हूँ मै इसकी चोटी पर
पग से अंकित करता मानव अभियान अमर !

* *

मै पंखहीन बन्दी सा इस नभ के आँगन,
कितने गतिमय निर्बन्ध गगनचारी ये घन !
फिर भी इनको साँसो में भर कर आलिंगन
इतिहास लिख रहा हूँ मै मानव का नूतन !

* *

कितना सीमित मैं, है असीम यह नभ मण्डल !
कितना झंझा विद्युत-पूरित इसका अंचल !
फिर भी नभ पर लिख लिख स्वर के अक्षर उज्ज्वल
गुंजित करता मैं मानव के जयगान विमल !

* *

मैं जय विश्वासी पुरुष अतिथि हूँ दूरागत
हँस हँस करती यह प्रकृति वधू मेरा स्वागत !

संथालों के नामकरण की निराली प्रथाएँ

दिवाकर साहु 'समीर'

मानव-सभ्यता के इतिहास मे नामकरण की प्रथाएँ भी अपना विशेष स्थान रखती हैं। मानव-संस्कृति एवं सभ्यता स्वयं जितनी प्राचीन है, ये प्रथाएँ भी उनसे कम प्राचीन नहीं। पृथ्वी पर मानव के अस्तित्व के साथ ही साथ उसके नामकरण की आवश्यकता हुई जिसने कालक्रम से ऐसी विभिन्न प्रथाओं को जन्म दिया। नाम-गोत्र-विहीन मनुष्य संसार मे कदाचित् ही कोई हो। अस्तु।

संथाल-संस्कृति मे नामकरण की प्रथाओं का खास महत्त्व है। नामकरण संस्कार इनके जातीय संस्कारों में प्रमुख है। किसी परिवार में पुत्रोत्पन्न होने पर उसके जन्म से पाँचवें दिन तथा पुत्री होने पर तीसरे दिन उसकी 'छठी' (जन्मोत्सव) का आयोजन किया जाता है जिसे संथाल लोग अपनी भाषा में 'जानाम छटियार' कहते हैं। 'जानाम छटियार' के तीन प्रमुख विषय हैं। (१) संथाल-संस्कृति के नियमानुसार किसी के यहाँ सन्तानोत्पत्ति होने पर परिवार और गाँव भर मे सूतक समा जाता है। अतः उस सूतक को मिटाने के लिए 'जानाम छटियार' करना अनिवार्य है. क्योंकि घर और गाँव में सूतक रहते वहाँ किसी प्रकार के पर्व-त्यौहार, पूजा-पाठ, विवाहोत्सव आदि शुभ कार्य नहीं किये जा सकते। (२) 'जानाम छटियार' में नवजात शिशु का मुण्डन होता है। (३) इसी समय शिशु का नामकरण भी होता है, क्योंकि जबतक उसका नामकरण नहीं हो जाता तब तक संथाल-समाज उसे अपना सदस्य स्वीकार नहीं कर सकता। 'छट्ठी संस्कार' ही संथालों का 'नामकरण संस्कार' भी है।

संथाल लोग सामूहिक जातीय जीवन व्यतीत करते हैं। इनके पर्व-त्यौहार, पूजा-पाठ, विवाहोत्सव आदि सामूहिक होते हैं। उनमें दीन-दुखी, अमीर-गरीब, सभी समान रूप से भाग लेते और एक साथ आनन्द का उपभोग करते हैं। प्रत्येक संथाल गाँव में चाहे वह छोटा हो या बड़ा, एक-एक 'मांझी' (प्रधान), 'पारानिक' (प्रमुख सदस्य), 'नायके' (पुजारी), 'योग-मांझी' (उपप्रधान) योग पारानिक (उपसदस्य), 'कुडाम नायके' (सहकारी पुजारी), 'गोडेत' (संदेशवाहक) आदि प्रमुख जन होते हैं। 'जानाम

छटियार' की निश्चित तिथि को, गरीब से गरीब गृहस्थ के यहाँ भी गाँव के सभी प्रमुख जन अन्यान्य बड़े-बूढ़े स्त्री पुरुषों के साथ 'छटियार' में सप्रेम सम्मिलित होते हैं। वहाँ गाँव का नाई पहले से मौजूद रहता है जो 'नायके' से आरम्भ करके बारी बारी से वहाँ उपस्थित सभी लोगों के बाल बनाता तथा स्त्रियों के नख काटता है। नवजात शिशु का पिता सबके अन्त में अपना बाल बनवाता है। तत्पश्चात् शिशु का मुण्डन होता है। उसके बाल एक दोने में रखे जाते हैं। उस दिन घरों की सफाई भी होती है। फिर बच्चे का पिता आगन्तुक पुरुषों को और दाई (धात्री) स्त्रियों को नहाने के लिए अलग अलग जलाशय में ले जाती है। जलाशय के तट पर उसके देवता के सम्मानार्थ 'दाई' सिन्दूर की पाँच टीकाये आँकती है। इसे 'घाट खरीदना' कहा जाता है। उसी समय नवजात शिशु के बाल जलाशय में बहा दिये जाते हैं। फिर तेल-हल्दी लगाकर सब लोग स्नान करते हैं तथा घर लौटकर बच्चे और जच्चे को भी स्नान कराया जाता है। 'दाई' बच्चे की कमर मे हल्दी से रंगा हुआ धागा (डेंडोर) बाँध देती है जो पारिवारिक एवं सांसारिक बन्धनों का प्रतीक समझा जाता है। फिर गोबर घोले हुए जल से बच्चे की माँ का अभिषेक-सा कराया जाता है और वह दाई के हाथ से अपने बच्चे को घर के द्वार पर ग्रहण करती है जिसका अभिप्राय यह होता है कि समाज की ओर से उसके पालन-पोषण का भार उसे सौंपा जा रहा है।

आगन्तुक लोग बच्चेके पिता से पूछते हैं, "हम यहाँ किस लिए इकट्ठे हुए ह ?" वह उत्तर देता है, "हमारे यहाँ नये अतिथि (शिशु) आये हैं।" लोग फिर पूछते है, "कन्धे पर भार ढोने वाला अथवा सिर पर ?" यदि पुत्र हुआ होता हैं तो उत्तर मे 'कन्धे पर ढोने वाला' और कन्या हुई होती है तो 'सिर पर ढोने वाली' कहा जाता है। इस पर सभी लोग आनन्दसूचक भाव प्रकट करते हैं।

उधर दाई के हाथ से बच्चे को लेकर उसकी माँ धर में प्रवेश करती है। फिर दाई चावल के आटे को पानी मे घोल कर बच्चे की खाट के चारों पौओं पर तथा सभी स्त्री-पुरुषों को छिड़कती है। यह शुभ का चिह्न समझा जाता है। फिर नामकरण की बारी आती है। परिवार का मालिक अपनी स्त्री के साथ परामर्श करके बच्चे का नाम स्थिर करता है। फिर दाई समुपस्थित लोगों से उसका नाम कहती हुई उन्हें बारी बारी से प्रणाम करती है। लोग बच्चे को आशीष देते हुए हास्य और विनोद की हल्की लहरियाँ लेते रहते हैं। संपूर्ण मंडली हंसी-खुशी के फुहारों से गुंजित हो उठती

है। इतने ही में उन लोगों के सामने घरवालों की ओर से 'नीम-दाक्-मण्डी' यानी नीम की पत्तियों के साथ पकायी हुई चावल की माँड़ी आ जाती है उसे 'नायके' से आरम्भ करके सभी उपस्थित लोगों को एक एक दोना परोसा जाता है। लोग पूछते हैं, "यह कैसी भेंट है ?" घरवालों की ओर से उत्तर आता है, "यह अमुक (शिशु) की तुच्छ भेंट है।" इस पर लोग सहर्ष उसे पीते हैं। यहीं से सूतक का अन्त होता है तथा नवजात शिशु समाज के अन्तर्गत आ जाता है। उसके नाम की स्वीकृति भी इसी से मिलती है। नामकरण में संथालों के उत्तराधिकार के विधान भी सम्मिलित रहते हैं। अतएव जब तक किसी बच्चे की 'नीम-दाक्-मण्डी' गाँव के प्रमुख जनों द्वारा नहीं पी ली जाती, तब तक मानो समाज में उक्त बच्चे का कोई स्थान नहीं। दाई के द्वारा उसके नाम की घोषणा होते ही लोग आपस में कहते हैं, 'आज से हम इस बच्चे को शिकार में, अथवा पनघट में, साग तोड़ने में (लड़की हो तो) अमुक नाम से पुकारा करेंगे।'

'नीम-दाक्-मण्डी' में नीम का कड़वापन जितना अधिक समाया रहता है, उसमें संथालों के पारस्परिक जीवन का मीठापन भी उतना ही अधिक सन्निहित रहता है। उनके हृदय के निर्मल प्रेम रस का एक-एक बिन्दु उस नीम की माँड़ी के अणु-अणु में व्याप्त रहता है। इन पंक्तियों में लेखक का निजी अनुभव यही है।

संथाल लोग अपने पूर्वजों के नाम और गोत्र कभी नष्ट नहीं होने देते। इनमें बारह गोत्र होते है—किसकू, सोरेन, हेमरम, हाँसदाक्, मूर्मू, मरण्डी, बासके, बेसरा, टुडु, चोंड़े, पौड़िया और बेदिया। शिशु अपने पिता (जनक) का गोत्र ही जिसे ये 'परिस' कहते है, पाता है माता का नहीं। (संथालों में समगोत्रीय विवाह नहीं होता है)। दक्षिण भारत में यह प्रथा है कि पिता का नाम पुत्र में भी दोहराया जाता है। कहीं कहीं गाँव का नाम भी व्यक्ति के नाम के साथ जोड़ दिया जाता है। संथालों में भी इसी प्रकार की कुछ प्रथाएँ हैं। जिनका वर्णन निम्नलिखित पंक्तियों में किया जाता है :—

(१) आम तौर पर प्रथम पुत्र अपने दादा का, द्वितीय पुत्र अपने नाना का, तृतीय अपने बड़े चाचा का, चतुर्थ अपने मामा का, पंचम अपने छोटे चाचा अथवा फूफा का, षष्ठ अपने मामा अथवा चचेरे नाना आदि का नाम पाता है। उसी प्रकार पहली कन्या अपनी दादी का, दूसरी अपनी नानी का, तीसरी अपनी चाची का, चौथी अपनी मामी का, पाँचवीं अपनी फूआ का, छठवीं अपनी मौसी आदि का नाम पाती है। तात्पर्य यह है कि दोनों कुलों के पूर्वजों के नाम हर हालत में सुरक्षित रखे जाते हैं। इन पंक्तियों के

लेखक के पास ऐसी नामावली की कई बानगी मौजूद है; स्थान संकोच के कारण वह यहाँ नहीं दी जा सकती। उपर्युक्त नियम के अपवाद भी यदा-कदा पाये जाते हैं जिसकी वजह अधिक सन्तान के कारण उत्पन्न समस्या होती है।

(२) संथालों मे 'घर जावांय बापला' नाम की एक वैवाहिक प्रथा है जिसके अनुसार वर को कन्या के पीहर में ही अपना जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उसे बधू-शुल्क नहीं देना पड़ता। बहुधा पुत्र के अभाव में लोग अपनी कन्या अथवा कन्याओं का विवाह इस प्रथा के अनुसार करते हैं। 'घर जावांय बापला' के अनुसार कन्या ही अपने पिता की समस्त संपत्ति की उत्तराधिकारिणी होती है। एक प्रकार से पत्नी ही पति का स्थान ले लेती है। इसलिए उनके बच्चों के नामकरण में भी कन्या पक्ष को ही प्रथम स्थान दिया जाता है। सारांश यह है कि उनका पहला लड़का अपने नाना का, दूसरा अपने दादा का, तीसरा अपने मामा का, चौथा अपने चाचा का, पाँचवाँ अपने दूसरे मामा अथवा चचेरे नाना आदि का नाम पाता है। उसी प्रकार उसकी पहली लड़की अपनी नानी का, दूसरी अपनी दादी का, तीसरी अपनी मामी का, चौथी अपनी चाची अथवा फूआ आदि का नाम पाती है। परन्तु गोत्र उन्हे अपने पिता का ही मिलता है। नामकरण की इन प्रथाओं में संथालों के उत्तराधिकार संबंधी सामाजिक विधान की बड़ी सुन्दर व्यवस्था है।

(३) जुड़वाँ बच्चों के नाम उपर्युक्त प्रथा के अनुसार नहीं रखे जाते। इसके लिए एक दूसरी ही बड़ी मनोरंजक प्रथा है। वह यह है कि एक ही माँ-बाप के पहले जोड़े लड़कों के नाम क्रमानुसार 'राम' और 'लखन" दूसरे जोड़े के 'भरत' और 'चतुर', तीसरे जोड़े के 'भीम' और 'अर्जुन' तथा चौथे जोड़े के 'सीदो' और 'कान्हू'[१] रखे जाते हैं। उसी प्रकार पहली जोड़ी लड़कियों के नाम क्रम से 'छीता' और 'कपरा', दूसरी जोड़ी के 'हिसी' और 'डुमनी', तीसरी जोड़ी के 'दनगी' और 'पोंडगी' रखे जाते है। यह तो हुई जुड़वा पुत्रों और कन्याओं की बात, परन्तु कभी कभी एक पुत्र तथा एक कन्या का भी जुड़वाँ जन्म होता है। वैसी हालत में पुत्र का नाम 'राम' तथा कन्या का 'छीता' आदि क्रम से रखा जाता है। उपर्युक्त वर्गों का

---

१ सीदू और कान्हू दो भाई थे। सन् १८५६ ई० में संथालों ने अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध प्रथम राजनीतिक क्रान्ति की थी जिसमें इन दोनों भाइयों के शौर्यपूर्ण नेतृत्व ने आग में घी का काम किया था।

कोई नाम एक ही माता-पिता की किसी सन्तान को पड़ चुकने के बाद यदि उन्हें कोई जुड़वा सन्तान हो तो फिर उन्हें दूसरे वर्ग के नाम दिये जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी सन्तान को 'राम' अथवा 'छीता' नाम दिया जा चुका होता है तो बाद में उत्पन्न होने वाली जुड़वाँ सन्तान के नाम 'भरत' 'चतुर' अथवा 'हिसी' 'डुमनी' दिये जाते हैं।

(४) कभी कभी सन्तान न होने पर संथाल लोग मनौती मानते हैं, ओझा-गुनी को पकड़ते हैं, तन्त्र-मंत्र के 'उपाय' करवाते हैं। और तब जो सन्तान उत्पन्न होती है उसका नाम उसी 'ओझा' अथवा उसकी पत्नी के नाम पर रखा जाता है जिनकी बदौलत सन्तान होने का विश्वास किया जाता है। इसका अभिप्राय उस 'ओझा' का सम्मान करना है। परन्तु यदि परिवार वाले 'ओझा' को यह सुविधा प्रदान करना न चाहें तो उन्हें उनको दो रुपये, एक धोती तथा एक बकरे का उपहार देना पड़ता है। फिर सन्तान का नाम आम प्रथा के अनुसार रखा जाता है। ओझा के नाम पर किसी सन्तान का नामकरण होने पर भी वे उसके उत्तरदायित्व से सर्वथा मुक्त रहते हैं।

(५) पोष्य-पुत्र की प्रथम सन्तान अपने निजी दादा अथवा दादी का नहीं, अपने पोष्य-पितामह अथवा पितामही का नाम पाती है।

(६) संथालों के अंधविश्वास के अनुसार बाघ, सिंह, भालू, साँप आदि अनिष्टकर जीवधारियों की चर्चा, सीधे उनके नाम लेकर करना खतरे से खाली नहीं समझा जाता है। ऐसे जीवधारियों के छद्म नामों का ही अधिकतर प्रयोग होता है। अनिष्ट की यह भावना बालकों के नामकरण में भी ध्यान मे रखी जाती है। जो व्यक्ति बाघ, सिंह, भालू आदि हिंस्र जन्तुओं के शिकार होकर मरते हैं उनके नाम किसी बच्चे को नहीं दिये जाते, क्योंकि उनके लिए भी उन्हीं जानवरों के शिकार हो जाने की आशंका रहती है। साँप के काटे हुओं के बारे में यह बन्धन नहीं भी रहता है।

(७) संथाल समाज समगोत्रीय तथा अन्तर्जातीय यौन संबंध का घोर विरोधी है। स्त्रियों के लिए तो इस नियम की और अधिक पाबन्दी है। इसलिए संथाल स्त्रियाँ इस विषय में सर्वदा सतर्क रहा करती हैं कि किसी समगोत्रीय अथवा अन्तर्जातीय पुरुष के साथ उसका किसी तरह का अनुचित संबंध समाज के समक्ष प्रकट न होने पाये। अन्यथा 'बिटलाहा' (जातिच्युति) का अपमान भोगना पड़ेगा। परन्तु इतना होने पर भी यदि कभी किसी अविवाहिता, परित्यक्ता अथवा विधवा के कोई सन्तान उत्पन्न हो जाती है तो समाज अपने अन्तर्गत उसकी समुचित व्यवस्था करने की भी सामर्थ्य

रखता है। उस स्त्री के कथन पर संथालों की ग्रामपंचायत जिस पुरुष को उक्त शिशु का जनक प्रमाणित करती है उसी का गोत्र (परिस) उसे (शिशु को) मिलता है तथा उसका नाम उक्त पुरुष के पिता के नाम पर रखा जाता है। वह स्त्री उसी पुरुष की पत्नी करार दी जाती है। उसका वधू-शुल्क भी उसी पुरुष से वसूल किया जाता है। और यदि, वह स्त्री को ग्रहण न करे तो उसे उसका त्याग-शुल्क भी देना पड़ता है। ऐसी स्त्रियों अथवा युवतियों को संथालसमाज हीनदृष्टि से नहीं देखता। उसका पुनर्विवाह बिना किसी अड़चन के हो जाता है। परन्तु नवजात शिशु हर हालत में उसी पुरुष को सौंप दिया जाता है। वह उसी का वैधानिक उत्तराधिकारी भी होता है।

इसकी दो-एक अवस्थायें और हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि युवती माता किसी को भी अपने शिशु का जनक प्रमाणित नहीं करा सकती अथवा दो तीन युवकों के साथ यौन संबंध हुआ बतलाती है। पहली अवस्था में अर्थात् जब शिशु का जनक अज्ञात रहता है, तब पहले तो 'जावाँय किरिञ' करने यानी (किसी युवक को) उस युवती का पति खरीदने का प्रयत्न किया जाता है। कोई युवक पति मिल जाने पर उसे वह युवती बिना वधू-शुल्क के उसकी पत्नी के रूप मे सौंप दी जाती है; साथ ही उस युवती के परिवार वाले दस से बीस रुपये तक 'मूल्य' भी देते हैं। तात्पर्य यह है कि उस युवती को पति खरीद दिया जाता है। फिर तो वह अज्ञात नाम-गोत्र शिशु अपने उस भावी पिता का गोत्र एवं उसके पिता अथवा माता का नाम पाता है। और जब कोई युवक उस युवती के लिए अपना पतित्व 'बेचने' को प्रस्तुत नहीं रहता है तब उस नवजात शिशु को गाँव के 'योग-मांझी' का नाम और गोत्र दिया जाता है, क्योंकि गाँव भर की युवक-युवतियों का चरित्र-संबंधी उत्तरदायित्व उन्हीं के सिर पर रहता है। बच्चे के पालन पोषण का भार 'योग-मांझी' की देख रेख में उसी युवती के जिम्मे रहता है, परन्तु उसे समाज में किसी का उत्तराधिकार प्राप्त नहीं रहता। बड़े होने पर उसे स्वतंत्र जीवन यापन करना पड़ता है। हाँ, समाज की अन्यान्य सुविधाएँ, औरों की भांति उसे भी प्राप्त होती है। उस युवती का विवाह भी पीछे कहीं हो जाता है। एक से अधिक युवकों के साथ यौन-संबंध बतलाये जाने पर भी उपर्युक्त व्यवस्था ही की जाती है।

नामकरण-संबंधी दो एक सूक्ष्म बातें और हैं; परन्तु लेख का कलेवर बढ़ जाने के भय से यहाँ उनका समावेश नहीं किया जा रहा है। फिर भी, इतना लिखे बिना यह अधूरा-सा लगता है कि संथाल नामों में राम, लखन,

भरत, चतुर, अर्जुन, किसुन, शिबू, सोना, रूपलाल, मेघलाल, शामलाल, शिवलाल, सोम, मंगल, बुधु, लखीराम, सुकोल, सुफल, रसिक, जेठा, मेघराय, बाघराय, सिंगराय, छोटराय, बाड़का, छोटका, सलखू, पियो, भुजू, दुर्गा, मोहन, हाड़मा, लुदु, भातोड़, लाल, भत्तू, हरि, चरण, दारोगा, बरियार, जयराम, सोमाय, सुकदेव, सावना, शंकर आदि तथा स्त्रियों के नामों में बाले, बड़की, माराङ, दुलाड़, होपोन, रान्धोन, लुखी, लुदगी, सुगी, मुखी, सुमी, मायनो, मुनी, पोगरो, सोना, छीता, कपरा, चुड़की, तालवा, मँही, साँखो, संझली, मैकू आदि नाम अधिकतर व्यवहार में आते हैं। परम्परा, इतिहास, अन्ध-विश्वास तथा अर्थ के आधार पर इन नामों का वर्गीकरण भी हो सकता है जो एक स्वतंत्र लेख की सामग्री है।

किंवदन्तियों के आधार पर संथाल लोग धनुष-बाणधारी राम और वंशीधारी कृष्ण को अपने पूर्वज माना करते हैं। नामकरण की उपर्युक्त प्रणालियों को दृष्टि में रखते हुए इतना तो अवश्य कहा जायगा कि संथालों के किसी सुदूर पूर्वजों के नाम राम और कृष्ण अवश्य रहे होंगे जो आज भी पीढ़ी दर-पीढ़ी नीचे उतरते हुए, संथालों में प्रचलित हैं। सभ्य संसार का इतिहास इसे भले ही उपेक्षा की दृष्टि से देखा करे परन्तु संथालों की परम्परा और गाथायें, सूम के धन की तरह इनके पुरखों की थातियों को अब तक जुगाते रही हैं। इनकी परम्परागत प्रथाओं का पंचांग युगों से इनका मार्ग प्रदर्शन करता आ रहा है; परन्तु ये चीजें और कब तक अंधकार में रहेंगी ?

शूद्रमुक्ति

पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

(२)

दि० सिद्धान्त ग्रन्थों में मुख्यतया षट्खण्डागम और कषायप्राभृत का समावेश होता है तथा धवला, जयधवला, गोम्मटसार, लब्धिसार और क्षपणासार इनके अंगरूप से स्वीकार किये गये हैं। इनमें से प्रारम्भ के दो शास्त्रों की मूल द्वादशांग के आधार से रचना हुई थी और शेष शास्त्र इनके आधार से रचे गये थे। धवला और जयधवला ये टीका ग्रन्थ हैं। इनमें क्रम से षट्-खण्डागम और कषायप्राभृत का विषय स्पष्ट किया गया है। इस साहित्य में जीव और कर्मविषयक विविध अवस्थाओं, उनके संयोग, वियोग व कारणों का विशद विवेचन किया गया है। भगवान् महावीर ने अपनी पुनीत वाणी द्वारा जीव और कर्म के विषय में जो कुछ प्रतिपादन किया था उसका संकलन इस साहित्य मे किया गया है इसलिए इसे सिद्धान्त ग्रन्थ इस नाम से पुकारते हैं।

जैन परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की और इस साहित्य की प्रमुख रूप से गणना की जाती है। कुन्दकुन्द के ग्रन्थ मुख्यतया 'अध्यात्म ग्रन्थ' इस नाम से पुकारे जाते हैं। इसका कारण यह है कि इनमें वस्तु का मूलस्पर्शी विचार किया गया है। उपचार कथन को इनमें मुख्यता नहीं दी गई है।

यह जैन परम्परा का मूल साहित्य है जिसके प्रकाश में हम जगत् और उसमें स्थित प्रत्येक तत्त्व का गहराई से विचार करते हैं।

प्रश्न यह है कि आजीविका की दृष्टि से जो शूद्र कहे जाते हैं, जो नाच, गान, शिल्पकर्म या सेवावृत्ति से आजीविका करते हैं वे उसी पर्याय में पूर्ण आत्मधर्म को प्राप्त करने के अधिकारी हैं या नहीं ? उक्त ग्रन्थों के प्रकाश में हमें सर्वप्रथम प्रमुखता से इसी विषय का निर्णय करना है और फिर देखना है कि अन्य साहित्य में इस निर्णय की कहाँ तक रक्षा की गई है या उसे कहाँ तक तिलांजलि दे दी गई है।

अधिकतर पिछले ग्रन्थों में दीक्षा के योग्य कुल और दीक्षा के अयोग्य कुल, कुल के ऐसे दो भेद देखने को मिलते हैं। धवला टीका में उच्च गोत्र का लक्षण करते हुए लिखा है—

"दीक्षायोग्यसाध्वाचरणानां साध्वाचारैः कृतसम्बन्धानाम् आर्यप्रत्ययाभि-धानव्यवहारनिबन्धनानां सन्तानः उच्चैर्गोत्रम्।... तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्।"

जो दीक्षायोग्य साधु आचरणवाले हों, जिन्होंने साधु आचारवालों के साथ संबंध स्थापित कर लिया हो तथा जिनमें यह 'आर्य' है इस प्रकार की ज्ञान की प्रवृत्ति होती हो और यह 'आर्य' है इस प्रकार का शाब्दिक व्यवहार होने लगा हो, उनकी परम्परा को 'उच्च गोत्र' कहते हैं और इसके विपरीत 'नीच गोत्र' है।

गोत्र का सामान्य लक्षण जीवस्थान चूलिका अधिकार की धवला टीका में इस प्रकार किया है :–

"गोत्रं कुलं वंश. सन्तानमित्येकोऽर्थ. ।"

गोत्र, कुल, वंश और सन्तान ये एकार्थवाची नाम हैं।

आगे धवला टीका के उदय-उदीरणा प्रकरण में नीच गोत्र की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा के स्वामी का निर्देश करते हुए लिखा है–

'अजमकित्तिदुब्भगअणादेज्जणीचागोदाणं उक्कस्सपदेसउदीरओ को होदि ? मव्वविशुद्धो असंजदसम्माइट्ठी से काले संजमं पडिवज्जिहिदि त्ति ।"

अयशःकीर्ति, दुर्भग, अनादेय और नीचगोत्र की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा किसके होती है ? जो तदनंतर समय में सकल संयम को प्राप्त होगा ऐसे सर्व विशुद्ध असंयत सम्यग्दृष्टि के उक्त प्रकृतियों की उत्कृष्ट प्रदेश उदीरणा होती है।

आगे इसी प्रकरण में उच्चगोत्र और नीच गोत्र होने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए लिखा है–

"णीचागोदाणमुदीरणा एयंतभवपच्चइया । • उच्चागोदाणमुदीरणा गुणपडिवण्णेसु परिणामपच्चइया अगुणपडिवण्णेसु भवपच्चइया। को पुण गुणो ? संजमो संजमासंजमो वा ।"

नीच गोत्र की उदीरणा एकान्त भवप्रत्यय होती है और उच्च गोत्र की उदीरणा गुणस्थान प्रतिपन्न जीवों में परिणामप्रत्यय होती है तथा गुण-स्थान अप्रतिपन्न जीवों में भवप्रत्यय होती है। गुण से यहाँ संयम और संयमासंयम लिये गये हैं।

इन प्रमाणों के आधार से निम्न लिखित बातें फलित होती हैं :––

(१) आर्य होकर भी जो दीक्षा योग्य साधु आचारवाले हैं वे उच्च गोत्री और शेष नीचगोत्री हैं।

(२) सन्तान का अर्थ पुत्र, पौत्री प्रपौत्री की परम्परा न होकर आचार-वालों की परम्परा है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में सन्तानक्रम से आये हुए जीव के आचार को गोत्र कहा है। धवला टीका के उक्त लक्षण को देखने से मालूम पड़ता है कि यह लक्षण उलट कर लिखा गया है। सन्तान (परम्परा) यह गोत्र का मुख्य वाच्यार्थ है और आचार उसका निमित्त है।

किंतु कर्मकाण्ड में आचार को गोत्र का वाच्यार्थ मान लिया गया है। ऐसा उन्होंने क्यों किया इसके दो कारण हो सकते हैं–प्रथम तो यह कि इस काल में वर्णाश्रम धर्म के प्रभाववश सन्तान शब्द पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र अर्थ में प्रयुक्त होने लगा था। जन्म से उच्चता और नीचता रूढ़ हो गई थी। सम्भवतः नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती तात्कालिक परिस्थिति से प्रभावित हुए हों और उन्होंने ब्राह्मणधर्म की वर्णव्यवस्था को स्वीकार करना ही इष्ट समझा हो। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि इस काल में भारतवर्ष में यवनों का संचार बहुलता से होने लगा था। जनता अपने जीवनशुद्धि के कारणभूत आचार को तिलांजलि देकर यवनों के प्रभाव में आने लगी थी। आचार की नई नई व्याख्यायें की जाने लगीं थीं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का जीवन में महत्त्व घटने लगा था। संभवतः इसी परिस्थिति को ध्यान में रखकर नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोत्र की व्याख्या में परिवर्तन किया हो। उनकी यह मंशा रही हो कि जनता इस नये आचार को स्वीकार करने से बचे इसीलिए उन्होंने उस आचार की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया हो जो परम्परा से चला आ रहा था। ये दोनों परिस्थितियां उनके सामने थीं इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इनमें से किस के प्रभाव में आकर उन्होंने गोत्र के उक्त लक्षण में परिवर्तन किया था यह कह सकना कठिन है पर इतना निश्चित है कि वे गोत्र के उस लक्षण की यथावत् रक्षा नहीं कर सके जिसका निर्देश वीरसेन स्वामी ने किया था।

(३) एक पर्याय में संयम का निमित्त पाकर नीचगोत्री अपने गोत्र को बदल कर उच्चगोत्री हो जाता है। गोत्र का यह परिवर्तन उदय और उदीरणा से होता है, संक्रमण से नहीं। संक्रमण बन्ध का एक भेद है। सिद्धान्त ग्रन्थों में बन्ध के दो भेद बतलाये हैं–अकर्मबन्ध और कर्मबन्ध। कर्मबन्ध संक्रमण का ही दूसरा नाम है। जीव के औदयिक परिणामों के होने में कर्म का उदय या उदय और उदीरणा ये दोनों मिलकर कारण होते हैं संक्रमण नहीं इतना निश्चित है। जिन अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों के उच्चगोत्र की उद्वेलना हो गई है उन्हें छोड़कर कर्मक्षय होने के पूर्व तक शेष सब संसारी जीवों के दोनों गोत्र की सत्ता पाई जाती है और यथासंभव इनका संक्रमण भी होता रहता है पर उदय और उदीरणा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। देवों और भोगभूमिज मनुष्यों के उच्च गोत्र का ही उदय होता है। नारकियों, तिर्यंचों और लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों के नीच गोत्र का ही उदय होता है। शेष मनुष्यों के यथासंभव दोनों प्रकार के गोत्रों का उदय होता है ऐसा कर्मशास्त्र का मन्तव्य है। अतः संक्रमण के

देशसंक्रमण और सर्वसंक्रमण ऐसे भेद करके सर्वसंक्रमण के होने पर ही गोत्र परिवर्तन मानना उचित नहीं है। यह मान्यता कर्मशास्त्र की अनभिज्ञता को प्रकट करती है।

(४) एक पर्याय में गोत्र बदलता है इसका यह अभिप्राय है कि जो आर्य या म्लेच्छ नीचगोत्री होते हैं वे परिणामों की विशुद्धिवश सकलसंयम को धारण करते समय नियम से उच्चगोत्री हो जाते हैं।

धवला टीका में बतलाया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय,, वैश्य और साधु ये उच्चगोत्री होते हैं और शेष नीचगोत्री होते हैं। वहीं पर यह भी लिखा है कि ये इक्ष्वाकु कुल आदि काल्पनिक हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि गोत्र का यह विभाग व्यवहार की प्रधानता से किया गया है। कर्मशास्त्र के अनुसार इतना तो निश्चित है कि वीतरागी साधु नियम से उच्चगोत्री होता है किन्तु वर्णों की अपेक्षा गोत्र का कोई ऐसा विभाग नहीं किया जा सकता है।

कर्मशास्त्र में मनुष्य के चार विभाग किये गये हैं—सामान्य मनुष्य, पर्याप्त मनुष्य, पर्याप्त मनुष्यनी और लब्ध्यपर्याप्त मनुष्य। इनमें से एक लब्ध्य-पर्याप्त मनुष्य के मात्र नीचगोत्र का—उदय होता है शेष के गोत्र के उदय का कोई ऐसा नियम नहीं है। किसी के भी किसी गोत्र का उदय होता है। जैसा कि हम पहले लिख आये हैं कि वर्ण मात्र आजीविका के प्रकार हैं। इनके आधार से मनुष्यों का भेद करना आन्तरिक भेद को प्रकट नहीं करता। जैनाचार्यों ने वर्णों की काल्पनिकता को ऊर्ध्वबाहु हो कर स्पष्टतः उद्घोषित किया है। वे नहीं चाहते कि इस कारण से कोई मनुष्य मनुष्य में वास्त-विक भेद करे। वे इसे व्यवहारमात्र मानते हैं। यही कारण है कि वर्णों के आधार से हम यह निर्णय नहीं कर सकते कि किसके किस गोत्र का उदय होता है। ब्राह्मण होकर भी नीचगोत्री हो सकता है और शूद्र होकर भी उच्च गोत्री हो सकता है। माना कि धवला में वर्णों के आधार से गोत्र के विभाग का निर्देश किया गया है परन्तु उसकी काल्पनिकता को भी तो धवलाकार ने वहीं स्वीकार कर लिया है। इसलिए वर्णों के आधार से गोत्र का विभाग करना मूल मान्यता के विरुद्ध है। यह तात्कालिक परिस्थिति का परिणाम है जिससे प्रारम्भ के तीन वर्णवाले उच्चगोत्री और शूद्र नीच गोत्री माने जाने लगे थे।

अतः इस विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि किसी भी वर्णवाला जीव परिणामों की विशुद्धतावश मुनिदीक्षा का अधिकारी हो सकता है। इस विषय की पुष्टि सर्वार्थसिद्धि से भी होती है। उसमें संघ के अवर्णवाद का निर्देश करते हुए लिखा है—

"शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावना संघावर्णवादः।" ६-१३।

जो दोष जिसमें नहीं है उसका उसमें उद्भावन करना अवर्णवाद है। कोई भी साधु किसी वर्ण का नहीं होता या मात्र ब्राह्मण वर्ण का होता है। साधु दीक्षा लेने पर गृहस्थ अवस्था के वर्ण उसके छूट जाते हैं फिर भी उन वर्णों के आधार से संघ की निन्दा करना यह संघ का अवर्णवाद है। जैन परम्परा में सब प्रकार के कर्म करने वाले जीव दीक्षित होते आये हैं। जब डाका डालने का कर्म करने वाले भी दीक्षित हुए हैं, हिंसा का कर्म करने-वाले भी दीक्षित हुए हैं, तो शिल्प या सेवा का कर्म करनेवाले दीक्षित हुए हों तो इसमें क्या आश्चर्य है? जैन संघ में जो गृहस्थ अवस्था में शूद्र थे ऐसे मुनि भी पाये जाते थे तभी तो दूसरे लोग उपहास में उन्हें 'शूद्र' कहकर पुकारते होंगे।

वर्तमान में अधिकतर लोग यह बात सुनते हुए घबड़ाते हैं कि शूद्र मुनि दीक्षा ले सकता है और जो इस सत्य का प्रतिपादन करते हैं उन पर नाना प्रकार के आक्षेप लगाते हैं। उन्हे समाज मे तिरस्कृत किया जाता है, उनकी बात नहीं सुनी जाती है। पर वस्तुस्थिति यह है कि जैनधर्म का दर-वाजा सबके लिये समान रूप से खुला हुआ था और होना चाहिये। कथित शूद्रों की परिगणना तो आर्यो मे होती आई है। वे यहाँ की तात्कालिक समाजिक व्यवस्था को भी स्वीकार करते आये है। जो अनार्य अर्थात् म्लेच्छ कहे जाते हैं जिनका किसी भी प्रकार का सामाजिक जीवन सुनिश्चित नहीं है, जो हिंसा आदि सभी कर्मों में रत रहते है, विवाह आदि का भी जिनके यहाँ किसी प्रकार का बन्धन नहीं है, जो सेवा, शिल्प आदि क्या सभी कर्म बिना भेदभाव के करते है, वे जब जिनदीक्षा के अधिकारी माने गये हैं और उसी भव से संयम धारण कर मोक्ष के पात्र होते आये हैं तब फिर आर्य शूद्र जिनदीक्षा के अधिकारी न होते हों यह कहना भला कैसे संभव है? हाँ, जो पैसे के लिए चापलूसी करते हैं या पैसा लेकर चापलूसी करते हैं इन्हें यदि जिनदीक्षा का अधिकारी न माना जाय तो बात दूसरी है, क्योंकि इनके जीवन मे से परिग्रह का महत्त्व कभी भी दूर नहीं हो सकता, ऐसे जीव दीक्षा लेने के बाद भी उठाधरी करते रहते है। परन्तु जो मात्र शिल्प या सेवा द्वारा आजीविका करते हैं वे परिग्रह की ममता से दूर नहीं हो सकते यह बुद्धिग्राह्य बात नहीं है। ऐसे उदाहरण तो आज भी देखने को मिल सकते हैं जिनसे यह भेद स्पष्ट हो जाता है। मुझे एक साधु की घटना याद है। उनके पढ़ाने के लिए एक विद्वान् की नियुक्ति की जा रही थी। साधु महाराज जितना दिलाना चाहते थे पंडित जी उतने पर राजी

नहीं थे। उनका कहना था कि इतने अल्प वेतन में हमारे कुटुम्ब का भरण-पोषण नहीं हो सकता। जिनकी ओर से वेतन मिलनेवाला था वे इसके लिये राजी थे कि पंडित जी की इच्छापूर्ति कर दी जाय तभी वे निश्चिन्त होकर काम कर सकेंगे, पर साधु महाराज इस पर राजी नहीं हुए। उनका कहना था कि हमारे निमित्त से इन्हें भोजन मिल जाता है और दूसरी सुविधाएँ भी मिल जाती है फिर इन्हें अधिक देने से क्या लाभ ? हम गुरु है, हम जो कहते है वह पण्डित जी को मान लेना चाहिये। अधिक देने से इनका लोभ बढ़ेगा और लोभ दुर्गति का कारण है। अन्त मे पंडित जी तो मान गये पर साधु महाराज को टस से मस नहीं किया जा सका। उस समय दाता के मुख से अवश्य ही ये शब्द सुनाई दिये—'दाता दे भंडारी का पेट फटे।'

हमने ध्यानपूर्वक आगम को देखा है। आगम का भाव स्पष्ट है। उसमे वर्णों के आधार से दीक्षा का विचार ही नहीं किया गया है। प्रारम्भ मे तो वहाँ आर्य म्लेच्छ इन भेदों का भी दर्शन नहीं होता। जब आर्य और म्लेच्छ ये भेद समाज मे रूढ़ हो गये और आर्य लोग अपने से भिन्न दूसरों को अनार्य कहने लगे तब भी जैन आगम ने धर्म का दरवाजा किसी के लिये बन्द नहीं किया क्योंकि जैन धर्म की मान्यता के अनुसार आर्य और म्लेच्छ ये भेद भी कल्पित हैं। जिन्हे हम म्लेच्छ कहते है वे अपने को वैसा कब मानते हैं। जिस प्रकार चार वर्णों के मनुष्यों मे कुत्ता बिल्ली जैसा भेद नहीं पाया जाता उसी प्रकार इन भेदों में भी वास्तविक अन्तर नहीं है। दोनों की शकल सूरत और नाक कान एक से होते हैं। यही कारण है कि जैनागम मे आर्य और म्लेच्छ दोनों को दीक्षा का अधिकारी माना गया है। लब्धिसार में संयम के प्रकरण में दोनों के संयमस्थानो का स्पष्ट निर्देश किया है। यथा—

"तत्तो पडिवज्जगया अज्जमिलेच्छे मिलेच्छअज्जे य
कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि सखं वा ॥१९५॥"

अब देखना है कि ये म्लेच्छ कौन है। सर्वार्थसिद्धि मे 'आर्या म्लेच्छाश्च' इस सूत्र की व्याख्या करते हुए म्लेच्छों के दो भेद बतलाये हैं—अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज। अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ वे कहलाते है जो लवणसमुद्र के टापुओं पर पाये जाते है। अन्यत्र इन्हें कुभोग-भूमिज मनुष्य भी कहा गया है। और कर्मभूमिज म्लेच्छों की चर्चा करते हुए वहाँ लिखा है—'कर्मभूमिजाश्च शकयवनशवरपुलिन्दादय:' अर्थात् शक, यवन, शवर और पुलिन्दादिक ये कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि जैनधर्म मे सब प्रकार के मनुष्य दीक्षित किये जाते थे। वर्तमान में हमने वर्णाश्रमधर्म के प्रभाववश जैनधर्म की इस तात्त्विक भूमिका को छोड़ दिया है जिसका वर्तमान मे यह परिणाम हो रहा है कि हम उत्तरोत्तर अनुदार बनते जा रहे हैं। भारतवर्ष की गुलामी और कमजोरी का यही कारण है। हम वैदिक धर्म की चाहे जितनी निन्दा करें पर उस दोष से हम भी अछूते नहीं बचे हैं। हममे भी तो वही दोष घर कर गया है जो वैदिक धर्म की रीढ़ है। आज तो हम भी उनके समान सर्वत्र उपहास के पात्र हो रहे हैं। हमारे पूर्वजों ने अपनी विश्वबन्धुत्व की भावना का त्याग कभी नहीं किया था। वे मनुष्यों मे रूढ़ आर्य और अनार्य के भेद को भी लुप्त कर देना चाहते थे। इसके लिये उन्होंने सब प्रकार के कष्ट और अपमान भी सहे। उनका विश्वास था कि चारित्र के आधार से सबको एक भूमिका पर लाया जा सकता है। किन्तु हमारा काम ठीक इसके विपरीत हो रहा है। ऐसे नाजुक समय में जब देश ने कल्पित रेखा को मिटाने का बीड़ा उठाया है जो कि हमारे तत्त्वज्ञान और मिशन के अनुकूल है, हम बीच में रोड़ा बनने का प्रयत्न कर रहे है। क्या इस वृत्ति को क्षमा किया जा सकता है। अनन्त कष्ट सहकर भी इसका परिहार करना होगा।

इस प्रकार आगमाधार से हम यह देख चुके है कि मनुष्यमात्र को ऊँच से ऊँच धर्म के धारण करने का अधिकार है इसमे अ, ब, क, का कोई भेद नही है। जो शूद्र कहे जाते हैं वे भी मुनि हो सकते हैं और जो मुसलमान, ईसाई, यहूदी, सिख या भील आदि कहे जाते हैं वे भी मुनि हो सकते हैं और उसी भव से मुक्तिलाभ भी कर सकते है। यह दूसरी बात है कि वर्तमान काल में मुक्तिलाभ नहीं होता पर इन भेदों के कारण किसी को धर्म मे दीक्षित होने के अपात्र मानना उचित नहीं है। परिस्थिति या भीतरी श्रद्धावश जिनके आचार विचार दूसरे प्रकार के है कालान्तर मे अनुकूल परिस्थिति का निर्माण होने पर वे बदले भी जा सकते है। सोनगढ़ मे कानजी स्वामी के प्रवचन मे हमने कई मुसलमान और दूसरे कथित शूद्रों को सम्मिलित होते देखा है। वे उन प्रवचनों की अन्तःकरण से सराहना भी करते है। धर्म परिवर्तन में सबसे अधिक बाधक कारण आज की सामाजिक रचना है। इसके कारण कोई मनुष्य स्वेच्छा से अपने आचार विचार को नहीं बदल पाता। जो बदलता भी है उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऊँच नीच के भेद का कारण भी यही है। इसलिए हमारा मुख्य काम है कि इस सामाजिक व्यवस्था से ऊपर उठकर सर्वहिताय और सर्वसुखाय धर्म की बात करें। उसे किसी बन्धन में जकड़ कर उसकी हत्या के पातकी न बने।

प्रयाग संग्रहालय में जैन पुरातत्त्व

मुनि कान्तिसागर

[३]

अम्बिका—

नगर-सभा-संग्रहालय के उद्यान कूप के पास छोटे से छप्पर में एक ६८×३९ इंच की रक्त प्रस्तर शिला पर विभिन्न आभूषण-युक्त कलात्मक प्रतिमा, सपरिकर उत्कीर्णित है। इस प्रतिमा ने मुझे ऐसा प्रभावित किया कि जीवन, पर्यन्त उसका विस्मरण मेरे लिए असंभव हो गया। बात यह है कि, संपूर्ण भारत में इस प्रकार की प्रतिमा आज तक न मेरे देखने मे आयी है और न कहीं होने की सूचना ही मिली है। मूर्त्ति अम्बिका देवी की है। इसका परिकर न केवल जैन शिल्प-स्थापत्य कला का समुज्वल प्रतीक ही है अपितु भारतीय देवि-मूर्ति कला की दृष्टि से भी अनुपम है। स्पष्ट कहा जाय तो यह भारतीय शिल्प-स्थापत्य कला मे जैनों की मौलिक देन-सी है। यों तो अम्बिका इतनी व्यापक देवी रही है कि प्राचीन कालीन प्रायः सभी जैन मूर्त्तियों में इसकी सफल अभिव्यक्ति हुई है। साथ ही साथ पश्चिम एवं उत्तर भारतीय कला की बहुत सी धारा इसी पर बही है। जैसा कि तत्र प्राप्त अवशेषों से फलित होता है। इस मूर्त्ति का वैशिष्ट्य न केवल कला या वास्तु–शास्त्र की अपेक्षा से ही है, अपितु आभूषण बाहुल्य के कारण सामाजिक दृष्टि से भी है। मूर्त्ति का संपूर्ण परिचय इस प्रकार है :—

शिला के मध्यभाग में चतुर्भुजी अम्बिका ४१ इंच में अंकित है। चारों हाथ खंडित है। कंठ में हंसुली प्रमुख बहुत सी मालाएँ एवं हाथ में भी बाजूबन्द आदि आभूषण हैं। नागावलि से हाथों का सौंदर्य बढ़ गया है। केश-विन्यास के अग्र भाग में भी आभूषण है। केश-विन्यास मस्तक पर त्रिवल्यात्मक है, जैसा कि ११वीं शती की झांसी के पास देवगढ़ पर पायी जाने वाली देवमूर्त्तियों में एवं नर्त्तकियों के मस्तक पर पाया जाता है। कमल-पुष्प मस्तक की छवि में अभिवृद्धि करते हैं। नासिका खंडित होने के बावजूद भी मुख सौंदर्य में कमी नहीं आने पायी है। शान्ति ज्यों की त्यों

बनी है। यद्यपि वदन इतना सुन्दर और भावपूर्ण बना है, तथापि कलाकार चक्षु निर्माण में पश्चात्पाद जान पड़ता है। कटि प्रदेश में नाना जाति की कटि मेखलाएँ एवं स्वर्ण-कटिमेखला कई लड़ों की सुशोभित है। खुदाई इतनी स्पष्ट है कि एक एक कड़ी पृथक् पृथक् गिनी जा सकती है। बुंदेलखंड में आज भी इस प्रकार की कटि मेखलाएँ कई लड़ों में व्यवहृत होती हैं। देवी के दोनों चरण सुन्दर वस्त्र से आच्छादित है जो सूक्ष्मता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, मानों कोई विविध वेलबूटों से छपा हुआ वस्त्र हो। चरण में नूपुर और तोड़े बने हुए है। संपूर्ण प्रतिमा को एक दृष्टि से देखने के बाद हृदय पर बड़ा गहरा असर पड़ता है। प्रतिमा की दायीं ओर एक बालक सिंह पर आरूढ़ है। बायीं ओर भी एक बालक खड़ा है। वह देवी का हाथ पकड़ हुए होगा। दोनों के निम्न भाग में क्रमशः स्त्री और पुरुष अंजलिबद्ध अंकित है। तन्निम्न भाग मे कमल के दण्ड अपना सौंदर्य बिखेर रहे है। यह तो हुआ प्रतिमा का शब्द चित्र। अब हमे इसके परिकर की ओर जाना चाहिए। जो इसकी सुन्दरता को द्विगुणित कर देता है।

परिकर मूल प्रतिमा के ड्योढ़े से अधिक भाग मे है। दायीं प्रथम पंक्ति के निम्न भाग में सर्वप्रथम एक चतुर्भुजी देवी की खड़ी प्रतिमा अंकित है। खड्ग, परशु आदि आयुधो के साथ है। इस प्रतिमा की ऊपर की पंक्ति मे चार खड़ी जिन मूर्त्तियाँ है। तदुपरि हस्ति, अश्व और मकराकृतियाँ है। इनके ऊपर इस प्रकार के भाव उत्कीर्णित है, मानो कोई स्त्री पूजन की सामग्री लिए खड़ी हों। इसी प्रकार परिकर का बायाँ भाग भी बना हुआ है। दूसरी पंक्ति के दोनों भागों मे नवग्रहों की प्रतिमाएँ अंकित है। तदुपरि दाहिनी एवं बायीं ओर यक्ष की प्रतिमाएँ है। हाथ मे चक्र है। ऊपर के भाग में दायें बायें सात सात देवियों की प्रतिमाएँ है, जिन पर क्रमशः काली, महाकाली, मानसी, गौरी, गांधारी, अपराजिता, ज्वालामालिनी, आदि नाम अंकित है। सभी देवियाँ अपने अपने आयुधों से अंकित है। दायीं ओर की मूर्त्तियों का दायाँ पैर और बायीं ओर की मूर्त्तियों का बायाँ पैर इस प्रकार काटा गया है, जैसे एक ही क्षण मे क्रमशः खंडित करते हुए कोई आगे निकल गया हो। उपर्युक्त वर्णित प्रत्येक प्रतिमा के दोनों ओर खास खास स्तम्भ बने है। प्रत्येक के नीचे तख्ती जैसा स्थान रिक्त है। जिस पर नाम उत्कीर्णित है। सभी मूर्त्तियों की भाव मुद्रा बड़ी प्रेक्षणीय एवं सहृदय कलाकार की कुशल कृति का सुस्मरण कराये बिना नहीं रहतीं। प्रधान प्रतिमा के ऊपरी भाग में पाँच खंडितांश दिखते है जिनसे पता चलता है कि संभवतः वहाँ पर देवी के मस्तक का छत्र रहा होगा। तदुपरि मध्य

भाग में एक देवी का प्रतीक अंकित है। ऊपर के भाग में दो दो देवियाँ सब मिलाकर चार देवियाँ हैं। इनके ऊपरी भाग में खड़ी एवं बैठी दो दो जिन मूर्त्तियाँ हैं। दोनों ओर कमलोपरि विराजमान परिचारक-परिचारिकाएँ हैं। इनके ठीक मध्य भाग मे देवी के मस्तक पर नेमिनाथ भगवान की प्रतिमा है, शंख का चिन्ह स्पष्ट बना हुआ है। उपर्युक्त संपूर्ण परिकर में १३ जिन प्रतिमाएँ, २३ अवांतर देवियों की जो नेमिनाथ-भिन्न तीर्थंकरों की अधिष्ठातृ देवियाँ है–मूर्त्तियाँ तथा मध्य मे प्रधान प्रतिमा, सब मिलाकर २४ देवी मूर्त्तियाँ हैं। प्रकृत मूर्त्ति के नीचे के भाग मे एक पंक्ति का लेख खुदा हुआ है। यद्यपि शाम का समय हो जाने से मैं इसे पूरा पढ़ नहीं पाया, परन्तु इससे इतना तो पता चल ही गया कि रामदास नामक व्यक्ति ने इसका निर्माण करवाया था, वह पद्मावती का निवासी था।

लम्बे विवेचन के बाद यह प्रश्न तो रह ही जाता है कि इस कलाकृति का निर्माण काल क्या हो सकता है? कारण कि निर्माता का नाम है पर सृजन काल की सूचना नहीं है। इससे निश्चित समय का भले ही पता न चले पर अनुमित निर्णय तो हो ही सकता है। प्रतिमा के आभूषण, उनकी रचना-शैली और लिपि इन तीनों से मैंने इसका समय १२–१३वीं शती का मध्यभाग माना है। कारण कि इस शैली की मूर्त्तियाँ और भी देवगढ़ तथा मध्यप्रान्त मे पायी गयी हैं।

उपर्युक्त कलाकृति को घंटों देखते रहिये, भवभूति की—

'पदे पदे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः" पंक्ति पुनः पुनः साकार होती जायगी। मनुष्य ऐसी कृतियों के सम्मुख अपने आपको खो बैठता है।

अम्बिका की एक और मूर्ति—

प्रस्तुत संग्रहलाय में ऐसी ही और भी आकर्षक मूर्त्तियाँ है, जो न केवल जैन मूर्त्ति कला का ही मुख उज्वल करती हैं, अपितु नवीन तथ्यों को भी लिए हुए हैं। इनके रहस्य [से भारतीय पुरातत्त्व के अन्वेषक प्रायः वंचित हैं। यद्यपि ये सभी एक ही रूपक का अनुगमन करती हे, तथापि रचना काल और ढंग भिन्न होने के कारण कला की दृष्टि से उनका अपना महत्त्व है। शब्द चित्र इस प्रकार है :—

एक वृक्ष की दो पत्तियाँ विस्तृत रूप में फैली हुई है, इनकी पंखुड़ियों के छोर पर उभय भागों में पुष्पमाला धारण किये देवियाँ हैं। वृक्ष की छाया में दायीं ओर पुरुष और बायीं ओर स्त्री अवस्थित है। पुरुष के बायें घुटने पर एक बालक है। स्त्री के बायें घुटने पर भी बालक है,

दाहिने हाथ में आम्रफल या बीजपूरक प्रतीत होता है। दोनों बालकों के हाथों में भी फल है। पुरुष का दाहिना हाथ खंडित है अतः निश्चित नहीं कहा जा सकता कि उसमे क्या था। पुरुष के मस्तक पर नोकदार मुकुट पड़ा हुआ है। गला यज्ञोपवीत और आभूषणों से विभूषित है। दम्पति स्वतंत्र दो आसन पर विराजमान है। निम्न भाग मे सात और मूर्त्तियाँ है जो आमने सामने मुख किये हुए है। वृक्ष की दोनों पंक्तियों के बीच जिन भगवान की प्रतिमा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।"

इस प्रकार की प्रतिमा जब सब से पहले राजगृह स्थित पंचम पहाड़ के ध्वस्त जैन मंदिर के अवशेषों मे देखी थी तभी से मेरे मन मे कौतूहल उत्पन्न हो गया था। भारत के और भी कुछ भागों में इन्हीं भावों वाली मूर्त्तियाँ मिलती है जिन पर भिन्न भिन्न विद्वानों ने अलग अलग मत व्यक्त किए है। श्री रायबहादुर दयाराम सहानी का अभिमत है कि वह वृक्ष कल्पद्रुम है। ये बच्चे अवसर्पिणी, सुषम-सुषम समय की प्रसन्न जोड़ियाँ है[1]। श्री मदनमोहन नागर ने इस प्रकार के शिल्प को "कल्पवृक्ष के नीचे बैठी हुई मातृकाओ की मूर्त्ति" माना है[2]। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने वृक्ष को कल्पवृक्ष माना है और निम्न अधिष्ठित दम्पति युगल को यक्ष-यक्षिणी मानते हुए आशा प्रकट की है कि जैन-विद्वान् इस पर अधिक प्रकाश डाले[3]। जैन शिल्प-स्थापत्य तथा मूर्त्तिकला के विशिष्ट अभ्यासी श्री सारा-भाई नवाब से पूछने पर भी इस मूर्त्ति के रहस्य पर कुछ प्रकाश न पड़ सका। उपर्युक्त प्रथम दो विद्वानों की सम्मतियाँ ऐसी है जिन पर विश्वास करना प्रायः कठिन है।

जब भारत के विभिन्न भागों में इस शैली की मूर्त्तियाँ पायी जाती है तब यह बात तो मन में अवश्य ही आती है कि इनका विशिष्ट महत्त्व अवश्य ही रहा होगा। परन्तु जहाँ तक प्राचीन शिल्प स्थापत्य कला-विषयक ग्रन्थों का प्रश्न है वे, प्रायः इस विषय पर मौन है। मेरी राय मे तो यह अम्बिका की ही मूर्त्ति होगी।

ऐसी स्थिति मे यह समुचित जान पड़ता है कि यदि प्राचीनतम देवी-मूर्त्तियों का अध्ययन किया जाय तो संभव है इस उलझन के सुलझने का मार्ग निकल आये। यहाँ पर श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्य शिल्प शास्त्रीय ग्रंथों में अम्बिका के जो स्वरूप निर्दिष्ट है उनके उल्लेख का लोभ संवरण

१—जैन सिद्धांत भास्कर—भाग ८, किरण २, पृष्ठ ७१

२—प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ पृष्ट २८३

३—श्री जैन-सत्य-प्रकाश वर्ष ४ अंक १, पृष्ठ ८

नहीं किया जा सकता। इन स्वरूपों से मेरी स्थापना को काफी बल मिल जाता है। यहाँ पर मैं एक बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक समझता हूँ कि संप्रदाय मान्य शिल्पशास्त्र के जितने भी स्वतंत्र ग्रंथ या एतद्विषयक उल्लेख एवं उद्धरण उपलब्ध होते हैं, वे इस शैली की मूर्त्तियों के निर्माण समय के काफी बाद के हैं। तथापि दोनों में आंशिक साम्य पाया जाता है एवं जिस काल में ग्रंथों का प्रणयन हुआ उस काल की चित्रकला में भी --विशेषतः पश्चिम भारत की--अम्बिका का वैसा ही रूप अभिव्यक्त हुआ है। अतः कोई कारण नहीं कि हम इन परवर्त्ती उल्लेखों पर अविश्वास करें। प्रासंगिक रूप से यह भी बतला देना आवश्यक है कि शिल्पशास्त्र जैसे व्यापक विषय में साम्प्रदायिक मतभेद को स्थान नहीं हो सकता। क्योंकि मैं अपने अनुभवों के आधार पर देवी मूर्त्तियों के संबंध में तो अवश्य ही दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि, प्राचीन काल में देवी-मूर्त्ति निर्माण में साम्प्रदायिक आग्रह नहीं था। कारण कि शिल्पशास्त्रीय उल्लेखों के प्रकाश में देवी-मूर्त्तियों को देखेंगे तो प्रतीत हुए बिना न रहेगा कि उभय सम्प्रदायों मे परस्पर विरोधी भाववाली मूर्त्तियाँ भी बनीं। जैसे दिगम्बर-मान्य शिल्प-ग्रंथ के अनुसार जैसा रूप अम्बिका का दिखता है उसके अनुसार श्वेताम्बरों ने मूर्त्ति बनायी और श्वेताम्बर-मान्य रूप के अनुसार दिगम्बर जैनों ने। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों ज्यों सम्प्रदाय के नाम पर कदाग्रह बढ़ता गया त्यों त्यों अपने अपने रूप भी स्वतंत्र निर्धारित होते गये। इसी के फलस्वरूप वास्तुसाहित्य-सृष्टि भी हुई। यदि प्राचीन मूर्त्तियों को छोड़कर केवल शिल्प कलात्मक ग्रंथों के उद्धरणों पर ही विश्वास कर बैठें तो धोखा हुए बिना न रहेगा।

श्वेताम्बर आचार्य रचित शिल्प ग्रन्थों में अम्बिका का रूप इन शब्दों मे वर्णित है :--

"तस्मिन्नेव तीर्थे समुत्पन्नां कुष्माण्डी देवी कनकवर्णां सिंहवाहना चतुर्भुजां मातुलिङ्गपाश-युक्त-दक्षिणकरां पुत्राङकुशान्वितवामकरा चेति।"

--उन्हीं के तीर्थों में कुष्माण्ड (अम्बिका) नामक देवी है, वह सुवर्ण वर्णवाली, सिंहवाहिनी और चार हाथ वाली है। उसके दक्षिण उभय हस्त में बीजपूरक और पाश है। बायें दो हाथों में पुत्र और अंकुश है। कुछ ग्रंथों में दायें हाथ में आम्रलुम्ब या फल रहने के उल्लेख भी दृष्टि में आये है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार अम्बिका का स्वरूप इस प्रकार है :-

"सव्येकद्युपगप्रियङ्कर सुतं प्रीत्यै करे बिभ्रतीं,
दिव्याम्रस्तवकं शुभङ्करश्लिष्टान्यहस्तांगुलीम् ।
सिंहे भर्तृचरे स्थिता हरितमामाम्रद्रुमच्छायगा,
वन्यारुं दशकार्मुकोच्छ्रयजिनं देवीमिहाम्रा यजे ॥"

—दस धनुष के देह वाले श्री नेमिनाथ भगवान की आम्रा (कुष्माण्डिनी) देवी हैं। वह हरित वर्णा, सिंह पर आरूढ़ होने वाली, आम्र छाया में निवास करने वाली और द्वयभुजी हैं। बाये हाथ में प्रियंकर नामक पुत्र स्नेहार्द्र आम्रडाल को तथा दायें हाथ मे दूसरे पुत्र शुभंकर को धारण करने वाली हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित अम्बिका के दोनों स्वरूप सामयिक परिवर्तन के साथ प्राचीन काल से ही भारतीय मूर्तिकला मे विकसित रहे हैं। परन्तु इस मौलिक स्वरूप की रक्षा करते हुए, कलाकारों ने समय की माँग को देखकर, या सामाजिक परिवर्तनों एवं शिल्पकला में आने वाले नवीन उपकरणों को अपना लिया है, जैसा कि प्रत्येक शताब्दी की विभिन्नतम प्रतिमाओं के अवलोकन से ज्ञात होता है। यों तो प्राप्त अम्बिका की प्रतिमाओं के आधार पर उनके शिल्प-कलात्मक क्रमिक विकास पर सर्वांग पूर्ण प्रकाश डाला जाय तो केवल अम्बिका की मूर्तियों पर एक अच्छा सा स्वतंत्र ग्रंथ प्रस्तुत किया जा सकता है, क्योंकि यह देवी अन्य तीर्थंकरों की अधिष्ठातृ देवियों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध एवं व्यापक रूप से सम्मानित स्थान पर रही है जैसा कि "रूप-मण्डन" से प्रतीत होता है।

२ नम्बर वाले चित्र में जो आकृति प्रदर्शित है उसे मैं सकारण सयक्ष अम्बिका की मूर्त्ति ही मानता हूँ। कारण कि उभय संप्रदाय मान्य उद्धरण भी इसके समर्थन में ही है, उसे डा० वासुदेवशरण अग्रवाल आदि ने कल्पवृक्ष माना है। परन्तु मैं इसे आम्रवृक्ष मानता हूँ। पत्तियों का आकार बिलकुल आम्र-पत्र के सदृश है। दोनों पत्तियों के नुकीले भाग पर देवियों की पुष्पमाला लिये आकृति है, वह एक प्रकार से परिकर का अंग है। वृक्ष के मध्य भाग में जो जिन मूर्त्ति दिखलायी पड़ती है वह नेमिनाथ भगवान की ही होनी चाहिए, कारण कि अम्बिका की उपर्युक्त संग्रहालय मे जो मूर्त्ति है, उस पर भी नेमि जिन अंकित है। प्रभास-पाटन[1], खंभात[2] आदि कुछ नगरों में १२वीं शती की ऐसी अम्बिका की मूर्तियाँ सपरिकर उपलब्ध

---

१ "भारतना जैनतीर्थो अने तेमनु शिल्प-स्थापत्य, चित्र" ८७।
२ श्री जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ७, अंक १, पृ० १८५।

हुई हैं जिनके मस्तक पर नेमिनाथ भगवान की मूर्तियाँ हैं। जो स्त्री वृक्ष के दायीं ओर अवस्थित है वह निस्सन्देह अम्बिका ही होनी चाहिये। जो पुरुष दिखलायी पड़ता है उसे यदि गोमेध यक्ष मान लें तो सारी शंकाएँ दूर की जा सकती है। अम्बिका की कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ पायी जाती हैं जो आम्र वृक्ष की छाया में अकेली ही बैठी है।

राजगृह की अम्बिका

राजगृह में वैभारगिरि पर्वत पर गुप्तोत्तर कालीन कुछ खंडहर है उनमें एक मानव-कद की प्रतिमा है जो आम्र वृक्ष की छाया में कमलासन पर बैठी स्त्री की है। जनता इस स्त्री को महाश्रमण महावीर की माता मानती है। वस्तुतः यह अम्बिका की है। कारण कि लुम्ब सहित आम्र वृक्ष अति स्पष्ट है। तदुपरि दोनों पार्श्वदों के बीच अर्थात् देवी के मस्तक पर भगवान नेमिनाथ की प्रतिमा अवस्थित है। वृक्ष की छाया में अम्बिका बैठी है। शारीरिक विन्यास बहुत ही सुन्दर और स्वाभाविक जान पड़ता है। इस प्रकार की यह एक ही प्रतिमा बिहार में उपलब्ध हुई है। स्त्री मूर्ति विधान शास्त्र की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है।

एलोरा की अम्बिका

इसी प्रकार की एक मानव-कद की प्रतिमा एलौरा की गुफा में भी अंकित है। जिसका निर्माण-काल १०वीं शतीके आस पास है। आम्र वृक्ष की सघन छाया है। राजगृह की प्रतिमा में केवल आम्र वृक्ष की एक डाल अंकित कर के ही कलाकार ने संतोष कर लिया है जब कि प्रस्तुत प्रतिमा के मस्तक पर तो संपूर्ण सघन आम्र वृक्ष अंकित है। इस देवीकी मुख्य प्रतिमा के ठीक मस्तक पर छोटी सी पद्मासनस्थ प्रतिमा है जिसे भगवान नेमिनाथ की कह सकते है। यों तो शिल्पी ने इस मूर्त्तिके निर्माण में प्रकृति से इतना सामंजस्य कर दिखाया है जैसा अन्यत्र कम मिलेगा। विशेषता यह है कि आम्र वृक्ष के दोनो ओर मयूर-मयूरियाँ अंकित हैं। आम्र के टिकोरे-में उसके फल है। वृक्ष पर कहीं कहीं कोयल भी दिखाई पड़ती है। तात्पर्य कि कलाकार ने वसन्तागमन के भाव अंकित किये है। इसी प्रकार की एक और प्रतिमा कलोल स्टेशन से चार मील दूर शेरीसा के श्वेताम्बर जैन मन्दिर में विद्यमान है। उपर्युक्त वर्णित प्रतिमा सिंहासन पर विराजमान है। ऐसी ही प्रतिमा आबू में भी पाई जाती है परन्तु यहाँ स्थानाभाव से उनका विस्तृत उल्लेख संभव नहीं है।

प्राचीन तालपत्रीय जैन चित्रों में अम्बिका के जो रूप मिलते हैं वे

उपर्युक्त रूपों से कुछ भिन्न है। ऐसा पता चलता है ११वीं १३वीं शती में गुजरात में अम्बिका की मान्यता व्यापक रूप मे थी।

इतने लंबे विवेचन के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि राजगृह, लखनऊ, मथुरा और प्रयाग आदि प्राचीन संग्रहालयों में आम्र वृक्ष के निम्न भाग में, सिंहासन पर बैठी हुई, द्वय बालक युक्त, जितनी भी प्रतिमाएँ हैं वे भगवान नेमिनाथ की अधिष्ठातृ अम्बिका ही हैं।

अतिरिक्त सामग्री

उपर्युक्त पंक्तियों मे जैन संस्कृति के मुख को उज्ज्वल करने वाले महत्त्वपूर्ण कलात्मक अवशेषों का यथामति परिचय दिया गया है, अतः पाठक यह न समझ बैठे कि वहाँ पर इतनी ही सामग्री है, अपितु वहाँ पर ऐसी अनेक जिन मूर्त्तियाँ हैं, जिनका महत्व क्रमिक विकास की दृष्टि से अत्यधिक हैं। समय अत्यन्त अल्प रहने से मैं उनका सिंहावलोकन न कर सका। विशेषतः मैं उन वस्तुओं का भी अवलोकन न कर सका, जिनके लिए यहाँ का संग्रहालय विशेष रूप से प्रसिद्ध रहा है। मेरा संकेत वहाँ के 'टेरा कोटा'-मृण्मूर्तियों से है। कारण कि यहाँ का संग्रह इस विषय मे अनुपम माना जाता है। अधिकतर मृण्मूर्त्तियाँ कौशाम्बी से प्राप्त की गयी है। कौशाम्बी एक समय श्रमण-संस्कृति की एक धारा जैन-संस्कृति की केन्द्र रही है।

भारतीय लोक-जीवन का सर्वांगीण प्रतिबिम्ब, यहाँ के कलाकारों द्वारा मृण्मूर्त्तियों में अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुआ है। जीवन के साधारण से साधारण उपकरण पर भी कलाकारों ने ध्यान देकर उन्हें अमरता प्रदान की है। जैन तथा उनके विषयों को भी मृण्मूर्त्तियों द्वारा प्रकाशित करने का श्रेय कौशाम्बी के कलाकारों को ही मिलना चाहिए। प्रयाग-नगर-सभा-संग्रहालय मे बहुसंख्यक मृण्मूर्त्तियाँ हैं जिनका विषय जैन-कथाएँ हैं, परन्तु जैन कथा साहित्य की सार्वत्रिक प्रसिद्धि न होने से या एतद्विषयक साधन प्रान्तीय भाषाओं में अनूदित न होने के कारण विद्वान् लोग इन "मृण्मूर्तियों" को देख कर भी न समझ पाते हैं न चेष्टा ही करते हैं। अच्छा हो कोई दृष्टिसंपन्न जैन विद्वान, इन विषयों का अध्ययन कर, तथ्य को प्रकाश में लावें। इनकी उपयोगिता केवल श्रमण संस्कृति की दृष्टि से ही नहीं है अपितु भारतीय मानव समाज के क्रमिक विकास को समझने के लिए भी इनका विशेष महत्त्व है।

पुरातत्त्व की विस्तृत व्याख्या में प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। वहाँ प्राचीन हस्त लिखित ग्रंथ भी दस हजार से कम

संगृहीत नहीं है। इनमें एक हजार से अधिक जैन-ग्रन्थ भी हैं। परन्तु इन समस्त ग्रंथों के विवरणात्मक सूचीपत्रके अभाव में मैं समुचित रूप से ग्रंथावलोकन न कर सका और न मेरे पास उस समय उतना अवकाश ही था, कि एक एक पोथी को देख सकता। कुछ एक जैन चित्र भी चित्रशाला में लगे हैं, जिनका संबंध कल्पसूत्र और कालक कथा से है। कला की दृष्टि से इनका कोई खास महत्त्व नहीं है। हाँ, मुगल एवं काँगड़ा शैली के तथा तिब्बतीय बौद्ध चित्रकला के कुछ अच्छे नमूने अवश्य सुरक्षित हैं।

इतने लम्बे विवेचन के बाद प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन अवशेषों की उपलब्धि कहाँ से हुई। पुरातत्त्व का इतिहास जितना रोचक और स्फूर्ति-दायक होता है कहीं उससे अधिक और प्रेरणाप्रद इतिहास पुरातत्त्व विषयक साधनों की प्राप्ति का होता है। यहाँ पर जो कलात्मक प्रतीक अवशिष्ट हैं, वे कहीं से भी एक ही साथ नहीं लाये गये हैं। समय और परिस्थिति के अनुसार सारनाथ, कौशाम्बी आदि नगरों से एवं विशेष भाग बुंदेलखंड से संगृहीत किये गये हैं। एक एक अवशेष अपनी रोचक कहानी लिये हुए हैं। पं० व्रजमोहनजी व्यास इन अवशेषों की कहानियाँ बड़े रोचक ढंग से सुनाया करते हैं। बुंदेलखंड सचमुच एक समय में कला का बहुत बड़ा केन्द्र था। प्राचीन काल से ही बुंदेलखंड ने कलाकारों को आश्रय देकर भारतीय संस्कृति की समस्त धाराओं और सुकुमार भावों की रक्षा, कठोर पत्थरों द्वारा की है। कलाकारों का सम्मान न केवल साम्राज्यवादी शासक ही करते थे, अपितु नागरिकों ने भी बहु–संख्यक प्रतिभा-संपन्न कलाकारों को हृदय और मस्तिष्क के अनुकूल वायुमण्डल बनाकर प्रोत्साहन दिया–खरीदा नहीं। जैन पुरातत्त्व के इतिहास की दृष्टि में बुंदेलखंड का स्थान अति महत्त्वपूर्ण रहा है। जैन शिल्प-स्थापत्य कला के उच्चतम प्रतीक एवं विशेषतः जैन मूर्त्ति-निर्माण-कला तथा उसके विभिन्न अंग–प्रत्यंगों के विकास में यहाँ के कलाकारों ने, जो दक्षता प्रदर्शित की है, वह रस और सौंदर्य की दृष्टि से अनुपम है। खजुराहो और देवगढ़ की एक बार कलातीर्थ के रूप में यात्रा की जाय, तो अनुभव हुए बिना न रहेगा कि, उन दिनों के जैनों का जीवन कला और सौंदर्य के रसिक तत्त्वों से कितना ओतप्रोत था। जहाँ पर एक से एक सुन्दर भावमय, और उत्प्रेरक शिल्प कृतियाँ दृष्टिगोचर होंगी, जिन्हें देखकर मन सहसा कलाकार का अभिनन्दन करने को बाध्य हो जायेगा। खजुराहो का वह शैव मन्दिर वाला शिखर आज बुंदेलखंड में विकसित कला का सर्वोच्च प्रतीक माना जाता है। इसके कलात्मक महत्त्व के पीछे प्रचारात्मक भावना का बल अधिक है। यद्यपि इनसे भी सुन्दर कला-

पूर्ण जैन मन्दिरों के शिखर, स्तम्भ और तोरण आदि कई शिल्प कला के अलंकरण उपलब्ध होते हैं, परन्तु वे जैन होने के कारण ही आजतक कलाकारों और समीक्षकों द्वारा उपेक्षित रखे गये है। कलाकारों की दुनिया मे रहने वाला और सौंदर्य के तत्त्वों को आत्म-सात् करने वाला निरीक्षक यदि कला जैसे अति व्यापक विषय में पक्षपात की नीति से काम ले तो इससे बढ़कर और अनर्थ हो ही क्या सकता है ?

बुंदेलखंड के देहातों मे भी जैन अवशेष बिखरे पड़े हैं। इनको देखकर हृदय रो पड़ता है और सहसा कल्पना हो आती है कि हमारे पूर्व पुरुषों ने तो विशाल धनराशि व्यय कर, कलात्मक प्रतीकों का सृजन किया और उन्हीं की संतान आज ऐसी अयोग्य निकली कि एतद्विषयक नवनिर्माण तो करना दूर रहा परन्तु जीवन में स्फूर्ति देनेवाले बचे खुचे कलावशेषों को रक्षा करना तक असंभव हो रहा है। इस वेदना का अनुभव तो वही कर सकता है, जो भुक्त-भोगी हो। हमारी असावधानी से हमारे पैरों तले, हमारे पूर्वजों के कीर्ति स्तम्भ रौंदे जाते हैं। कहीं अशिक्षित और कहीं सुशिक्षित जनता द्वारा पुरातत्त्व की बहुत बड़ी और मौलिक सामग्री बुरी तरह क्षत विक्षत की जा रही है। माननीय व्यासजी से यह सुनकर मुझे अत्यन्त ही आश्चर्य हुआ कि बुंदेलखंड के कुछ ग्रामों मे जैन और बौद्ध मूर्त्तियों के मस्तकों (अन्य देवों की अपेक्षा इनके मस्तक कुछ बड़े भी होते हैं) को धड़ से पृथक् कर उसे खराद कर कुण्डियाँ (पथरो) बनायी जाती है। उफ !

उपसंहार

यहाँ पर एक बात कहने का लोभ संवरण नहीं कर सकता, वह यह कि भारतीय शिल्प और स्थापत्य कला का मुसलमानों ने बहुत नाश किया है— इस बात को सभी कलाकारों ने माना है. परन्तु यदि सच कहना अपराध न माना जाय तो, मैं कहूँगा कि जितना नाश मुसल्मान न कर सके उससे कई गुना अधिक हमारी साम्प्रदायिकता ने किया है। मुसलमानों ने तो केवल मंदिरों को मस्जिदों मे परिवर्त्तित किया और कहीं मूर्त्तियाँ खंडित कीं, परन्तु पारस्परिक साम्प्रदायिक कालुष्य ने तो जैन बौद्ध आदि मूर्त्तियाँ एवं उपाङ्गों को निर्दयतापूर्वक क्षत विक्षत किया। इन पंक्तियों का आधार सुनी सुनायी बातें नहीं, परन्तु जीवन का अनुभव है। पटना, प्रयाग, नालन्दा आदि कुछ संग्रहालयों में श्रमण संस्कृति से संबंधित कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिलीं जिनकी नाक जानबूझ कर आरियों से तराश दी गयी है। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

यहाँ पर मैं नगर सभा-संग्रहालय के कार्यकर्त्ताओं का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि वे पुरातन अवशेषों को अधिक से अधिक सुरक्षित रखने के उपाय काम में लावें। जिन, सभ्यता के प्रतिनिधि-सम खंडित प्रतीकों को पृथ्वी माता ने शताब्दियों तक अपनी सुकुमार गोद में यथास्थित संभालकर रखा, उन्हें अपने ऊपर रक्षा का भार लेकर भी अरक्षित छोड़, नष्ट न होने दें। इन पंक्तियों को मैं विशेषकर इसलिए लिख रहा हूँ कि वहाँ पर जो अवशेष, जिस रूप से रखे गये हैं, वे न तो कलाभिरुचि के द्योतक हैं और न सुरक्षा की दृष्टि से ही समीचीन। स्थान की सफाई पर ध्यान देना भी आवश्यक है। इतने सुन्दर कलात्मक अवशेषों को पाकर भी कार्यवाहक-मंडल इन्हें कला तीर्थ का रूप न दे सका, तो दोष उनका ही होगा। बिखरे हुए कलात्मक अवशेषों को एकत्र करना कठिन तो है ही, परन्तु इससे भी कठिनतर काम है उनको संभाल कर सुरक्षित रखने का। यह भी एक जीवित कला ही है।

भारतीय स्थापत्य कला के अनन्य उपासक रायबहादुर श्री ब्रजमोहन जी व्यास को धन्यवाद दिये बिना मेरा कार्य अधूरा ही रह जाता है। कारण कि इस संग्रहालय को समृद्ध बनाने में व्यास जी ने जितना रक्तशोषक श्रम किया है, वह शायद ही दूसरा कोई कर सके। आज भी आप मे वही उत्साह और पुरातत्व के पीछे पागल रहनेवाली लगन के साथ औदार्य भी है। आप संस्कृत साहित्य के गहरे अभ्यासी हैं। वैदिक संस्कृति के परम उपासक होते हुए भी जैन पुरातत्त्व और साहित्य पर आपका आज भी इतना स्नेह है कि जहाँ कहीं भी कोई चीज मिलने की संभावना हो, आप दौड़ पड़ते हैं। वे मुझे बता रहे थे कि आज भी बुंदेलखंड से दो बैगन भरकर जैन मूर्त्तियाँ मिल सकती हैं। मुझे आपने जिस आत्मीयता से तत्रस्थ जैन मूर्त्तियों के अध्ययन में सुविधाएँ दी थीं उनको मैं किन शब्दों में व्यक्त करूँ ? इस संबंध में प्रकाशित कुछ चित्र भी उन्हीं के द्वारा मुझे प्राप्त हुए हैं। श्री संगमलाल जी अग्रवाल के पुत्र ने अपना समय निकालकर अवशेषों की फोटो आदि में सहायता दी थी एतदर्थ मैं उनका भी आभारी हूँ।

पुस्तक-परिचय

हेमचन्द्र मोदी ग्रन्थमाला के दो ग्रन्थ

"भारतीय संस्कृति और अहिंसा" तथा "हिन्दू धर्म की समीक्षा"

प्रकाशकः पं० नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, हीराबाग, बंबई नं० ४

इन दोनों कृतियों को हिन्दी में प्रकाशित करके श्री नाथूराम प्रेमी ने हिंदी जग का महान उपकार किया है।

ये श्रीहेमचन्द्रहिंदीपुस्तकमाला के प्रथम और द्वितीय पुष्प के रूप में प्रकाशित की गई हैं। हेमचन्द्र प्रेमी जी के इकलौते पुत्र थे। वह विचार-प्रधान और स्वतंत्र प्रकृति के युवक रहे। असमय में ही उनका देहांत हो गया। अपने सुयोग्य और मनीषी पुत्र की स्मृति में ऐसी ही पुस्तकें प्रकाशित करने का संकल्प करके प्रेमी जी ने तदर्थ दस हजार रुपये की एक निधि स्थापित की......उसी रकम से ये पुस्तकें छापी गई हैं।

प्रेमी जी के पास विद्या और धन दोनों ही हैं—वह अकिंचन नहीं हैं। परंतु इसके लिए बचपन से ही उन्होंने हड्डी-तोड़ मेहनत-मजूरी की है। अच्छी पुस्तकों की अभिरुचि ही प्रेमी जी को प्रकाशन के क्षेत्र में ले आई और "हिंदी ग्रंथ रत्नाकर (बम्बई)" जैसे प्रकाशन केन्द्र का आज भी हमारे हिंदी संसार में बेजोड़ स्थान है। अपने ही अध्यवसाय से प्रेमीजी पंडित हुए। गरीब और साधनहीन छात्र के रूप में उन्होंने बंबई में पैर रक्खा था। हिंदी, संस्कृत, गुजराती, मराठी, बंगला जैसी भाषाओं पर अपने से अधिकार प्राप्त किया और लेखक-संपादक साहित्यशोधक पुरातत्त्वगवेषी प्रकाशक प्रचारक के तौर पर आज उनकी काफी प्रतिष्ठा है।

इन पुस्तकों के परिचय प्रसंग में इतना कुछ लिखना प्रेमी जी की अप्रस्तुत प्रशंसा न समझी जाय। प्रेमी जी का इतना उल्लेख कर देना इसलिए आवश्यक समझा कि अपने बुद्धिवादी पुत्र की स्मृति में इस प्रकार की पुस्तकों का प्रकाशन हो तदर्थ जो उन्होंने कष्टोपार्जित धन के इतने बड़े अंश का उत्सर्ग किया सो यह श्राद्ध का एक उत्तम प्रतीक बनकर हमारे समक्ष आया है।

मैं यहाँ इन गंभीर पुस्तकों की 'तलस्पर्शी मीमांसा' करने नहीं जा रहा परिचय मात्र इनका देने जा रहा हूँ।

"भारतीय संस्कृति और अहिंसा" आचार्य धर्मानन्द कोसाम्बी की मराठी पुस्तक "हिंदी संस्कृति आणि अहिंसा" का अनुवाद है। डबल क्राउन (सोलह पेजी) साइज के २४४ पृष्ठों का मसाला। १८ पृष्ठों का 'अवलोकन' (परिचय और आलोचना) साथ है। इसे प्रज्ञाचक्षु महादार्शनिक श्री सुखलाल जी ने प्रस्तुत ग्रंथ के गुजराती संस्करण के लिए गुजराती में बोल बोलकर लिखवाया था और जो अब यहाँ हिंदी रूप में प्रकाशित हुआ है। मूल्य साधारण रखा गया है, दो रुपये। सोल एजेन्ट हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय बंबई।

यह ग्रंथ रत्न १९३५ मे तैयार हुआ था, अपने मूल रूप में प्रकाशित भी उन्हीं दिनों हुआ था। हिंदी में यह पिछले साल छपा है। आचार्य कोसाम्बी ने काशी विद्यापीठ में रहकर इसे पूरा किया था। इस संस्करण में ग्रंथकार की संक्षिप्त जीवनकथा भी डाल दी गई है।

कोसाम्बी जी जितने बड़े विद्वान थे उतने ही बड़े फकीर भी थे। ज्ञानार्जन के हेतु घरबार छोड़कर कई बार वह दर-दर भटके थे। बौद्धिक ईमानदारी उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन की परिधि मे खींच ले आई। पांडित्य ने उन्हें सोवियत रूस और अमरीका के विश्वविद्या-केन्द्रों तक पहुँचाया। फकीरी उन्हें अंततक अ-परिग्रही तथा आडम्बरशून्य बनाये रही। उनका पुरुषार्थ अनथक था। उनकी कल्पना अद्भुत थी। अनुशीलन उनका विशाल था। सचाई प्रकट करने में वह अत्यन्त ही निर्भीक थे। जीवन के अपने अंतिम दिन मे वह इस परिणाम पर पहुँचे थे कि गाँधी जी के अहिंसाप्रधान प्रयोगों में यदि समाजवादियों की प्रज्ञा शामिल कर ली जाय तो उन्हीं से मानव समाज का कल्याण हो सकता है। गांधी की अहिंसा और मार्क्स की प्रज्ञा इन्हीं दोनों के मिश्रण से जगत का उद्धार होगा, इसी आशा से उद्भासित होकर कोसाम्बी जी प्रस्तुत पुस्तक का अन्तिम परिच्छेद समाप्त करते है। वह कहते हैं :—

"हमारे देश में पार्श्वनाथ और बुद्धदेव ने अहिंसा के प्रवाह को बहुजन-हित की ओर मोड़ा, पर राजनीति क्षेत्र मे उसका प्रवेश न होने के कारण वह साम्प्रदायिकता के गर्त में जाकर रुक गया और उसके चारों ओर पुराणों का जंगल बढ़ गया। उस प्रवाह को पुनः गति देकर उसे राजनैतिक क्षेत्र की ओर मोड़ने का महात्मा गाँधी का प्रयत्न सचमुच अभिनन्दनीय है। पर विशाभ्रम होने के कारण वह बीच ही में रुक गया। यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। कारण, वह उसी प्रकार बढ़ता जाता तो राष्ट्रीयता के गर्त में गिरकर हानिकारक हुआ होता। जब अहिंसा को समाजवादियों की

प्रज्ञा का सहयोग प्राप्त होगा तभी उसका यह प्रवाह उचित दिशा में बढ़ेगा और मानव जाति के कल्याण के लिए वह कारणीभूत होगा।"

यह अंश ग्रंथ का आखरी पैराग्राफ है। एक और जगह हम पाते है—"कार्ल मार्क्स की प्रज्ञा को महात्मा गाँधी की अहिंसा का सहयोग प्राप्त हुआ होता तो पाश्चात्य राष्ट्र महासमर के घोर सकट में पड़े ही न होते।" (पृ० २४४) ग्रंथकार को हिंसा किसी भी दृष्टि मे उपादेय नहीं लगती। उसकी राय में "यह तरकीब काँटा से काँटा निकालने की तरह" है। (पृ० २४३) तो हमे करना क्या चाहिए? इस संबंध मे कोसाम्बी जी लिखते है—"हमारे नेताओं का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि धनिक को संपत्ति परिग्रह से, जन साधारण को साम्प्रदायिकता परिग्रह से तथा अनुकरण शील शिक्षित वर्ग को राष्ट्रीयता परिग्रह मे मुक्त करे। कम से कम उनको स्वयं इन सब परिग्रहों से मुक्त होना चाहिए। स्वयं ही परिग्रहों मे फँसे रह कर वे उनसे दूसरों का उद्धार कर सकें, यह संभव नहीं।" (पृ० २४१)।

पाश्चात्यों की संस्कृति का उदय किस प्रकार हुआ, उसने हिन्दुस्तान में किस प्रकार प्रवेश किया और हिन्दू समाज पर उसका क्या प्रभाव पड़ा—इन सभी बात का विशद विवेचन किया गया है। सामंतवाद, साम्राज्यवाद, धनतंत्रवाद, पूंजीवाद, अधिनायकशाही, साम्यवाद, समाजवाद आदि सभी शासन प्रणालियों पर प्रकाश डाला गया है। शुरू के परिच्छेदों मे वैदिक संस्कृति, और पौराणिक संस्कृति की निर्भीक आलोचना एवं समीक्षा की गई है। दृष्टान्तों और उद्धरणों से एक एक विषय को भलीभांति समझाया गया है। प्राग्वैदिक संस्कृतियो का हमारी संस्कृति पर क्या प्रभाव पड़ा इस पर भी कोसाम्बी जी ने गहराई से सोचा है।

एक कुशल शल्यचिकित्सक की भांति ग्रंथकार ने भारतीय संस्कृति का शवच्छेदन किया है और साहसपूर्वक यह बतलाया है कि "विकास के लिए पूर्व अनुभव की भांति सामाजिक घटना की भी आवश्यकता होनी है। एक ही मनुष्य के अनुभव से ज्ञान का विकास नहीं हो सकता।" (पृ० २४२) अर्थात् सर्व साधारण की सम्मिलित अनुभूतियों से ही विकास संभव है।

हेमचन्द्र पुस्तकमाला का दूसरा पुष्प है—"हिन्दूधर्म की समीक्षा" यह भी मराठी का ही अनुवाद है। आकार-प्रकार वही। पृ० संख्या १७२. मूल्य सवा रुपया।

यह कृति महाराष्ट्र के प्रख्यात सुधारक और क्रान्तदर्शी चिंतक श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी के तीन व्याख्यानों का संकलन है। शास्त्री महानुभाव नागपुर

विश्वविद्यालय द्वारा हिंदू धर्म समीक्षा विषयक प्रवचन के लिए आमंत्रित हुए थे और उन्हीं प्रवचनों का यह संग्रह हमारे सौभाग्य से अब हिंदी में प्रकाशित हुआ है। आप मूलतः संस्कृत पंडित (तर्कतीर्थ) हैं फिर भी आपने स्वयं अनुशीलन करके अंग्रेजी माध्यम द्वारा आपने पाश्चात्य चिंतनधाराओं का गंभीर स्वाध्याय किया है। महाराष्ट्र के साहित्यक्षेत्र में आपका स्थान बहुत ऊँचा है—अनेकशः साहित्यसंमेलनों की अध्यक्षता आप पर सौंपी जा चुकी है। दिवंगत महात्मा गाँधी ने अस्पृश्यता निवारक आंदोलन के सिलसिले में सनातनी विद्वानों से शास्त्रार्थ करने और सुधार सिद्धांत का समर्थन करने के लिए शास्त्री जी को ही प्रमुख तौर पर चुना था। इस समय आप कृष्णा नदी के किनारे 'वाई' नामक तीर्थस्थल पर निवास करते हैं और वहाँ के सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्यालय 'प्राज्ञ पाठशाला' के प्रधान अध्यापक हैं।

आचार्य नरेंद्रदेव इस संस्करण की भूमिका में लिखते हैं:—

"समाज शास्त्र के लिए हमारे यहाँ प्रचुर सामग्री है और उसका पूरा उपयोग अभी तक नहीं हो पाया है। इस दिशा में अभी हमें बहुत कुछ करना है। इस ग्रंथ मे नवीन दृष्टि से विषय का विवेचन किया गया है। उनका (ग्रंथकार का) श्रम सराहने योग्य है। इसके सब विचारों से सहमत होना कठिन है। कुछ बातें ऐसी भी होंगी जिनके संबंध में विद्वानों मे तीव्र मतभेद हो। किंतु, इससे प्रस्तुत पुस्तक की उपादेयता कम नहीं हो जाती, इसमें पाठको को विचार करने के लिए प्रचुर सामग्री मिलेगी।"

[श्रद्धेय आचार्य जी मुझे क्षमा करेंगे—यहाँ उन्होंने न तो शास्त्री जी के प्रति न्याय किया है और न 'भूमिका' लिखने का अपना कर्त्तव्य ही निभाया है। अधिकारी जानकर ही ऐसी गंभीर कृति का प्राक्कथन या उपोद्घात लिखने को आचार्य जी से कहा गया होगा। साढ़े चार पृष्ठों में आपने भूमिका लिखी और अंत में अ-गंभीरता पूर्वक कह दिया—"सब विचारों से सहमत होना कठिन है" और "कुछ बातें ऐसी भी होंगी" जिनके संबंध मे विद्वानों में भी "तीव्र मतभेद" हो! यहाँ आपको उन "कुछ बातों" का स्पष्ट इंगित कर देना था, विद्वानों की बात छोड़ भी देते मगर अपना "तीव्र मतभेद" तो जाहिर कर देते—भले ही 'भूमिका' का आकार आधा-एक पृष्ठ अधिक हो जाता। समूचे चने की चर्चा कर चुकने पर जैसे कोई कहे हाँ, स्वाद और गुण अच्छे हैं किंतु नाक जरा टेढ़ी है! यह ठीक वैसा ही हुआ। कौसाम्बी जी की जिस कृति का परिचय अभी मैं ऊपर दे आया हूँ, उसका 'अवलोकन' पं० सुखलाल जी ने किया है और उसमें उन्होंने "कुछ बातों" का या अपने "तीव्र मतभेद" का भलीभांति उल्लेख किया

है जब कि आचार्य नरेंद्रदेव अपने इस कर्त्तव्य से यहाँ च्युत हो गये हैं।]

"प्रास्ताविक' में स्वयं श्री शास्त्री जी कहते हैं :—

"पाश्चात्यों की दासता में फँस जाने के कारण भारतीय राष्ट्रवाद की श्रद्धा दुरभिमान और अंधश्रद्धा में परिणत हो गई है। इसलिए इन व्याख्यानों के विचार अंध श्रद्धालुओं को मर्मभेदक जान पड़ेंगे। हमारे शिक्षितों में अपनी संस्कृति अपने धर्म और समाज के इतिहास को समीक्षक और चिकित्सक दृष्टि से जाँच करने का धैर्य ही नहीं रह गया है। परंपरा के विरुद्ध विद्रोह करने वाला बुद्धिवाद ही हमारे राष्ट्र और समाज में युगांतर ला सकता है। अब तक हमारे यहाँ परंपरा का लंगड़ा समर्थन करनेवाली विचारपद्धति की ही पूजा हो रही है।...... हमें पुरानी परंपरा के साथ लड़ते लड़ते एक ऐसी नवीन परंपरा चालू करना है जिसमें प्राचीन तथा वर्तमान समाज की मानसिक किंवा भौतिक गुलामी का कहीं पता भी न चले।"

पहले व्याख्यान का शीर्षक है "धर्म समीक्षा की भूमिका" दूसरे का शीर्षक है "धर्मलक्षण और धर्मप्रमाण" और तीसरे का शीर्षक है "हिंदू धर्म का स्वरूप"। पहला व्याख्यान बड़ा ही गंभीर है। उसमें ऐतिहासिक धर्म समीक्षा की तत्त्वप्रणाली और धर्मोत्पत्ति विषयक आधुनिक उपपत्ति पर वैज्ञानिक प्रकाश डाला गया है। साम्राज्यवादी, पूंजीवादी, नाजीवादी और साम्यवादी (मार्क्सवादी) धर्म समीक्षाओं का पूरा पूरा आभास हमें मिलता है।

दूसरा व्याख्यान हमें सुपरिचित जैसा प्रतीत होगा क्योंकि ऋग्वेद से लेकर तिलक, राधाकृष्णन् तक हमारी आँखों के आगे खड़े कर दिये गये हैं— सबके तत्त्वों का विवेचन किया गया है, सबकी खबर ली गई है। पाश्चात्य तत्त्ववेत्ताओं की धर्म प्रमाण विषयक चर्चा की गई है, जेम्स के दिव्यानुभववाद और फायरबाख के मानववाद पर रोशनी डाली गई है।

तीसरा व्याख्यान हिंदू धर्म के स्वरूप को लेकर है। इसमें इहलोकवाद, परलोकवाद और उभयवाद की मीमांसा है। अध्यात्मवादी पक्ष की परीक्षा; धर्म के लक्षण और विविध स्तर; प्राग्वैदिक; वैदिक और अवैदिक आर्यों के संघ-धर्म; श्रौत-स्मार्त-पुराणोक्त हिंदूधर्म, जातिभेद; वर्णाश्रम और आभिजात्य; हिंदूधर्म के आधुनिक संस्करण; बुद्धि प्रामाण्य और धर्म का आधुनिक रूप; धर्म और विज्ञान,; धर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ समाजिकता—नवीन समाज, नव धर्म और नव संस्कृति आदि का विवेचन है।

एक जगह शास्त्री जी महाशय कहते हैं (पृ० १५७)—"भौतिकवाद अनैतिक होता है और गूढ़ अध्यात्मवाद नैतिक इस तरह का मेल बिठाना

गलत है। गूढ़ अध्यात्मवाद के पेट में ग्राम्य और घृणित भौतिकवाद समाया रहता है और वैज्ञानिक भौतिकवाद के पेट में अत्यन्त उच्च श्रेणी का अध्यात्म-वाद संगृहीत रहता है.....बौद्धिक और मानसिक उन्नति ही अध्यात्म-वाद है.....सभी के लिए योग क्षेम (जीविका) का प्रबंध किये बिना विद्या और कला के द्वार सभी के लिए पूरी तरह खोले बिना प्रगति के सारे साधन प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुलभ किए बिना समाज में श्रेष्ठ अध्यात्म-वाद का अवतरण हो ही नहीं सकता।"

भावी समाज के संबंध में यह महापंडित क्या सोचता है, इसके लिए एक उद्धरण मैं और दूंगा :

"भविष्य में वह (मनुष्य) उपनिषदों मे वर्णित यह शिकायत नहीं करेगा कि 'मैं पुण्य संपादन करने का प्रयत्न कर रहा था कि पापने मुझे घेर लिया और प्रकाश के लिए जब मैं छटपटा रहा था तब अन्धकार ने मुझे ग्रस लिया।' अन्याय, विषमता, भूख, अज्ञान आदि दुर्गुणों के लिए दैव को जवाब-देह न मान कर अब वह अपनी समाजरचना को ही जवाबदेह समझने लगा है। प्रश्नों का काल्पनिक उत्तर देकर धर्म आत्म-वंचना करता आया है, इस तरह की आत्म वंचना विज्ञाननिष्ठ मानव नहीं करने का। वह सीधे ही अपनी अल्पज्ञता स्वीकार कर लेता है। वह वातावरण पर अधिकार प्राप्त करेगा। नवीन नक्षत्रों का पता लगाएगा। अचेतन सृष्टि को सचेतन बनाएगा। रोगों को निर्मूल करके लंबी आयु हासिल करेगा। सारी पृथ्वी को निर्बंध निर्विघ्न और सुगम बना देगा—एक सुंदर शहर की भांति : ऐसे आरोग्य की साधना करेगा कि बुढ़ापे में मृत्यु नींद की तरह आवश्यक और मीठी मालूम देगी।" (पृ० १६१)

आज अपने यहाँ "भारतीय संस्कृति" और "भारतीय परंपरा" के नाम पर दादा लोग जाने क्या क्या हमारे दिमागों में ठूंस देना चाहते है. बुद्धिहत्याका विराट् आयोजन प्रकट और अप्रकट दोनों रूप मे चल रहा है. ऐसी स्थिति में श्री हेमचन्द्र मोदी पुस्तकमाला के ये दोनों पुष्प अपनी तीव्र और स्फूर्तिप्रद सुरभि से शिक्षित-समुदाय की चेतना को सजग बनाते रहेंगे, इसमें मुझे रत्तीभर भी संदेह नहीं है। इन दोनों से कई मूल्यवान टुकड़ों को मैंने छांट रक्खा थ। परंतु स्थानाभाव से यहाँ उन्हें उद्धृत नहीं कर रहा हूँ।

ऐसी उद्बोधक कृतियों को प्रकाशित करने के लिए हिंदी संसार प्रेमी जी का जितना ही कृतज्ञ हो उतना ही थोड़ा होगा।

—काश्यपीपुत्र प्रभाकर

ज्ञा न धा रा

जैन मन्दिर और हरिजन

पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना,

जैन संस्कृति के आधार पर होनेवाली समाजरचना में मानव-मानव के बीच छुआछूत को स्थान मिलना असंभव है। यद्यपि कुछेक जैन ग्रंथों में छुआछूत का उल्लेख है और जैन समाज मे उसका प्रचलन भी एक अर्से से चला आ रहा है परन्तु यह निश्चित बात है कि जैन संस्कृति के ऊपर वैदिक संस्कृति का प्रभाव पड़ जाने के कारण ही यह सब कुछ हुआ है। इसलिए पहली बात तो यह है कि यदि भारतवर्ष से छुआछूत को समाप्त किया जाता है तो जैनों को तो प्रसन्न ही होना चाहिये,। दूसरी बात यह है कि जैन मन्दिरों में हरिजनों के प्रवेश करने का विरोध करने से पहले हमें यह सोच लेना चाहिए कि समग्र भारतवर्ष से यदि छुआछूत को समाप्त कर दिया जाता है तो जैनों में इसका प्रचलन बना रहना असंभव है।

हरिजन-मंदिर-प्रवेश बिल का केवल इतना ही आशय है कि जो स्थान सर्वसाधारण के उपयोग के लिए खुला हुआ है उस स्थान में जाने से हरिजनो को सिर्फ इसलिए नही रोका जा सकता है कि वे अछूत है। अतः जैनों को इससे डरने की बिलकुल आवश्यकता नहीं है कि हरिजन जैसी चाहे वैसी हालत में जैन मंदिर मे प्रवेश करेगे और वहाँ पर मनचाहा काम करेंगे क्योंकि कानूनन वैदिक मन्दिरों के समान जैन मन्दिरों की सुरक्षा और सुव्यवस्था का भी ध्यान रखा जायगा।

जैनों में हरिजन-मंदिर प्रवेश बिल के बारे में एक भ्रम यह भी फैला हुआ है कि इस बिल से हरिजनों को वे अधिकार प्राप्त हो जाते है जो कि सिर्फ एक जैनी को ही प्राप्त हो सकते है। मै कहता हूँ कि जैनों को

यह भ्रम भी अपने दिल से निकाल देना चाहिये क्योंकि बिल के जरिये अजैन ब्राह्मण को भी वे अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते जो सामान्यतः एक जैनी को प्राप्त हैं।

उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन मन्दिरों के बारे में हरिजन-मन्दिर-प्रवेश बिल निम्न लिखित रूप से लागू होता है –

(१) प्रत्येक जैनी चाहे वह हरिजन ही क्यों न हो, उन सब अधिकारों के साथ जैन मंदिर में प्रवेश पाने का अधिकारी है जो सामान्यतः जैन होने के नाते स्वभावतः उसे प्राप्त हो जाते हैं।

(२) जब कि अजैन ब्राह्मण आदि जैन मन्दिर में प्रवेश कर सकते हैं तो जिस तरह से और जहाँ तक वे मंदिर के अंदर प्रवेश करते हैं उस तरह से और वहाँ तक अछूत होने के कारण अजैन हरिजनों को प्रवेश करने से नहीं रोका जा सकता।

(३) जैन संस्कृति की धार्मिक मर्यादा, मंदिर की पवित्रता, और मंदिर के अंदर शांति कायम रखने के उद्देश्य से मंदिर की व्यवस्थापक कमेटी मंदिर प्रवेश के विषय में सामान्य रूप से ऐसे नियमों का निर्माण कर सकती है जो अछूतता को प्रोत्साहन देनेवाले न हों।

जो लोग मंदिरों के बारे में हरिजनमंदिरप्रवेशबिल लागू होने का विरोध करते हैं उनकी मुख्य दलीलें निम्न प्रकार हैं –

(१) जैन हिन्दू नहीं हैं इसलिए यह बिल जैन मंदिर पर लागू नहीं होना चाहिये।

(२) ऐसा एक भी हरिजन नहीं है जो जैन धर्म का माननेवाला हो।

(३) धर्म के क्षेत्र में शासन को हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता है।

पहली दलील के बारे में यही कहूँगा कि जैन हिन्दू रहे हैं और रहेंगे। जैनियों का हित इसी में है कि वे एक स्वर से अपने आप को हिन्दू घोषित करें। जैनियों का यह भय बिलकुल निराधार है कि हिन्दू शब्द वैदिक संस्कृतिपरक होने के कारण जैन संस्कृति केवल वैदिक संस्कृति की शाखा मात्र रह जाती है। वास्तव में "हिन्दू शब्द वैदिक संस्कृतिपरक है" यह बात असत्य है।

अब तक वैदिकों और जैनों के परस्पर जो सामाजिक संबंध बने चले आ रहे हैं उन्हें और अधिक सुदृढ़ करने की आवश्यकता है और ऐसा

होने पर भी यह तो सर्वथा असंभव है कि ईश्वर कर्तृत्ववाद तथा वर्णाश्रम-व्यवस्था को लेकर परस्पर पूर्व और पश्चिम जैसा मौलिक भेद रखनेवाली वैदिक और जैन संस्कृतियों में से एक संस्कृति को दूसरी संस्कृति की शाखा-मात्र मान लिया जायगा। भारतीय राज्य के असाम्प्रदायिक राज्य घोषित हो जाने पर ऐसा होना और भी असंभव है।

दूसरी दलील का बहुत कुछ उत्तर ऊपर दिया जा चुका है, विशेष यह कि "एक भी हरिजन जैन धर्म का माननेवाला नहीं है" यह जैन समाज के लिये शोभा की चीज नहीं है। इससे तो जैन समाज की कट्टर अनुदारता ही प्रकट होती है और इसी का यह परिणाम है कि जैनों की संख्या अंगुलियों पर गिनने लायक रह गयी है। दूसरी बात यह है कि यदि कदाचित् कोई हरिजन जैनधर्म में आज दीक्षित होने को तैयार हो तो जैन लोग अपनी मर्जी से उसे मंदिर के अदर जाने देने व पूजा करने की इजाजत देने को कहाँ तैयार हैं? जिससे इस दलील के आधार पर जैन मंदिरों को हरिजनमंदिरप्रवेश बिल से अलग कराकर हरिजनों को जैन मंदिर में न आने देने की अपनी चतुराई को जैन समाज सफल बना सके। हरिजन जैनमंदिर में प्रवेश न करें यदि हमारी ऐसी इच्छा है तो इसका एक ही उपाय हो सकता है कि अजैन मात्र को जैन मंदिर में न आने दिया जाय परन्तु जैन समाज का एक भी व्यक्ति यहाँ तक कि जैन मंदिर मे हरिजनों के प्रवेश का विरोधी भी इतना मूर्ख नहीं हो सकता है जो यह कहने को तैयार हो कि जैन मंदिर में कोई भी अजैन प्रवेश पानेका अधिकारी नहीं है। इसलिए जैन समाज को चाहिए कि बिल की मंशा के मुताबिक वह अजैन हरिजनों को भी दूसरे अजैनों की तरह जैन मंदिर में उदारतापूर्वक आने की इजाजत दे दे।

तीसरी दलील के बारे में मैं इतना ही कहूँगा कि यदि जनता स्वयं अपने अंदर से राष्ट्रीयता के घातक तत्वों को निकाल दे तो निश्चय ही शासन को इसके लिए कानून बनाने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु दुर्भाग्य से जनता में अभी इतनी जागृति ही कहाँ पैदा हुई है? इसलिए छोटी छोटी बातोंके लिए भी कानून बनाने में बड़ी मजबूती के साथ सरकार को अपनी अमूल्य शक्ति खर्च करनी पड़ रही है। रही धार्मिक बातों में शासन के हस्तक्षेप की बात, सो इसके बारे में यही कहा जा सकता है कि जो तत्त्व राष्ट्रीयता का घातक है वह धर्मक्षेत्र की मर्यादा में कभी भी नहीं आ सकता है।

कुछ लोग बिना सोचे समझे यह कहा करते हैं कि जैन भाइयों ने देश को

स्वतंत्र कराने में कांग्रेस को अपने त्याग और बलिदान द्वारा जो सहयोग दिया है उसका पुरस्कार जैनियों को उनके धार्मिक अधिकारों का अपहरण करके दिया जा रहा है। मैं ऐसे लोगों से पूछता हूँ कि यदि जैन भाई देश की स्वतंत्रता के लिए कांग्रेस के साथ लड़ाई में सम्मिलित न होते तो क्या देशद्रोह का काम उन्हें शोभा दे सकता था? और जैनों के योग न देने से क्या देश को स्वतंत्रता मिलना कठिन हो जाता? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में देना जैन समाज के किसी भी व्यक्ति के लिए कठिन ही नहीं असंभव है। मैं तो यह कहता हूँ कि उक्त प्रकार के शासन के बारे में आक्षेप करना समस्त जैन समाज को कलंकित करने के सिवाय और कुछ नहीं है।

आशा है जैन बन्धु इस पर विचार कर समुचित मार्ग अपनायेंगे।

अस्पृश्यता पर बम्बई के

गृहमंत्री—

"धर्म में अस्पृश्यता का स्थान नहीं है। जैन धर्म का समुचित आचरण करना हो तो अहिंसा का पालन करो, जाति को समूल नष्ट करो, जैन हिन्दू नहीं है इस भावना को भूल जाओ। जैन धर्म का जातियों के बाड़ों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। आप जैन मंदिर में जाने से पवित्र हो सकते हैं। मंदिरों को पवित्र करने के लिये ही यदि आप वहाँ जाते हों तो जाने की कोई आवश्यकता नहीं है"।

श्री मोरारजी देशाई

("प्रबुद्ध जैन")

सम्पादकीय

हरिजन मन्दिर प्रवेश चर्चा

जैनमित्र के ६ अक्टूबर के अङ्क से ज्ञात हुआ है कि समाज के कुछ विद्वानों ने—जो अभीतक अपने को मध्यस्थ कहते थे—घोषणा की है कि कथित शूद्रों का जिनमन्दिरों मे प्रवेश करना व दर्शन करना दि० जैन शास्त्रों के प्रतिकूल है। हमने इस विषय का गहराई से विचार किया है। हम यह न समझ सके कि इन विद्वानों ने इतना गुरुतर भार किस आधार से अपने सिर पर उठाने का साहस किया है। इन्होंने तो यह भी अतिसाहस किया है कि वे विरोधियों को हर तरह समझा कर उन्हें मध्यस्थ रखने का प्रयास करेंगे। इनकी अभी तक की मध्यस्थ नीति का एक स्वरूप तो सामने आया है।

साधारण नियम तो यह है कि जो मनुष्य श्रावक के व्रत स्वीकार करता है वह देवपूजा और स्वाध्याय नियम से करता है। दान और पूजा ये श्रावक के मुख्य कर्तव्य हैं। इन कर्त्तव्यों से कथित शूद्रो को कैसे वंचित रखा जा सकता है। इसका एक समाधान यह किया जाता है कि कथित शूद्र मन्दिर मे नहीं जा सकते। वे बाहर से ही मानस्तम्भ मे स्थित जिनदेव का दर्शन पूजन कर अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकते है। किन्तु यह समाधान पर्याप्त नहीं है। जब कि इनके निमित्त से मानस्तम्भ या मानस्तम्भ की प्रतिमा अपवित्र नहीं होती तब फिर मन्दिर कैसे अपवित्र हो सकता है। मन्दिर तो जिसके जीवन में अपवित्रता है उसे दूर कर पवित्र बनाने का साधन है। वह उनके सम्पर्क से अपवित्र हो जाता है, यह कल्पना ही असह्य है। मन्दिर में कुत्ता, बिल्ली भी जाते हैं। चूहों का तो वह प्रमुख अड्डा है। वहाँ उन्हे बिना किसी बाधा के भोजन मिल जाता है। वे अधिकतर वेदी पर पाये जाते है और वहीं पर मलमूत्र भी करते है। इन कारणो से मन्दिर की पवित्रता नष्ट नहीं होती, पर कथित शूद्रों के जाने से उसकी पवित्रता नष्ट हो जाती है, यह कैसी विचित्र बात है? सच तो यह है कि भारतवर्ष के सामाजिक जीवन में जो विषमता आ गई है उसी के परिणामस्वरूप लोगों के ऐसे कुत्सित भाव हो गये है, जिनके वशीभूत होकर वे ऐसी असंबद्ध कल्पनायें किया करते हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि भारतवर्ष में धीरे-धीरे वर्णाश्रम धर्म का प्रभाव बढ़ता गया। मनुस्मृति इस धर्म का मुख्य ग्रन्थ है। उसमें कथित शूद्रों

को दान, पूजा, अध्ययन, अध्यापन आदि सभी कर्त्तव्यों से वंचित रखा गया है। कालक्रम से जैन शास्त्रकार भी इस प्रभाव से अछूते नहीं रहे। उन्होंने भी इस प्रभाव में आकर ऐसे नियम बनाये, जिनके कारण कथित शूद्रों की स्थिति के बदतर होने मे विशेष सहायता मिली। फिर भी यह गनीमत है कि वे उतने पीछे नहीं लौटे जितना पीछे वर्णाश्रम धर्म–देश को ले जाने मे सफल हुआ। उन्होंने अपनी मूल मान्यता को किसी न किसी रूप में जीवित रखा। उन्होंने कथित शूद्रों को व्रत धारण करने का अधिकारी माना और ऐसे व्यक्तियों की प्रशंसा की।

मुख्य विवाद का प्रश्न कथित शूद्रों को मन्दिर मे जाकर दर्शन पूजन करने का है। हमने इस विषय की विशेष रूप से छानबीन की है। दिल्ली में दूसरे विद्वानों से चर्चा भी की है किन्तु हम ऐसा प्रमाण पाने मे समर्थ नहीं हुए जो कथित शूद्रों को मन्दिर में जाने से रोकता हो। इसके विपरीत पूजासार[१] मे पूजक के लक्षणों में ऐसा उल्लेख अवश्य मिलता है, जिसके आधार से यह कहा जा सकता है कि इतर वर्ण के लोगों के समान कथित शूद्र भी जिनपूजा के अधिकारी हैं। पूजासार यह स्वतंत्र पूजा का ग्रन्थ है। अतएव वह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है।

किन्तु इसके विरोध में दूसरी ओर से हरिवंशपुराण[२] का "शूद्राः पाखण्डपण्डिताः" यह उद्धरण उपस्थित किया जाता है जिसमे बतलाया है कि शूद्र समवसरण मे नहीं जाते थे। किन्तु दूसरे आधारों के प्रकाश में इसकी छानबीन करने पर यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। मुनिसुव्रत काव्य (१० सर्ग ४६ श्लो०) मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि कौन कौनजीव समवसरण में नहीं जाते हैं। वहाँ बतलाया है कि मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव समवसरण मे नहीं जाते, जो भव्य हैं वे सब जाते हैं। मालूम पड़ता है कि 'क्षुद्राः पाखण्डपण्डिताः' के स्थान में भ्रमवश 'शूद्राः पाखण्डपण्डिताः' पाठ हो गया है। यदि हरिवंशपुराण की प्राचीन प्रतियों की छानबीन की जाय तो यह भ्रम दूर हो सकता है। 'क्षुद्राः पाखण्डपण्डिताः' का अर्थ अभद्र मिथ्यादृष्टि होता है जो प्रकृत में संगत है।

वर्णाश्रमधर्म के प्रभाववश देश की जो हानि हुई है वह अवर्णनीय है। देश के विचारकवर्ग ने इस बात को अच्छी तरह जान लिया है। आम जनता

---

१ ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाद्यः सुशीलवान्।

२ मिथ्यादृशः सदसि तत्र न संति मिश्राः सासादनाः पुनरसंज्ञिवदप्यभव्याः।
भव्याः परं विरचितांजलयः सुचित्तास्तिष्ठन्ति देववदनाभिमुखं गणोर्व्याम्॥

भी इसके प्रभाव से मुक्त होती जा रही हैं। देश में इसकी सबसे अधिक प्रतिक्रिया हुई है। महात्मा गांधी के मूल सूत्रों का अछूत निवारण मुख्य अंग रहा है। अबतक जितने संत हुए हैं उन सब ने अछूतपन की भर्त्सना की है। प्रसन्नता की बात है कि भारतवर्ष का जो नया विधान बन रहा है उसकी ग्यारहवीं धारा में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन किये गये हैं, जिनके आधार से देश में अछूतपन का तो अभाव हो ही जायगा, साथ ही किसी को भंगी या चमार कहना भी जुर्म माना जायगा। ऐसे व्यक्तियों को कठोर से कठोर दंड दिया जायगा।

स्वराज्यप्राप्ति के बाद इस विधान के बनने मे पर्याप्त समय लगा है। अभी भी इसका काम चालू है, इसलिये मध्य के काल मे इसके योग्य भूमिका तैयार करने के लिए मध्यप्रान्त और बम्बई प्रान्त की धारासभाओ ने पिछली साल इस आशय के बिल स्वीकार किये थे जिनके आधार से कथित शूद्रों को मन्दिर में जाकर देवपूजा का अधिकार मिलता है। बिल की मनसा मन्दिर मे अव्यवस्था उत्पन्न करना नहीं है किन्तु शूद्र होने के कारण मन्दिर मे जाने की अयोग्यता को दूर करना है।

हम समझते थे कि वैदिको की ओर से इसका प्रबल विरोध होगा। जैन धर्म के तो यह अनुकूल है इसलिए इस धर्म के मानने वाले चुप रहेंगे। किन्तु स्थिति इससे उलटी निकली। वैदिको ने विरोध तो किया पर उसे आम जनता का बल नहीं मिला और जैनों मे यह आम जनता का विषय बन गया या बनाया गया। मध्यप्रान्त में इसका जो परिणाम हुआ है वह सबके सामने है। डा० हीरालाल ने अनेक लेख लिखकर जनता को आगाह भी किया पर किसी ने उस ओर ध्यान नही दिया। खोटी धर्मान्धता के आगे विवेक लुप्त हो गया। अब मध्यप्रान्त की जैन जनता इसका फल भोगने लगी है। वहाँ वैदिक मन्दिरों पर ऐसी तख्ती टाँगी जाने लगी है जिसमें यह लिखा है कि इस मन्दिर मे जैन और मुसलमानों का प्रवेश निषिद्ध है। वहाँ के सार्वजनिक हिन्दू ट्रस्टों के लाभ से जैनों को वंचित किया जाने लगा है। अभी अभी सार्वजनिक पत्रों के देखने से अब यह भी मालूम होता है कि मध्यप्रान्त की सरकार ने हिन्दू मन्दिरों के लिए कुछ नियम बनाये हैं, उनमे एक नियम यह भी है कि अहिन्दू न तो हिन्दूमन्दिरों में जा सकेंगे और न हिन्दूमन्दिरों से लगे हुए तालाब या कुओं पर स्नान कर सकेंगे न उनका पानी ही भर सकेंगे। जैनों के लिए यह स्थिति अत्यन्त दयनीय है। इस परिस्थितिवश मध्यप्रान्त के जैन अछूतों से भी बदतर बनते जा रहे हैं।

यद्यपि हम यह जानते हैं कि मध्यप्रान्त की सरकार ने यह काम सद्भाव से नहीं किया है। उसे दूसरे मार्गों से मध्यप्रान्त के जैनों को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिये था। उसने जिस ढंग से उक्त बिल से जैनों को बरी किया है वह ढंग भी अच्छा नहीं है। प्रान्त के कुछ रूढ़िवादी जैनों का सरकार के पास डेपुटेशन गया और सरकार ने उनकी बात मान ली। दूसरे पक्ष के जैनों को तो इसका पता ही न लगा। वे तो इस बात को तब समझे जब सरकार की ओर से इस बात की घोषणा हो गई कि जैन लोग इस बिल से बरी किये जाते हैं। हम इस रुख के लिए मध्यप्रान्त की सरकार की जितनी भर्त्सना करें थोड़ी है।

फिर भी हमारी मुख्य शिकायत तो अपने उन भाइयों से है जो रूढ़िवादी पण्डितों के प्रभाव में आकर गुमराह हो रहे हैं। यदि वे समय रहते न चेते तो उनकी बहुत बड़ी सार्वजनिक हानि होगी। हालाँकि नये विधान के लागू होने पर नये विधान की मूल धाराओं के विरोधी प्रांतीय कानूनों या आश्वासनों का कोई महत्त्व नहीं रहेगा। फिर भी इस प्रकार के प्रयत्नों द्वारा देश के जीवन में जो विष घुल जाता है उसे दूर करने में बहुत समय लगता है। कभी कभी तो वह अनेक प्रयत्न करने पर भी दूर नहीं होता।

हमें यह भी मालूम हुआ है कि कवलाना की बैठक के बाद कुछ महानुभावों का एक डेपुटेशन बंबई प्रान्त के हरिजन मंत्री तपासे से मिला था। सुनते हैं तपासे ने बातचीत के दौरान में यह स्वीकार कर लिया है कि जैनधर्म हिन्दूधर्म से जुदा है। इस पर से कुछ जैनपत्र यह माँग करने लगे हैं कि जब कि जैनधर्म हिन्दूधर्म से जुदा है तब उक्त बिल से जैनों को क्यों बरी नहीं किया जाता है? ऐसा भी मालूम हुआ है कि कुछ भाई भीतर ही भीतर ऐसा प्रयत्न कर रहे हैं जिससे जैन उक्त बिल से बरी हो जायं। इधर कुछ जैनपत्रों ने अपना रुख भी बदला है जिससे उक्त कथन की ही पुष्टि होती है। स्थिति जो भी हो उससे हमें विशेष मतलब नहीं। पर हम इतना कहे बिना न रहेंगे कि इस समय किसी भी पक्ष से गलती क्यों न हो उसका परिणाम अखिल जैन समाज पर हुए बिना नहीं रहेगा।

हम चाहते हैं कि जैन भाई वस्तुस्थिति को समझें और लोक में विशेष उपहास के पात्र न बनें। उनका धर्म तो इसी में सुरक्षित है कि वे सबके लिए समान भाव से उसका दरवाजा खोल दें। हमें यह न भूल जाना चाहिए कि धर्म और धर्मायतन किसी की पैतृक संपत्ति नहीं है जो भी इसका आश्रय लेता है वही उसका सुन्दर फल चखता है। हम यह जानते हैं कि कथित

शूद्रों में अनेक प्रकार की बुराइयाँ है, पर हम यह भी जानते है कि हममें वे बुराइयाँ कुछ कम नहीं है। उनमे एक प्रकार की बुराइयाँ है तो हममें दूसरे प्रकार की बुराइयाँ है। बुराइयों के शिकार दोनों हो रहे है। आवश्यकता इस बात की है कि हम इनसे स्वयं बचे और दूसरों को बचाने का प्रयत्न करें। हमने तीर्थंकरों के मार्ग को छोड़ दिया है। उनका मार्ग ही हमें यह शिक्षा देता है कि हम अपने लिए विशेषाधिकार की मांग करना छोड़ दें। देश के जनजीवन मे ऐसे घुल मिल जायं जिससे हमारी अच्छाइयों से दूसरे लाभान्वित हो सकें। जैन सामाजिक और राजनैतिक स्थिति के कारण हिन्दुओं से कभी भी जुदे नहीं रहे है। उनकी भलाई इसीमें है कि वे हिन्दुओं के साथ अबतक जिस प्रकार घुलमिल कर रहते आये है आगे भी वे उसी प्रकार अपने रूप को बनाये रखें। राजनैतिक क्षेत्र मे आज योग्यता के बल पर उनका जो स्थान है वह बिलगाववादी प्रवृत्ति से कभी भी नहीं रह सकेगा। वे अहिन्दू बनकर अपनी न केवल राजनैतिक और सामाजिक हत्या करेगे किन्तु देश में एक और विषम वातावरण को उत्पन्न कर अपना अस्तित्व ही समाप्त कर देंगे।

जैन पुरातत्त्व की उपेक्षा क्यों ?

भारत सरकार की ओर से अभी अभी ८००-९०० फीट लंबी एक सांस्कृतिक फिल्म तैयार करायी गयी है जो बड़े बड़े सिनेमाघरों में सरकार द्वारा प्रदर्शित होती है। इसमें मोहनजोदारो से लेकर विशिष्ट युगों में विकसित भारतीय शिल्प स्थापत्य कला के उच्चतम प्रतीकों का समावेश किया गया है। सांस्कृतिक और पुनर्जागरण की दृष्टि से यह प्रयास स्तुत्य है। जनता में इससे न केवल पुरातत्त्व का प्रचार ही होगा, अपितु अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति अनुराग भी बढ़ेगा। किन्तु खेद की बात है कि इस फिल्म मे जहाँ वैदिक और बौद्ध शिल्प स्थापत्यों का उचित समावेश हुआ है वहाँ भारतीय सस्कृति की प्रमुख धारा जैन संस्कृति से संबंधित कोई भी ऐसा प्रतीक नहीं आया जो जनता को प्रभावित कर सके। यों तो अपवाद स्वरूप मथुरा का आयाग पट्ट का चित्र है परन्तु अन्य प्रतीकों की तरह, उसका परिचय ही नहीं दिया जाता। जैन पुरातत्त्व वैदिक औरबौद्धों से किसी भी दृष्टि से कम महत्त्व का नहीं। कुछ तो दोनों से भी अधिक महत्त्व का है। अतः भारत सरकार से अनुरोध है कि यदि संपूर्ण भारतीय पुरातत्त्व का परिचय देना ही इस फिल्म का उद्देश्य है तो उसमें जैन पुरातत्त्व की इस प्रकार उपेक्षा न की जानी चाहिये।

गर्हित प्रयास--

अल्प विद्या भयकरी । छुटपन से यह सूत्र सुनता आ रहा हूँ । परन्तु इधर 'हंस-मयूर' नामक पुस्तक पढ़कर इसकी सार्थकता पर अचानक मुग्ध हो गया । उपर्युक्त नाटक के लेखक के रूप में यदि 'हिन्दी के उपन्यास सम्राट्' श्री वृन्दावनलाल वर्मा का नाम न रहता तो उतना क्षोभ न होता । परन्तु दुःख होता है कि आज भी अधिकारी विद्वान् निर्णीत विषयों पर भी कुछ तथाकथित ऐतिहासिक कलम चलाते हुए भयंकर भूलें कर जाते हैं । बात यह है कि ऐसे लेखकों पर साम्प्रदायिकता इतना गहरा असर कर गयी है कि वे अपने से दूसरे संप्रदायवालों पर कीचड़ उछालने से बाज ही नहीं आते । ऐसा ही अति गर्हित प्रयास श्री वृन्दावनलाल जी ने 'हंस-मयूर' नामक नाटक लिखकर किया है । वर्मा जी ने श्री विजयभट्ट द्वारा निर्देशित 'विक्रमादित्य' फिल्म देखी । आपको लगा कि उसमें भट्ट जी ने इतिहास की टांग ही तोड़ डाली है । वर्मा जी ने भारत के फिल्म निर्देशकों से इतिहास के क्षत--विक्षत होने की शिकायत की । जवाब मिला 'हम ऐतिहासिक चित्र बनाने में यदि इतिहास का नाश करते हैं तो आप ही एकाध नाटक लिखिये । और उसी चुनौती का उत्तर यह नाटक है । किन्तु अत्यन्त परिताप है कि बेचारे भट्ट जी ने चाहे इतिहास की टाँग तोड़ी हो या नहीं परन्तु वर्मा जी ने तो इतिहास का शिरोच्छेद ही कर डाला है । संपूर्ण पुस्तक अनर्गलताओं से भरी पड़ी है । लेखक ने ऐतिहासिक तथ्यों को तो बुरी तरह से तोड़ा मरोड़ा है ही साथ ही अपनी कल्पना की ऊँची उड़ान में बुद्धि को एकदम अर्द्धचन्द्र दे निष्कासित कर दिया है । तत्कालीन समाज का आपने कितना तलस्पर्शी अध्ययन किया है यह तो पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ से स्पष्ट है । ग्रंथ में जैनों के संबंध में आपने जो भी लिखा है वह इस बात का प्रमाण है कि प्राचीन जैन-साहित्य और संस्कृति का तो आपको थोड़ा भी ज्ञान नहीं है । परन्तु वर्तमान में जैनों से आपका संपर्क है, ऐसा भी प्रतीत नहीं होता । क्योंकि यदि ऐसी बात होती तो ग्रंथ में कतिपय भद्दी भूलें न होतीं । आज भी कोई जैन साधु पीतवस्त्र धारण नहीं करता और धार्मिक दृष्टि से केशों का मुण्डन आज भी वर्जित है, फिर उस समय की तो बात ही क्या जब धार्मिक बन्धनों में शिथिलता अपराध मानी जाती थी । अपने इसी अल्पज्ञान के कारण आपने प्रथम पृष्ठ की पाँच पंक्तियों में ही कई भयंकर भूलें कर डाली हैं । यथा कालकाचार्य और सरस्वती को नारंगी रंग का कोपीन पहनाया है, आचार्य के कल्पित शिष्य वकुल के केश मुण्डित

कराये हैं और बुद्ध का सूत्र 'बहुजनसुखाय बहुजनहिताय' कालकाचार्य के मुंह में डाल दिया है। बात यह हुई कि आपको बौद्ध भिक्षुओं के कारण यह भ्रम हो गया है। वहीं दूसरी गलती आपने यह की कि आचार्य की भगिनी साध्वी सरस्वती (नाटक की सुनंदा) को श्राविका कहा है। जब कि जैन संस्कृति में आज भी श्राविका का प्रयोग गृहस्थ जैन स्त्री के रूप में होता है।

नाटक में आपने जैनों के मान्य आचार्य कालक और साध्वी सरस्वती के संबंध में ऐसी निर्मूल और अपमानजनक बातें लिखी है, जो आप जैसे लेखक के लिये अत्यन्त ही अशोभन है। संभवतः वर्मा जी को पता नहीं कि उपर्युक्त चरित्रों को जैन समाज कितनी धार्मिक श्रद्धा की दृष्टि से देखता है। विशेषतः सरस्वती का व्यक्तित्व जैन समाज में बहुत ही उच्च और अनुकरणीय माना जाता है। नाटक में उसी पूजनीया सरस्वती तथा गर्दभिल्ल के प्रणय चित्रण को पढ़ कर भला कोई भी पाठक वर्मा जी के प्रति क्या सोचेगा ? जरा वर्मा जी की कल्पना की ऊँची उड़ान तो देखें :—

गर्दभिल्ल—प्यारी देवी ! एक प्रश्न करूँ। क्या आपके मन में उसके पूर्व कभी प्रेम की उमङ्ग जगी थी ?

सुनंदा—(संकोच के साथ मुस्करा कर) बतला तो दिया, पहले अनेक बार।

* * * *

गर्दभिल्ल—कहो, देवी, कहो।

सुनंदा—श्राविका होने के पूर्व एकाध बार मेरे मन में उठा था क्या जीवन में कभी कोई ऐसा मिलेगा जो मुझको, मुझ अकेली को, हृदय से चाहे ? (सिर नीचा करके कनखियों से देखती है) बस, और कुछ न पूछिये।

गर्दभिल्ल—कहे जाओ देवी ! अमृत का घूट सा लग रहा है।

सुनंदा—और क्या कोई मुझे अपना कहकर पुकारेगा।

गर्दभिल्ल—प्राणेश्वरी प्राणेश्वरी ! सहस्र बार प्राणेश्वरी !

(कन्धे से कन्धा लगा लेता है)

नाटक की सुनंदा सुपरिचित साध्वी सरस्वती ही है। जैन ग्रंथों में —प्रभावक चरित में भी जिसे वर्मा जी ने अपने नाटक के लिये आधार माना है—साध्वी सरस्वती एक बाल ब्रह्मचारिणी, आदर्श सती के रूप में वर्णित है। . . . .

आचार्य कालक को वर्मा जी ने एक बार पुनः देशद्रोही सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। इस बार आपने आचार्य के निर्मल चरित्र को कलंकित करने का गर्हित प्रयास किया है।

वर्मा जी तो वर्मा जी ही ठहरे। किन्हीं औषधीश जी ने भी हंस-मयूर पर अपना 'दर्शन' लिखकर अपनी आलोचना शक्ति (?) का परिचय दिया है। हमने कल्पना की थी कि आपने हंसमयूर-दर्शन में वर्मा जी की भद्दी भूलों का परिष्कार किया होगा। परन्तु 'दर्शन' के दर्शन से यही जाहिर होता है कि आप वर्मा जी के मुग्ध प्रशंसक ही हैं।

हमने सुना है कि यह पुस्तक यू० पी० मे इंटरमीडिएट के कोर्स में भी है इससे छात्रों के दिमाग पर जैन संस्कृति के संबंध में कितना बुरा प्रभाव पड़ता होगा? क्या भारतीय विधान में भारत के इसी "धर्म निरपेक्ष राज्य" की घोषणा की गयी है? अथवा यू० पी० की सरकार का विधान का अपना यही इन्टरप्रेटेशन है?

धर्मचक्र--

जैन पुरातत्त्व से संबंधित जितनी भी जैन मूर्त्तियाँ उपलब्ध होती हैं उनमें अधिकांश मूर्त्तियों के आसन के निम्न भाग में एक चक्र बना हुआ पाया जाता है। इसके दोनों ओर आश्चर्यान्वित मुद्रा में मृग भी देखे जाते हैं। वर्तमान मूर्त्ति निर्माण में प्रायः धर्मचक्र का लोप सा हो गया है। परन्तु कुशाण काल से लगाकर मध्यकाल तक की प्रतिमाओं में खड़ा या टेढ़ा धर्मचक्र अवश्य ही रहता था। मुगल काल में जैन मन्दिरों की अपेक्षा लघुतम धातु मूर्त्तियों का निर्माण अधिक हुआ। इस काल की प्रस्तर मूर्त्तिकला के निर्मापकों ने तो धर्मचक्र की घोर उपेक्षा कर इस सांस्कृतिक चिह्न को ही एक प्रकार से भुला दिया (अर्थात् पाल काल के पश्चात् बहुत ही अल्प प्रतिमाएँ मिलती हैं जिनपर धर्मचक्र अंकित हो) परन्तु धातु विद्या के पारंगत प्रतिमा निर्माताओं ने धर्मचक्र की उपेक्षा न कर उसे अधिक महत्व दिया है। धर्मचक्र को ये मूल प्रतिमा से स्वतंत्र रंगों द्वारा अंकित करते थे।

यहाँ पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वस्तुतः धर्मचक्र का इतिहास क्या है? यों तो श्रमण संस्कृति की एक धारा बौद्ध धर्म से इसका संबंध आम तौर से माना जाता है। बौद्ध संस्कृति से प्रभावित इतिहासकारों ने माना है कि वह बौद्ध परंपरा की मौलिक देन है, वे मानते हैं कि वाराणसी के पास सारनाथ में भगवान बुद्ध ने प्रथम देशना देकर धर्मचक्र प्रवर्तन किया। और अशोक ने इस प्रतीक को राजकीय संरक्षण दे इसे और भी व्यापक बना

दिया। परन्तु वास्तविक सत्य तो कुछ और है। बहुत प्राचीन पालि साहित्य में धर्मचक्र का उल्लेख नहीं मिलता। यदि वह बौद्ध परंपरा की ही देन होता तो इसे कम से कम पालि साहित्य में तो अवश्य ही महत्वपूर्ण स्थान मिलता। बात यह है कि यह प्रतीक मूलतः जैनो का है। यों तो पौराणिक साहित्य से स्पष्ट भी है कि इसकी प्रवर्त्तना जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव स्वामी के द्वारा तक्षशिला में हुई। यह तो हुई पौराणिक अनुश्रुति। परन्तु विशुद्ध साहित्यिक उल्लेख के अनुसार देखें तो भी जैन उल्लेख ही प्राचीन ठहरता है जो आवश्यक सूत्र निर्युक्ति में इस प्रकार है—

"ततो भगवं विहरमाणो बहलीविसयं गतो, तत्थ बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला णामं, तं भगवं वेताले य पत्तो, बाहुबलीस्स वियाले णिवेदितं जहा स्वामी आगतो। कल्लं सव्विड्ढिये वंदिस्सामि त्ति ण णिग्गतो, पभाते सामी विहरंतो गतो। बाहुबलीवि सव्विड्ढिये णिग्गतो, जाव सामी ण पेच्छति, पच्छा अधितिं काऊण जत्थ भगवं वुत्थो तत्थ धम्मचक्कं चिन्धकारेति। तं सव्वरयणमयं जोयणपरिमंडलं, जोयणं च ऊसितो दंडो, एवं केई इच्छंति। अन्ने भणंति केवलनाणे उप्पन्ने तहि गतो। ताहे सलोगेणं धम्मचक्कविभूति अक्खाता, तेण कतंति।"

फिर भगवान विहार करते हुए बहुली देश में गये। वहाँ बाहुबली की राजधानी तक्षशिला थी। उसमे भगवान सायंकाल पहुँचे। (वनपाल ने) बाहुबली को सायंकाल ही सूचना दी कि भगवान पधारे हैं। प्रातःकाल अपनी सम्पूर्ण ऋद्धियों के साथ वंदन करने जाऊँगा, ऐसा सोचकर वह वंदनार्थ नहीं निकला। प्रातःकाल स्वामी विहार कर गये। बाहूबली भी अपनी समृद्धियों के साथ चला। वहाँ स्वामी को न पाकर उसका धैर्य छूट गया और जहाँ ऋषभदेव भगवान ने निवास किया था वहाँ पर धर्मचक्र का प्रतीक स्थापित किया। वह सर्वरत्नमय था। योजन प्रमाण सुविस्तृत था; एक योजन दण्ड था। ऐसा कुछ लोग मानते हैं। कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि 'केवल ज्ञान उत्पन्न' होने पर बाहुबली वहाँ गया। वहाँ धर्मचक्र की विस्तृत प्रशंसा हुई। अतः उसने वहाँ पर धर्मचक्र का प्रतीक बनवाया।

प्राचीन साहित्य में इन्हीं भावोंवाले और भी कई उल्लेख मिलते हैं।

पटना के आश्चर्य गृह में धातु का एक जैन-धर्म चक्र पाया जाता है। जैन-विभाग में ही इसे रखा भी गया है। भक्ति मार्ग का प्रभाव मध्यकाल में जैनों पर भी काफी पड़ा। तप-प्रधान जैन-सस्कृति में तपश्चर्याओं के जो भेद-प्रभेद हैं उनमें धर्मचक्र तप भी है। पूजाओं में धर्मचक्र पूजा एवं स्वतन्त्र

विधान भी मिलते हैं। उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि १९ वीं शताब्दी तक जैनी धर्मचक्र को अपने जीवन-विकास का एक प्रतीक मानते थे।

ज्ञानपञ्चमी--

आर्य संस्कृति में त्यौहारों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण माना गाया है। हमारी संस्कृति के वे दीपक हैं, उनके समुज्वल प्रकाश में हम अपने उन्नति-पूर्ण अतीत के समीचीन तत्व देखते हैं। हमारे भावी निर्माण में वे ही मार्ग प्रदर्शन करा सकते हैं। श्रुत पंचमी एक ऐसा ही सांस्कृतिक पर्व है, जो हमें सम्यग्ज्ञान की साधना का सन्देश देता है। कार्तिक शुक्ला पञ्चमी को उसकी आराधना श्वे० जैन समाज में की जाती है। इस पर्व की समाराधना पर प्राचीन जैन साहित्यिक उल्लेख तो पाये ही जाते हैं पर प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में बड़े बड़े कथा ग्रंथ भी विद्यमान हैं। इसकी आराधना के यों तो अपने अपने संप्रदायों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार हैं पर मूल उद्देश्य में अन्तर नहीं है, वह है साहित्य रक्षा और उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन। पश्चिम भारत में इस दिन प्राचीन ज्ञान भंडारों से शास्त्रों एवं कलात्मप्रतीकों को निकाल कर उन्हें साफ कर अच्छे ढंग से जनता के दर्शनार्थ खास खास स्थानों में रखे जाते हैं और श्रद्धालु जन इनके सम्मुख अपनी धार्मिक आराधना करते हैं। इस पर्व को हम सकारण ही सांस्कृतिक और साहित्यिक मानते हैं, इस बहाने साधारण जन के लिए ग्रंथों के दर्शन तो हो जाते हैं और विद्वानों को शास्त्रानुशीलन का अनायास मौका हाथ लग जाता है। तथा चातुर्मासिक शीतादि प्रभाव ग्रंथों पर पड़ा हो तो वह भी कार्तिक की धूप से कुछ दूर हो जाता है। अत. आज पर्व को सीमित न रख कर व्यापक रूप देना आवश्यक है। कहीं हम देखते हैं कि प्राचीन ग्रंथों को उनके कहे जानेवाले रक्षक इस प्रकार छाती से लिपटाए बैठे हैं जैसे बन्दरी अपने बच्चे को चिपकाए रहती है। तिस पर भी मजा यह कि वे इनके महत्व को भी नहीं समझ सकते, ऐसे संकीर्ण मानस के रक्षकों से हमारा विनम्र निवेदन है कि वे विद्वानों को अपने यहाँ पर सादर निमंत्रित कर अप्रसिद्ध मूल्यवान् साहित्य को प्रकाश में लाकर सच्चे अर्थों में स्वयं इस पर्व को मनावें और दूसरों को भी सुअवसर दें। यही सच्ची श्रुताराधना है।

साहित्यिक चोरी!

अहमदाबाद के गुजराती दैनिक 'संदेश' के दीपावली विशेषांक में 'अंतिम-अभिनय' शीर्षक कहानी प्रकाशित हुई है, जिसके लेखक के रूप में चम्पकलाल परीख का नाम छपा है। 'ज्ञानोदय' के जुलाई अंक में श्री

इन्द्रचन्द्र जी की इसी शीर्षक की एक कहानी हम प्रकाशित कर चुके हैं। गुजराती कहानी इन्द्रचंद्र जी की कहानी का अविकल अनुवाद है। जहाँ तक हमें पता है इन्द्रचंद्र जी और चम्पकलाल परीख एक ही व्यक्ति के दो नाम नहीं हैं। परीख जी ने ऐसी चोरी में न जाने कौनसा लाभ देखा ?

—मुनि कान्तिसागर

पुरातत्त्वविद् एवं उनके अनुज का निधन—

विगत १४ अक्तूबर शुक्रवार को काशी के प्रसिद्ध युवक साहित्यकार तथा पुरातत्त्वविद् श्री गोपालकृष्ण का ३० वर्ष की आयु में तथा उनके अनुज श्याम कृष्णदास का २२ वर्ष के लघुवय में ३० अक्तूबर को प्रातःकाल में स्वर्गवास हो गया। श्री गोपालकृष्ण जी के वंश में साहित्य-सेवा पीढ़ियों से चली आती थी। भारतेन्दु जी के फुफेरे भाई तथा 'महाराणा प्रताप' नाटक के रचयिता श्री राधाकृष्णदास जी आपके पितामह थे। अपने छात्र जीवन में सभी कक्षाओं में प्रथम होने के कारण दोनों पीढ़ियाँ आपकी ओर बड़ी आशाभरी दृष्टि से देख रही थीं। हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं में आपके साधिकार लिखने के कारण आप काशी में प्रसिद्ध थे। आपकी प्रतिभा बहुमुखी थी। जयशंकर 'प्रसाद' पर आपका आनर्स था और स्थानीय हरिश्चन्द्र कालेज में आप अंग्रेजी के प्रोफेसर थे। स्थानीय भारत कला भवन के मुखपत्र कलानिधि का आप सुश्री महादेवी वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, डा० मोतीचंद, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री व्रजमोहन व्यास तथा श्री रायकृष्णदास जी आदि के साथ सम्पादन कर रहे थे। भारत कलाभवन के कार्यों में आप श्री रायकृष्णदास जी के दाहिने हाथ थे। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में आप चित्रकला पर एक पुस्तक लिखने की सोच रहे थे उसके लिए आपने सामग्री भी एकत्र कर ली थी। शिक्षा शास्त्र पर भी आप अपनी एक पुस्तक अधूरी ही छोड़ गये हैं। एक ऐसे समय में, जब कि आपकी प्रतिभा ने एक निश्चित मार्ग पा लिया था, वे हमारे बीच न रहे। आपकी मृत्यु से देश के गंभीर युवकों का एक उज्ज्वल नक्षत्र टूट गया। हिंदी की तो इससे अपार क्षति हुई है। बाबू श्याम कृष्णदासजी एम० ए० के होनहार एवं प्रतिभा सम्पन्न युवक थे। गोपाल कृष्ण के बाद इनसे बहुत सी आशाएँ थीं परन्तु काल का महाचक्र विकराल होता है। आपके निधन पर 'ज्ञानोदय' परिवार हार्दिक शोक प्रकाश करता है। साथ ही कामना करता है कि आपके परिवारवालों में इस असह्य वज्रपात को सहने की शक्ति आवे।

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

श्री वीरेन्द्रकुमार के कलामय कृतित्व का अनुपम प्रतीक:—

मुक्तिदूत ४।।।)

— उपन्यास क्या है, गद्यकाव्य का
[illegible] निदर्शन है ममज्ञों ने
मुक्तकंठ प्रशंसा की है।

उर्दू-काव्य के महान् मर्मज्ञ श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय की
दीर्घकालव्यापी साधना :

शेर-ओ-शायरी ८)

— [illegible] चिन्तन-चिन्तन संकलयिताकी
अन्तर्दृष्टि और गम्भीर अध्ययनका
परिचय मिलता है हिंदीमें यह
संकलन सर्वथा मौलिक और बेजोड़ है।

विदग्ध और विलक्षण साहित्यकार श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी की
जीवन-झाँकी :—

पथचिह्न २)

— मनोरम भाषा मर्मस्पर्शी शैली
लेखक ने पावन जीवन में अपना हृदय
उँडेल दिया है।

प्रबुद्ध विद्वान और ओजस्वी ग्रन्थकार
डॉ. जगदीशचन्द्र जैन की प्रामाणिक कृति:—

दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ ३)

— जैनपरम्परा के मनोरंजक उपा
ख्यान.. दो हजार वर्ष पुराने।
शैली सरल और सुबोध।

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड, बनारस

मुद्रक और प्रकाशक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय, मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
भार्गव भूषण प्रेस, बनारस

ज्ञानोदय

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

सम्पादक

मुनि कान्तिसागर : पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

*

इस अंक में—

*

वार्षिक ६) ※ एक प्रति ।।=)

'ज्ञानोदय'

भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

णमोत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स

वर्ष १ * काशी, दिसम्बर १९४९ * अंक ६

जाति और वेष शरीराश्रित हैं

"पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि।
घित्तुं वंदति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति॥
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि से यंति॥" (कुन्दकुन्द)

मूढ पुरुष बहुत प्रकार के पाखडी वेष और गृहस्थ के वेषों को धारण करके मानते है कि ये वेष ही मोक्षमार्ग हैं। पर ये लिग और वेष मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि अरिहंत की शरीर में ममता नही होती। अतः इन वेषो का आग्रह छोड़कर सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र की उपासना करनी चाहिए।

"जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः॥
जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।
तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः॥" (पूज्यपाद)

जाति देहाश्रित है और देह ही संसार है अतः जिनका जाति—ब्राह्मणत्वादि का आग्रह है वे संसार से नही छूट सकते। जाति और वेष के विकल्प से जो मताग्रह करते हैं वे भी आत्मा का परमपद नही पा सकते।

नीति धर्म और समाज

पं० सुखलालजी संघवी

चींटी के प्रति सूक्ष्मता से ध्यान दिया जाय तो प्रतीत होगा कि वह अकेली नहीं रह सकती। वह किसी के साहचर्य की तलाश करती है। पर उसे चींटें का तो क्या विजातीय चींटी का भी सहचार अनुकूल नहीं जंचता। वह सजातीय के सहचार में ही मस्त रहती है। ऐसे क्षुद्र जन्तु को छोड़ कर दूसरे पक्षी की ओर ध्यान दें। मुर्गे से वियुक्त मुर्गी मयूर के सहचार से भी संतुष्ट नहीं होती। उसे भी स्वजातीय का ही साहचर्य चाहिए। एक बन्दर और एक हरिण ये दोनों स्वजातीय प्राणी के साथ रह कर जितनी प्रसन्नता का अनुभव करेंगे या अपने जीवन को दीर्घायु बना सकेंगे, उतनी मात्रा मे चाहे जितनी सुख सामग्री मिलने पर भी विजातीय के सहचार में प्रसन्न नहीं रह सकेंगे। मनुष्य जाति ने जिस कुत्ते को अपना कर अपना वफादार सेवक और सहचारी बनाया है वह भी दूसरे कुत्ते के अभाव मे असन्तुष्ट ही रहेगा। यही कारण है कि वह दूसरे कुत्ते के प्रति ईर्षा होने पर भी और दूसरे को देख कर प्रारंभ में उससे लड़ कर भी अन्त में तो वह उसके साथ एकरस होकर खिलवाड़ करने लग जाता है। सूक्ष्मजंतु, पक्षी और पशु जाति के इस नियम को हम मनुष्य जाति मे भी देखते है।

पक्षी या पशु को पालतू बनाकर मनुष्य जंगल में अकेला रहने का कितना भी अभ्यास क्यों न करे पर अन्त में उसकी प्रकृति मनुष्य जाति के ही साहचर्य को तलाश करती है। समान रहन-सहन, समान आदतें, समान भाषा और शरीर की समान रचना के कारण सजातीय साहचर्य की तलाश की वृत्ति हम जीवमात्र मे देखते है। फिर भी मनुष्य के सिवाय किसी भी जीववर्ग या देहधारी वर्ग को हम समाज का नाम नहीं देते। वह वर्ग भले ही समुदाय या गण कहा जाय किन्तु समाज होने की पात्रता तो मनुष्य जाति में ही है। और उसका कारण यही है कि मनुष्य में उतनी बुद्धिशक्ति और विवेकशक्ति का बीज है कि वह अपना रहन-सहन, वेषभूषा, भाषा, खान-पान और अन्य संस्कारों का परिवर्तन

कर सकता है, अभ्यास कर सकता है। मनुष्य जब चाहे प्रयत्न से दूसरी भाषा सीख सकता है और उस भाषाभाषी लोगों के साथ सरलता से घुलमिल जाता है। वेशभूषा और खानपान बदल कर या बिना बदले उदारता का अभ्यास करके भिन्न प्रकार के वेशभूषा और खान-पान वाले मनुष्यों के साथ सरलता से बस कर जिंदगी बिता सकता है। दूसरों का जो अच्छा हो उसे लेने में और अपना जो अच्छा हो उसे दूसरों को देने मे सिर्फ मनुष्य प्राणी ही गौरव का अनुभव करता है। भिन्न देश भिन्न रंग और भिन्न संस्कारवाली मानव प्रजा के साथ मात्र मनुष्य ही एकता सिद्ध करके उसे विकसित कर सकता है। इसी शक्ति के कारण मनुष्य का वर्ग समाज नाम के योग्य हुआ है।

मनुष्य जहां कहीं होगा किसी न किसी समाज का अंग हो कर रहेगा। वह जिस समाज का अंग होगा उस समाज के ऊपर उसके अच्छे बुरे संस्कार का असर होगा ही। यदि एक मनुष्य बीड़ी पीता होगा तो वह अपने आसपास के लोगों में बीड़ी की तलप (तड़प) जागरित करके उस व्यसन का वातावरण खड़ा करेगा। अफीम खाने वाला चीनी अपने समाज मे उसीकी रुचि बढ़ावेगा। यदि कोई वस्तुतः शिक्षित होगा तो वह अपने समाज में शिक्षा का वातावरण जाने अन-जाने खड़ा करेगा ही। इसी प्रकार से समस्त समाज मे या उसके अधि-कांश मे जो रस्मे और संस्कार रूढ़ हो गये होते है—चाहे वे इष्ट हों या अनिष्ट, उन रस्मो और संस्कारों से उस समाज के अंगभूत व्यक्ति के लिये मुक्त रहना अशक्य नहीं तो दुःशक्य तो होता ही है। तार या टिकट आफिस मे काम करने वालों मे अगर स्टेशन के कर्मचारियों के बीच में एकाध व्यक्ति ऐसा जाकर रहे जो रिश्वत से नफरत करता हो, इतना ही नहीं किन्तु कितनी ही रिश्वत की लालच उसके सामने क्यों न दिखाई जाय फिर भी जो उसका शिकार बनना न चाहता हो तो ऐसे सच्चे व्यक्ति को शेष सब रिश्वतखोर वर्ग की ओर से बड़ा भारी त्रास होगा। क्योंकि वह स्वयं रिश्वत नहीं लेगा इसका मतलब यह है कि वह स्वभावतः दूसरे रिश्वतखोरों का विरोध करेगा। और इसका फल यह होगा कि दूसरे लोग एक साथ इस प्रयत्न में लग जायंगे कि वह या तो रिश्वत ले ले या उन सबके द्वारा परेशान हो। यदि उक्त सच्चा व्यक्ति असाधारण हिम्मती और बुद्धिमान् न हो तो वह इतना ही करेगा कि दूसरों के रिश्वत लेने पर भी वह तटस्थ रहेगा, विरोध नहीं करेगा। ऐसा होने पर ही उसकी गाड़ी उन सबके बीच में चल सकती है।

इसी न्याय से हमारे देशी आई० सी० एसों को परदेशिओं के बीच बहुत बार बहुत अनिष्ट सहना पड़ता है। ऐसा होने पर भी ऐसे अनिष्टों से समाज को बचाने के लिये समाज के नायक या राजशासन करने वाले कायदा कानून बनाते हैं या नीति नियमों का सृजन करते हैं। किसी समय बड़ी उम्र तक कन्याओं को अविवाहित रखने में अमुक अनिष्ट समाज को प्रतीत हुआ तो स्मृतिशास्त्र में नियम बनाया गया कि आठ या नव वर्ष की कन्या जब तक गौरी हो, शादी कर देना धर्म है। इस नियमका उल्लंघन करनेवाला कन्या का पिता और कन्या दोनों समाज मे निन्दित थे। उस भय से समाज मे बाल लग्न की प्रथा चल पड़ी। और जब इस नीति के अनुसरणों में अधिक अनिष्ट होने लगा तब समाज के नायकों और राजकर्ताओं के लिये दूसरा नियम बनाना आवश्यक हो गया। और अब चौदह या सोलह वर्ष से कम उम्र में कन्या का लग्न कराने वाले शिक्षितों द्वारा की जाने वाली निन्दा से डरते हैं या राज्य के दण्ड-भय से नियम का पालन करते हैं। एक कर्जदार व्यक्ति अपना कर्ज चुकाने के लिये तत्पर रहता है यह इस लिये कि यदि वह कर्ज नहीं चुका देगा तो उसकी शाख–प्रतिष्ठा चली जायगी, और यदि शाख चली गई तब तो कोई उसे कर्ज नहीं देगा और ऐसा होने से उसके व्यापार की हानि होगी। इस तरह यदि देखा जाय तो प्रतीत होगा कि समाज के प्रचलित सभी नियमों का पालन लोग भय या स्वार्थवश करते हैं। यदि किसी कार्य के करने या न करने मे भय या लालच न हो तो उस कार्य को करने या न करने वाले कितने होंगे यह एक बड़ा प्रश्न है। कन्या भी पुत्र के समान संतति ही है, इसलिये उसका भी पुत्र के समान हक्क होना चाहिए ऐसा समझ कर उसे दहेज देनेवाले माता-पिता की अपेक्षा ऐसे मातापिता की संख्या लक्षाधिक मिलेगी जो यही समझ कर दहेज देते हैं कि यदि उचित दहेज नहीं दिया जायगा तो कन्या के लिये अच्छा घर मिलना मुश्किल हो जायगा या प्रतिष्ठा की हानि होने से अपने पुत्रों को अच्छे घर की कन्या नहीं मिलेगी। यही भय या स्वार्थ प्रायः संतान की शिक्षा के विषय में भी कार्य करता है। यही कारण है कि उक्त उद्देश्य की सिद्धि होने पर लड़का या लड़की योग्य होने पर भी उनकी शिक्षा की समाप्ति कर दी जाती है। क्यों कि वह शिक्षा शिक्षा के लिये नहीं दी जाती थी। यही बात कितने ही समाजों के पुनर्लग्न के प्रतिबन्ध के विषय में भी देखी जाती है। जिस समाज में पुनर्लग्न नहीं होते उसमें भी कई स्त्री-पुरुष ऐसा स्पष्ट माननेवाले होते

है कि बलात्कार से वैधव्य यह धर्म नहीं है, फिर भी उनकी छोटी बहन या पुत्री विधवा हो जाती है तब उसकी इच्छा होने पर भी उसका पुनर्लग्न कराने को वे तैयार नहीं होते। प्रायः ऐसा भी होता है कि वे ही उल्टा पुनर्लग्न के विरुद्ध अनिच्छा से भी चौकी करने लग जाते है। बलात्कार से ब्रह्मचर्य की इस नीति के पीछे भय और स्वार्थ को को छोड़कर अन्य कुछ भी हेतु नही होता। गृहस्थ की बात जाने दें। त्यागी या गुरु माने जानेवाले वर्ग की भीतरी बात देखे तब भी प्रतीत होगा कि उनके अधिकांश नीति नियम और व्यवहार भय या स्वार्थ से ही प्रेरित होते है। किसी त्यागी का शिष्य दुराचारी हो जाय या स्वयं गुरु ही भ्रष्ट हो जाय तब उन शिष्यों का वह गुरु, शिष्यों की वृत्ति मे सुधार हुआ है या नहीं यह बिना देखे ही, उन्हे वेशधारी रखने का पूर्ण प्रयत्न करेगा। क्यों कि उसे शिष्यों की भ्रष्टता के कारण अपनी प्रतिष्ठा की हानि का भय है। आचार्य के भ्रष्ट होने पर भी उसके सांप्रदायिक अनुयायी उसे पदभ्रष्ट करने मे हिचकिचाते है इतना ही नही किन्तु इस पर बलात्कार ब्रह्मचर्य थोप देते है। क्यों कि उन्हे अपने सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा की हानि का डर है। पुष्टिमार्गी आचार्य का पुनः पुनः स्नान और जैन धर्म के साधु का सर्वथा अस्नान यह कई बार सामाजिक भय के कारण ही होता है। मौलवी के गीता पाठ मे और पंडित के कुरान पाठ मे भी सामाजिक भय ही प्रायः बाधक होता है। इन सामाजिक नीति नियमों और रीति-रस्मों के पीछे प्रायः भय और स्वार्थ ही होते है। भय और स्वार्थ से अनुष्ठित नीति नियम सर्वथा त्याज्य ही है या सर्वथा निकम्मे ही है या उनके बिना भी चल सकता है यह प्रतिपादन करने का यहा अभिप्राय नहीं है। प्रस्तुत मे इतना ही बताना अभिप्रेत है कि धर्म और नीति मे क्या फर्क है?

जो बन्धन या कर्तव्य भय या स्वार्थमूलक होता है, वह है नीति। किन्तु जो कर्तव्य, भय या स्वार्थमूलक न होकर शुद्ध कर्तव्य के तौर पर ही होता है और जो सिर्फ उसकी योग्यता के ऊपर ही अवलम्बित होता है, वह है धर्म। नीति और धर्म के बीच का यह फर्क तुच्छ नहीं है। यदि हम तनिक गहराई से सोचे तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि नीति समाज के धारण और पुष्टि के लिये आवश्यक होने पर भी उससे समाज का संशोधन नहीं होता। संशोधन अर्थात् शुद्धि, और शुद्धि ही सच्चा विकास है। यदि यह धारणा वास्तविक हो तो ऐसा कहना चाहिए कि वैसा विकास तो धर्म के बिना हो नहीं सकता। जिस समाज में उक्त धर्म का

जितने अंश में अधिक पालन होता हो वह समाज उतने अंश में उच्चतर है। इस वस्तु को स्पष्ट करने के लिये कुछ दृष्टांतों पर विचार किया जाय।

दो व्यक्तिओं को कल्पना मे रखा जाय। उनमे से एक तो टिकट मास्टर है जो अपना हिसाब संपूर्ण सावधानीपूर्वक रखता है और रेलवे विभाग को एक पाई का भी नुकसान न हो इसका ध्यान रखता है वह इसलिये कि यदि भूल हो तो वह दंडित होगा, और नौकरी से ही बरखास्त किया जायगा। इतना सावधान भी वह यदि दूसरा भय न हो तो मुसाफिरों के पास से रिश्वत लेने को चूकता नहीं। किन्तु हमारी कल्पना का दूसरा स्टेशन मास्टर रिश्वत मिलने का और हजम होने का कितना ही अनुकूल प्रसग हो फिर भी वह रिश्वत तो लेता ही नहीं किन्तु रिश्वत-खोरी के वातावरण को भी पसंद नहीं करता। इसी प्रकार एक त्यागी व्यक्ति खुले तौर से पैसे लेने मे और अपने पास रखने मे अकिञ्चन व्रत का भंग मान कर पैसे हाथ मे नहीं लेता और न अपने पास संग्रह करता फिर भी यदि वस्तुतः उसके मन मे आकिञ्चन्य भाव की जागृति नहीं हुई होगी अर्थात् लोभ का संस्कार नष्ट नहीं हुआ होगा तो वह धनिक शिष्यों का संग्रह करके अभिमान करेगा और उससे मानो वह स्वयं धनवान् हो गया हो इस प्रकार दूसरों से अपने को उन्नत मानता हुआ गौरवपूर्ण अपने अहंपन का प्रदर्शन करेगा। जब कि दूसरा यदि वह सच्चा त्यागी होगा तो मालिक बन कर रुपये अपने पास रखेगा ही नहीं और यदि अपने पास हो तब भी उसके मन में तनिक भी न होगा अभिमान या अपने स्वामित्व का गौरव, यद्यपि वह अनेक धनिकों के बीच में रहता होगा, और अनेक धनिक उनकी सेवा करते होंगे फिर भी उसका उसे अभिमान नहीं होगा या उसके कारण अपने को दूसरों से उन्नत भी नहीं मानेगा। इस प्रकार यदि मात्र नैतिक दृष्टि से समाज में त्यागी वर्ग होगा तो परिणामतः वह समाज उन्नत या शुद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि उस समाज में त्यागी के वेश मे भोगों का सेवन इस प्रकार होगा जिससे त्याग का पालन भी माना जाय और भोगों का सेवन भी पुष्ट हो। ऐसी स्थिति में त्यागी वर्ग में गृहस्थों की तरह खुले तौर पर धनसंग्रह की स्पर्धा नहीं होने पर भी दूसरे की अपेक्षा अपने पास अधिक धनिक शिष्यों को फुसला कर समझा कर फंसा कर अपना कर रखने की गूढ़ स्पर्धा तो अवश्य होगी। और ऐसी स्पर्धा में पड़ कर वे जान में या अनजान में समाज की सेवा करने के बजाय कु-सेवा ही अधिक करेंगे। इसके विपरीत समाज में यदि धार्मिक दृष्टि से त्यागीवर्ग होगा तो उसमें न होगी पैसे संग्रह की स्पर्धा

और न होगी धनिक शिष्यों को अपने ही बनाकर रखने की फिक्र। अर्थात् वह शिष्यसंग्रह या शिष्य-परिवार के विषय में अत्यन्त निश्चिन्त होगा और इस प्रकार सिर्फ अपने सामाजिक कर्तव्यों में ही प्रसन्नता का लाभ करेगा। ऐसे वर्ग के दो त्यागिओं के बीच न होगी स्पर्धा या क्लेश। इसी प्रकार जिस समाज में वे रहते होंगे उसमें भी क्लेश का प्रसंग न होगा। इस प्रकार हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि यदि समाज में नैतिक दृष्टि से कितने ही त्यागी क्यों न हों फिर भी उनसे समाज का कल्याण न हो कर अधिक अकल्याण ही होगा। इसके विपरीत किसी समाज में धार्मिक दृष्टि से सिर्फ एक ही त्यागी क्यों न हो फिर भी वह अकेला ही समाज की शुद्धि अत्यधिक मात्रा में करेगा।

एक दूसरा दृष्टान्त ले। एक सन्यासी भोग वासना का आविर्भाव होने पर भी समाज में अपयश के भय से बाह्य रूप से त्यागी रह कर भी अनाचार का सेवन करता रहता है। जब कि दूसरा त्यागी वैसी वासना के प्रकट होने पर यदि वह उसका दमन नहीं कर सकता तो चाहे कितना भी अपयश और तिरस्कार क्यों न हो फिर भी यदि वह स्पष्ट रूप से गृहस्थ हो जाता है तो उस नैतिक दृष्टि से त्यागी की अपेक्षा यह भोगी त्यागी ही समाज की शुद्धि का अधिक रक्षक है। क्योंकि प्रथम ने भय का पराजय नहीं किया जब कि दूसरे ने भय को पराजित करके आन्तर और बाह्य का ऐक्य सिद्ध करके नीति और धर्म दोनों का पालन किया है। इतनी लम्बी चर्चा से यह स्पष्ट हो गया है कि समाज की सच्ची शुद्धि और सच्चे विकास के लिये धर्म की ही अर्थात् निर्भय निःस्वार्थ और ज्ञानपूर्ण कर्तव्य की ही आवश्यकता है। अब हमें देखना यह चाहिए कि विश्व में वर्तमान कौन से पंथ, संप्रदाय या धर्म ऐसे हैं जो यह दावा कर सकते हों कि हमने ही मात्र धर्म की सेवा न करके समाज की अधिक संशुद्धि की है?

इसका उत्तर स्पष्ट है और वह यह कि विश्व में ऐसा एक भी पंथ, संप्रदाय या धर्म नहीं जिसने मात्र धर्म का ही आचरण किया हो और उसके द्वारा समाज की मात्र शुद्धि ही की हो। यदि कोई संप्रदाय या पंथ अपने में होनेवाली कुछ सत्यनिष्ठ धार्मिक व्यक्तियों का निर्देश करके समाज की शुद्धि सिद्ध करने का दावा करता है तो वैसा दावा दूसरा विरोधी पंथ भी तो कर सकता है। क्योंकि प्रत्येक पन्थ में कम या अधिक संख्यक ऐसी सच्ची त्यागी व्यक्तियों के होने का इतिहास हमारे समक्ष मौजूद है। धर्म के तथाकथित बाह्यरूपों के आधार से ही समाज

का नाप निकाल कर किसी पंथ को धार्मिक होने का प्रमाणपत्र तो दिया ही नहीं जा सकता। क्योंकि बाह्य रूपों मे परस्पर इतना विरोध होता है कि यदि उसीके आधार से धार्मिकता का प्रमाणपत्र दिया जाय तो या तो सभी पंथों को धार्मिक कहना होगा या सभी को अधार्मिक।

उदाहरण के तौर पर कोई पंथ मंदिर और मूर्तिपूजा के अपने प्रचार का निर्देश करके ऐसा कहे कि उसने उसके प्रचार के द्वारा जन समाज को ईश्वर को पहचानने मे या उसकी उपासना मे पर्याप्त सहायता देकर समाज में शुद्धि सिद्ध की है तो इसके विपरीत उसका विरोधी दूसरा पंथ ऐसा कहने के लिये तैयार ही है कि उसने भी मंदिर और मूर्ति के ध्वंस के द्वारा समाज में शुद्धि सिद्ध की है क्योंकि मंदिर और मूर्तियों को लेकर जो वहम का साम्राज्य, आलस्य और दंभ की वृद्धि हो रही थी उसे मंदिर और मूर्ति का विरोध करके कुछ मात्रा में रोक ही तो दिया है। एक पंथ जो तीर्थस्थान की महिमा गाता और बढ़ाता हो वह शारीरिक शुद्धि द्वारा मानसिक शुद्धि होती है ऐसी दलील के सहारे अपनी प्रवृत्ति को समाज-कल्याणकारी सिद्ध कर सकता है, जब कि उसका बिरोधी दूसरा पंथ स्नान-नियन्त्रण के अपने कार्य को समाज-कल्याण-कारी साबित करने के लिये ऐसी दलील दे सकता है कि बाह्य स्नान के महत्व मे फंसने वाले लोगों को उस रास्ते से हटा कर आन्तरिक शुद्धि की ओर ले जाने के लिये स्नान का नियन्त्रण करना यही हितावह है। एक पंथ कंठी बँधा कर और दूसरा उसे तुड़वा कर समाजकल्याण का दावा कर सकता है। इस तरह धर्म के बाह्य रूप जो प्राय. परस्पर बिल-कुल विरोधी होते है उनके आधार पर यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि अमुक पंथ ही सच्चा धार्मिक है और उसीने समाज मे सच्ची शुद्धि की है।

फिर क्या ऐसी कोई भूमिका है जो सर्वमान्य हो और जिसके आधार पर निर्विवाद रूप से यह कहा जा सके कि बाह्यरूप कैसा भी क्यों न हो किन्तु यदि वह वस्तु विद्यमान है तो उससे समाज का ऐकान्तिक कल्याण ही होगा, और वह वस्तु जिस पंथ, जाति या व्यक्ति में जितने अंश में ज्यादह होगी उतने अंश मे उस जाति पंथ या व्यक्ति ने समाज का अधिक कल्याण ही किया है? वस्तुतः ऐसी वस्तु है और वह ऊपर की चर्चा से स्पष्ट भी हो गई है। और वह है—निर्भयता, निर्लेपता और विवेक। व्यक्ति या पंथ के जीवन में यह है या नहीं यह अत्यन्त सरलता से जाना जा सकता है। जैसा मानना वैसा ही कहना और कहने से विपरीत नहीं चलना अथवा जैसा करना वैसा ही कहना—यह तत्त्व यदि जीवन में है

तो निर्भयता भी है। ऐसी निर्भयता को धारण करनेवाला कोई नौकर सेठ से डर कर किसी बात को नहीं छुपा लेगा और कैसा भी जोखिम सिर पर लेने को तैयार रहेगा। कोई भी भक्त गृहस्थ अपने बड़प्पन की हानि के भय से धर्मगुरु के सामने अगर कही भी दोषों को छिपाने का अथवा बड़प्पन का मिथ्या दिखावा करने का ढोंग करने के बजाय जो कुछ सच होगा उसे प्रकट कर देगा। कोई भी धर्मगुरु यदि वह निर्भय होगा तो अपना पाप तनिक भी गुप्त नही रखेगा। इसी प्रकार जो निर्लोभ होगा वह अपना जीवन बिलकुल सादा बनावेगा। निर्लोभ पंथ के ऊपर बहुमूल्य कपड़े वा गहने का भार नहीं होगा। यदि किसी पंथ में निर्लेपता होगी तो वह अपनी समग्र शक्तियाँ एकाग्र करके दूसरों की सेवा लेकर ही संतुष्ट नहीं होगा। यदि विवेक होगा तो उस व्यक्ति या पंथ को किसी के साथ क्लेश होने का कोई कारण ही नहीं रहेगा। वह तो अपनी शक्ति और संपत्ति का सदुपयोग करके ही दूसरों के हृदय को जीत लेगा। विवेक जहाँ होता है वहाँ क्लेश होता ही नहीं। जहाँ क्लेश हो वहाँ विवेक होता ही नही। इसी प्रकार मे हम किसी व्यक्ति या पंथ में धर्म है या नहीं यह सरलता से जान सकते है और उक्त कसौटी से जाच कर हम निश्चित कर सकते है कि अमुक व्यक्ति या पंथ समाज के कल्याण के लिये है या नहीं।

ज्ञाति मे महाजन पंच, पथ मे उसके नेता और समस्त प्रजा मे शासन-कर्ता नीति का निर्माण करते है तथा देश कालानुसार उसमे परिवर्तन करते हैं और उसका पालन करवाते है। फिर भी समाज की शुद्धि का कार्य तो अवशिष्ट रह ही जाता है। यह कार्य कोई महाजन, कोई पंडित या कोई राजा सिर्फ अपने पदके कारण सिद्ध नहीं कर सकता। यही कार्य तो मुख्य है, और यही कार्य करना ही तो परमात्मा का सन्देश है। जिस व्यक्ति को इस कार्य की लगन हो उसे दूसरों को उपदेश देने की बजाय अपने जीवन में ही धर्म लाना चाहिए। यदि इसके जीवन मे धर्म का प्रवेश हुआ तो उतने अंश मे उसका जीवन समाज की शुद्धि सिद्ध करेगा, फिर भले ही वह दूसरों को शुद्ध होने का उपदेश वचन या लेखन से न देता हो। समाज की शुद्धि यह जीवन शुद्धि मे समाविष्ट है। और जीवनशुद्धि ही तो धर्म का साध्य है। इसलिये यदि हमें समाज और अपने जीवन को नीरोग रखना है तो स्वयं अपने मे उक्त धर्म है या नहीं, और है तो कितनी मात्रा मे, इसी का निरीक्षण करना चाहिए। धार्मिक माने जानेवाले पर्व के दिनों मे यदि अपना निरीक्षण करने की आदत का अभ्यास किया जाय तो वह सदैव के लिये स्थायी होगी और ऐसा होने से हमारे सामने उपस्थित विशाल समाज और राष्ट्र के घटक के रूप में हमने भी अपना कुछ हिस्सा अदा किया है ऐसा कहा जायगा।

[अनु० प्रो० दलसुख भाई]

स्मृतियाँ

महापंडित राहुल सांकृत्यायन

घुमक्कड़ असंग और निर्लेप रहता है, यद्यपि मानव के प्रति उसके हृदय में अपार स्नेह है। यही अपार स्नेह उसके हृदय मे अनन्त प्रकार की स्मृतियाँ एकत्रित कर देता है। वह कहीं किसी से द्वेष करने के लिये नहीं जाता। ऐसे आदमी के अकारण द्वेष करनेवाले भी कम ही हो सकते हैं, इसलिये उसे हर जगह से मधुर स्मृतियाँ ही जमा करने को मिलती हैं। हो सकता है, तरुणाई के गरम खून या अनुभवहीनता के कारण कहीं घुमक्कड़ किसी के साथ अन्याय कर बैठे, इसके लिये उसे सावधान कर देना आवश्यक है। घुमक्कड़ कभी स्थायी बंधुबांधव को नहीं पा सकता, किंतु जो बंधुबांधव उसे मिलते हैं, उनमें अस्थायी साकार बंधुबांधव ही नहीं बल्कि कितने ही स्थायी निराकार भी होते हैं। यही उसकी स्मृति रहते हैं, जैसे कि साकार बंधुजन। यदि घुमक्कड़ ने अपनी यात्रा में कहीं भी किसी के साथ बुरा किया, तो वह उसकी स्मृति में बैठकर घुमक्कड़ से बदला लेता है। घुमक्कड़ कितना ही चाहता है, कि अपने किये हुये अन्याय और उसके भागी को स्मृति से निकाल दे, किंतु यह उसकी शक्ति से बाहर है। जब कभी उस अत्याचार-भागी व्यक्ति और उस पर किये गये अपने अत्याचार की स्मृति आती है, तो घुमक्कड़ के हृदय में टीस होने लगती है। इसलिये घुमक्कड़ को सदा सावधान रहने की आवश्यकता है, कि वह कभी वैसी उत्पीड़क स्मृति को पैदा न होने दे।

घुमक्कड़ ने यदि किसी के साथ अच्छा वर्ताव, उपकार किया है, चाहे वह उसे मुंह से प्रगट करना कभी नहीं पसन्द करता, किंतु उससे आत्मसंतोष अवश्य होता है। जिन्होंने घुमक्कड़ के ऊपर उपकार किया है, सांत्वना दी है, या संग से प्रसन्न किया है, घुमक्कड़ उन्हें कभी नहीं भूल सकता। कृतज्ञता और कृतवेदिता घुमक्कड़ के स्वभाव में है। वह अपनी कृतज्ञता को वाणी और लेखनी से प्रकट करता है और हृदय में भी उसका अनुस्मरण करता है।

यात्रा में घुमक्कड़ के सामने नित्य नये दृश्य आते रहते हैं। इनके अतिरिक्त खाली घड़ियों में उसके सामने सारे अतीत के दृश्य स्मृति के रूप में प्रकट होते रहते हैं। यह स्मृतियाँ घुमक्कड़ को बड़ी सांत्वना देती हैं। जीवन में जितनी वस्तुओं से वह वंचित रहा, उनकी प्राप्ति यह मधुर स्मृतियाँ कराती हैं। लोगों को याद रखना चाहिये कि घुमक्कड़ एक जगह न ठहर सकने पर भी वह अपने परिचित मित्रों को सदा अपने पास रखता है। घुमक्कड़ कभी लंदन या मास्को के एक बड़े होटल में ठहरा होता है, जहाँ की दुनिया ही बिल्कुल दूसरी है, किंतु वहाँ से उसकी स्मृतियाँ उसे तिब्बत के किसी गाँव में ले जाती है। उस दिन थकामादा एक बड़े डांड़े को पार करके घुमक्कड़ सूर्यास्त के बाद उस गाँव में पहुँचा था। बड़े घरवालों ने उसे रहने की जगह नहीं दी, उन्होंने कोई न कोई बहाना कर दिया। अन्त में वह एक अत्यन्त गरीब के घर में गया। उसे घर भी न कहना चाहिये, किसी पुराने खंडहर को छाछूकर गरीब ने अपने और बच्चों के लिये वह स्थान बना दिया था। गरीब हृदय खोलकर घुमक्कड़ से मिला। घुमक्कड़ सारी रास्ते की तकलीफ भूल गया। गाँववालो का रुखारुख चिरविस्मृत हो गया। उसने उस छोटे परिवार के जीवन और कठिनाई को देखा, तब साथ ही वैसा विशाल हृदय उसने उस गाँव में नहीं पाया था। घुमक्कड़ के पास जो कुछ भी देने लायक था, चलते वक्त उसे उसने उस परिवार को दे दिया, किंतु वह समझता था कि सिर्फ इतने से वह पूरी तौर से कृतज्ञता प्रकट नहीं कर सकता।

घुमक्कड़ के जीवन में वैसी बहुत सी स्मृतियाँ होती हैं। कटु स्मृति यदि घर करके बैठती है, तो अपने किये हुये अन्याय की स्मृति दुस्सह हो उठती है। कृतज्ञता और कृतवेदिता घुमक्कड़ का गुण है। वह जानता है कि हर रोज कितने लोग अकारण ही उसकी सहायता के लिये तैयार हैं और वह उनके लिये कुछ भी नहीं कर सकता। एकबार का परिचित शायद ही दूसरी बार मिलता है। फिर घुमक्कड़ इच्छा रखने पर भी वहाँ दूसरी बार जा ही नहीं पाता। यदि जाता भी है, तो उस समय तक बारह साल का एक युग बीत गया रहता है। उस समय अक्सर उसके अधिकांश परिचित चेहरे दिखलाई नहीं पड़ते, जिन्होंने उसके साथ मीठी मीठी बातें की थीं; हर तरह की सहायता की थी। बारह बरस के के बाद वाणी से भी कृतज्ञता प्रगट करने का उसे अवसर नहीं मिलता। इसके लिये घुमक्कड़ के हृदय में एक मीठी टीस लगती है। उस पुरुष की स्मृति में मिठास होती है और उसके वियोग में टीस।

घुमक्कड़ के हृदय में जीवन की स्मृतियाँ वैसी ही संचित होती रहती हैं, किन्तु अच्छा है वह अपनी डायरी में इन स्मृतियों का उल्लेख करता जाये। कभी यात्रा लिखने की इच्छा होने पर वह स्मृति संचय बहुत काम आती है। अपने काम नहीं आये, तो भी हो सकता है, दूसरे के काम आये। डायरी घुमक्कड़ के लिये उपयोगी चीज है। यदि घुमक्कड़ ने जिस दिन से इस पथ पर पैर रखा उसी दिन से वह डायरी लिखने लगे, तो बहुत अच्छा हो। वैसा न करनेवालों को पीछे पछतावा होता है। घुमक्कड़ का जब कोई घर द्वार नहीं तो साल साल की डायरी कहाँ सुरक्षित रखेगा? यह कोई कठिन बात नहीं है। घुमक्कड़ अपनी यात्रा में ऐतिहासिक महत्त्व की पुस्तकें प्राप्त कर सकता है, चित्रपट या मूर्तियाँ जमा कर सकता है। उसके पास इनके रखने की जगह नहीं, किंतु क्या वैसा करने से वह बाज आ सकता है? वह जमा करके उपयुक्त स्थानों पर भेज देता है। यदि मैं यह समझता कि बेघरबार का होने के कारण क्यों किसी चीज को जमा करूँ, तो मैं समझता हूँ, पीछे मुझे इसका बराबर पछतावा रहता। मैंने तिब्बत में पुराने सुन्दर चित्र खरीदे, हस्तलिखित पुस्तकें जमा कीं, और भी ऐतिहासिक सांस्कृतिक महत्त्व की जो चीजें मिलीं, उन्हें जमा करते समय कभी नहीं ख्याल किया, कि बेघरके आदमी को वैसा करना ठीक नहीं। पहली यात्रा में बाईस खच्चर पुस्तकें, चित्रपट और दूसरी चीजें मैं साथ लाया। मैं जानता था, कि उनका महत्त्व है, और हमारे देश में सुरक्षित रखने का स्थान मिल जायगा। कुछ समय बाद वह चीजें पटना म्यूजियम को दे दीं। अगली यात्राओं में भी जब जब कोई महत्त्वपूर्ण चीज हाथ लगी, मैं लाता रहा। उनमें से किन्हीं को पटना म्यूजियम में दिया किन्हीं को काशी के कला भवन में, और कोई कोई चीजें प्रयाग म्युनिसिपल भवन में भी। व्यक्तियों को वैसी चीजों का देना मुझे कभी पसन्द नहीं रहा। बहुत आग्रह करने पर सिर्फ दो एक ही मित्रों को मैंने वैसी चीजें लाकर दीं। घुमक्कड़ अपनी यात्रा में कितनी ही दिलचस्प चीजें पा सकता है। यदि वह सुरक्षित जगह पर है, तो कोई बात नहीं, यदि अरक्षित जगह पर है तो उन्हें अवश्य सुरक्षित जगह पर पहुँचना घुमक्कड़ का कर्तव्य है। हाँ, यह देखते हुये कि ऐसा करने से घुमक्कड़ पन्थ पर कोई लांछन न लगे।

घुमक्कड़ को इसका भी ख्याल मन में लाना नहीं चाहिये, कि उसने चीजों को इतनी कठिनाई से संग्रह किया, लेकिन लोग उस संग्रह से

उसका नाम हटा देना चाहते हैं। एकबार वैसा देखा गया। एक घुमक्कड़ ने बहुत सी बहुमूल्य वस्तुएँ एक संस्था को दी थीं, संस्था के अधिकारी ने पहले उन चीजों के पास दायक का नाम लिखकर टांगा था, फिर किसी समय उस नाम को हटा दिया गया। घुमक्कड़ के एक साथी को इसका बहुत क्षोभ हुआ, लेकिन घुमक्कड़ को इसका कोई ख्याल नहीं हुआ। उसने कहा–यदि यह चीजे इतनी नगण्य हैं, तो दायक का नाम रहने ही से क्या होता है? और यदि यह बड़े महत्त्व की वस्तुएँ हैं, तो वर्तमान अधिकारियों का वैसा करना केवल उपहासास्पद चेष्टा है, क्योंकि वह महत्त्वपूर्ण वस्तुएं कैसे यहाँ पहुँची, क्या इस बात को अगली पीढ़ियों से छिपाया जा सकता है?

जो भी हो, अपने घुमक्कड़ रहने पर भी घुमक्कड़ को संस्थाओं के लिये जो भी वस्तुएँ संगृहीत हो सकें, उनका संग्रह करना चाहिये। वैसी ही किसी संस्था में वह अपनी साल साल की डायरी को भी रख सकता है। व्यक्ति के ऊपर भरोसा नहीं करना चाहिये। व्यक्ति का क्या ठिकाना है? न जाने कब चल बसे, फिर उसके बाद उत्तराधिकारी इन वस्तुओं का क्या मूल्य समझेंगे? बहुत सी अनमोल निधियों के साथ उत्तराधिकारियों का अत्याचार अविदित नहीं है, विरले ही ध्यान रखते हैं। उस दिन डाक्टर हीरालाल जी के घर कटनी जाने का मौका मिला। ट्रेन दस घंटा बाद मिलने वाली थी, इसलिये डाक्टर साहब का घर देखने चले गये। भारतीय इतिहास पुरातत्त्व के वह महागवेषक और परम अनुरागी अपने जीवन में कितनी ही ऐतिहासिक सामग्री जमा करते रहे। अब भी उनकी जमा की हुई कितनी ही मूर्तियाँ सीमेन्ट के दर्वाजों में मढ़ी लगी थी। उनके निजी पुस्तकालय में बहुत से महत्त्वपूर्ण और कितने ही दुर्लभ ग्रंथ हैं। डाक्टर हीरालाल के भतीजे अपने कीर्तिशाली चचा की चीजों का महत्त्व समझते हैं, वह चाहते थे. कि उन्हें कहीं ऐसी जगह रख दिया जाय, जहाँ वह सुरक्षित रह सकें। उनको कटनी ही की किसी संस्था में रख छोड़ने का मोह था। मैंने कहा–आप इन्हें सागर विश्वविद्यालय को दे दें, वहाँ इन वस्तुओं से पूरा लाभ उठाया जा सकता है, वहीं इन्हें चिरस्थायी सुरक्षित रखा जा सकता है। उन्होंने इस सलाह को पसंद किया। मेरे मित्र डाक्टर जायसवाल अधिक अग्र-सोची थे। उन्होंने तो कानून की पुस्तकें छोड़ अपने सारे पुस्तकालय को हिन्दू विश्वविद्यालय के नाम पहिले ही लिख दिया था। घुमक्कड़ का अपना घर न रहने के कारण इसकी चिंता नहीं करना चाहिये कि

उसके पास धीरे धीरे बड़ा पुस्तकालय या संग्रहालय बन जमा हो जायगा। उसे तो जो भी महत्त्वपूर्ण चीज हाथ लगे उसे सुपात्र संस्था में देते रहना है। सुपात्र संस्था के लिये कोई आवश्यक नहीं है, कि वह घुमक्कड़ की अपनी ही जन्मभूमि की हो। वह जिस देश में भी घूम रहा है, वहाँ की संस्था को दे सकता है। यह बातें इसलिये लिखनी पड़ रही है, कि कभी कभी दुर्लभ वस्तुएँ अरक्षित और उपेक्षित जगह मे पड़ी रहती है, वहाँ न उनका कोई बाजारू मोल होता है और न कला और विज्ञान संबंधी। ऐसी वस्तु को वही छोड़ देना विद्याप्रेम के विरुद्ध होगा।

घुमक्कड़ शास्त्र समाप्त हो रहा है। शास्त्र होने से यह नही समझना चाहिये, कि यह पूर्ण है। कोई भी शास्त्र पहले ही कर्ता के हाथो पूर्णता नहीं प्राप्त करता। जब उस शास्त्र पर वादविवाद, खंडमंडन होतेहैं, तब शास्त्रों में पूर्णता आने लगती है। घुमक्कड़ शास्त्र मे घुमक्कड़ी पन्थ बहुत पुराना है। घुमक्कड़ चर्या मानव के आदिम काल से चली आई है, लेकिन यह शास्त्र जून १९४९ मे पहले नहीं लिखा जा सका। किसी ने इसके महत्त्व को नही समझा। वैसे धार्मिक घुमक्कड के पथ-प्रदर्शन के लिये कितनी ही बाते पहले भी लिखी गई थीं, और उनका सब से प्राचीन सग्रह हमे बौद्धों के प्रातिमोक्षसूत्रों के रूप मे मिलता है। उनका महत्त्व बहुत है और हम कहेंगे कि हरएक घुमक्कड़ को एकबार उनका पारायण अवश्य करना चाहिये। इन सूत्रों का मैंने विनयपिटक में अनुवाद कर दिया है। उनके महत्त्व को मानते हुये भी मै नम्रतापूर्वक कहूंगा कि घुमक्कड़ शास्त्र लिखने का यह पहिला उपक्रम है। यदि हमारे पाठक पाठिकाएँ चाहते है, कि इस शास्त्र की त्रुटियां दूर हो जांये, तो वह अवश्य लेखक के पास उन्हे लिख भेजें। हो सकता है इस शास्त्र को देखकर इससे भी अच्छा सागोपाग ग्रंथ कोई घुमक्कड़ लिख डाले, उसे देखकर इन पंक्तियों के लेखक को बड़ी प्रसन्नता होगी। इस प्रथम प्रयास का अभिप्राय ही यह है, कि अधिक अनुभव तथा क्षमतावाले विचारक इस विषय को उपेक्षित न समझें, और अपनी समर्थ लेखनी को इस पर चलाये। आनेवाली पीढ़ियों मे तो अवश्य कितने ही पुरुष पैदा होंगे, जो अधिक निर्दोष ग्रंथ की रचना कर सकेंगे। उस वक्त प्रयास के लिये लेखक को यह जानकर संतोष होगा, कि यह भार अधिक शक्तिशाली कंधों पर पड़ा।

जयतु जयतु घुमक्कड पथा

कबीर की वाणियाँ

प्रो० शम्भुप्रसाद बहुगुणा

कबीर भारतीय संत परंपरा के जागरूक कर्मयोगी थे। वे दार्शनिक और सूक्ष्म चिन्तक अद्वैतवादी थे। व्यापक विश्वधर्म के सच्चे तपस्वी होने से जीवन व्यवहार में सत्यता और सद्गुणों की आवश्यकता उन्होंने मानी है। भक्ति की दृष्टि से वे नारदीय परंपरा में आते हैं। नारदीय भक्ति का जन्म बदरिकाश्रम में हुआ था जहाँ से वह द्रविड देश में पहुँची। आल्वार संतो ने उसे वहाँ पाला पोसा। बड़ी होकर आचार्यो के द्वारा उसका दार्शनिक प्रसार सारे भारत में हुआ। शंकर, रामानुज, निंबार्क, माधव, चैतन्य, वल्लभ, राघवानंद, रामानंद, तुलसीदास, सूरदास सबने उसके दर्शनों को अपनाया है।

रामानुज (१०३७ ई. ११३७ ई०) की शाखा में चौदहवीं शताब्दी में राघवानंद हुए थे। इनके शिष्य रामानंद (१२९९ ई० १४४८ ई०) ने जो कि गाजीपुर के रहनेवाले थे, रामभक्ति को प्रधानता देकर निर्गुण, सगुण और योग का समन्वय किया। उनके शिष्यों ने अपनी अपनी रुचि के अनुकूल उनसे शिक्षा पाई। और उनके सिद्धान्तों का प्रसार किया। उनकी निरंजनी, निर्गुणी और वैष्णवी सगुण धाराएँ चलीं। वैष्णवी सगुण धारा में मानसकार गोस्वामी तुलसीदास जी, निर्गुणी धारा में कबीर (१३२८-१४४८) आदि हुए। रामानंद के शिष्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने एक पंथ को अपनाते हुए भी दूसरे से मुख नहीं मोड़ा। तुलसीदास जी ने सगुण भक्ति को अपनाया तो निर्गुण को भी महत्त्व दिया।

ज्ञान कहे अज्ञान बिनु, तम बिन कहे प्रकाश।
निर्गुण कहे जो सगुण बिन, सो गुरु तुलसीदास॥

और कबीर ने निर्गुण को प्रधानता देते हुए भी सगुण को स्थान दिया है।

सगुण की सेवा करो, निर्गुण का करि ज्ञान।
सगुण निर्गुण के परे, तहै हमारा ध्यान॥

तुलसी यदि प्राचीन आर्य संस्कृति के संरक्षक रहे है तो कबीर ने उसकी क्षीण होती हुई शक्तियों की रक्षाकर उसे उबारा। सामाजिक परिस्थितियों को आध्यात्मिक जीवन के लिये अनुकूल बनाने में अपना जीवन

लगाया। इसी से 'जातिपाँति पूछे नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई' का उपयोग उन्होंने अपने जीवन में किया और कहा :—

जाति न पूछो मन की पूछे उसका ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान॥

आज का युग संत की जाति भी पूछना चाहता है। संत की जाति वास्तविक रूप में परमात्मा की जाति होती है। कबीर इस जाति के थे यह तो उनके नाम कबीर से ही स्पष्ट है। कबीर शब्द का अर्थ है ईश्वर, कर्मवीर, सत्यप्रेमी, विश्वबन्धु। इस शब्द के साथ अंत में जुड़ा हुआ दास शब्द भी कम महत्त्व का नहीं है। मध्ययुग में यह शब्द प्रेम-भक्ति का प्रतीक रहा है। मध्यकाल के भक्तों में कबीर पहले योगी सन्त हैं जिनका नाम दासान्त है।

सामाजिक दृष्टि से कबीर जुग्गी कुल के जुलाहे थे। मुसलमान परिवार में मगहर में उत्पन्न हुए थे जो कि मगहा से भिन्न है। बनारस गजेटियर, आजमगढ़ जिले के बेलहर को कबीर की जन्मभूमि बतलाता है। कुछ संस्कृत ग्रंथों में वे धान्यपाल वैश्य के पुत्र बतलाये गये हैं किन्तु उनके समसामयिक तथा गुरुभाई संतों ने कबीर को मुसलमान कुल का जुलाहा ही बतलाया है। पीपा, रैदास, सेना, सबने यही बात कही है। सेना ने कबीर की मां को तुरकड़ी और बाप को जुलाहा बताया है। कबीर के समय के विषय में बड़ा मतभेद है—१३९८ ई० से १५३७ ई० के बीच तक उनका समय फैला हुआ है। इतना निश्चित है कि वे पन्द्रहवीं शताब्दी में थे। उनके भी बाल बच्चे थे। वे रामानन्द के शिष्य थे। काशी में उनका जीवन बीता और मृत्यु उनकी अपनी जन्मभूमि मगहर में हुई। कबीर के नाम से जो "वाणियाँ" मिलती है वे सब कबीर की ही है, यह दृढ़ता के साथ नहीं कहा जा सकता। कबीर ने मौखिक रूप में वाणियाँ कहीं, कोई भी उनका संकलन कर सकता था। स्वयं उनके पढ़े लिखे शिष्यों ने अथवा श्रद्धालुओं ने उनकी वाणियाँ लिखी होंगी यह संभव है। हर एक ने अपनी अपनी रुचि के अनुकूल ही संकलन किया होगा। गुरुग्रंथ साहब में भी कबीर की ढाई सौ के करीब वाणियाँ संगृहीत है जो हिन्दी में भी डाक्टर रामकुमार वर्मा ने प्रकाशित की है। किन्तु कबीरपंथी इन्हें प्रामाणिक नहीं मानते यद्यपि इनमें ऐसी पंक्तियाँ भी हैं जो कबीरपंथियों में मान्य कबीर बीजक में भी मिलती हैं।

व्यापारी अपने सौदे की कीमत, मात्रा, श्रेणी दर आदि की सूची माल के साथ भेजते हैं। उससे माल विषयक सब आवश्यक बातों का पता लगता है इसलिये यह बीजक कहलाता है। प्रतिदिन के व्यवहार के इस शब्द अर्थ

संकेत को आध्यात्मिक जीवन के व्यापार के लिये चुन लिया गया है। इसलिए इस क्षेत्र में बीजक वह ग्रंथ है जो आध्यात्मिक क्षेत्र के व्यापार की संकेत सूची बतलाता है।

बीजक के तरह तरह के संस्करण मिलते हैं। और सभी कबीर पंथियों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। भिन्न भिन्न स्थानों की गद्दियों से आये हुए संस्करणों में अंतर होना अस्वाभाविक नहीं, यह अंतर सामग्री भर का नहीं, टीकाओं का भी है। रींवा नरेश विश्वनाथ सिंह, पूरनदास और विचारदास की टीकाएँ अधिक प्रचलित हैं।

बीजक के संकलन के विषय में तरह तरह की किंवदन्तियाँ चलती हैं। पहली किम्वदन्ती है कि कबीर ने जो वाणियाँ काशीराज से कहीं उनका संकलन काशीराज ने करवाया। वह आजकल बड़ा बीजक कहलाता है।

कबीर पंथियों में जिस बीजक का अधिक चलन है उसके विषय में कहा जाता है कि उसका संकलन कबीर के शिष्य भागूदास ने किया था। कहा जाता है कि कबीर के दो शिष्य जग्गूदास और भागूदास थे। जब कबीर का अन्तिम समय आया तो उन्होंने स्वयं बीजक लिखा और उन शिष्यों की माँ को दे दिया। कबीर की मृत्यु के बाद दोनों भाइयों में बीजक के लिये लड़ाई हुई और उनकी माता ने दोनों को आधा आधा भाग दे दिया।

यह भी पता चलता है कि कबीर ने भग्गूदास को बीजक लिखवा दिया था। भग्गूदास उसे लेकर धुनौती गाँव चला गया और वहाँ के महन्तों के अधिकार में बीजक आ गया। बाद को इसी की अनेक प्रतिलिपियाँ हुई।

एक किम्बदन्ती यह भी है कि कबीर ने बीजक की एक प्रति रींवाँ नरेश को दी थी और दूसरी नानक को। नानक को जो प्रति मिली थी उसकी साखियाँ गुरुग्रंथ में १६०५ ई० मे गुरु अर्जुनदेव ने संकलित कीं। जो प्रति रीवा नरेश को मिली थी उसी की एक प्रति कबीर के शिष्य धर्मदास ने सन् १४६४ ई० मे की थी और धर्मदास की प्रति से ही अन्य प्रतियाँ बनीं।

बीजक की भाषा जनवाणी का बहता नीर है, जिसमें मुहावरे, कहावतें, अरबी, फारसी तथा अन्य प्रान्तीय भाषा प्रयोग घुलमिलकर एक हो गये हैं ठीक उसी तरह जिस तरह वे जनजीवन में हो जाते हैं। रमते जोगियों की निर्भीक सत्यता उसमे है। साहित्यिक, कूपजलीय शीतलता, जो कृत्रिम प्रयत्नों से आने पर भी सीमित ही क्षेत्र तक अपना प्रभाव उत्पन्न करती है, उसमें नहीं है। इसी से साहित्यिक जन सरसता, अलंकार, तथा छंदशास्त्रीय त्रुटियाँ पाते हैं। वह प्रयासजन्य नहीं है, निर्झर की भांति झरने वाली है। उसका

मुख्य रूप पूर्वी अवधी का है किन्तु अन्य प्रान्तों की भाषा प्रवृत्तियाँ भी उसमें विद्यमान हैं। वह खड़ी बोली के प्रयोगों को भी अपने में लीन किये है।

उसका व्यापक क्षेत्र है। केवल उच्च वर्ग के पढ़े लिखे लोगों और सवर्णों के घेरे में घिरने वाली संस्कृति की चासनी में उसने अपने को नहीं डुबाया है इसी से वह दलित गलित दीनों को आध्यात्मिक सत्यों का अमृत बाँट पाई है और आज भी उनकी जिह्वाओं पर बोलती है, किन्तु पढ़े लिखे "हम चौड़े बाजार सांगुणे" लोगों ने उससे परहेज किया, आज भी करते हैं, इसी से उनके बीच विष की ज्वाला व्याप्त है और वे कबीर की आचरण साधना से उसी भांति कोई लाभ नहीं उठा सके जिस भांति अपने ही स्वार्थ मे लीन आज के अहंभावी लोग, गाँधी जी की प्रेम वाणियों से लाभ नहीं उठा सके। चंद्रकुवंर ने अपने चारों ओर के साम्प्रदायिक झगड़ों से खिन्न होकर बिलकुल ठीक शब्दों में कबीर को स्मरण किया--

(१)

फिर हे कबीर, श्मशान स्थानो मे, हिन्दू और मुसलमान लड़ते।
फिर हे कबीर, धर्म के नाम पर, निरपराध मनुष्य बलि चढ़ते।
यही धर्म सीखे है तुम्हारे देशवासी!

(२)

अभी भी नही भारत ने तुमको पहिचाना,
हुई तुम्हारी क्या निष्फल, आमरण साधना।
अभी भी उसी विष को भारत वासी पीते,
देव हमारे मानवो का रक्त पी जीते।
वही खून की प्यास धर्म मरुस्थल मे फैली,
आहो मे कर रही सत्य की प्रतिमा मैली।
राम रहीम हो गये है आपस में बैरी,
मंदिर मसजिद में बजती कराल रणभेरी।
तुमने दीपक सा जलकर जो सत्य दिखाया,
ऐक्य गान तुमने जो गा गा अमर बनाया।
तोड़ दिया भारत ने वह ऐक्य भाव का ताना,
हुई तुम्हारी क्या निष्फल आमरण साधना?

(१९३८ ई०)

बीजक में विषय विभाजन के लिये भिन्न भिन्न प्रकार के छंद काम में लाये गये हैं। सबसे पहिले आदि मंगल है। इसमें कबीरपंथ के सिद्धान्तों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

दूसरे भाग में स्वधर्म प्रतिपादन और परधर्म खंडन चौपाई छंद में किया गया है। यह रमैनी कहलाता है।

तीसरे भाग में दार्शनिक विचारों की व्यंजना पदों में की गई है। यह शब्दी कहलाता है।

चौथे भाग में व्यवहार नीति और धर्मनीति के दोहे हैं। ये साखी कहलाते हैं।

पाँचवें भाग में एक एक हिंदी व्यंजन से एक एक पद्य आरंभ किया है। इसमें चौतीस पद्य हैं। इसलिये यह चौतीसा कहलाता है। प्रत्येक वर्ण का आध्यात्मिक अर्थ दिया गया है। मध्यकाल में यह शैली खूब फूली फली। इसका रहस्यमय विस्तार तान्त्रिकों अथवा गणितज्ञों के बीच हुआ।

छठे भाग मे तीस पद्यों में ब्राह्मणों के धार्मिक विचारों तथा कृत्यों पर तीखा प्रहार किया गया है। यह भाग विषय-तीसी कहलाता है।

सातवें भाग मे आध्यात्मिक धार्मिक भजन है जो कहरवा, वसंत, चांचर हिंडोल आदि रागो में लिखे गये है।

अंत में संपूर्ण बीजक का उपसंहार संक्षेप में दिया गया है।

यद्यपि बीजक मे इतना विस्तार है किंतु कबीर की वाणियाँ साखी, शब्दी और रमैनी तीन प्रकार की ही पाई जाती हैं। साखी इस बात की गवाही देती है कि जिसने उसकी रचना की है उसे परमात्मा का साक्षात्कार हो चुका है। हृदय में उद्भूत होने वाले नाद को जो घोषित करते है वे शब्दी कहलाते हैं। आनंद में मन रम गया है इस बात की सूचना देने वाली वाणी रमैनी है।

साखी और शब्दी मूल रूप मे भिन्न नहीं थे। धीरे धीरे उनमे भेद होने लगा और अंत मे उनका विशेष प्रकार के छंदों से संबंध हो गया। इसलिये छोटे पद्य साखी और गेय पद्य शब्द कहलाने लगे। साखी के लिये प्रायः दोहा छंद चुना गया और शब्द के लिये राग, रागिनियाँ। साखियों मे जगत के व्यवहार और पदों में आनंद की अनुभूति का वर्णन दिखलाई देता है किन्तु एक की बाते दूसरे में आने लगीं और वर्ण्य विषय का यह भेद अधिक नहीं रह सका।

साखी और शब्दी एक प्रकार से मुक्तक रचनाये हैं। एक पद और एक साखी की अलग अलग सत्ता है किन्तु रमैनी बड़ी रचना है, जिसमें एक विषय का प्रतिपादन कुछ दूर तक निबंध के रूप में किया गया है।

रमैनी वस्तुतः दोहा, चौपाई का सम्मिलित रूप है। एक रमैनी में कई पद्य होते हैं। इस रूप में दोहा, चौपाई इससे पहिले शुद्ध रूपमें नहीं दिखलाई

देता। चौपाई का ठीक रूप सबसे [1]पहले कबीर में ही दिखलाई देता है। तुलसी उसे परिपक्व रूप में पहुँचा देते है। हो सकता है कि कबीर ने ही इनका आरंभ किया हो। किंतु यह भी असंभव नहीं कि इस प्रकार की रचनायें कबीर की ही नहीं। रमैनी नाम इस सन्देह का कारण है। रमैनी शब्द रामायणी का रूप हो सकता है। और संभव है कि कबीर के नाम से रमैनी किसी ने तुलसी के बाद बनाई हो। पर यह भी संभव है कि कबीर की रचना उस ढंग की देखकर और रामायण की शैली के अनुरूप पाकर बाद के लोगों ने रमैनी नाम रख दिया हो। कबीर की जितनी रचनायें है उनकी विशेषता यह है कि उनमें विचार, अध्ययन, चिन्तन आदि के परिणाम है। किन्तु जिस रूप मे वे प्रकट किये गये है वह रूप सोच विचार कर नहीं रखा गया है। साहित्यिक विचार सोच विचार कर, यत्न करके आवरण पहिनता है। किन्तु कबीर ने कभी भी इसका यत्न नहीं किया कि जो बात कही जाय उसे सौंदर्य पूर्ण ढंग से कहें। ऐसा इसलिये हुआ है कि कबीर ने वाणियां कही है रचनाये नहीं रचीं। उनमें वाणी का विलास उतना ही आया है जितना बिना सोचे विचारे आप ही आप विचारों की गहनता के कारण आ सकता था प्रयत्न के कारण नहीं।

कबीर के नाम की रचनाओं का उद्भव शिष्य और गुरु के वार्तालाप से हुआ है इसलिए उनका वाणी नाम है, जिसका अर्थ उक्ति या कथन भी है। इसलिये कबीर की वाणियों में वह रूप नहीं आने पाया जिसके द्वारा साहित्यिक चमत्कार संभव हो सकता है। साहित्यिक चमत्कार के उद्देश्य से कबीर लिख भी नहीं सकते थे, क्योंकि उनका यह उद्देश्य था ही नहीं। उनका प्रधान उद्देश्य था जीवन में अनुभूत सत्य तत्व को वाणी के द्वारा जन समाज तक पहुँचाना। इसलिये उन्होंने साहित्यिक अलंकरणों का उपयोग किये बिना जो कुछ अपने मे अनुभव किया, सरल ढंग से सीधी सादी भाषा मे व्यक्त कर दिया है। देववाणी को कूपजल और जनवाणी को बहता नीर वे इसी लक्ष्य के कारण कहते है–

'संस्कीरत है कूप जल, भाषा बहता नीर।'

कहा जाता है कि कबीर में "रेत बहुत अधिक है, ढूंढ़ने से बड़ी कठिनाई से कहीं कोई सुवर्ण कण मिल पावेगा" (बलदेव प्रसाद नौटियाल) "उनकी

---

१ अपभ्रंशके महाकवि स्वयंभू की रामायण और पुष्पदन्तके महापुराण तथा पाहुड दोहा आदिमें दोहा और चौपाईका परिष्कृत रूप इससे पहले भी उपलब्ध होता है। स्वयंभू और पुष्पदन्त ९ वीं शताब्दिके विद्वान् कवि है। –सम्पा०

वाणियों के लिये साहित्य के इतिहास के अंतर्गत अपना स्थान ही काव्य साहित्य के अंतर्गत नहीं, काव्य की धारा तो उनमें है ही नहीं" (रामचन्द्र शुक्ल) किन्तु यह भी तो कहा जा सकता है कि मात्र भाषा चमत्कार ही कविता नहीं है, सभी चमत्कारी वस्तुएं सुवर्ण नहीं हुआ करतीं और ऊपर से सिकता-सी दीख पड़ने वाली सभी वस्तुएँ रेत नहीं हुआ करतीं और ऊपर से सिकता-सी दीख पड़ने वाली वस्तु के अन्तर में भी ज्योति हो सकती है। कबीर की कविता और आध्यात्मिक अनुभूति का घनिष्ठ संबंध है। आध्यात्मिक आनंद की गहराई का अनुमान इसी से लगा लिया जाता है कि उसके समक्ष जगत के सारे आनंद तुच्छ हो जाते हैं और अनुभूति की गहराई को छोड़ कर कविता और कोई दूसरी वस्तु नहीं। अनुभूति की गहराई ही कविता के रूप मे परिणत हो जाती है। जितनी गहरी अनुभूति होती है उतनी ही सुन्दर कविता होती है। यही कारण है कि यद्यपि कबीर ने स्वयं काव्य का बाहरी स्वरूप अपनी कविता में लाने का प्रयत्न नहीं किया फिर भी उससे उनकी कविता सर्वथा वंचित नहीं हुई। भाव की स्वाभाविक लपेट मे कभी कभी वे सुन्दर अलंकारों की भी उद्भावना कर बैठे है, जिसके सौंदर्य का साहित्यिकों को भी अनुभव हो सकता है और वे उसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो सकते हैं।

किन्तु कबीर की सब रचनाये ऐसी नहीं हो पाई हैं। इसका भी कारण है। शुद्ध अनुभूतियों को प्रकाश में लाने के अवसर जनसमूह के बीच मे उतने नहीं मिलते जितने कि जन समाज की ओर से उपदेशों को सुनने की अभिलाषा के कारण उपदेश देने के। जहाँ कहीं कबीर शुद्ध उपदेशक अथवा दार्शनिक के रूप मे दिखलाई देते हैं वहाँ उतने ही अंश मे उनकी रचनाओं में काव्य सौंदर्य का अभाव दिखलाई देता है और ऐसे स्थल बहुत अधिक हैं। परन्तु ये स्थल इन अड़चनों के रूप में भी लिये जा सकते हैं जो मनोरम प्राकृतिक सौंदर्य को देखने के लिये दिव्य पर्वत शृंग पर पहुँचने के इच्छुक यात्रियों को उठानी पड़ती है। शृंग पर पहुँच जाने पर चतुर्दिक सौन्दर्य ही सौंदर्य है। यद्यपि इसमें भी संदेह नहीं कि यह सौंदर्य उतनी ही देर तक दिखलाई दे सकता है जितनी देर तक हम शृंग पर हैं। वहाँ से नीचे उतरने पर यह बात नहीं रह जाती। इस प्रकार कविता के दृष्टिकोण से उच्च स्थल कबीर की वाणियों में कम आते हैं। कबीर कवि के रूप में कम, उपदेशक और दार्शनिक के रूप में अधिक आते हैं।

अध्यात्म से संबंध रखने वाले विषयों पर कबीर ने अपनी वाणी का उपयोग किया है। एक प्रकार से उनकी वाणी पथप्रदर्शक का काम करती है

और आनंद के शृंग तक पहुँचनेवाले मार्ग का सूक्ष्म विवरण उसके द्वारा होता है। गुरु कैसा होना चाहिये, किस प्रकार गुरु के बिना पंथ में प्रगति असंभव है, कैसी संगति से गुरु प्राप्त हो सकता है, सत्संग और असत्संग का क्या अभिप्राय है? नाम का महत्त्व, मन मारण, वसुधैव कुटुम्बम् की भावना, काम क्रोध मद मत्सर आदि का त्याग, जगत से विराग आदि विषयों का उसमें वर्णन किया है। ऐसे विषयों में काव्य का आना कुछ कठिन काम है। यद्यपि कबीर का कभी यह उद्देश्य नहीं था कि हम कविता का प्रणयन करेंगे फिर भी वे अपनी इच्छा के विरुद्ध कवि बने बिना न रह सके मानो वाग्देवी ने बलात् ही उनकी जिह्वा पर कविता को ला रखा हो।

कविता मे सरलता का, रिजुता का ध्यान कबीर ने सर्वत्र रखा है। इस बात को अपनी दृष्टि से उन्होंने कभी ओझल नहीं होने दिया कि ऊँची श्रेणी के थोड़े व्यक्तियों के लिये उनकी कविता नहीं लिखी जा रही है। उन्होंने भाषा को बहुत सरल और अपने ढंग की इसीलिए सीधा रखा है। जो बाते जन समूह के जीवन से संबंध नहीं रखतीं उनका प्रयोग अपनी रचना की प्रौढ़ता के बढ़ाने के लिये नहीं किया। सामान्य प्रकृति और जन सामान्य के व्यवहार के क्षेत्र से ही उन्होंने चित्र ढूंढ़े हैं जो उनकी रचनाओं को सुन्दरता प्रदान करनेवाले हुए हैं। कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय, पशुपक्षियों का व्यवहार, वृक्ष, लता इन्हीं सबका उन्होंने अपने विचारों को समझाने के लिये अलंकार की सामग्री के रूप मे उपयोग किया है।

जहां तक विचारों का संबंध है कबीर की बाते कठिनता से समझ में आती है पर उदाहरण सबकी समझ में आ जाते हैं। भाषा के द्वारा जहाँ तक संभव हो सकता था कबीर ने समझाया है पर बिना अनुभूति के उसका ज्ञान नही हो सकता। सामान्यतया माया और ब्रह्म का आनन्द एक साथ नहीं प्राप्त किया जा सकता। ब्रह्म का अनुभव जो कर चुके हैं उन्हे माया के आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। कबीर ने, कठिनता से समझ मे आ सकने वाली इस बात के लिये भी छोटा सा सरल उदाहरण दिया है--

> च्यूँटी चावल ले चली, बिच मे मिल गई दाल।
> कह कबीर दोउ ना मिले, एक ले, दूजी डाल॥

चींटी चावल का दाना उठाती है, आगे चलकर दाल मिलती है। वह दोनों को एक साथ नहीं ले जा सकती। एक को लेकर दूसरे को डाल देना आवश्यक है। इसके विरोध में एक स्थान पर उन्होंने माया और ब्रह्मानुभूति दोनों को साथ भी बताया है—

भेला पाया सरप सो, भव सागर के मांहि।
जो छाड़ों तो डूबयों, गहों तो डसियें जांहि॥

ऐसी स्थिति में क्या हो। ऐसी युक्ति काम में लाये कि सांप भी मर जाय और लाठी भी न टूटे। उसे इस प्रकार पकड़े रहना चाहिये कि वह काट भी न सके और उससे काम भी बन जाय।

माया दासी राम की, ऊभी देय असीस।
विलसी अरु लातों छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस॥

परब्रह्म के निकट जो रहते हैं उनके लिये संसार का सारा ताप नष्ट हो जाता है। कबीर ने कई स्थलों पर शराब की भट्टी से उपमा दी है। बड़े बड़े डेगों को भट्टी में चढ़ा, नालियों से मदिरा उतारने की क्रिया से जगत व्यवहार की उपमा दी जाती है और मदिरा रस को ब्रह्मरस माना है।

कबीर की वाणियो मे हर प्रकार के व्यक्तियों के लिये उनके अनुकूल भावा है। किस प्रकार विनय और दैन्यपूर्वक रहना चाहिये इसका उदाहरण दिया है।

कबीर रोडा होई रहु बाट का, तज मन का अभिमानु।
ऐसा कोई दास होइ, ताहि मिलै भगवानु॥
कबीर रोडा हुआ त किआ हुआ, पथी कउ दुखु देइ।
एसा तेरा दासु है, जिनु धरती महि खेह॥
कबीर खेह हुई तउ किआ हुआ, जो उडि लागे अंग।
हरिजन ऐसा चाहिए जिउ पानी सरवग॥
कबीर पानी हुआ तउ किआ भइअ, सीरा ताता होइ।
हरिजनु ऐसा चाहिये, जैसा हरि ही होइ॥

बाट का रोड़ा चुभता है इसलिये धूल को तर होना चाहिये। पर धूल भी अंग तथा कपड़े खराब करती है इसिलिये जल के समान हो जाओ। पर वह ताता सीरा हो जाता है इसलिये हरि की ही तरह हो जाओ। इसीतरह लुहार, माली, कुम्हार, तेली, मछुए, सूत कातने वाले, लकड़हारे, रखवाले किसान आदि के उदाहरणों से जीवन के गूढ़ तत्त्वों को समझाया है।

कबीर बन की दाधी लाकड़ी, ठाडी करै पुकार
मति बसि परउ लुहार के जारै दूजी बार।
मेरा वीर लुहारिया, तू जिनि जालै मोहि,
इक दिन ऐसा होइगा, हूं जालोंगी तोहि।

घण अहरण बिच लोह ज्यू, घणी ग्रहै सिर चोट,
कबीर केवल राम की तू जिनि छाडे ओट।
मालिन आवत देखि करि, कलिया करी पुकार,
फूले फूले चुणि लिये, आल्हि हमारी बारि।
माटी कहै कुमार सू तू क्यों रोदे मोहि,
इक दिन ऐसा होइगा मैं रोदूगी तोहि।
माटी मलणि कुमार की, घणी सहै सिरि लात,
इहि औसर चेत्या नहीं, चूका अब की घात।
गुरु कुमार सिष कुंभ है, गढि गढि काटै, खोट,
अतर हाथ सहार दै, बाहर बाहे–चोट।
कबीर जउ तुहि साध पिरम की, पक्के सेनी खेलु,
काची सरसउ पेलिकै ना खलि भई न तेलु।
कबीर थोरै जलि माछुली, धीवर मेलिओ जालु,
यह टोघने न छूट सहि, करि करि समुद सभालु।
नान्हा काती चित्त दे, महगे मोल बिकाइ,
गाहक राजा राम है, और न नेडा जाइ।
बाडी आवत देखि करि तरुवर डोलन लाग,
हम कटे की कुछ नहीं, पखेरू घर भाग।
बिन् रखवाले बाहिरा, चिडियै खाया खेत,
आधा प्रधा ऊबरै, चेति सकै तो चेति।

*

गगन घटा घहरानी साधो, गगन घटा घहरानी।
पूरब दिसि से उठी बदरिया, रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन भेड सम्हारो बह्यो जात यह पानी।
मनकै बैल, सुरत चरवाहा, जोत खेत निरबानी।
दुविधा दूब छोलकरु बाहर, बोव नाम की धानी।
जोग जुगति करि करु रखवारी, चरन जाय मृग धानी।
बाली झार कूट घर लावै, सोई कुसल किसानी।
पाच सखी मिल कीन रसोइया, एक ते एक सयानी।
दूनो थार बराबर परसे, जेवें मुनि अरु ज्ञानी।
कहत कबीर सुनो भइ साधो, यह पद है निरबानी।
जो यह पद को परिचै पावै ता को नाम विज्ञानी।

अलंकारों का कबीर ने अन्य प्रकार से भी प्रयोग किया है और ढूंढ़ने पर रस भी उनके काव्य में मिल जाते हैं। दाम्पत्य रस प्रधान रीति से मिलता है।

संयोग और वियोग शृंगारके दोनों अंग भगवत मिलन और विरह के द्योतक होकर आये हैं। किन्तु कबीर साहित्य शास्त्रीय अर्थ में न तो आलंकारिक ही थे और न रस पद्धति के ज्ञाता ही थे।

कबीर ने केवल सत्य का वाहन बनकर जिह्वा का उपयोग किया है। कुछ विद्वानों के अनुसार कविता वह वस्तु है जिसमें तथ्य को बंधन से मुक्ति मिलती है। इस कसौटी पर कबीर की कविता जितनी खरी उतरती है उतनी किसी की नहीं। कबीर की कविता मे यदि तथ्य को मोक्ष नहीं मिला तो वह किसीकी कविता मे संभव नहीं है। दूसरे लोग कविता को हृदय और हृदय का व्यापार मानते हैं। हृदय भाव का उद्गम है। कबीर की यह विशेषता है कि उन्होंने तथ्य को बंधन से मुक्त करने के लिये सत्य को भावना का विषय बनाया है। जो वस्तु नीरस चिन्तकों के ही क्षेत्र में सीमित समझी जाती थी वह समाज के प्रेम का आलंबन हो गई क्योंकि कबीर चाहते थे कि विषय वासनाओं मे जो आसक्ति, मानव हृदय को होती है वही आसक्ति उसे सत्य मे अथवा परमात्मा में हो जाय। इसलिये कबीर ने अपने ढंग से सत्य के क्षेत्र में काव्य के लिये जगह निकाली। जिस काम को दार्शनिक मस्तिष्क से करते हैं उसको उन्होंने जन साधारण के लिये संभव करने के लिये हृदय से कराया। साहित्यिक अर्थ में कबीर पढ़े लिखे नहीं थे लेकिन अंतःप्रेरणा की तीव्रता और तीव्र अनुभूतियों की ओजस्वी सत्यता ने, न चाहते पर भी उन्हें कवि बना दिया।

संसार के प्राचीन पुस्तकालय

प्रो० शारदा प्रसाद वर्मा

चाल्डिया, बेबिलोनिया और असीरिया के प्राचीन पुस्तकालय–

प्राचीनकाल से पुस्तकालय मानव-जीवनरूपी जहाज के प्रकाशस्तंभ माने गये हैं। वे किसी भी देश की सभ्यता, संस्कृति और सामाजिक जीवन के उत्प्रेरक और प्रतीक समझे जाते हैं। भूतकाल मे उन्होंने देश के जीवन की काया पलट की, ज्ञान की ज्योति जलाकर अज्ञानान्धकार दूर किया और इस प्रकार मानवता को पल्लवित और पुष्पित करके मानव के नैतिक स्तर को ऊँचा करने में भारी सहायता पहुँचाई।

यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है कि भारतीय सभ्यता सब से प्राचीन है और वह संसार की सभी सभ्यताओं और संस्कृतियों की जननी है। इसीलिये मैक्समूलर ने एक स्थान मे ठीक ही कहा है कि ऋग्वेद संसार के पुस्तकालयों में सब से प्राचीन पुस्तक है।

भारतीय सभ्यता के बाद दूसरी सभ्यताओं ने पदार्पण किया, पर उन सब पर आर्य सभ्यता की स्पष्ट छाप पड़ी। उनके बहुत से रीति-रिवाज भारतीय ओढ़नी ओढ़े हुए हैं। वैदिक सभ्यता के पश्चात् चाल्डिया व मेसोपोटामिया, बेबिलोनिया और असीरिया की सभ्यताओं ने अपने पैर जमाये। चाल्डिया की सभ्यता दस हजार वर्ष पुरानी मानी जाती है। प्रस्तुत लेख में इन्हीं देशों की सभ्यता और पुस्तकालयों के विषय में संक्षेप मे चर्चा की जावेगी।

ऐसा कहा जाता है कि अति प्राचीन काल मे आर्य लोग धनलोलुप दगाबाज वैश्य व वणिक् को पणिक कहते थे। ये पणिक आर्यों द्वारा आर्यावर्त से निकाले गये और इसलिये वे दक्षिण भारत में जाकर बस गये। इन्होंने आगे चलकर चोल और पाण्ड्य प्रदेश बसाए, जो कि अभीतक मद्रास प्रान्त में वर्तमान है। चूँकि ये बहुत बड़े कुशल व्यापारी थे और जहाज बनाने की कला में निपुण थे, इन्होंने भूमध्यसागरीय चाल्डिया, बेबिलोनिया और असीरिया आदि प्रदेशों में अपना व्यापार बढ़ाया और धीरे धीरे वहाँ जाकर बस गए और वहाँ पर अपना आधिपत्य जमा लिया। बेबिलोनिया में वायु देवता 'मर्तु' है जो कि वैदिक संस्कृत शब्द 'मरुत्'

का अपभ्रंश है[1]। दूसरे राजनिघण्टु में लिखा है कि "वैशस्तु व्यवहर्त्ता विट् वार्तिकः पणिको वणिक्" अर्थात् व्यवहर्त्ता, विट्, वार्तिक, पणिक और वणिक् वैश्य के भेद है। श्रीलोकमान्य तिलक के कथनानुसार वैदिक 'मना' शब्द अर्थात् मन (चालीस सेर का वजन) बेबिलोनियन भाषा में मिन कहलाता है। इसके अतिरिक्त चाल्डियन और असीरियन भाषाओं के कई शब्द संस्कृत से मिलते जुलते है। जैसे–

संस्कृत	चाल्डियन	अर्थ
अप्सु	अब्जु	पानी
तैमात	तिआयत	देवता
उरुगुला	उरुगुल	देवता

*

संस्कृत	असीरियन	अर्थ
अलिगीविल्गी	विलगी	सर्प देवता
परसु	बलगु	शस्त्र

यहाँ तक कि चाल्डिया की "डैल्यूज टेबलेट" की कथा मनु के तूफान से बिल्कुल मिलती जुलती है। बेबिलोनिया मे 'सूरिआस', देवता का वर्णन पाया जाता है जो कि संस्कृत सूर्या शब्द का अपभ्रंश है। वहाँ सूर्यपूजा का प्रचार था और कई सूर्य-मंदिर भी थे।

बेबिलोनिया की एक बहुत पुरानी फेहरिस्त में सिन्धु नामक मलमल का नाम आता है जो कि संस्कृत भाषा का शब्द है। इन सब बातों से स्पष्ट प्रकट होता है कि चोल और पाण्ड्य जातियाँ इन बातों को भारत से उन प्रदेशों मे ले गईं और वहाँ उनका प्रसार किया। बेबिलोन के दक्षिण मे टीलाह नामक स्थान से कई मूर्तियाँ निकली है। ये ईसासे चार सौ वर्ष पहले की है और उनमें भारतीयत्व है। उनकी खोपड़ियाँ दक्षिण भारत के निवासियों से समानता रखती है। हाबल महोदय ने, अपनी पुस्तक 'आर्यों की आरंभकाल की राजशैली' में लिखा है कि मैसिपोटामिया में वहाँ के लोग वैदिक देवता इन्द्र मित्र वरुण को मानते थे। मतानी का राजा जो बाबल तक शासन करता था, वह आर्यवंश का दशरथ नाम का व्यक्ति था। महोदय हरनरवर्थ ने अपनी पुस्तक 'भारत मे इतिहास' मे लिखा है कि गङ्गा के नीचे की घाटियों के लोग ईसा से दोहजार वर्ष पूर्व मेसोपोटामिया के साथ व्यापार का घनिष्ठ संबंध रखते थे। अभी हाल में मेसोपोटामिया के पुराने मकानों की खुदाई से मिट्टी की पकी

---

१ हिस्टारिकल हिस्ट्री आफ दि वर्ल्ड।

हुई लिखित ईंटें मिली हैं और इनमें मितानी और हिट्टाई राजाओं का लिखा इकरारनामा प्राप्त हुआ है, जिसमें इन्द्र, वरुण, मित्र और नासत्य आदि वैदिक देवताओं के नाम लिखे हुए हैं। मोहेन्जोदरो की खुदाई से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि सिन्धु तट की सभ्यता मेसोपोटामिया सभ्यता से मेल खाती है।

असीरिया में भी आर्यों का ही निवास था। ए० बेरीडेल कीथ ने अपनी पुस्तक 'दि अर्ली हिस्ट्री आफ् इन्डो इरेनियन्स्' में सुवरदत्त, जशदत्त और सुबन्धि आदि राजाओं के नामों से इस बात को सिद्ध किया है कि वे आर्य ही थे। दूसरे आर्य लोग इन देशों के निवासियों को असुर कहा करते थे। इसीलिये वहाँ के प्रसिद्ध राजा असुर नासिरपाल और असुर वाणीपाल के नाम इस बात की पुष्टि करते हैं। राजा असुर वाणीपाल पुस्तकालय का महान् प्रेमी था और इसने काऊयुनजिक के विशाल सार्वजनिक पुस्तकालय की स्थापना की थी। पोकाक महोदय 'यूनान में भारत' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि तमाम असीरिया की राजधानी में हिन्दूधर्म फैला हुआ था। असीरिया का पहला राजा बली था जो कि कम्बोडिया से लेकर यूनान तक राज्य करता था। पुरातत्त्ववेत्ता ए० घोष का कथन है कि द्राविड़ी और सुमेरियन लोगों की भाषा, वेष मूर्तियाँ और चालढाल में समानता पाई जाती है। चाल्डिया, बेबिलोन और असीरिया में पुस्तकालयों और संग्रहलयों के जाल बिछे हुए थे और इन्हें इन प्रदेशों के राजा बहुत प्रोत्साहन देते थे। पुस्तकाध्यक्षों का समाज में बड़ा मान था।

अब उक्त देशों के प्राचीन पुस्तकालयों का वर्णन करना प्रसंगानुकूल जान पड़ता है।

प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्वविभाग की खोजों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि चाल्डिया, बेबिलोनिया और असीरिया के प्राचीन राजाओं और सम्राटों ने अपने अपने राजमहलों में अपने अपने शासन का विवरण, और साथ ही साथ शिलालेखों और दीवालों में तख्तियों के रूप में अपने समय का इतिहास भी खुदवा कर अच्छी तरह सुरक्षित रखा था। इसके सिवाय मेसोपोटामिया में बहुत प्राचीनकाल से ज्योतिषविद्या का अधिक प्रचार था और यहाँ तक कि धर्म में उसका पूरी तरह प्रवेश हो चुका था। अतः वहाँ के पुरोहित प्रायः ज्योतिर्विद् हुआ करते थे। वहाँ के देवस्थानों में वेधशालाएँ हुआ करती थीं और साथ ही साथ पुस्तकालय भी। जहाँ पर प्राचीन राजवंशों के इतिहास शासन, धर्म और ज्योतिष

संबंधी ग्रन्थ और साहित्य सुरक्षित किया जाता था। प्राचीन समय में शिक्षा और पुस्तकालयों के अभाव में चाल्डिया आदि देशों में सांप्रदायिकता की सनक, कट्टरता की कड़क, प्राचीनता की पिनक, घोर अशान्ति, असभ्यता, निरक्षरता, दुःख, नैराश्य, अंधकार और दरिद्रता का साम्राज्य स्थापित था। परन्तु ज्यों ही वहाँ के राजाओं और जनता ने शिक्षा और पुस्तकालय के महत्त्व को समझा, त्यों ही उक्त दोषों का निराकरण होने लगा और उक्त देशों मे दोनों के सहयोग से शिक्षा का प्रसार होने लगा और पुस्तकालयों के जाल से बिछ गए। एक पुरातत्त्ववेत्ता सयेन का कहना है कि प्राचीन काल मे उक्त देशों में राजाओं द्वारा सार्वजनिक पुस्तकालय खोले गए और वे आम जनता के हित व उपयोग के लिये स्थापित किए गए। वैसे तो इन देशों मे अनेकों छोटे मोटे पुस्तकालय थे; परन्तु उनमें से मुख्य स्थानों के मुख्य पुस्तकालय ये थे:—काऊयुनजिक, नैन्वा, किश, पेन्तीबिबला, कल्लातशिरकात, कुता, बोरसिप्पा, अगदा, उर कलनेह और निप्पुर आदि। इसके अतिरिक्त इन पुस्तकालयों के अध्यक्षों को अच्छा वेतन और मान मिलता था।

काऊयुनजिक का पुस्तकालय—

मैसोपोटामिया के इस प्रसिद्ध सार्वजनिक पुस्तकालय की स्थापना राजा असुर वाणीपाल ने की थी। इस राजा की पुस्तकालय के प्रति विशेष अभिरुचि थी। उसने अन्य देशों से भिन्न भिन्न विषयों की महत्वपूर्ण पुस्तकें अपने पुस्तकालय मे मँगवा कर संगृहीत की थीं और प्रजा के हितार्थ उनका बहुजन भाषा मे अनुवाद भी करवा दिया था। प्रतिवर्ष नई नई पुस्तकें मँगवा कर वह अपने पुस्तकालय की संवृद्धि करता था। उसके पुस्तकालय मे लगभग बीस हजार भिन्न भिन्न विषयों की पुस्तकों का नंबर पहुँच चुका था। इस राजा के अतिरिक्त टिग्लाथ, पिलेसर द्वितीय, सारगोन द्वितीय और इसारहेद्दनाति राजाओं ने पुस्तकालय-प्रसार-आंदोलन मे सक्रिय भाग लिया था और उस दिशा मे काफी उन्नति कर दिखाई थी। चाल्डियन भाषा की पुस्तकें ९—६॥ इंच की मिट्टी के तख्तों के रूप मे रहा करती थीं और वे क्यूनिफार्म लिपि में लिखी हुई रहती थीं। सन् १८४५ ई० मे लेयार्ड और सन् १८७० ई० में जार्जस्मिथ ने इन पुस्तकों की अनुक्रमणिका तैय्यार की थी जो कि अभीतक बृटिश म्यूजियम में सुरक्षित है। भिन्न भिन्न विषयों पर लिखी हुई पुस्तकों का इस प्रकार क्रम था—असीरियन व बेबिलियन व्याकरण का विश्वकोष, भौगोलिक

कोष, असीरिया और बेबिलोनिया देशों की इतिहास संबंधी पुस्तकें, वैयक्तिक अधिकार संबंधी पुस्तकें, देश मे प्रचलित व्यक्तिवाचक नामों की सूची, प्राचीन गाथा, पूजा व ग्राम गीतों का संग्रह इत्यादि।

नैन्वा का प्रसिद्ध पुस्तकालय–

राजा सारगोन द्वितीय के राजत्वकाल मे नैन्वा का पुस्तकालय बहुत फला और फूला। परन्तु नैन्वा के पतन के पश्चात् उक्त पुस्तकालय को काफी धक्का पहुँचा। उस पुस्तकालय के मुख्य पुस्तकाध्यक्ष का नाम नेबोजुकुम-चुकिन था। उस पुस्तकालय में कृषि, फलित ज्योतिष, ईश्वर-भजन, मंत्रविद्या, शासन, इतिहास, राजनियम, प्राणिशास्त्र, काव्य और औषधि संबंधी पुस्तकों का अपूर्व संग्रह था। इसके सिवाय देवताओं की लीलाओं का इतिहास, देवप्रार्थना और मंत्र संबंधी पुस्तकों की भी भरमार थी। असीरियन जाति इस पुस्तकालय से पूर्णतया परिचित थी। बेबिलोनियन सष्टि उत्पत्ति और जल–प्रलय संबंधी कथा वैदिक धर्म ग्रन्थों की गाथाओं से पूरी तरह मेल खाती थीं।

किश का पुस्तकालय–

किशनगर वर्तमान बगदाद के दक्षिणी भाग में बसा हुआ था। यहाँ पर एक विशाल पुस्तकालय था। इसका समय ईसासे दो हजार वर्ष पूर्व कूता जाता है। प्रो० लेंग्डम ने बड़े परिश्रम से इसकी खुदाई की थी और खुदाई में उन्हे उक्त पुस्तकालय के बीस कमरो का पता चला था। इस पुस्तकालय मे व्याकरण, टीकाएँ और अन्य साहित्य संबंधी पुस्तकों का अच्छा संग्रह था।

पेन्तीबिबला का पुस्तकालय–

इस पुस्तकालय के जन्मदाता चाल्डिया के राजा अमीलन तृतीय थे। सिप्परा नामक स्थान मे एक बहुत बड़ा पुस्तकालय था और पेन्तीबिबला का प्राचीन नगर बहुत सी पुस्तकों का घर समझा जाता था। चाल्डियन धर्म साहित्य में शतपथ ब्राह्मण में कथित मनु के तूफान के समान कथा पाई जाती है। पुरातत्त्ववेत्ता रेसम ने सिप्परा में स्थित देवस्थानीय पुस्तकालय की खुदाई की और खुदाई में उन्हे मृत्तिका की तख्तियों के रूप में सिलसिलेवार जमी हुई पुस्तके प्राप्त हुई और साथ ही साथ एक स्कूल पुस्तकालय का भी पता चला। इस पुस्तकालय मे ऐसी पुस्तक

पाई गई जिनमें हेम्मूरबि राजा के स्वर्णयुग का विवरण है और इस बात का भी उल्लेख है कि उस समय सूर्य पूजा का अधिक प्रचार था और सूर्यमंदिरों का अधिक निर्माण हुआ था। दूसरे वैदिक देवताओं को माना जाता था। राजा हेम्मूरबि के राजत्वकाल में अनेकों पुस्तकालयों की स्थापना हुई थी और आम जनता की पुस्तकालय के प्रति विशेष अभिरुचि पाई जाती थी।

कलात शिरकात का पुस्तकालय—

कलात शिरकात मे प्राचीन पुस्तकालय स्थित था। इस पुस्तकालय में संगृहीत तख्ती के रूप में लिखी हुई एक पुस्तक मे आत्मा की अमरता का उल्लेख है। दूसरे बेबिलोनिया के बेंकरों का रोचक इतिहास भी मिलता है। बेबिलोन के अंतिम राजा नेबीनिउसे ने जो ५५५–५३९ ई० पूर्व वर्तमान था, कई सूर्यमंदिरों और पुस्तकालयों का पुनरुद्धार किया था। शुरुप्पका के अनेकों निजी पुस्तकालयों का उल्लेख भी पाया जाता है।

कुता, बोरसिप्पा और अगदा के पुस्तकालय—

कुता मे एक बड़ा पुस्तकालय था। यहाँ पर पाई जानेवाली पुस्तकों मे सृष्टि उत्पत्ति और राक्षसों के युद्ध की कथाएँ हिन्दू पुराणों की कथाओ के सदृश पाई जाती है और ऐसे देवों व मनुष्यों का भी विवरण पाया जाता है कि जिनके शरीर के कुछ हिस्से की बनावट पशु के समान और कुछ हिस्सों की बनावट पक्षी के समान थी। बाल के देवस्थान मे बोरसिप्पा का विशाल पुस्तकालय था। सारगोन राजा ने अगदा के बहुत प्राचीन पुस्तकालय की स्थापना की थी। सारगोन प्रथम एशिया महाद्वीप के पुस्तकालयों का जन्मदाता माना जाता है। इस सारगोन के पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष का नाम इब्नीसस था और जिसकी नमूनेदार सील मोहर अभीतक पेरिस के पुस्तकालय मे सुरक्षित है। इसी पुस्तकालय में संगृहीत पुस्तकों की सहायता से 'नमेरबिली' नामक महान् फलित ज्योतिष विश्वकोष की रचना हुई थी। यह विशाल विश्वकोष बहत्तर भागों में विभाजित था। बेरिसस ने ग्रीक भाषा मे इसका अनुवाद किया था। इस पुस्तकालय का सूचीपत्र व अनुक्रमणिका अभी तक पाई जाती है, जिसमें पुस्तकालय की व्यवस्था संबंधी नियमों का अच्छा विवरण दिया गया है। वर्तमान काल के पुस्तकालयों ने इसी पुस्तकालय से अधिक प्रेरणाएँ प्राप्त की है।

इरेच का प्रसिद्ध पुस्तकालय–

राजा टिग्लाथ पाइलसर का प्रसिद्ध पुस्तकालय इरेच में था। सारगोन द्वितीय ने इस पुस्तकालय की अच्छी संवृद्धि की। इस पुस्तकालय में इसी राजा की प्रेरणा द्वारा अकाडियन महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के सीरियन भाषा में अनुवाद रखे गए। जादू और मंत्रविद्या की बहुत सी सामग्री इसी पुस्तकालय से प्राप्त की गई। काऊयुनजिक और नैन्वा के पुस्तकालयों ने भी इस पुस्तकालय से कई दिशाओं मे प्रेरणाएँ लीं।

उर का पुस्तकालय–

अब्राहम ने इस पुस्तकालय से बहुत सी शिक्षा प्राप्त की। ईसाई और हिंदू धर्म उर पुस्तकालय के अधिक ऋणी है; कारण कि इन धर्मों ने धार्मिक जगत् मे इस पुस्तकालय से बहुत सी प्रेरणाएँ ली है। स्मिथ ने काऊयुनजिक के पुस्तकालय की एक तख्ती के बारे मे लिखा है कि वह उर के प्राचीन पुस्तकालय से प्राप्त हुई है। राजा हेम्मूरबि महान्ने उर पुस्तकालय की कई पुस्तकें बेबीलोन के पुस्तकालय मे स्थानान्तरित की थीं।

कलनेह और निप्पुर के पुस्तकालय–

कलनेह अनू देवता का किला माना जाता है। इकुल अनू के देवस्थान मे यह पुस्तकालय स्थित था। ओएनेस देवता की कथा इस प्रकार है कि उसका आधा शरीर मनुष्य का और आधा शरीर मछली का था। निप्पुर के पुस्तकालय में गणित, राजवंश और वायु-चक्र संबंधी तख्तियाँ मिली हैं। यहाँ पर कई स्कूल पुस्तकालय थे, जिनमे गणित, वर्णमाला, लेखनपद्धति और अन्य साहित्य संबंधी अच्छा मसाला मिट्टी की तख्तियों मे मिलता है। यहाँ के पुस्तकाध्यक्ष को अच्छा वेतन मिलता था और उसका पद बहुत आदरणीय माना जाता था। यूरोप के कई पुस्तकालयों ने यहाँ के पुस्तकालय से बहुत कुछ प्रेरणाएँ प्राप्त की हे।

अस्तु, इस प्रकार हम देखते है कि उपरोक्त देशों के इन पुस्तकालयों ने देश की महान् सेवाएँ कीं, उनको ऊँचा उठाया, अज्ञानान्धकार को मार भगाया, ज्ञान का दीपक जलाया, जहालत की जांघ तोड़ी, धार्मिक रुढ़ियों का उत्पाटन किया, सामाजिक जीवन में जान फूँकी, अंध विश्वास का किला बुद्धि की बारूद और अक्ल की आग से ढाया, सुसंस्कृति का प्रसार किया और आत्मा को आँजने, मस्तिष्क को माँजने, हृदय को हरा भरा करने मे भारी सहायता पहुँचाई।

जैसलमेर के ज्ञानभंडार

श्री अगरचन्द और भंवरलाल नाहटा

जैसलमेर राजस्थान के प्राचीन राज्यों में एक है। राजधानी के रूप में उसकी आयु अपेक्षाकृत सबसे दीर्घ है। ८०० वर्षों से जैसलमेर राज्य की स्थापना से लेकर अबतक यह नगर उस राज्य की राजधानी है।

जैसलमेर नगर का वक्षस्थल आज भी सोने की तरह चमकने वाले पीले सुदृढ़ पाषाण की कलापूर्ण सुन्दर हवेलियों और देवस्थानों की अलंकृति से शोभायमान है। जैसलमेर नगर प्राकृतिक सौंदर्य में किसी तरह कम नहीं है। उभय लघु पहाड़ियों से परिवृत नगर और दुर्ग का सौंदर्य गढ़-सीसर तालाब से खिल उठता है। जैसलमेर के आसपास लगभग ५०० तालाब होंगे, पर वर्षा तीसरे वर्ष होती है। जिस साल वर्षा होती है—पानी की बहुलता ही रहती है क्योंकि पथरीली भूमि में संचित पीने का पानी ३ वर्ष के लिये पर्याप्त होता है। खेतीबाड़ी और सिंचाई के जल की कमी के कारण ही तो दुष्काल का सदर मुकाम जैसलमेर ही कहलाता है। निम्नोक्त दोहा प्रसिद्ध है—

पग पूगल धड़ मेड़ते, बाहा बाहड़मेर।
भूल्यो चूक्यो बीकपुर, ठावौ जैसलमेर ॥

पानी की दुर्लभता की कहानी कभी कभी जैसलमेर राज्य मे चरितार्थ होती है। यहाँ घृत और ऊन का प्रधान व्यापार है। मुगल काल का दुर्गम और सुरक्षित स्थान जैसलमेर आज पाकिस्तान की सीमा पर है इसलिये भी उसका महत्त्व कम नहीं है। यदि सरकार वहाँ साधन सुलभ करने का बीड़ा उठावे तो वहाँ का उत्कर्ष कठिन नहीं। पाषाण वहाँ का इतना सुन्दर, सुदृढ़, और रंग बिरंगा है कि ओप का काम देखते ही बनता है। सुदूर निष्पन्न पनड़ी उस शुष्क प्रदेश में जाकर अपनी सुगन्ध खिलाती है। नगर के बाहर अवस्थित बीवों—सतियों आदि के विभिन्न शैली के स्मारक चलते फिरते मानव से संख्या में अधिक होते हुए भी वहाँ की आठ शताब्दियों की कहानी मूक शब्दों मे सुनाते हैं।

१०० वर्ष पूर्व जैसलमेर अपनी जाहोजलाली मे किसी तरह न्यून नहीं था। सुप्रसिद्ध पटवों—बाफणों का घराना यहीं से उदयपुर, कोटा रतलाम, झालरापाटण आदि स्थानों में व्यापार विस्तार कर उन्नति के शिखर पर

आरूढ़ हुआ था। राजपूताने की सभी रियासतों में इनका प्रभाव था। जैसलमेर की सुप्रसिद्ध पटवों की हवेलियाँ और अमरसागर के नंदनवन सदृश स्थान में शिल्प स्थापत्य की अनुपम कृति से उनके पुण्यकार्यों में किये लाखों करोड़ों के सद्व्यय की कथा पढ़ सकते हैं। सं० १८९१ में जिनने शत्रुंजय का विशाल यात्री संघ निकाला था जो ६६ पंक्तियों के राजस्थानी भाषा के विस्तृत शिलालेख में वर्णित है, आज उन्हींकी पाँच पाँच सात सात मंजिली हवेलियों में चमगादड़ों का साम्राज्य है।

जैसलमेर के साथ जैनों का संबंध बहुत प्राचीन है, जो यथा संभव इस राज्य की पुरानी राजधानी लौद्रवपुर से चला आ रहा है। जब राजधानी का परिवर्तन हुआ, जैन लोग भी यहाँ आकर बस गये। लौद्रवपुर संबंधी प्राचीन उल्लेख अद्यावधि प्रकाश मे नहीं आये। सं० १२८५ मे खरतर गच्छाचार्य श्री जिनेश्वर सूरि जी की आज्ञा से पूर्णभद्रगणि ने श्री सर्वदेवाचार्य के साथ यहाँ चातुर्मास कर तपसि शुक्ला १० को धन्य शालिभद्र चरित्र काव्य की रचना की थी। इस रियासत के विक्रमपुर का संबंध युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि जी से पूर्वका चला आता है। उन्होंने यहाँ वीर जिनालय की प्रतिष्ठा करवायी थी। उनके पट्टधर मणिधारी श्री जिनचन्द्र सूरि जी की तो यह जन्मभूमि ही थी।

जैसलमेर का सर्वाधिक महत्त्व तो वहाँ के प्रशस्त शिल्प स्थापत्य कलापूर्ण जैन मन्दिरों व तत्र स्थित ज्ञानभंडारों से है। महाकवि समयसुन्दर के वाक्य "जैसलमेर जुहारिये, दुख वारिये रे अरिहंत बिम्ब अनेक, तीरथ ते नमुं रे" प्रसिद्ध है। आज भी वहाँ हजारों छोटी बड़ी अरहंत प्रतिमायें विराजमान है। ज्ञान भंडारों के ताड़पत्रीय ग्रंथ तो विश्वविश्रुत है। इन्हीं दो कारणों से आकृष्ट होकर प्रतिवर्ष सैकड़ों भक्त, साहित्यप्रेमी व जैन मुनिराज अत्यन्त कष्ट सहन करके भी यात्रार्थ आते हैं।

अत्रस्थ मन्दिरों का सचित्र ऐतिहासिक परिचय अभिलेखों के साथ स्वर्गीय पुरातत्त्व प्रेमी बाबू पूरणचन्द्र जी नाहर अपने जैन लेख संग्रह तृतीय खंड द्वारा सं० १९८९ में प्रकाशित कर चुके हैं। जैन ज्ञानभंडारों के ताड़पत्रीय एवं कतिपय कागज के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का परिचय "जैसलमेर भाण्डागारीय ग्रंथानां सूची" द्वारा स्वर्गीय चिमनलाल दलाल एवं पं० लालचन्द्र भगवानदास गाँधी ने सं० १९९३ में साहित्य संसार को करवाया था। वह ग्रंथ अनेक नवीन ज्ञातव्य बातों से युक्त एवं महत्त्वपूर्ण होते हुए भी जैसा चाहिये नहीं हो सका। वहाँ किसी सुयोग्य विद्वान के महीनों रहकर पुनरवलोकन की आवश्यकता अपेक्षित थी।

सं० १९९९ में श्री हरिसागर सूरि जी के जैसलमेर विराजने का सुयोग पाकर हमने तत्रस्थ ज्ञानभण्डारों के निरीक्षण की चिरअभिलषित आकांक्षा को सफल किया। वहाँ हमने २१-२२ दिन रह कर ७ ज्ञानभंडारों का अवलोकन किया इनमें से ३ भंडार इतःपूर्व किसी भी अधिकारी विद्वान् ने देखे ही नहीं थे। हमने बड़ बड़े ज्ञानभंडार को छोड़कर अवशिष्ट ६ ज्ञानभंडारों की प्रतियों को देख डाला पर बड़े ज्ञानभंडार की प्रतियां थीं अधिक, ट्रस्टी लोग समय कम देते थे एवं उसकी ताड़पत्रीय ग्रंथों की सूची भी स्वर्गीय चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने तथा कागज की प्रतियों की सूची यति श्री लक्ष्मीचन्द्र जी की बनाई हुई होने से हमने इस भंडार के खास खास ग्रंथों को ही देखा था। हमारे लौटने के बाद पुरातत्त्वाचार्य मुनि जिनविजय जी वहाँ पधारे उनने पाँच महीने तक कई विद्वानों व लेखकों के साथ वहाँ जमकर महत्त्वपूर्ण कार्य किया। हम वहाँ के बड़े ज्ञानभंडार की प्रतियों की सूची से मिलान व उनका अच्छी तरह से अवलोकन न कर सके थे तथा लोकागच्छ के ज्ञानभंडार को भी खुलवा नहीं सके थे। वह कार्य मुनि जी के द्वारा चारुतया संपन्न हुआ।

इस प्रकार अब जैसलमेर के ज्ञानभंडारों का व्यवस्थित अवलोकन हो चुका है। हमने प्राचीन ऐतिहासिक भाषा कृतियों की व प्रशस्त्यादि की नकलें कीं तथा अप्रकाशित प्रतिमालेख उतारे। हम से पूर्व साराभाई मणिलाल नवाब ने भी मन्दिरों के फोटो लेने व अप्रसिद्ध अभिलेख संग्रह करने का कार्य किया था। हमने उनके अभिलेख संग्रह के अधूरे कार्य को पूर्ण किया। मुनि जीने लगभग २०० बड़े छोटे ग्रंथों की प्रतिलिपि करवाने के साथ साथ विशिष्ट तड़पत्रीय प्रतियों के फोटो भी लिये थे जिनमे से कुछ 'भारतीय विद्या' भाग ३ में उन्होंने अपने यात्रावर्णन के साथ प्रकाशित किये हैं।

भारतवर्ष के ताडपत्रीय प्राचीन जैन ज्ञानभंडारों मे पाटण के पश्चात् जैसलमेर का स्थान है। पर कागज एवं ताड़पत्रीय प्रतियों में सबसे प्राचीन प्रतियों को सुरक्षित रखने का गौरव जैसलमेर को ही है। मुनि जी के निरीक्षणानुसार विशेषावश्यक भाष्य की ताड़पत्रीय प्रति अद्यावधि उपलब्ध समस्त जैन ताड़पत्रीय प्रतियों से प्राचीन है एवं संवत् १२१२ से २३ के मध्य में लिखित ध्वन्यालोकलोचन की प्रति कागज की प्रतियों में सर्वप्राचीन है। केवल जैन ग्रंथ ही नहीं शांकर भाष्य सह भगवद् गीता आदि अनेक जैनेतर ग्रंथों की प्राचीनतम ताड़पत्रीय प्रतियां यहाँ के बड़े ज्ञानभंडार में विद्यमान हैं। अत्रस्थ सचित्र काष्ठपट्टिकाएँ भी चित्रकला रंग की ताजगी व इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान हैं। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि

यहाँ के ४ ज्ञान मंदिर राजस्थान की अमूल्य निधि है। अब यहाँ के ज्ञान भंडारों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) श्री जिनभद्रसूरि ज्ञानभंडार—यह बड़े ज्ञानभंडार के नाम से प्रसिद्ध है। यह जैसलमेर दुर्गस्थित श्री संभवनाथ जिनालय के भूमिगृह में सुरक्षित एक गुफा के सदृश स्थान में अवस्थित है, जहाँ अन्धकार व्याप्त रहता है और चमगादड़ों का प्राचुर्य है। पत्थर की बनी हुई अलमारियों में ताड़पत्रीय प्रतियाँ वेष्टन से बंधी हुई रक्षित है। स्व. दलाल महोदय के निरीक्षणानुसार यहाँ की ताड़पत्रीय प्रतियाँ ३४७ है पर मुनि जी के मिलान पर १० प्रतियाँ और मिली है। कई प्रतियाँ स्व० दलाल ने त्रुटित लिखकर छोड़ दी थीं जिनके नामादि भी कुछ मुनिजी ने व कुछ हमने नोट किये है। ज्ञान भंडार के संरक्षक इनकी महत्त्वपूर्ण सुरक्षा के प्रति सचेष्ट नहीं रहे। अतः सैकड़ों प्रतियाँ स्थानान्तर हो गईं, नष्ट एवं त्रुटित हो गईं।

यह भंडार प्रधानतया खरतर गच्छाचार्य श्री जिनभद्रसूरि जी द्वारा संस्थापित है। उनके द्वारा कागज पर लिखवायी हुईं सैकड़ों प्रतियाँ आज भी इस भंडार मे विद्यमान है। मुसलमानों के कठोर शासन में जैसलमेर को सुरक्षित समझ कर आचार्य जी ने अन्य स्थानों से ताड़पत्रीय प्रतियों को लाकर इस भंडार में सुरक्षित किया था, इसीलिए इस भंडार का दूसरा नाम श्री जिन-भद्रसूरि ज्ञानभंडार भी है। श्रुतभक्ति और साहित्य की रक्षा में इन प्रातः स्मरणीय आचार्य जी का नाम सर्वोपरि है। इन्होंने पाटण, खंभात, जालौर, देवगिरि, नागौर इत्यादि सात स्थानों में हजारों प्रतियाँ लिखवाकर ज्ञानभंडार स्थापित किये थे।

अत्रस्थ ताड़पत्रीय प्रतियों का निरीक्षण करने के लिये डा० बूलर एवं डा० हरमन जैकोबी सन् १८७४ में यहाँ पधारे थे। सन् १९०४ में एस. रा. भंडारकर भी पधारे थे। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में इनका विवरण भी प्रका-शित किया है। वि० सं० १९५० मे मुनि हंसविजय जी ने यहाँ चातुर्मास कर बहुत से महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ करवाई थीं जो आज भी बड़ौदा स्थित उनके ज्ञानभंडार में संरक्षित है। जैन श्वे० कान्फ्रेन्स की ओर से सं० १९६१-६२ में पं० हीरालाल हंसराज यहाँ के ज्ञानभंडारों की सूची बनाने के लिये पधारे थे। आपने २२०० प्रतियों की सूची बनाई थी। खेद है कि आपकी सूची में निर्दिष्ट कई प्रतियाँ आज यहाँ नहीं मिलतीं। सन् १९१५ में श्री दलाल महोदय ने यहाँ के भंडारों का निरीक्षण कर सूची बनाई थी। इस प्रकार सन् १८७४ से जैसलमेर के ज्ञानभंडार विद्वानों का ध्यान बराबर अपनी ओर आकर्षित कर रहे है।

सं० १९८२ में खरतर गच्छाचार्य श्री जिनकृपाचन्द्र सूरि जी ने इस भंडार के जीर्णोद्धार का कार्य प्रारंभ किया। यद्यपि द्रव्याभाव के कारण वह पूरा तो न हो सका फिर भी बहुत सी ताड़पत्रीय प्रतियों की प्रतिलिपियाँ करवा कर इसी ज्ञानभंडार में रखी गईं एवं कतिपय ग्रंथों के फोटो भी लिये गये थे। कुछ ग्रंथ प्रेस कापी के रूप में लिखे जाकर मुद्रणयंत्रालय में भी जा चढ़े जिससे एक की हजार प्रतियाँ हो गयीं। इस प्रकार हमारे प्राचीन साहित्य के आयुष्य में अभिवृद्धि हुई।

खरतर गच्छ की बगड़ शाखा का यहाँ सैकड़ों वर्ष तक अच्छा प्रभाव रहा था पर २०वीं शताब्दी में उनकी परंपरा का विच्छेद हो जाने से उनका भंडार भी इसी बड़े ज्ञान भंडार में सम्मिलित कर दिया गया। पर समुचित व्यवस्था के अभाव में बहुत सी प्रतियाँ त्रुटित हो गई हैं। बगड़ गच्छ की कतिपय प्रतियाँ यति डूंगरसी जी के भंडार में भी हमारे अवलोकन में आई हैं। कागज एवं ताड़पत्रीय सर्वप्राचीन प्रतियों की सत्तावाले इस भंडार में पड़े हुए अस्तव्यस्त पत्रों को सुव्यवस्थित करना परमावश्यक है। जैसलमेर दुर्ग पर यही एक ज्ञानभंडार है, अवशिष्ट सब नगर में अवस्थित हैं।

(२–३) बड़ा उपाश्रय के भंडार—खरतर गच्छ के बड़े उपाश्रय में दो ज्ञानभंडार सुरक्षित हैं। प्रथम यतिवर्य वृद्धिचन्द्र जी की गुरुपरंपरा का संग्रह एवं द्वितीय खरतर गच्छ पंचायती भंडार। दूसरे भण्डार में १४ ताड़पत्रीय प्रतियाँ हैं। दो एक प्रतियों के काष्ठफलक चित्रकला की दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखते हैं। उनका रंग इतना ताजा है कि ५००–६०० वर्ष प्राचीन होने पर भी आज का सा बना प्रतीत होता है। कागज की प्रतियों में सं० १५६२ मे लिखित कल्पसूत्र की सचित्र रौप्याक्षरी प्रति, सं० १४३७ की स्वाध्याय पुस्तिका एवं कतिपय अन्यत्र अप्राप्य ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। सं० १८३८ मे वा० श्री अमृतधर्म जी एवं उनके शिष्य सुप्रसिद्ध श्री क्षमाकल्याण जी गणि न बहुत सी प्रतिये इस ज्ञानभण्डार में रखी थीं।

(४) डूंगरसी जी का ज्ञानभण्डार—यति श्री बेल जी की गुरुपरम्परा के उपाश्रय का यह संग्रह भी महत्त्वपूर्ण है। उदयविलास (ले० जिनोदयसूरि) सूयगडांग, कल्पसूत्रादि के कई बालावबोध एवं कतिपय रासादि अन्यत्र अप्राप्य ग्रन्थ भंडार में सुरक्षित हैं।

(५) थाहरु साह का भण्डार—सत्रहवीं शती के उत्तरार्ध में यहाँ भणसाली थाहरु एक प्रसिद्ध जैन श्रावक हुए हैं जिन्होंने शत्रुंजय का संघ निकाला और लौद्रव पार्श्वनाथ मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। इन्होंने बहुत से पुण्यकार्यों के साथ साथ इस ज्ञानभण्डार की स्थापना करके अपनी श्रुतभक्ति का अच्छा

परिचय दिया था। उन्होंने सं० १६६९ से सं० १६८४ तक १५ वर्ष पर्यन्त बहुत सी प्रतियाँ लिखवाकर विद्वानों के द्वारा संशोधित करवायी थीं। थाहरु साह स्वयं बड़े विद्वान् थे। वहाँ की प्रतियों में प्रायः ऐसा उल्लेख "थाहरु साहेन संशोधितम्" आता है।

(६) खरतराचार्यगच्छ भण्डार---यह ज्ञानभण्डार आचार्य शाखा के उपाश्रय में है जहाँ ताला लगा कर दीवाल खड़ी हुई थी। हमने उसे तुड़वाकर अवलोकन किया। यहाँ ६ ताड़पत्रीय प्रतियां एवं कई बंडल कागजपर लिखित प्रतियाँ विद्यमान हैं।

इसी उपाश्रय में यति चुन्नीलाल जी के भी कई बण्डल ग्रन्थ सुरक्षित हैं।

(७) तपागच्छ ज्ञान भण्डार---तपागच्छ के उपाश्रय में दो ज्ञानभण्डार हैं, एक प्राचीन सुप्रसिद्ध एवं दूसरा यति जी का संग्रह है। पुरानें ज्ञानभण्डार में ताड़पत्रीय प्रतियाँ एवं कई प्राचीन सुन्दर प्रतियाँ हैं। अबतक यही प्रसिद्धि मे था। हमने इसके अतिरिक्त एक अलग कमरे मे पड़े हुए यति जी के संग्रह का भी निरीक्षण किया।

उपर्युक्त ७ ज्ञान भण्डारों की नव्य ज्ञात ताड़पत्रीय प्रतियों का परिचय हमने अनेकान्त वर्ष ८ किरण १ में, प्रकाशित किया था, एवं अन्यत्र अप्राप्य ग्रंथों की सूची जैन सत्यप्रकाश मे प्रकाशित की थी।

(८) लौंकागच्छ भण्डार---यह भण्डार हम नहीं देख सके पर श्री जिनविजय जी के पधारने पर श्री हरिसागर सूरि जी के प्रयत्न से खोला गया। यहाँ ५ ताड़पत्रीय प्रतियाँ एवं कई बण्डल कागज के ग्रंथ भी हैं जिनकी हरिसागर सूरि जी महाराज ने सूची बनाई है।

इनके अतिरिक्त जब हम वहाँ गये तो कतिपय बंडल उपाश्रय मे पड़े थे। उनका भी निरीक्षण किया। पर उनका अलग उल्लेख यहाँ इसलिये नहीं किया संभवतः वे बड़े ज्ञानभण्डार में रख दिए होंगे। इन ज्ञानभंडारों में सब मिलाकर लगभग ४०० ताड़पत्रीय ग्रंथ व १०००० कागज पर लिखी प्रतियाँ हैं। राजस्थानी भाषा की भी सैकड़ों अन्यत्र अप्राप्य रचनाये है जिनकी सूची भी जैन सत्यप्रकाश में प्रकाशित हैं। संक्षेप में यही ज्ञानभंडारों का परिचय है अब भी इनके उद्धार की आवश्यकता बनी हुई है।

विश्व-मानव : एक अध्ययन

प्रो० ठाकुर प्रसाद सिंह

'विश्वमानव' के प्रकाशन[1] के साथ कवि श्री रामावतार 'अरुण' ने अपने साहित्यकार के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ किया है। शकुन्तला की बिदाई, विद्यापति और सूरश्याम के कवि ने अपनी कला-तूलिका के लिए इस बार नेहरू जी को चुना है। नेहरू जी को अपनी कविता का विषय बनाने का तात्पर्य यह होता है कि रचनाकार या समीक्षक उस सम्पूर्ण परम्परा को अपनी पटभूमि (Canvos) के रूप में स्वीकार करने जा रहा है, जिसका निघंटु नेहरू का व्यक्तित्व है या जो एक छायावादी कवि के वर्ण्य विषय की तरह सूक्ष्म कल्पना सरणि के प्रकाश में प्रतिष्ठित होती रहती है। स्पष्ट है कि नेहरू का व्यक्तित्व न तो गान्धी जी की सीमारेखाओं मे सीमित है और न कांग्रेस के कागजी उद्देश्य ही उसकी व्याख्या कर सकते हैं। कारण इसका है कि नेहरू जी ने राजनीति को, देश को या परम्परा को एक ऐकान्तिक कवि के कोण से देखा है। जनरव के कर्ण-भेदी अस्तित्व मे भी उनका मन सब से ऊंचा—इतना ऊंचा उठता रहा है जहां से वह जनता अपनी स्थानीय विशालता के कारण महत्त्वपूर्ण न रहकर पूरे विश्व की एक इकाई होने के कारण अत्यावश्यक हो जाती रही है। इसी कारण विशालता से प्रभावित रोमान्टिक नेहरू आवश्यकता की यथार्थता तक बढ़ते रहे हैं। नेहरू जी पिछली पीढ़ी के उन जनता-वादियों मे से नहीं रहे हैं जिनके लिए जनता आंधी है, तूफान है, प्रलय है पर जिसमे निर्माण करने की शक्ति नहीं है। जो उफान की भावुकता में डूबते रहे हैं पर जिन्हे यह नहीं पता कि जनता के वे हाथ कहां हैं जिनसे वह निर्माण करती है, वे पैर कहां हैं जिनसे वह रास्ता बनाती है और उसका वह हृदय कहां है जिससे वह अनुभव करती है। 'भारतमाता की जय' का अर्थ नेहरू जी के यहां किसी मातृरूप की जय नहीं था। वे सम्पूर्ण भावुकता और उल्लास के पीछे दधीचि की अस्थियों की कठोरता की आवश्यकता पर विश्वास करने वाले रहे हैं।

---

१ प्रकाशक—किरणकुंज समस्तीपुर।

कवि श्री अरुण की तूलिका की पकड़ में यही पं० नेहरू आते हैं। हम विश्वमानव की पंक्तियों में से ही वे रेखाएँ ढूंढ़ेंगे जिनसे कवि का वांछित चित्र सम्मुख उपस्थित हो जाय। प्रारम्भ में ही कवि 'स्वर्ण संकेत' की भूमिका में कहता है :—

इतिहास हो रहा जिसकी
अन्तर आभा से आलोकित

*

कितनी विशाल अभिलाषा उसके दिल में
ले रही रात-दिन बार-बार अगड़ाई।

*

मानव का बन्धन खुला नहीं था अबतक
हे महामनुज! तुम खोल रहे हो बन्धन

यह स्पष्ट ही उस विश्वमानव की विशालता का एक मूल्यांकन है पर उसमें तटस्थता की जगह आत्मविभोर मन का समर्पण ही ध्वनित होता है। कवि की यह भावना एक एक पंक्ति में गहन से गहनतर होती गयी है। पूरब और पश्चिम की सन्धि गंगा और टेम्स का मिलन कहकर कवि किपलिंग की 'द ईस्ट इज द ईस्ट एण्ड द वेस्ट इज द वेस्ट' की घोषणा को निरर्थक सिद्ध करता है। इस धारणा की स्थापना के पहले यदि रवीन्द्र और गान्धी का सत्याग्रह के पहले वाला विवाद भी देख लिया गया होता तो बात और भी गम्भीर हो गयी होती। 'समुद्र के पार' बैठकर 'भारत की खोज' कराने का कवि का प्रयत्न जहां प्रभाव की दृष्टि से उचित है वहीं स्थान की दृष्टि से कुछ पहले हो गया है। इसके पश्चात् 'आलोक-दर्शन' सर्ग मे जाकर फिर से नेहरू के चित्र की कुछ सशक्त रेखाएँ मिलती हैं :—

पौरुष जाग्रत हुआ तुम्हारा
निकली शैल-स्वप्न से धारा

*

आलोकित कर रहा भूमि को
उफनाता सा गान तुम्हारा

*

इतना है आकुल मन प्यासा
हे यौवन उद्दाम।
चिन्ता की बदली में कोई
विद्युत-गान सुनाता

संघर्ष में रत आत्मा के चित्रों की एक परम्परा हम इस आलोकदर्शन तथा परिवर्तन में देखते हैं। कवि की दृष्टि जेल के सींकचों में घिरे नेहरू जी की चिन्तित मूर्ति पर लग गयी है। साथ ही–

देहरादून के जेलद्वार से
कौन हिमालय को निहार
करता आकुल मन को विमुग्ध
रे, बार बार !

के समय प्रकृति का निरन्तर मुसकाता चित्र भी आँखों से ओझल नहीं होता :–

हिम से आच्छादित शैलशिखर
ढल रहे गीत से बिखर बिखर

और तभी सुधि के दीपक की लौ पर कमला की मुसकान छा जाती है। कमला और जवाहर की मानसिक स्थितियों के चित्रण में कवि ने जितना आत्मसमर्पण दिखाया है उतना पूरी पुस्तक भर में कहीं नहीं दीखता। सूरश्याम के कवि का गीतात्मक व्यक्तित्व इस वस्तु से जितना परितुष्ट हुआ है उतना जवाहर के यशगान से भी नहीं हुआ है। मैं इसे कवि की कमजोरी मानता हूँ पर इस सन्तुलन-हीनता के दोषी तो सूरदास जी भी थे। एक ही आंख सब कुछ नहीं देख सकती और एक ही हृदय सब कुछ नहीं ग्रहण कर सकता। पटभूमि बड़ी करके तथा नेहरू ऐसा चरित्र पाकर भी अरुण जी ने अपना पहले का गीतात्मक रूप सुरक्षित रखा है। यही कारण है कि नेहरू से अधिक प्रकाश 'कमला' पर पड़ गया है, रचना प्रबन्ध की जगह मुक्तक हो गयी है और गीति-तत्त्व सब कहीं ऊपर आ गया है। पूरी पुस्तक में न तो कोई कथा है न तो कोई सूत्र है। भारत माता का वर्णन, कमला का रूप चित्रण आदि सब स्वतंत्र रचनाएँ हैं। महात्माजी की मृत्यु एक अलग रचना है और अन्त का भरतवाक्य तो नेहरू की जगह कवि का स्वप्न होकर रह गया है। 'सत्य की ओर' में पुनः हम नेहरू जी की प्रशस्ति का वही पिछला रूप देखते हैं और केवल दो पेज के इस सर्ग को सर्ग न कहकर एक स्वतंत्र कविता ही कहने की इच्छा होती है।

किन्तु वह सब तभी कहने की आवश्यकता पड़ेगी जब कि रचना को प्रबन्ध कहा जाय। अन्यथा विश्वमानव का कविता-तत्त्व इधर की प्रकाशित सभी रचनाओं से कहीं अधिक ओजस्वी और झंकार युक्त है। 'कमला' के ऊपर लिखे गये गीतोंकी चर्चा अलग से की जानी चाहिए। यहां इतना

ही कहा जा सकता है कि वैसा चित्रण इस समय के भारतीय साहित्य में दुर्लभ है। काश्मीर कन्या की यह उक्ति कितनी मोहक है :–

मैं किसी के विमल उर की
एक पुलकित बाँसुरी हूँ !
तान में मुसकान आती
गान पर सपने बुलाती
मैं किसी के व्योम-पथ पर
चन्द्र मधु छवि रस भरी हूँ !

*

और उसका यह रूप :–

पीले गुलाब की डाली पर
तुम निन उलझा जाती हो मन

*

तुम जुही वीथिका पर सोयी
चाँदनीमयी छवि प्रीति भरी !

बिहार के इस उगते नक्षत्र की ओर विशेष ध्यान से तो हम प्रारम्भ से ही देखते रहे हैं किन्तु अब जब यह नक्षत्र ऊंचाई तक चढ़ चुका है तब नयी पीढ़ी से यही कहना है कि वह रास्ते पर चलते समय इसे देखती रहे। गीतात्मक व्यक्तित्व वाले इस कवि से हमें बहुत आशा है।

दो गीत

माँ

माँ मेरा आँचल सुन्दर फूलों से भर दे !

खिलूं निर्जन बन में एकाकी,
ऐसा हे माँ मुझको तू वर दे !
माँ मेरा आँचल फूलो से भर दे !

उनमें इतनी मनहरता हो जो
सौरभ सुरभित बन को कर दे
माँ मेरा आँचल फूलो से भर दे !
चू पडे कभी वे धरती तल पर
उमगा मिट्टी पत्थर को भी दे
माँ मेरा आँचल फूलो से भर दे !

मन्द मलय पवन जब आये
वे अंग-अग को तब मुस्का दें
माँ मेरा आँचल फूलो से भर दे !
मै मर जाऊँगी रोते गाते ही
पर पराग उनका बिखरा दे
माँ मेरा आँचल फूलो से भर दे ।

मुझमे है रस आनन्द नही
पर इनको मधु से भर जाने दे
माँ मेरा आँचल फूलो से भर दे !

मैं

(१)

मै प्राची की मधुर पहली रेखा
मुझको है सन्ध्या की चाह नही ।
जगा कुसुमो को कोमल स्पर्शों से
पुलकित किसलय को कर जाऊँगी
जल थल को दे मृदु चेतनता,
मै हँसती आई, हँसती ही जाऊँगी
मै प्राची की मधुर पहली रेखा
मुझको है सन्ध्या की चाह नही ।

(२)

मैं निर्झर की बहती धारा, मुझको
है विस्तृत सागर की चाह नही
सिंचित कर गिरि शिखरों को
मै हिम को हँसता ही पाऊँगी
मिल निर्जन में सरिता जल से
उसको जल-प्लावित कर जाऊँगी
मै निर्झर की बहती धारा मुझको
है विस्तृत सागर की चाह नही ।

(३)

मै पावन गिरि शिखरो से उतरी
मुझको है पापों की थाह नही
इधर उधर बिखरे फूलों को
प्राणो से भर जीवन दे जाऊँगी
युग युग के प्यासे उन अधरों की
मै अपने जल से प्यास बुझाऊँगी
मै पावन गिरि शिखरो से उतरी
मुझको है पापो की थाह नही

(४)

मै पावन निरभ्र नभ-सी पावन
देखी मैंने शूलों की राह नही
स्नेह जल कण मे कर शृंगार
मैं पाषाणो को चीर चली जाऊँगी
नित नन्हे नन्हे गीतो से मै
चचल नदियो को बहलाऊँगी
मै पावन निरभ्र नभसी पावन
देखी मैंने शूलो की राह नही ।

—डॉ० बिनी० एम० एच० एच०

क्या कहानी कह सकोगे ?

आज जीवन-सिन्धु में, तूफान भारी आ रहा है।
और यह भीषण प्रभंजन, प्रलय गीत सुना रहा है।
वीचियों के साथ में क्या वह सकोगे ?
क्या कहानी कह सकोगे ?

आज कलिका देख लो, रवि उदय में मुरझा रही है।
और मधु ऋतु देखकर, पिक अश्रुधार बहा रही है।
क्या हृदय-पाषाण बन यह सह सकोगे ? सह सकोगे ?
क्या कहानी कह सकोगे ?

भूलते ही जा रहे जब, जग नयन तुमको हृदय से।
अनसुने हा ! हो रहे हैं, गीत जो गाए सुलय से।
फिर किसी के याद बनकर रह सकोगे ?
क्या कहानी कह सकोगे ?

—श्रीचन्द्र एम० ए०

तुम पाषाणों पर पढ़ लेते युग युग का इतिहास

(१)

धूमर साँझ डगर सूनी सी
उजड़ा यह वन प्रान्त,
तुम भूले से भटक रहे हो
एकाकी उद्भ्रान्त;
तुम हो मौन भग्न भवनों में
दीख रहे तल्लीन
किस रस को तुम खोज रहे हो
बन कर प्यासे मीन ?

(२)

तुम पाषाणों पर पढ़ लेते
युग-युग का इतिहास
तुम पतझड़ में देख रहे हो
फूलों का उल्लास;
तुम आँधी पर तूफानों पर
मानव का जय नाद,
तुम युग की हलचल से ऊपर
तुम भूलों की याद।

(३)

भूतकाल की वीणा के स्वर
जो युग से निःस्पन्द
छूकर तुम झंकृत कर ,देते
भाव भरे नव छन्द;
तुम समाधि पर दीपक बन कर
जलते हो दिन रात,
तुम अपने को गला-मिटा कर
कहते बीती बात।

(४)

तुम युग की डगमग नौका के
नाविक, तुम हो कूल,
तुम मरु में जलधर बन गिरते
विकसित करते फूल;
तुम भविष्य-मन्दिर पर धरते
स्वर्ण कलश अम्लान,
तुमसे ही ज्योतित मुखरित है
कल का विश्व महान्।

—अक्षयचन्द्र शर्मा

कौशाम्बी

आचार्य विजयेन्द्र सूरि

कौशांबी वत्सदेश की राजधानी थी। इस वत्स देश की बौद्धों के सोलह महाजनपदों[1] जैनों के २५॥ आर्यदेशों[2] और महाभारत में वर्णित मध्यदेश के प्रधान जनपदों[3] में गणना की गई है। यहाँ पर वश लोगों का निवास था। इन्हें वंश (पालि--वंस) वत्स (अर्द्धमागधी--वच्छ) भी कहते थे। ऋग्वेद के प्रथम और आठवें मण्डल में एक वश अश्व्य का वर्णन आता है, इस का "सांख्यायन श्रौतसूत्र" में भी वर्णन आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अश्व्य नामक ऋषि वश जाति का था, इसी वश जाति का प्रदेश ही वश, वंस, वत्स कहलाया। 'हरिवंश पुराण' के अनुसार प्रतर्द्दन के पुत्र वत्स द्वारा बसाये जाने के कारण यह वत्सभूमि कहलायी[4]।

शतपथ और गोपथ ब्राह्मणों से प्रतीत होता है कि प्राचीन वैदिक काल में भी कौशांबीवासियों से लोग परिचित थे। महाभारत के अनुसार

---

१. बौद्धों के सोलह महाजनपद : (१) काशी (२) कोशल (३) अंग (४) मगध (५) वज्जी (६) मल्ल (७) चेतिय (चेदी) (८) वंश (वत्स) (९) कुरु (१०) पाञ्चाल (११) मच्छ (मत्स्य) (१२) शूरसेन (१३) अस्सक (१४) अवन्ती (१५) गन्धार (१६) कम्बोज।

२. जैनों के २५॥ आर्यदेश. (१) मगध (२) अंग (३) बंग (४) कलिंग (५) काशी (६) कोशल (७) कुरु (८) कुशार्त्त (९) पाञ्चाल (१०) जगल (११) सौराष्ट्र (१२) विदेह (१३) वत्स (१४) शाण्डिल्य (१५) मलय (१६) मत्स्य (१७) अत्स्य (अच्छ) (१८) दशार्ण (१९) चेदि (२०) सिन्धु-सौवीर (२१) शूरसेन (२२) भंगी (२३) वर्त्त (२४) कुणाल (२५) लाढ (२५॥) केकय (अर्द्धदेश)।

३ महाभारत में वर्णित मध्यदेश के प्रधान जनपद : (१) कुरु भरत (२) पाञ्चाल (३) साल्व (४) भद्र जाङ्गल (५) शूरसेन (६) भद्रकार (७) (७) बोध (८) पटच्चर (९) चेदि (१०) वत्स (११) मत्स्य (१२) कुशल्य (१३) कुन्तल (१४) काशी (१५) ऊपर काशी (१६) कोमल (१७) कुलिङ्ग (१८) मगध (१९) उत्कल (२०) दशार्ण।

४. हरिवंश. १.२९

"प्रदर्द्दनस्य पुत्रौ द्वौ वत्सभार्गौ बभूवतुः।
वत्सस्य वत्सभूमिस्तु भृगुभूमिस्तु भार्गवात्॥"

कौशांबी का शासक चेदिराज उपरिचर वसु का तृतीय पुत्र कुशाम्ब था।[५] रामायण के अनुसार कुश के ज्येष्ठपुत्र कुशाम्ब ने कौशाम्बी की स्थापना की थी।[६] बौद्ध साहित्य के अनुसार इस स्थान का कौशाम्बी नाम रखे जाने का कारण यहाँ कुसम्ब ऋषि का निवास था[७]। बौद्ध साहित्य में यह भी कहा गया है कि कोसम्ब वृक्षों को काटकर इस नगर को बसाया गया था इसलिये यह नगर कौशाम्बी कहलाया[८]। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार यहाँ कोसम्ब वृक्षों का बाहुल्य होने के कारण ही यह स्थान कौशाम्बी नाम से प्रसिद्ध हुआ[९]।

"विशेषावश्यक सूत्र" के अनुसार कौशाम्बी नगरी यमुना के तीर पर बसी थी[१०]। "कथा सरित्सागर" के अनुसार कौशाम्बी वत्स की राजधानी थी[११]। श्री घोष ने भी अपने ग्रंथ में बौद्ध साहित्य के आधार पर कौशाम्बी को वत्सदेश की राजधानी स्वीकार किया है[१२]। बौद्ध साहित्य में विभिन्न सूर्यवंशीय राजाओं के १९ प्रसिद्ध नगरों पर राज्य करने का उल्लेख मिलता है। उन प्रसिद्ध १९ नगरों में कौशाम्बी की भी गणना की गई है।[१३] जैनों

---

५. 'महाभारत' आदि पर्व अध्याय ६३ श्लोक २९-३२।

६. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ३३, श्लोक ५
"कुशाम्बस्तु महातेजाः कौशाम्बीमकरोत्पुरीम्।"

७. परमत्थजोतिका भाग २, पृष्ठ ३००.
"सावत्थियन्ति एवं नामके नगरे त किर सवत्थस्स नाम इसिनो निवासट्ठानं अहोसि तस्मा यथा कुसम्बस्स निवासो कोसम्बी, काकन्दस्स काकन्दी, एवं इत्थिलिङ्गवसेन सावत्थी ति वुच्चति।"

८. पपञ्चसूदनी, भाग २, पृष्ठ ३८९-३९०
"कोसम्बियंति एव नामके नगरे। तस्स किर नगरस्स आरामपोक्खरणिआदिसु तेसु तेसु ठानेसु कोसम्ब-रुक्खा व उस्सन्ना अहेसुं, तस्मा कोसम्बिति संख अगमासि, कुसुम्बस्स नाम इसिनो अस्समतो अविदूरे मापितत्ता ति, पि एके।"

९. विविधतीर्थकल्प (जिनप्रभसूरि विरचित, जिनविजय जी द्वारा सम्पादित) पृष्ठ २३.
"जत्थ सिणिद्धच्छाया कोसंबतरुणो महापमाणा दीसंति।"

१०. विशेषावश्यक सूत्र-भाष्य टीका सहित, पृ० ४९५.
"अत्रैव भरतक्षेत्रे यमुनानदीकूले पूर्वदिग्वधूकण्ठनिवेशितमुक्ताफलकण्ठिकेव कोशाम्बी नाम नगरी।"

११. कथा सरित्सागर, द्वितीय स्तबक, प्रथम तरंग।
"अस्ति वत्स इति ख्यातो देशः कोशाम्बी नाम तत्रास्ति मध्यभागे महापुरी।"

१२. अर्ली हिस्ट्री आफ कोशाम्बी, घोष कृत, भूमिका पृष्ठ १९-२१।

१३. वंसत्थप्पकासिनी, भाग १, पृष्ठ १३० में १९ प्रसिद्ध नगर ये हैं: (१) कुसावती (२) अयुज्झापुर (३) बाराणसी (४) कपिलपुर (कपिलवत्थु) (५) हत्थिपुर (हस्तिनापुर) (६) एक चक्खु (७) वजिरवुत्ति (८) मधुरा (मथुरा) (९) अरिट्ठपुर (१०) इन्दपत्थ (इन्द्रप्रस्थ) (११) कोसम्बी

के "ठाणांगसूत्र" मे जो दस राजधानियाँ गिनायी गयीं है उनमें भी कौशाम्बी को स्थान प्राप्त है[१४]। 'दीर्घनिकाय' में ६ महानगरों का वर्णन है, उनमें कौशाम्बी की गणना पवित्र नगर के रूप में की गई है[१५]। राजा कुश के चार पुत्रों द्वारा जिन चार नगरों की एक साथ स्थापना की गई थी कौशाम्बी भी उनमे से एक थी[१६]। 'उत्तराध्ययनसूत्र' मे इस नगरी को प्रधान नगरी कहा है[१७]।

चौदहवीं शताब्दी मे श्वे० आचार्य जिनप्रभसूरि[१८] ने कौशाम्बी[१९] के संबंध में अपने तीर्थकल्प मे लिखा है "वच्छ जनपद मे कौशाम्बी नाम की नगरी है, इस नगरी में चन्द्र और सूर्य अपने अपने विमान सहित भगवान वर्धमान को नमस्कार करने आये थे। इस नगरी मे उनके प्रकाश से समय का व्यतिक्रम हो जाने के कारण आर्या मृगावती और सबके चले जाने पर भी समोसरण मे बैठी रही। चन्द्रमा आदि के चले जाने पर मृगावती आर्या अपने स्थान पर असमय में पहुँची। वहाँ आर्या चन्दना आदि प्रमुख आर्याएँ थीं, उन्होंने आर्या मृगावती को असमय मे आने के कारण उपालम्भ दिया। आर्या मृगावती ने क्षमा माँगी। क्षमा-प्रार्थना करने पर आर्या मृगावती को केवल-ज्ञान हो गया। ×× इसी कौशाम्बी

(कोशाम्बी) (१२) कण्णगोच्छ (१३) रोज (१४) चम्पा (१५) मिथिला (१६) राजगह (१७) तक्कसीला (१८) कुसिनारा (१९) तामलित्ती।

१४ ठाणागसूत्र (वृत्तिसहित) पत्र ४५३।

"जंबुद्दीवे भरहवासे दस रायहाणीओ प० तं०—चम्पा, महुरा, वाणारसी, य सावत्थी, तहय साकेत, हत्थिणउर, कम्पिल्ल, मिहिला, कोसंबि, रायगिह"

१५. दीघनिकाय (दुनियां विभागों, एन० के० भगवत द्वारा सम्पादित) पृष्ठ ११६।

"सन्ति हि भन्ते अञ्ञानि महानगरानि, सेय्यथीदं चम्पा, राजगह सावत्थि, साकेतं, कोसम्बि, बाराणसि।

१६. रामायण (मुम्बई संस्करण) १ ३२, १–६।

वे चार नगर ये हैं: (१) कोशाम्बी (२) महोदय (३) धर्मारण्य (४) गिरिव्रज (राजगृह)

१७. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय २०, गाथा १८।

१८. 'विविध तीर्थ कल्प' (जिनप्रभसूरि रचित), पृष्ठ २३।

श्री विमल चरण ला ने "ट्राइब्स इन एनशियण्ट इण्डिया" और "कोशाम्बी इन एनशियण्ट लिटरेचर" (मैयायर्स आफ दी आर्चियालिजिकल सर्वे आफ इण्डिया नं० ६०) में पृष्ठ १२० और २० पर कौशाम्बी में जिन प्रभसूरि का जन्म दीक्षा और निर्वाण बताया है, जो कि गलत है। वस्तुतः कोशाम्बी में पद्मप्रभ स्वामी के च्यवन, जन्म, दीक्षा और निर्वाण ये चारों कल्याणक हुए थे।

१९. अनाथि मुनि और कपिलकेवली पूर्वावस्था में इसी कोशाम्बी के रहने वाले थे। इनका वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र में आता है।

नगरी में पुरुष परम्परा से लायी गयी ईंटों द्वारा प्रद्योत नामक राजा ने मृगावती के कहने पर किला बनवाया था। वह किला आज भी विद्यमान है। यहाँ मृगावती की कुक्षि से उत्पन्न गन्धर्व वेद मे निपुण शतानीक पुत्र उदयन राजा हुआ था। × × यहाँ पर यमुना के किनारे जंगल है। इसी नगरी में पौष कृष्ण प्रतिपदा के दिन श्री महावीर स्वामी ने अभिग्रह धारण किया था। वह अभिग्रह पाँच दिन कम ६ मास पश्चात् चन्दनबाला द्वारा सूपकोण में स्थित उबले हुए उड़द से पूर्ण हुआ था। उस समय देवताओ ने वसुधारा (धनवृष्टि) की थी। वह वसुधारा वाला स्थान आज भी कौशाम्बी के निकट वसुहार नाम से प्रसिद्ध है। उसी दिन से ज्येष्ठ सुदी तेरस के दिन लोग नियमित रूप से तीर्थस्नान करते हे और दान आदि क्रियाएँ करते हैं। × × इसी नगर में छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ स्वामी का च्यवन, जन्म, दीक्षा और केवल-ज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे। × × यहाँ पर अतिघनी छायावाले कोसम्ब वृक्ष बहुतायत से है। × × यहाँ पर पद्मप्रभ स्वामी के मन्दिर मे चन्दनबाला की पारणा कराती हुई दशा की मूर्ति भी देखने मे आती है। जैन साधुओ ने अपनी तीर्थयात्राओं को लिपिबद्ध करके तीर्थमाला नाम से कई ऐतिहासिक रचनाओं का निर्माण किया था। इनमे से पूर्वदेशीय संबंधी चार तीर्थमालाओं मे कौशाम्बी का वर्णन और स्थान निर्देश आया है। जिनके कालक्रम से संक्षेप मे यहाँ थोड़े अंश दिये जा रहे है। विक्रम संवत् १६६५ की पं० "हंससोम" विरचित पूर्व देशीय चैत्यपरिपाटी मे चन्देरी नगरी[२०] से अपनी यात्रा के आरम्भ का उल्लेख किया है। इस यात्राविवरण मे पं० हंससोम ने कौशाम्बी को चंदेरी से १०० कोस की दूरी पर यमुना तट पर बताया है। कौशाम्बी से प्रयाग को २५ कोश बताया है[२१]। श्री पं० "विजयसागर" ने विक्रम सवत् १६६४ मे बनायी गई अपनी सम्मेतशिख-

२०. यह स्थान ग्वालियर स्टेट मे ललितपुर स्टेशन से लगभग २१ मील पर है, एक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान है और अकबरके समय मे बहुत उन्नत था।

२१. प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, भाग प्रथम, जैनाचार्य श्री विजय धर्मसूरि द्वारा सम्पादित, पृष्ठ १४।

"चन्देरी नयरी थिकी सो कोस कोसम्बी,
जमुनातटि जो बसई नयर मन रहिउ विलम्बी,
श्री पउमप्पह जनमभूमि देषी हरषी जई,
चउसट्ठि बिंबस्यु पूजकरी भावना भावी जई।२।
चरमजिणेसर पारणू ए हूउं जिण ठामि,
चन्दन बाल करावीउ ए पुहुती सिवगामि,
तिहाथी आगलि मनह रगि हर्षइ जाली जई,
पचवीस कोस प्रयाग तित्थ नयणे निरषी जई।३।"

तीर्थयात्रा में आगरा से फिरोजाबाद[२२] १२ कोस, फिरोजाबाद से शाहजादपुर डेढ़ सौ कोस, शाहजादपुर से मऊगाम तीन कोस, मऊगाम से कौशाम्बी ९ कोस यमुना तट पर, कौशाम्बी से प्रयाग २० कोस बताया है[२३]। पं० जयविजय ने वि० सं० १६६४ की अपनी सम्मेतशिखर तीर्थमाला में यात्रा विवरण देते हुए लिखा है कि वे आगरा से फिरोजाबाद गये, फिरोजाबाद से चन्दनवाड़ी[२४], चन्दनवाड़ी से फिरोजाबाद, फिरोजाबाद से सरपड़ी, सरपड़ी से तीन कोस पर सोरीपुर (शौरीपुर)[२५] सोरीपुर से ११५ कोस पर शाहजादपुर, शाहजादपुर से तीन कोस पर मऊगाम, मऊगाम से पाँच कोश पर कोसम्बी नगरी, कोसम्बी से १८ कोस पर फतेहपुर, फतेहपुर से प्रयाग आये और वहाँ गंगा, यमुना और सरस्वती के त्रिवेणी संगम को देखा [२६] वि.

---

२२. यह स्थान आगरा से २६ मील पूर्व की ओर प्रान्तीय सडक पर है और आगरा जिले में तहसील है। यह स्थान चूडियों के लिये बहुत प्रसिद्ध है ।

शाहजादपुर, मऊगाम आदि का परिचय वत्स और कोशाम्बी मण्डल प्रकरण में दिया गया है।

२३. प्रा० ती० सं.०, भाग १, पृष्ठ २–३, ढाल १ ।

"बार कोस पीरोजाबादि मुनिसुव्रत पूजू प्रासादि
देहरासरि ऋषभादि तओ। ६।
ढोढसो कोस साहिजादापुर मिलि जिहा दशदिशि देनाउर
देहरासरि बहु देव तओ। ७।
तिहां थ की त्रिणी गाऊ मऊगाम जिणहर एक तिहां जूनु ठाम,
प्रतिमा पनर प्रणाम तओ। ८।
तिहां थ की नव कोश कोसबी जाणे अमरपुरी प्रतिबिंब,
यमुनातीर बिलंबी तओ। ११।
वीस कोस पिराग तिहाथी सीधो अणिक पुत्र जिहाथी,
प्रगट्यो तीर्थ तिहाथी तओ। १७।"

२४. चन्दनवाडी (चन्दनवर)–यह यमुना के बायें किनारे पर फिरोजाबाद से ३ मील उत्तर पश्चिम में है। यह एक बहुत प्राचीन स्थान है, इसके समीप में मीलो तक मन्दिर आदि के खण्डहर हैं।

२५. शौरीपुर–यह स्थान बटेश्वर से १ मील पर है, यह स्थान और बटेश्वर गाव दोनों यमुना के दाहिने किनारे पर है। आगरा से लगभग ४१ मील पर दक्षिणपूर्व की ओर है।। आजकल यहां शिकोहाबाद हो कर जाते हैं और यह शिकोहाबाद से १४ मील पर है। यह नेमिनाथ भगवान का च्यवन, और जन्म कल्याणक स्थान है।

२६ प्रा० ती० सं.० भा १, पृष्ठ २३–२४।

"तिहांथि आगलि चालियाए पहुता पीरोजाबाद। ३।
तिहांथि जईई चंदवाड़ करी निरमल काय,
सरपड़ी नयरि जइ करी कीजइ मेल्हाण,

सं. १७५० में पं० सौभाग्यविजय ने अपनी तीर्थमाला में अपनी यात्रा के आरम्भ का उल्लेख आगरा से किया है। वे आगरा से फिरोजाबाद, फिरोजाबाद से दक्षिण में १ कोस पर चन्दनवाड़ी, चन्दनवाड़ी से फिरोजाबाद, फिरोजाबाद से ६ कोस पर सकूराबाद (शिकोहाबाद)[२७], सकूराबाद से कोरटा जहानाबाद[२८], जहाँनाबाद से कड़ा माणिकपुर, यहाँ से दारा नगर शाहजादपुर (जो कि गंगातट पर है), शाहजादपुर से दक्षिण में तीन कोस पर मऊगाम, मऊगाँव से ९ कोस पर यमुना तट पर स्थित कौशाम्बी गये।[२९]

नयर सोरीपुर जाईई निर० तिहार्थी हुवई त्रिणकोस। ८।
सोरीपुरथी करि पयाण सहजादपुर आवई,
एकसऊपनार कोस मान सहुई सुप पावई,
पंच देहरासर पूजीई ए कोस त्रिण मऊग्राम। ५।
पचकोस कोसंबिआ नयरी निरषीजई। ६।
कोस अढार तिहा थकी ए फतेपुर नयर विभाग तऊ
प्रतिमा त्रिण पूजा करिए जईइ तीरथ पयाग तऊ। ९।
गगा जमुना सरसती ए दीठऊ त्रिवेणीसग तऊ।१०।

२७ सकूराबाद (शिकोहाबाद)–आगरा से मैनीपुरी को जानेवाली पक्की सड़क पर स्टेशन से दो मील की दूरी पर है। फिरोजाबाद से यह स्थान १३ मील पर है।

२८. कोरटा–सम्भवत: कोरटा आधुनिक कोरा है, जो कि जहानाबाद से पूर्व में लगभग चार मील पर है।

जहानाबाद–फतेहपुर से जहानाबाद तक २२ मील लम्बी एक पक्की सड़क है। यह स्थान खजूहा तहसील में खजूहा से पश्चिमोत्तर में १२ मील पर है।

२९ प्रा० ती० स० भाग १, पृष्ठ ३४–३५, ढाल १–२।
"आगरा थी शुभदिन शुभवार जमुना उतरी आव्या पार।१२।
देहरासरना देव जुहारी पीरोजाबाद आया सुषकारी।१३।
तिहाथी दक्षणदिशि सुविचारी गाइ एक भूमि सुषकारी,
चदवाडि माहे सुषदाता चद्रप्रभ वदो विख्याता।१४।
ते वदी पीरोजाबाद आव्या जाणी मन आल्हाद।१५।
तिहांथी छ कोस सकूराबाद जिहां श्रावकनां धवलप्रसाद,
कोरटा जिहानाबाद विचारो ईहा समवाय दिगबर धारो।१६।
तिहाथी कडा माणकपुर कही जे अन्तरालि गंगाजी वही जें,
जयचंद पांगुलो राजा प्रसिद्धो कोट सबल कडामाहि कीधो।१७।
दारा नगर साहिजादपुर आया देषी श्रावक गुरु मन भाया,
गगाजी तट नगरी विशाल पणि एक षोटि नहि पोषाल।१८।
साहिजादपुरकी सुणो जी दक्षिण दिशि सुकार,
महुआ गाम वषाणीई जी त्रिण कोश उदार रे। १।
तिहांथी नवकोसें हुवे जी नयरी कुसबी ठाण रे। ३।
तिहांथी नवकोसे हुवें जी नयरी कुसबी ठाण रे। ४।

कौशाम्बी का स्थान निश्चय–

ऊपर के उल्लेखों से यह तो स्पष्ट है कि कौशाम्बी यमुना के किनारे थी। जैनपरम्परा और विश्वास के अनुसार यह स्थान इलाहाबाद जिले में स्थित यमुनातट का कोसम गाँव है। ऊपर जिन तीर्थमालाओं के उद्धरण दिये गये हैं वे न केवल इस विश्वास की पुष्टि करते हैं अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से यह मानने को बाध्य करते हैं कि कोसम ही प्राचीन कौशाम्बी है। कम से कम सोलहवीं शताब्दी में इस मान्यता के ये प्रबल प्रमाण हैं।

कौशाम्बी के स्थान निर्देश में 'सुत्तनिपात' में वर्णित मार्ग से भी सहायता मिलती है। सुत्तनिपात में माहिस्सति से राजगृह की ओर जानेवाले पथ पर जो पड़ाव गिनाये गये हैं वे इस प्रकार हैं–उज्जेनि, गोनद्ध, वेदिस, वनसह्वय, कोसम्बी, साकेत, सावत्थि, सेतव्य, कपिलवत्थु, कुसिनारा, पावा, भोगनगर, वेसालि।[३०,३१] यदि नक्शे पर इस मार्ग की रेखा खींचा जाय तो यह कौशाम्बी यमुना के तट पर कोसम गाँव पर ही पड़ेगा। कनिंघम ने कौशाम्बी के संबंध मे विस्तृत विवेचन करते हुए यह स्वीकार किया है कि इलाहाबाद से ३० मील पर दक्षिण पश्चिम मे यमुना तट पर स्थित कोसम

जमना तटि ऊपरि वसई जी जनमपूरी जिनराज। ८।

३० डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स, भाग १, पृष्ठ ६९२। (जी० पी० मलल शेखर कृत)।

३१ वनसह्वय–पहले इस स्थान का नाम तुम्बवन था, आजकल यह तुमेल नाम से ख्यात है। इसे वन-श्रावस्ति भी कहते हैं। ग्वालियर स्टेट मे कोटा से बीना को जाने वाली जी० आई० पी० ब्राच रेलवे लाइन पर टकनेरी स्टेशन से ६ मील पर तुमेल नामक गाव गुना जिले में है। यहा पर एक गुप्त राजा का दानपत्र मिला है। (अशोक, बरुआकृत पृष्ठ ७८) यह जैनाचार्य वज्रस्वामी का जन्म स्थान भी है। यहा पर गुप्त सवत् ११६ (४३५–३६ई०) का एक शिलालेख पाया गया है, इसमें हरिदेव, श्रीदेव, भद्रदेव और संघदेव भाईयों द्वारा शशिप्रभ का मन्दिर बनवाने का उल्लेख है। विमलसूरि कृत 'पउम चरियम्' के अनुसार चन्द्रप्रभ स्वामी का ही दूसरा नाम शशिप्रभ स्वामी है।

वेदिस–कनिंघम के अनुसार यह बेसनगर का पुराना नाम है और आजकल यह नगर नष्ट प्राय रूप में बेस या वेदिशा नदी और बेतवा के बीच भिलसा से दो मील की दूरी पर है। पुराणों के अनुसार यह नगर विदिशा नदी पर स्थितपर। इस नगर का महत्त्व अशोक के उज्जैन में राज प्रतिनिधि होने पर बढ गया। अशोक जब उज्जैन में राजप्रतिनिधि था तो उसने वेस्सनगर, जो कि बेस नगर का पुराना नाम है, की वैश्य कन्या से विवाह किया था। अशोक के समय से बौद्धों का यह महत्त्वपूर्ण केन्द्र हो गया था। बाद में वैष्णवों का भी केन्द्र रहा। शुंगराज्य काल में यहां अग्निमित्र राजप्रतिनिधि था।

गाँव प्राचीन कौशाम्बी है।[३२] फाहियान के वर्णन के अनुसार कौशाम्बी बनारस के निकटस्थ सारनाथ (मृगदाव) से उत्तर पश्चिम में १३ योजन (लगभग १०४ मील) पर कौशाम्बी है।[३३]

हुएनसांग ने कौशाम्बी की दो बार यात्रा की। उसने प्रयाग से कौशाम्बी की दूरी ५०० ली (१०० मील) लिखी है। हुएनसाँग का यात्रा वृत्तान्त कौशाम्बी की वास्तविक दूरी और दिशा के संबंध में कोई स्पष्ट प्रकाश नहीं डालता। हुएनसांग के यात्रा-वृत्तान्त के आधार पर कौशाम्बी की वास्तविक स्थिति में वादविवाद भी हुआ है। कनिंघम की स्थापना के विपरीत विसेण्ट ए० स्मिथ ने १८९८ में यह स्थापना की कि–कौशाम्बी टोंस नदी की घाटी में बघेलखण्ड की स्थानीय रियासत में कहीं है जो कि ईस्ट इंडियन रेलवे, जो कि इलाहाबाद और जबलपुर को मिलाती है, के निकट है। संक्षेप में सतना रेलवे स्टेशन ही कोसाम्बी का आधुनिक स्थान है। मेजर वोस्ट के अनुसार यह स्थान रींवा मे है। वैटर्स की सम्मति मे अजयगढ़ के पूर्वोत्तर में बाँदा जिले के सीमान्त पर होना चाहिये। यह संपूर्ण विवाद हुएनसाँग के यात्रावृत्तान्त के आधार पर खड़ा किया गया है और हुएनसाँग ने यह कहीं नहीं स्पष्ट किया कि उसने जो दूरी लिखी है वह प्रयाग और कौशाम्बी के बीच की है। यह भी तो संभव हो सकता है कि यह चीनी यात्री प्रयाग से कौशाम्बी सीधा जाने की बजाय घूमघाम कर गया हो। उज्जैनी से कौशाम्बी की दूरी ४०० मील है, यह दूरी सर्वत्र एक ही प्रकार से लिखी हुई है, परन्तु हेमचन्द्राचार्य ने महावीरचरित्र में उज्जैनी से कोशाम्बी की दूरी ८०० मील बतायी है।[३४] इससे तो यही प्रतीत होता है कि वे उज्जैन से सीधे कौशाम्बी न आकर घूमघाम कर आये होंगे। इसी प्रकार यह भी संभव हो सकता है कि हुएनसाँग प्रयाग से कौशाम्बी जाते हुए १०० मील का चक्कर लगाकर गया हो।

फाहियान ने सारनाथ से कौशाम्बी की जो दूरी और दिशा दी है वह लगभग ठीक है। कोसम से बनारस की दूरी सड़क द्वारा आज भी लगभग १३ योजन (१०४ मील) है। फाहियान ने कौशाम्बी को बनारस के पश्चिमोत्तर में बताया है, पर यह कोई चिन्तनीय बात नहीं है। यह संभव हो सकता है कि वह प्रथम बनारस से उत्तर पश्चिम दिशा में गया हो।

---

३२. कनिंघम्स एनशियण्ट जिओग्राफी ऑफ इण्डिया, सुरेन्द्र नाथ मजूमदार शास्त्री द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ४५१–४५३.

३३. दी ट्रैवल्स ऑफ फाहियान, एच० ए० गिल्स द्वारा अनूदित, पृष्ठ ६१।

३४. त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १० वां पर्व, ११वां, सर्ग।
"योजनानां शतं गत्वा कौशम्बीं प्रविवेश सः। २५८।"

यमुना के किनारे स्थित कोसम पाली और प्राकृत कोसम्बी अथवा कोसंबी का संक्षिप्त नाम है। इसके अतिरिक्त शिलालेख आदि के ऐसे प्रमाण हैं जो कि उपर्युक्त स्थापना का समर्थन करते हैं। सं० १०९३ का कड़ा शिलालेख इसपर अच्छा प्रकाश डालता है। इस शिलालेख पर विवेचन करते हुए रायबहादुर दयाराम साहनी ने इसे उपर्युक्त स्थापना का निर्विवाद प्रमाण माना है।[३५] रायबहादुर के विचार से कड़ा शिलालेख में उल्लिखित 'पयलास' ग्राम का नाम कौशाम्बी की स्थिति का परिचायक है। कौशाम्बी मण्डल के इस ग्राम को महाराजाधिराज श्री यशपाल ने पमोसा निवासी माथुरविकट को दान में दिया था। रायबहादुर के दृष्टिकोण से ..... कड़ा के उत्तर पश्चिम में ठीक पाँच मील पर परास (नक्शे के अनुसार प्रास) नामक स्थान है जो कि हमारे शिलालेख का "पयलास" ही होगा। संयुक्त प्रान्त की बोलियों में 'ल' का 'र' और 'र' का 'ल' में बदल जाने का प्रचलन है। उदाहरण के लिये संस्कृत शृगाल का सियार, संस्कृत श्याल का सार, काली कम्बली का कारी कमरी, चेल (चेत) चेर आदि को मैं उद्धृत करता हूँ। इसी प्रकार पयलास पहले पयरास मे परिवर्तित हुआ, जो कि अब परास या प्रास रूप में संक्षिप्त हो गया है। परास ग्राम कोसम से उत्तर पश्चिम मे तीस मील पर है। अब यह स्पष्ट है कि यह स्थान मेहवद (मेओहर) जो कि कोसम से उत्तर पूर्व मे ८॥ मील पर है, दोनों कौशाम्बी मण्डल में थे। इस मण्डल की राजधानी, इसलिए इसके आसपास ही ढूंढ़ी जानी चाहिये और आसपास कोसम के अतिरिक्त ऐसा अन्य कोई स्थान नहीं है जो कि कौशाम्बी के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से उपयुक्त हो। इसी लेख के प्रारम्भ मे रायबहादुर ने विक्रम संवत् १२४५ के एक अन्य शिलालेख का उल्लेख किया है जो कि उन्होंने मेओहर के भग्नमन्दिर के द्वारस्तम्भ पर प्राप्त किया था। मेओहर इलाहाबाद जिले मे कोसम से ८॥ मील की दूरी पर है। इस स्थान का यह शिलालेख, रायबहादुर की सम्मति में, इस बात का पूर्ण और निश्चयात्मक प्रमाण उपस्थित करता है कि प्राचीन राजधानी कौशाम्बी कोसम ही है।

कोसम में एक प्रस्तर स्तम्भ अपने मूल रूप में है। इसपर सं० १६२१ चैत्र बदी पंचमी का एक लेख है। इस लेख मे स्पष्टरूप से कोसम को ही 'कोसम्बपुरी' नाम से निर्देश किया गया है। श्री घोष के शब्दों में .....

---

३५. एन्युअल रिपोर्ट ऑफ दी आर्चियालाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, १९२३-४, पृष्ठ १२२। पूरे शिलालेख के लिये एन० एन० घोष कृत एन अर्लीहिस्ट्री ऑफ कौशाम्बी, पृष्ठ १०० देखें।

"इससे यह तो असंदिग्ध रूप से सिद्ध होता है कि कोसम, जहाँ कि ऊपर निर्दिष्ट प्रस्तर स्तम्भ और शिलालेख है और जो कि अकबर के राज्यकाल में खुदवाया गया था, १६वीं शताब्दी में भी वहाँ के निवासियों में कौशाम्बी नाम से प्रसिद्ध थी।"[३६]

ऊपर कोसम और प्रयाग के बीच की दूरी विभिन्न लोगों ने अलग अलग लिखी है, इसलिए दूरी के संबंध में कुछ सन्देह हो सकता है, क्योंकि वे दूरियाँ प्रत्येक यात्री ने अपने यात्रा के आधार पर लिखी है, परन्तु उन लोगों ने अपना मार्ग ठीक ठीक नहीं लिखा, इसलिए यही संभव हो सकता है कि उन लोगों ने जिस मार्ग को पकड़ा हो, उसी की दूरी लिख दी हो। इस समय इलाहाबाद के किले से कोसम की दूरी यमुना के किनारे किनारे ४३ मील है और यदि किले से कोसम तक एक सीधी रेखा खींची जाय तो दूरी ३० मील होगी। इलाहाबाद से विभिन्न सड़कों से ३५ मील से ३८ मील तक की दूरी है।

—क्रमशः

३६. एन० एन० घोष कृत 'एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ कौशाम्बी' पृष्ठ ९३।

पावापुरी

श्री मीनाकुमारी लोढ़ा

विहार प्रान्त का महत्त्व सांस्कृतिक दृष्टि से अन्य प्रान्तों की अपेक्षा कहीं अधिक गौरवपूर्ण है। वह भगवान महावीर तथा गौतमबुद्ध जैसे महाजनोन्नायक आध्यात्मिक नेताओंकी जन्म और कर्म्मभूमि रहा है। विहार का प्रत्येक शताब्दी का इतिहास, भारत के इतिहास मे बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जैनों की दृष्टि मे विहार का महत्त्व इसलिए है कि श्रमण संस्कृति प्राचीन काल में यहीं फली-फूली। जैन दार्शनिक साहित्य के विभिन्नतम तत्त्वों के निर्माता गणधर भी इसी प्रान्त के निवासी थे। भगवान् महावीरके समय विहार सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से बहुत पतित हो चुका था। यदि श्रमण भगवान् महावीर ने भयंकर संघर्ष न किया होता, तो आज भारतीय संस्कृति विकृत रूप में नजर आती। भगवान् महावीर जाति और व्यक्तिको घृणित दृष्टि से नहीं देखते थे; और न उनको वैसा अभीष्ट ही था। उनका संघर्ष उन अमानवीय तत्त्वोंसे था, जिनका विकास जघन्य मनोवृत्तिवाले मनुष्यों के जीवन मे हुआ था और जो धर्म जैसी अति व्यापक वस्तु को भी संकुचित बनाए हुए थे। जिनकी दृष्टि मे स्त्री पैरों की जूती समझी जाती थी, शूद्र पशुओं से भी पतित गिने जाते थे, चारों तरफ से धर्मके नाम पर ऐहिक-स्वार्थ-पोषक भावनाओंका ताण्डव मचा हुआ था। महावीर ने सर्वथा प्रतिकूल वायुमण्डल को आत्मिक शक्तियों के बल पर परिवर्तित कर जनता को ऊँचा उठाया, उसे अपने कर्त्तव्य एवं आध्यात्मिक जगत् का सन्देश दिया, जिससे आज भी हम अनुप्राणित होते हैं।

भगवान् महावीर की जन्म और निर्वाण दोनों की भूमि विहार प्रान्त है। उनका जन्म क्षत्रियकुण्ड ग्राममें हुआ था, और पावापुरी में उन्होंने अपनी जीवनलीला ईस्वी० पू० ५२७ में पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त किया था।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि पावापुरी जो विहारसे लगभग सात मील आग्नेय कोणमें है, जैनशास्त्रोंमें 'माध्यमापावा' के नामसे इसका उल्लेख मिलता है। पावा नामकेतीन नगर हैं—एक गोरखपुर जिलेमें कुशीनाराके पास, जहाँ वर्त्तमान पडरौनाके समीप 'पपऊर' नगर है, दूसरा विहारके दक्षिण पूर्वमें स्थित, भगवान् महावीर स्वामी की निर्वाणभूमि पावापुरी है। तीसरी हजारीबाग के आसपास के प्रदेशकी राजधानी है। यह प्रदेश भंगी

अथवा भग्य नामसे प्रसिद्ध आर्य्यदेश था, जिसकी परिगणना जैन ग्रन्थकारोंने साढ़ पचीस आर्य्यदेशोंमें की है।

दूसरी पावा से पहली पावा वायव्य और तीसरी आग्नेय कोणमें थी, इन दोनोंमें लगभग समानान्तर होनसे इसका नाम मध्यमा पावा प्रसिद्ध हुआ। आज भले ही पावापुरी की गणना एक सुसम्पन्न नगरोंमें न हो, किन्तु जैनशास्त्र यह सिद्ध करते हैं कि पावापुरी किसी समय एक विशाल नगरी थी। जहाँ पर आध्यात्मिक ज्योति प्रज्वलित करनेवाले प्रातःस्मरणीय महापुरुषोंने वर्षों तक सांसारिक वासनाओं का त्याग एवं भीषणाति-भीषण कष्ट और यातनाओंको सहकर, किसी भी प्रकारके विघ्नोंकी लेशमात्र भी परवाह न करते हुए आध्यात्मिक विकासके प्रशस्त मार्गका अनुसरण कर, प्राणिमात्रके कल्याणार्थ कठोरतम साधनाएँ की थीं। सभ्यता के उच्चतम गंभीर तत्त्वों का जहां पर अन्वेषण हुआ। इन्द्रभूति वायुभति. आर्य, व्यक्त, सुधर्मा, मंडित, मौर्यपुत्र अकम्पिक, अचल-भ्राता और प्रभास आदि महापुरुषोंके सन्देहका इसी पावापुरीमें निवारण हुआ था और भगवान् महावीर स्वामीको एकमात्र तीर्थङ्कर समझ उन्होंने उनके पास तात्कालिक दीक्षा ग्रहणकर अनन्त ज्ञानकी प्राप्ति की थी। समाज और सांस्कृतिक तत्त्वोंकी रक्षा हेतु जिन्होंने कठिनसे कठिन कष्टोंको सहा, उन पवित्र आत्माओंके स्मरण मात्रसे ही हमारा रोम रोम पुलकित हो जाता है। उस तीर्थभूमिके रजःकण सांस्कृतिक इतिहासके अमरतत्त्वोंसे अनु-प्राणित हैं। यहाँ पैर रखते ही हमारे मस्तिष्कमे उच्चतम विचारोंकी बाढ़ सी आने लगती है, पूर्वकालीन स्वर्णस्मृतियाँ छायाचित्रकी भांति एकके बाद एक जाग्रत हो उठती है, हृदयमें एक विचित्र प्रकार का स्पन्दन होने लगता है। परम परोपकारी, आध्यात्मिकता के सन्देशवाहक भगवान् महावीरकी इस पावन निर्वाणभूमि मे प्रवेश करते ही आज भी कुछ क्षणोंके लिए जीवनमे आमूल परिवर्त्तन होकर, हृदयमें आनन्द तरंगोंका उद्‌भव हो उठता है। क्यों न हो, जिस स्थान पर सर्वज्ञ भगवान् महावीर ने अपने जीवनके केवल अंतिम क्षण ही नहीं बिताये थे, अपितु अपने पूर्वकथित उद्‌भट ग्यारह विद्वान् शिष्योंको भी दीक्षित कर सर्वज्ञ बनाया था। अतः इस तीर्थ पर पैर रखते ही हमारे मन में यदि आनन्दोल्लास की तरंगें उठती है तो स्वाभाविक ही है।

भगवान् महावीरके अनेक राजा भक्त थे, मगध नरेश श्रेणिक राजा भी भगवान्‌का परम भक्त था, भगवान् ने कितने ही चातुर्मास राजगृही में किये, इसका कारण राजा श्रेणिक का अत्यधिक आग्रह तथा धर्मश्रवण की विशेष इच्छा ही थी।

अपने जीवन का अंतिम समय निकट आया जान, भगवान् ने राजगृही से जा पावापुरी में हस्तिपाल की रज्जुगशाला में शेष समय व्यतीत करने का निश्चय किया। चातुर्मास के तीन महीना १५ दिन व्यतीत होने पर, कार्तिक अमावस्या के प्रातः भगवान् निर्वाण पद को प्राप्त हुए, भगवान् ने अंतिम १६ पहर की देशना उसी हस्तिपाल की रज्जुगशाला में ही दी थी।

७२ साल की अवस्था में कार्तिक अमावस्या के दिन महावीर स्वामी ने मोक्षलाभ किया था, उसदिन उसकी बिदाई लोगों ने दीपक जलाकर की थी तब से ही दीपावली पर्व प्रारम्भ हुआ, ऐसी परंपरा है। मगध की दीपावली शिल्पकला में भी उद्दीप्त हुई। नालंदा के दीपक इसलिए प्रसिद्ध हैं।

गौतम स्वामी को जब भगवान् महावीर स्वामी के मोक्ष का पता लगा, तो वे शोक-विह्वल हो गये किन्तु भगवान के वीतरागत्व का स्मरण आते ही तत्क्षण वे मोह का परित्याग कर केवलज्ञानी हो गये। पावापुरी भगवान् महावीर स्वामी की निर्वाणभूमि तथा उनके ११ शिष्यों के दीक्षाव्रत अंगीकार एवं कैवल्यज्ञान और मोक्षप्राप्ति की भूमि भी है।

पावापुरी में तीन स्थान विशेषतया उल्लेखनीय है, समोसरणमंदिर, जलमंदिर और ग्राम मंदिर। पहला समोसरण मंदिर जहाँ पर स्थित है वहीं पर भगवान् ने अपनी अंतिम देशना दी थी। अभी तो केवल यहाँ पर एक चबूतरा बना है। कोई उचित व्यवस्था नहीं है। दूसरा ग्राममंदिर, जहाँ तात्कालिक समय में हस्तिपाल की रज्जुगशाला थी, वहाँ पर मोक्ष हुआ था। यह मंदिर भी बड़ा रमणीय एवं कलापूर्ण था। अभी जो यहाँपर शिलालेख पाये जाते हैं उन पर से इतना ही कहा जा सकता है कि मंदिर का जीर्णोद्धार महत्तियाण जाति के श्रावकों ने करवाया था।

तीसरा जलमंदिर, जहाँ भगवान् की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न हुई थी, जो लगभग एक मील के घेरे में स्वच्छ-सुन्दर कमलों से भरा हुआ सरोवर है। इसी के बीच में विमान के सदृश बना हुआ एक भव्य मन्दिर है। घाट से मंदिर तक जाने के लिये पत्थर का करीब ६०० फुट लंबा सुन्दर पुल है। इस मन्दिर में भगवान् की चरणपादुकायें हैं।

दीपावली के दिन आज भी जैनी वहाँ की यात्रा के लिए अधिकाधिक संख्या में जाते हैं, उस समय वहाँ का दृश्य देखने योग्य रहता है। सचमुच में आध्यात्मिक साधकों के लिये तो यह स्थान अनुपम है। वहाँ पर मानो शांति के कण बिखरे पड़े हैं। जाने के बाद निकलने को मन नहीं करता।

'सर्वोदय' की साधना

प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

"विजय, मैं क्या करूँ, आहार के समय मर्यादा को लाँघकर भोजन कर लेता हूँ, पर पेट की ज्वाला शान्त नहीं होती। ऐसा लगता है कि खाए ही जाऊँ। कभी घी, दूध आदि पदार्थ अधिक मात्रा में मिल जाते हैं तो क्षणभर शान्ति रहती है। फिर यह ज्वालामुखी भड़क उठता है। यह भस्मक मुझे भस्म ही करना चाहता है। अतः अब मेरा विचार शरीर रक्षा का नहीं आत्मरक्षा का ही होता जा रहा है। मैंने तुम्हारी सलाह मान कर आहार में किंचित् ढिलाई भी की पर उसका कुछ असर नहीं हुआ। अब मैं शान्ति से आत्माराधना करके इस शरीर को छोड़ देना चाहता हूँ और चाहता हूँ कि गुरुजी से आज्ञा दिलाने में तुम हमारी हमारी सहायता करो।" ये शब्द अपने लघु सधर्मा विजय से बड़ी व्यग्रता से समन्तभद्र ने कहे।

विजय—भन्ते, आप को मैं क्या समझाऊँ ? मैं तो इतनी बात सदा कहता आया हूँ कि शरीर के सुखाने को तप नहीं कहते। आपने मेरी बात न मानकर सदा रूक्ष भोजन लिया और लगातार ग्रन्थ निर्माण में कठोर परिश्रम किया। मैं आपका बनाया गया 'देवागम स्तोत्र' पढ़ता हूँ तो जी में ऐसा लगता है मानों मैं भगवान् के समवसरण में बैठा हुआ उनका स्तवन कर रहा हूँ। आपकी आत्मा उसमें घुल गई है। अपने जीवन का यह सत्य '[1]आभ्यन्तर तप की वृद्धि के लिए बाह्यतप तपना चाहिए' आप सदा कहते हैं। पर सोचिए तो सही शीघ्रता से आभ्यन्तर प्राप्ति की तृष्णा भी अन्ततः तृष्णा ही है और '[2]तृष्णाज्वालाएँ जलाती है वे शान्त नहीं होतीं' के अनुसार वस्तुतः वह तृष्णा भी मनुष्य को उतना ही आकुल करती है जितनी कि धनार्थी को धनतृष्णा। आपसे मानवजाति का समुत्थान होनेवाला है। युगों में आप जैसे विरले ही पुरुष होते हैं जिनसे मानवजाति के विकास को एक गति मिलती है। उसे आगे बढ़ने के लिए एक धक्का लगता है।

---

१ 'बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्वमाभ्यन्तरस्य तपस. परिबृंहणार्थम्।'

२ 'तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासाम्।' —बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र

समन्तभद्र–विजय, मैं बड़ी दुविधा में पड़ा हूँ। एक ओर तो मुझे अपने मुनिव्रत को अखंडित रखना है दूसरी ओर यह भी भावना है कि जब हमने सब कुछ छोड़ा और सांसारिक सभी बन्धनों से मुक्त होकर सर्वभूतमैत्री की महाभावना को जीवन में उतारने के लिए निकले तब इस मनुष्य जनम का पूरा उपयोग उस मैत्रीभाव के विकास में किया जाय। यह भी विचार मन में आता ही है कि अब यह रोग निष्प्रतीकार–असाध्य मालूम होता है। अतः समपरिणामों से समाधि मरण करके वर्तमान जीवन का अन्त किया जाय। इस मनोमंथन में मुझे यदि भीतर से पूछो तो 'सर्वभूतमैत्री' की उपासना ही सर्वाधिक प्रिय है। जब मैं धर्म के नाम पर अहंकार का पोषण देखता हूँ। आत्मधर्म के क्षेत्र में भी व्यावहारिक बाह्य जाति-पांति, कुल, बल, शरीर आदि जड़धर्मों की उपासना देखता हूँ और देखता हूँ कि इस आत्मशोधक जैनधर्म के धारण करने वाले श्रमण भी ज्ञान, पूजा, ऋद्धि और तप का भी अहंकार करके मद की ही पूजा कर रहे हैं तब जी ऐसा विचलित होता है कि इस तरह ये इसको कैसे टिका सकेंगे। ये इन अहंकारों से मदमत्त होकर अनेक प्रकार की कल्पित रेखाएँ मानव-मानव में खींचकर अन्ततः भौतिकता की ही पूजा कर रहे हैं। इन्हे "न धर्मो धार्मिकैर्विना–धर्मात्माओं के बिना धर्म नहीं होता" इस साधारण सत्य का ही पता नहीं है। विजय, उस दिन की घटना से तो मेरा जी सिहर उठता है जब अपने ही सामने उस आत्मदर्शी मातंग का तिरस्कार इन धर्माभिमानियों ने किया था। मालूम हुआ कि पीछे से उसे पीटा भी गया था। यदि वह विचारा मेरे उपदेश को सुन रहा था तो उससे इनका क्या बिगाड़ होता था ?

"भन्ते, उसकी बात न छेड़ो। यह सब खुराफात चण्डशर्मा की थी। उसने ही आनन्द आदि को उकसाया था। आनन्द पछता रहा था कि "हम लोगो ने बड़ी भूल की जो उस समभावी धर्मात्मा का अपमान किया। हमें तो पीछे मालुम हुआ कि उसने मद्य मांसादि का त्याग कर व्रतों को धारण किया था। महाराज, उस दिन उसने एक ही वाक्य कहा था 'क्या श्रमणों मे भी अहिंसा वीतरागता और समता केवल उपदेश की ही वस्तु है ?' पर हमें तो जाति का मद चढ़ा था। उसकी इस बात ने हमारी क्रोधाग्नि में घी का काम किया। हम अपना विवेक खो बैठे। और थोड़े ही दिन पहिले पढ़ा हुआ यह पाठ[1] भी भूल गए जिसमे सम्यग्दृष्टि चांडाल

१. "सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्। देवा देव विदुर्भस्म गूढांगारान्तारौजसम् ॥"–सम्यग्दर्शन से युक्त चाण्डाल को भी गणधर आदि ने देव कहा है। वह तो उस अग्नि के समान है जिसका तेज भस्म से दबा हुआ है।"

आया, आंखें डबडबा आई। रुंधे हुए कंठ से फिर बोला, "महाराज, उस विचारे ने और कुछ भी नहीं कहा? वह हमलोगों की ओर मैत्रीभाव से ही देखता रहा। उसकी समता से हमारा पशु शान्त हुआ और हम पराजित होकर ही लौटे थे। उसी दिन हम लोगों ने समझा कि चण्डकी संस्कृति से हमारी श्रमण संस्कृति जुदी है। एक का रास्ता विषमता, परतन्त्रता, वर्गप्रभुत्व, अहंकार और घृणा का है तो दूसरे का समता, स्वतन्त्रता–व्यक्ति स्वातन्त्र्य, शान्ति और सर्वमैत्री का है। एक वर्गोदय चाहती है तो दूसरी सर्वोदय। इसीलिए दो तीन दिन तक हमलोग आपको अपना मुंह दिखाने नहीं आए थे।"

समन्तभद्र––विजय, सचमुच, वे पछता रहे थे? अच्छा हुआ जो उन्हें सद्बुद्धि आई। तुम उन्हें 'रत्नकरण्डक' तो पढ़ा ही रहे हो?

विजय––भन्ते, यह उसीका संस्कार है जो उन्हे सुमति आई। उनके भीतर का मानव जागा। अस्तु।

समन्तभद्र––विजय, मेरा मन इस समय दोलित है। वह पीपल के पत्ते की तरह चंचल है। चिरसाधित व्रत और तपों को जिनकी साधना मे जीवन का सारभाग बीता अब इस ढलती उमर में यों ही शिथिल करूँ? विजय, मुझसे यह नहीं होगा। अपने ही हाथों अपना आत्मघात! "आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं–आत्महित ही कर्तव्य है और जितना हो सके परहित करना चाहिए" यही हमारा सम्बल है। अतः मैं अब समाधिमरण की आज्ञा लेने गुरुदेव के पास जाता हूँ। विजय, मुझे संभालना, मैं शान्ति से निराकुल हो मृत्युमहोत्सव मना सकूँ।

समन्तभद्र और विजय तुरंत गुरुदेव के समीप पहुँचे। विषण्णवदन समन्तभद्र को असमय में आया देखकर गुरुदेव बोले:––

भद्र, तुम इतने आकुल-व्याकुल क्यों हो? मैं तुम्हारे मनोमन्थन को जानता हूँ और जानता हूँ तुम्हारी आत्मव्यथा को। कहो, तुम क्यों विचलित हो? तुम जगत् में शासन-प्रभावक महापुरुष होओगे। दिव्य, तुम 'सर्वोदय तीर्थ' पर आए हुए आवरण को इस तमस्तोम को चीर कर उसके समन्ततः भद्र स्वरूप को प्रकट करनेवाले होओगे।

समन्तभद्र––गुरुवर, मेरा शरीर भस्मक रोग से भस्मसात् हो रहा है। रक्त सूख गया है, मांस और चर्बी जल चुके है। अब हड्डियाँ तड़तड़ा रही हैं। इस समय मुझे आप अन्तिम समाधि देकर मेरी इस भव की साधना की अन्तिम आहुति दीजिए और आशीर्वाद दीजिए कि जिस प्रामाणिकता और निष्ठा से मैंने आपके द्वारा दिए गए व्रतों को आज तक निरतिचार पाला

है उसका अन्त महोत्सव भी उसी निष्ठा से कर सकूँ। गुरुदेव, आपका अनन्त स्नेह ही हमारा आधार है। हम तो अकिंचन हैं।

गुरुदेव—भद्र, इतने आतुर न होओ। अभी तुम्हारा समाधि का समय नहीं आया। मानव जाति के सर्वोदय के लिए तुम्हे अभी बहुत बड़ा त्याग करना है। तुम्हे अभी जगत्कल्याण की अभय भावना भाना है। तुम्हारे जीवन में जो परहितकातरता के अंकुर है उन्हे पल्लवित और पुष्पित करना है। अतः भद्र, इस 'जिनवेष' को छोड़ कर तुम दूसरा वेष लेकर यथेष्ट स्निग्ध आहार से इस भस्मक रोग को शान्त करो। जीवन को असमय मे समाप्त करना समाधिमरण का लक्ष्य नहीं है। किन्तु उसका परम उद्देश्य तो यह है कि जब रोग निष्प्रतीकार हो जाय और मरण अनिवार्य ही हो तब मरण का स्वागत करना। जिस तरह समाधि से जिए उसी तरह समाधि से ही मरना। भद्र, तुम्हारा रोग असाध्य नहीं है।

समन्तभद्र—गुरुदेव, यह आप क्या कह रहे है! क्या मै इस दीक्षा को छोड़ दूं! क्या आप यह कह रहे है कि मै अपनी जीवन भर की साधना पर पानी फेर दूँ? जिन व्रतों और शीलों को दरिद्र की पूंजी की तरह मैंने संजोया है, जिस दीप से मेरा मन आलोकित है उसे अपने ही हाथों बुझा दूँ? नहीं, मुझसे यह नहीं होगा। मरण यदि कल होना है वह आज ही हो जाय पर मै इस पुनीत निर्ग्रन्थता को नहीं छोड़ सकता। आखिर मात्र जीने के लिए यह छोड़ दूँ? नही, यह कभी नहीं होगा। गुरुदेव, मुझे क्षमा करें। मेरी हत्या मेरे ही हाथों न कराएँ। मै अव्रती होकर नहीं जी सकता?

गुरुदेव—भद्र, रोओ नहीं। मै तुम्हें जो कह रहा हूँ वह एक महान् उद्देश्य के लिए। उस महासाधना के लिए अपने मानस की तैयारी करो। आ० विष्णुकुमार ने भी अकम्पन आदि मुनियों की रक्षा के लिए अपना मुनिव्रत छोड़कर दूसरा वेष धारण किया था। तुम तो सदा उन्ही का आदर्श सामने रखते रहे हो। यदि आज मानव कल्याण के लिए कुछ समय को तुम्हें व्रतों को स्थगित करना पड़ रहा है तो यह लाभ की ही बात है। तुम्हारी व्रतों की आत्मा के प्रति असीम निष्ठा ही फिर तुम्हे इससे भी उच्चतर पद पर ले जायगी। अतः वत्स, मेरी बात को स्वीकार कर तुम इस मुनिव्रत को छोड़कर शरीर स्वस्थ करो।

समन्तभद्र यह सुनते ही मूच्छित हो जाते है। और मूर्च्छा में ही बड़बड़ाते हैं—नहीं... नहीं... नहीं होगा... मैं.... व्रत.... व्रत नहीं ... नहीं छोड़ूंगा.... प्राण.... चले. जाँय।

उपचार से मूर्च्छा दूर होते ही वे फिर बोले—गुरुदेव, मेरी रक्षा करो, तुम्हारी शरण हूँ। मुझे बचाओ। व्रतों के छोड़ते ही कहीं मैं स्वयं नष्ट न हो जाऊँ। आज तो व्रतों को देखकर ही मैं इस महा भस्मक ज्वाला-मुखी में भी शान्त हूँ, और इसे चुनौती देता हूँ कि जला ले, मेरी हड्डियों को भी तड़-तड़ा ले, पर मैं पराजित नहीं होऊंगा। यह कहते कहते फिर उनकी आँखों के आगे अन्धेरा छा गया.......।

गुरुदेवने उस समय वादको बढ़ाना उचित नहीं समझ आदेशक स्वर में कहा—अच्छा भद्र, अब व्यर्थ तर्क न करो। मेरी आज्ञा है कि 'सर्वोदय' और अन्ततः 'स्वोदय' केलिए तुम मेरे दिए हुए व्रतों को कुछ काल के लिए मुझे सौंप दो। यह मेरी थाती है। उठो, शीघ्रता करो। यह मेरी अन्तिम आज्ञा है।

समन्तभद्र—'आज्ञा' 'आप मुझे यह आज्ञा दे रहे हैं गुरुदेव! 'तथास्तु' मैं आपके दिए हुए व्रतों के प्रतीक रूप इन संयम-साधनों को आपकी ही आज्ञा से चरणों में रखता हूँ। गुरुदेव, मुझे न भूलें, इन चिह्नों को पुनः मुझे दें। मैं आपके चरणरज की छाया में आपकी आज्ञा पाल रहा हूँ।

सारा वायुमण्डल निःस्तब्ध था। समन्तभद्र की आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। वे फूट फूट कर रो पड़े और गुरुदेव को अन्तिम बन्दना कर चल पड़े।

विजय कुछ दूर तक उनके साथ गए। विजय ने देखा कि महामुनि समन्तभद्र वृक्ष की छाल लपेट कर तापस का वेष धारण किए चले जा रहे हैं........वे देखते ही रहे....अनायास उनके मुंह से निकल पड़ा—'मणि कीचड़ में पड़ गया, अग्नि राख से ढंक गई' पर 'सर्वोदय' के लिए।

———

शूद्रमुक्ति

फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री

[३]

प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में दो प्रकार के कारण अनुभव में आते हैं– एक उपादान कारण और दूसरा निमित्त कारण। जो स्वयं कार्य के आकार को धारण करता है वह उपादान कारण है और जो कार्य की उत्पत्ति मे सहकार करता है वह निमित्त कारण है। जैनाचार्यों ने इनका बहुत ही गहराई के साथ विचार किया है। उन्होंने संसार के कारणों के समान मुक्ति के कारणों की भी छानबीन की है।

यहां मुख्यतया मुक्ति के कारणों का विचार करना है। अधिकतर साहित्य में यह लिखा मिलता है कि वज्रर्षभनाराच संहनन, मनुष्य पर्याय और उत्तम कुल ये मोक्ष के प्रयोजक हैं। मोक्ष के योग्य अन्तरंग सामग्री इनके सद्भाव मे ही प्रकट होती है।

कर्म बन्धन है और मुक्ति स्वतन्त्रता। इनका परस्पर मे विरोध है और वज्रर्षभनाराच संहनन तथा मनुष्यपर्याय ये कर्म के कार्य है अतः ये दोनो मुक्ति के प्रयोजक कैसे हो सकते है? इस प्रश्न पर जैनाचार्यों का ध्यान गया है इसीलिये उन्होने लिखा है कि जाति शरीर के आश्रित है और शरीर संसार है। जिनका जाति मे आग्रह है वे संसार से मुक्त नहीं होते[१]। फिर भी मनुष्य पर्याय और वज्रर्षभनाराच संहनन ये मुक्ति के कारण इसलिये कहे गये है, क्यों कि इनके सद्भाव मे ही जीव को मुक्ति मिलती है। यद्यपि मुक्ति में ये नहीं रहते पर मुक्ति मिलने के पूर्व समय तक इनका होना आवश्यक है।

अब विचार सुकुल का करना है। सुकुल और दुष्कुल ऐसा भेद हमे प्राचीन साहित्य में तो देखने को नहीं मिलता किन्तु पिछले साहित्य मे इसको बहुत अधिक प्रधानता दी गई है। सर्वप्रथम यह भेद हमे आचार्य जिनसेन के महापुराण में या उसके समकालीन साहित्य में दिखाई देता है।

(१) जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एव आत्मनो भव.।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्तेपेजातिकृताग्रहा। समाधिशतक श्लोक ८८।

वहां लिखा है कि जो दीक्षा के अयोग्य कुल में उत्पन्न हुए हैं जो कि विद्या (नाच गान) और शिल्प द्वारा अपनी आजीविका करते हैं उनका उपनयन आदि संस्कार करना सम्मत नहीं है[1]। उसीमें दूसरे स्थान पर यह लिखा है[2] कि जिसका कुल व गोत्र विशुद्ध है, जो सदाचारी है, देखने में सुन्दर है और बुद्धिशाली है वही दीक्षा के योग्य माना गया है अन्य नहीं।

जिनसेन आचार्य वीरसेन के प्रमुख शिष्य थे। इन्होंने उनके अधूरे काम को कुशलता से पूरा किया है। ये वीरसेन के साहित्य से अच्छी तरह सुपरिचित थे। इतना ही नही किन्तु ये सिद्धान्त शास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने कषायप्राभृत और उसकी चूर्णि की शेष टीका को पूरा किया है। कषायप्राभृत में म्लेच्छों के संयम स्थानों का और नीचगोत्री के क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति का स्पष्ट निर्देश है, जैसा कि हम पहले बतला आये हैं कि सिद्धान्तशास्त्रों से इस बात का भी पता लगता है कि नीचगोत्री भी संयम के धारण करने का अधिकारी है। ऐसी स्थिति में इन्होंने कथित शूद्रों को दीक्षा के अयोग्य और शेष को दीक्षा के योग्य क्यों बतलाया यह एक प्रश्न है जिस पर भले प्रकार प्रकाश डालना आवश्यक है। यहां यह भी देखना है कि दीक्षा शब्द का मूल में क्या अभिप्राय रहा है?

स्मृति ग्रन्थों में चारों वर्णों के अधिकारों की स्पष्ट चर्चा की गई है। वहां दो प्रकार के धर्म बतलाये गये हैं—सामान्य धर्म जिन्हें चारों वर्ण के मनुष्य पाल सकते हैं और विशेष धर्म जो प्रत्येक वर्ण के आवश्यक कर्तव्यों में सम्मिलित किये गये हैं। अहिंसा, सत्य और अस्तेय आदि सामान्य धर्म हैं। इनके स्वीकार करने में वहां किसी को मुमानियत नहीं की गई है। इनको प्रत्येक मनुष्य यथेच्छ पाल सकता है। किन्तु चार वर्णों के वर्णाश्रित आवश्यक कर्तव्यों की अलग अलग मर्यादा निश्चित कर दी गई है जिसके अनुसार चलना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। यदि कोई इस मर्यादा का उल्लंघन करता है तो उसे यथोचित दण्ड देने का अधिकार राजा को दिया गया है। आ० जिनसेन ने भी आदिपुराण में यही बात स्वीकार की है। स्मृतियों में वहां ब्राह्मणों और क्षत्रियों की साठ गांठ पर खूब जोर दिया गया है। वहां लिखा है कि ब्राह्मण के बिना क्षत्रिय की वृद्धि नहीं होती

(१) अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविनः ।
एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभिसम्मतः ॥ महापुराण ४०–१७०

(२) विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मतः ।
दीक्षायोग्यत्वमाम्नातं सुमुखस्य सुमेधसः ॥ महापुराण ३९–१५८

और क्षत्रिय के बिना ब्राह्मण वृद्धि को प्राप्त नहीं होता। इन दोनों के मिल जाने पर ही उभय लोक की सिद्धि होती है।[1]

मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण के मुख्य कर्तव्य कर्म छह है–अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह । इन में से क्षत्रिय और वैश्य तो यजन, दान और अध्ययन का अधिकारी है पर शूद्रों को किसी भी कर्म के करने का अधिकार नहीं है। शूद्रों के विषय मे वहां लिखा है[2] कि शूद्रों को जूठा अन्न और पुराने वस्त्र देने चाहिये। उनका उपनयन संस्कार नहीं करना चाहिए[3], उन्हे धर्म का उपदेश भी नहीं देना चाहिये[4]। वे अग्नि-होत्र आदि धर्म और प्रायश्चित्त आदि के भी अधिकारी नही है।

इस विषय मे हमने आदिपुराण का मनुस्मृति के साथ सम्यक् रीति से विचार किया है। दोनों का मिलान करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिनसेन ने मनुस्मृति के इस समाज धर्म को बाध्य होकर स्वीकार किया है। इसके पहले जैन परम्परा ने मनुस्मृति के इस समाज धर्म को कभी भी मान्यता नहीं दी थी। वे सदा इससे विद्रोह करते आये है। इस विद्रोह का कुछ आभास हमें रविषेण आचार्य के कथन[5] से मिल जाता है। वे कहते है कि जाति से ब्राह्मण आदि चार भेदों का मानना ठीक नही है, क्योकि ब्राह्मण और शूद्र के शरीर मे कोई अन्तर नहीं है इसलिये इनकी अलग अलग जाति मानना अहेतुक है। जहां पर जातिभेद दिखाई देता है वही पर यह सम्भव है, जैसे मनुष्य, हाथी, गधा, बैल और घोड़ा आदि। किसी दूसरी जाति का पुरुष किसी दूसरी जाति की स्त्री मे गर्भाधान नहीं कर सकता किन्तु कथित ब्राह्मण आदि का परस्पर ऐसा होता हुआ देखा जाता है। माना कि गधा के निमित्त से घोड़ी के गर्भाधान होता है पर यह आपत्ति ठीक नहीं, क्योंकि इन दोनों की एक ही जाति है। यदि इनके निमित्त से भिन्न जाति की सन्तान पैदा होती है ऐसा माना भी जाय तो भी यह युक्ति यहा लागू नहीं होती क्यों कि यहां ब्राह्मणी के शूद्र के निमित्त से जो सन्तान पैदा होती है वह इस प्रकार विलक्षण नहीं होती।

---

(१) नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।
ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते॥ मनुस्मृति ९,३२२।

(२) उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च। मनुस्मृति १०,१२५।

(३) न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति। मनुस्मृति १०,१२६।

(४) न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत्। मनुस्मृति ४,८०।

(५) पद्मपुराण ११,१९४–१९८।

इसलिये ब्राह्मण आदि वर्ण व्यवस्था को जन्म से न मान कर गुण कर्म से मानना ही युक्त है। गुणभद्र आचार्य भी इससे पीछे नहीं हैं। उन्होंने उत्तरपुराण मे उक्त कथन का ही समर्थन किया है। स्वयं जिनसेन[१] ने वर्ण-व्यवस्था के प्रसंग में यही बात कही है। वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में सब का मत एक है। कोई भी जैन आचार्य जन्म से वर्ण को मानने के लिये तैयार नहीं है। ऐसी हालत में एक कुल को सुकुल और दूसरे कुल को दुष्कुल बतलाना उचित नहीं है। मनुस्मृति का अपना बंधा हुआ क्रम है इसलिये वहां ऐसा विभाग करना सम्भव भी है पर जैन परम्परा के अनुसार तो ऐसा विभाग कथमपि नहीं किया जा सकता है।

मालूम होता है कि जिनसेन के सामने दो कर्तव्य थे एक सत्य की रक्षा करना और दूसरे चालू परिस्थिति के अनुरूप अपने को बनाना। उन्होंने इन दोनों कर्तव्यों का निर्वाह करने का प्रयत्न किया था। दुर्भाग्य तो इस बात का है कि परिस्थिति के बदल जाने पर भी जैन विद्वान् इस सत्य को नहीं समझ रहे है। जिनसेन का यह सामयिक समझौता था जिसके कारण अबतक हम बचे तो रहे पर हमारा सांस्कृतिक जीवन क्रम ही बदल गया। परन्तु अब परिस्थिति बदल जाने पर भी इस समझौते से बधे रहना उचित नहीं है।

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं कि यह तो स्मृतिकार भी मानते हैं कि अहिंसा, सत्य और अस्तेय आदि ये सामान्य धर्म हैं। इनको शूद्र भी धारण कर सकता है। यदि विचार कर देखा जाय तो जैन धर्म ने एकमात्र इसी धर्म का उपदेश दिया है। चरणानुयोग के जितने भी मौलिक ग्रन्थ हैं उनमे समाजधर्म का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है। स्वयं आदि-पुराणकार के मतानुसार भगवान् ऋषभदेव ने केवलज्ञान के होने पर वर्णव्यवस्था का उपदेश नहीं दिया था। उन्होंने तो गृहस्थ अवस्था मे ही उपजीविका के साधन रूप से षट्कर्म की व्यवस्था की थी। इसलिये वर्ण-व्यवस्था के प्रसग से कदाचित् हम यह कहे कि एक को दूसरे का कर्म नही करना चाहिये तो ऐसा कहना उचित भी कहा जा सकता है और यह

(१) वर्णाकृत्यादिभेदाना देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात्॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्।

(२) मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद् भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते॥ महापुराण ३८,४३।

हमारे अधिकार की बात भी है। पर धर्म के क्षेत्र में इस प्रकार की भेदक रेखा खींचना किसी भी हालत में उचित नहीं है। मनुस्मृति में जहां शूद्र को दीक्षा के अयोग्य बतलाया है वहां उसका यही अभिप्राय है कि शूद्र को शेष तीन वर्णों की दीक्षा न दी जाय। मनुस्मृति की इस व्यवस्था का अनुकरण करते हुए जिनसेन ने भी उनके उपनयन आदि संस्कार का निषेध किया है। प्रारम्भ में दीक्षा से मतलब शेष तीन वर्णों की दीक्षा से रहा है किन्तु बाद में इसमें वृद्धि की गई और यह माना जाने लगा कि शूद्रों को मुनि दीक्षा न दी जाय। कहीं कहीं तो इन्हें श्रावक दीक्षा का भी निषेध किया जाने लगा। सब आचार्य इस विषय में एकमत न हो सके। पण्डितप्रवर आशाधर ने सागारधर्मामृत की टीका[1] में इस मतभेद को स्पष्ट किया है। आदिपुराण में भी ऐसे वचन मिल जाते हैं जिनसे उक्त कथन की पुष्टि होती है। धीरे धीरे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिससे कथित शूद्र जिनदर्शन के भी अधिकारी नहीं माने जाते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि जैन परम्परा में दीक्षा के योग्य कुल और दीक्षा के अयोग्य कुल ऐसा विभाग जिनसेन के काल से चालू होता है इसके पहले हमारे यहां ऐसा कोई विभाग नहीं था। स्वयं वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में 'दीक्षायोग्य साधु आचारवाले' ऐसा पद दिया है। वे कुल के आधार से दीक्षा के योग्य कुल और दीक्षा के अयोग्य कुल ऐसा विभाग नहीं करते। सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में श्रमणों को चारों वर्णों में आया हुआ बतलाया है।[2] जैन परम्परा में साधु सभी वर्ण के होते रहे हैं। बौद्ध साहित्य भी इसका साक्षी है। त्रिपिटकों में अनेक स्थलों पर बुद्धदेव ने यह स्वीकार किया है कि 'जो लोक में रुद्र, खून रंगे हाथवाले, क्रूरकर्मा, मनुष्यों में नीच जातिवाले हैं वे निग्गठों में साधु बनते हैं।'[3] जैन परम्परा में तो न देह वन्दनीय है, न कुल वन्दनीय है और न जाति ही वन्दनीय है। यदि गुणहीन साधु या श्रावक है तो वह भी वन्दनीय नहीं माना गया है। यहां तो एकमात्र गुण वन्दनीय माना गया है। सम्यग्दृष्टि को कुलमद और जातिमद का त्याग करना अत्यन्त आवश्यक बतलाया गया है। इनका अहंकार करने से मोक्षमार्ग में बाधा पड़ती है। ये वास्तव में

---

(१) किर्विशिष्टे, दीक्षोचिते। दीक्षा व्रताविष्करण व्रतोन्मुखस्य वृत्तिरिति यावत्। सा चात्रोपासकदीक्षा जिनमुद्रा वा उपनीत्यादिसंस्कारो वा। सागारधर्मामृत २,२० टीका।

(२) चातुर्वर्ण्यश्रमणनिवहः संघः।

(३) पतितोद्धारक जैनधर्म पृ० ३२।

सारिपुत्र मौद्गल्यायन

मंगलनाथ सिंह बी. ए.

जिन दिनों भगवान बुद्ध राजगृह मे राजा बिम्बिसार द्वारा प्रदत्त बेणु-बन के महाबिहार में वास करते थे और उनकी कीर्त्ति सुनकर राजा-रंक अमृतपान करने के लिये उमड़ रहे थे, अश्वजित नामके एक नये परिव्राजक ने दो ब्राह्मण-कुमारों को ला उपस्थित किया। उन्हें देखते ही भगवान ने कहा था–'भिक्षुओं ये जो दो मित्र उपतिस्स और कोलित आ रहे है वे दोनों मेरे अग्रश्रावक होंगे–श्रेष्ठ शिष्य होंगे।' यही दोनों कुमार आगे चलकर सारिपुत्र और और मौद्गल्यायन के नाम से भिक्षु संघ में प्रसिद्ध हुए और भगवान की भविष्यवाणी सत्य ही हुई। भगवान ने इनकी प्रतिभा के संबंध मे जो अनुमान किया था ये उसके अनुकूल ही प्रमाणित हुए। वस्तुतः बौद्धधर्म मे इनकी दीक्षा ने उसे शास्त्र की दृढ़ भित्ति दे आर्यावर्त में जनता ही नहीं विद्वानों की वस्तु भी बना दिया। आरम्भ में किसी भी धर्म को ऐसे विद्वानों की आवश्यकता पड़ती ही है। विशेषतः भारतवर्ष में क्योंकि भारत में एक परम्परा सी चली आती है कि यहां प्राचीन शास्त्रों का बड़ा महत्त्व होता है। भारतवर्ष मे जब कभी कोई महापुरुष प्रचलित विचारधारा का खण्डन कर किसी नयी विचारधारा का प्रवर्तन करता है तो उसके लिये आवश्यक होता है कि वह प्राचीन ग्रंथों से अपने नये विचारों के समर्थन मे प्रमाण पेश करे। यहां शास्त्रों के विरोध करनेवाले को भी शास्त्रीय होना पड़ता है। इसके अभाव में कोई भी ऐसा आन्दोलन अधिक दिनों तक टिक नहीं पाता। उदाहरण स्वरूप हम कबीर को ही ले सकते है। कबीर ने शास्त्रों का तो

काल्पनिक है यह बात भी आचार्यों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार की है। इसलिये यह कुल दीक्षा के योग्य है और यह कुल दीक्षा के योग्य नहीं है ऐसा विभाग करना इष्ट नहीं है और न कुन्दकुन्द प्रभृति आचार्यों का भी यह अभिप्राय रहा है।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार वज्रर्षभ-नाराचसंहनन और मनुष्य पर्याय मोक्ष के प्रयोजक है उस प्रकार कुल मोक्ष का प्रयोजक नहीं है।

खण्डन किया परन्तु चूंकि वे अपने सिद्धांत को शास्त्रीय रूप न दे सके अतः उनका पंथ कुछ जनों तक सीमित रह गया। इस प्रकार आरंभिक बौद्धधर्म को अपने प्रकाण्ड शास्त्रीय पांडित्य से शास्त्रीय भित्ति दे इन दो ब्राह्मण कुमारों ने उसकी बड़ी सहायता की। अन्यथा वह भी एक पंथ मात्र ही रह जाता।

भगवान बुद्ध से सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की भेंट के संबंध में एक बड़ी मनोरंजक कथा है।

राजगृह के पास नालक और कोलित नामक दो ग्राम हैं। नालक ग्राम में ब्राह्मण का एक सम्पन्न व्यापारी परिवार था तथा कोलित मे वैसा ही एक दूसरा ब्राह्मण परिवार था जिसकी ख्याति उसके विस्तृत खेतों से दूर दूर तक फैली थी। दोनो में सात पीढियों से संबंध चला आता था।

एक दिन नालक ग्राम की ब्राह्मणी रूपसारि की कोख मे एक सुपुत्र पैदा हुआ। ठीक उसी दिन कोलित ग्राम की ब्राह्मण मुद्गली ने भी पुत्र रत्न को प्रसूत किया। बालकों का नाम क्रमशः उपतिस्स और कोलित रक्खा गया। उनमे भी प्रगाढ़ मैत्री थी। वस्तुतः उनके शरीर ही दो थे अन्यथा मन तो एक ही था।

वे परस्पर प्रतिश्रुत हुए कि "जिसे पहले अमृत (ज्ञान) की प्राप्ति हो वह दूसरे को उसकी सूचना दे।"

एक दिन अश्वजित नामक एक भिक्षु ने राजगृह मे प्रवेश किया। वे प्रत्येक घर के पास से गुजरते और भिक्षा ग्रहण करते जा रहे थे। उपतिस्स की दृष्टि इस नये भिक्षु पर पड़ी जिसका गौर मुखमण्डल प्रशम भावों से उद्दीप्त हो रहा था। उपतिस्स ने सोचा 'अवश्य ही यह एक अर्हत् है। उनके पास चलने से अमृत तत्त्व की प्राप्ति होगी।'

भिक्षा समाप्त कर अश्वजित अपने स्थान पर पहुँचे। पीछे पीछे उपतिस्स भी आये। अश्वजित शान्त मन एक ओर बैठ गये। उपतिस्स ने खड़े खड़े ही विनीत स्वर मे पूछा—

'आयुष्मन्! आपकी आकृति अत्यन्त शान्त और सुन्दर है। छविवर्ण परिशुद्ध है। आप किसके धर्म को मानते है? आपके शास्ता कौन है? उनका उपदेश क्या है?' अश्वजित ने शान्त मन से उत्तर दिया—

"मै अभी नया भिक्षु हूँ। मेरे शास्ता भगवान् बुद्ध है। उनका उपदेश परम गम्भीर मार्मिक और पंडितों द्वारा विधेय है। तथागत का कहना है कि सभी धर्म सकारण है और उनके निरोध का उपाय है।"

उपतिस्स को बोध हुआ। उसका ज्ञान परिशुद्ध हो गया।

उपतिस्स ने आयुष्मान् अश्वजित की सारी कथा कोलित को सुना दी। कोलित ने कहा, 'चलो उपतिस्स, भगवान के पास चले। वे ही हमारे शास्ता है।'

उपतिस्स और कोलित एक साथ ही प्रव्रजित हुए और तबसे उन्होंने अपना नया जीवन प्रारम्भ किया। भगवान्ने उनका नाम उनकी माताओंके नामों के आधार पर क्रमशः सारिपुत्र और मौद्गल्यायन रक्खा। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन वय में भगवान् से ज्येष्ठ थे और अपने समय के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। भगवान् ने उन्हें अपना अग्रश्रावक घोषित किया। वे उन्हें इतना सन्मान देते थे कि जहां कहीं वे जाते सारिपुत्र उनके दाहिने पार्श्व में होते और मौद्गल्यायन उनके बायें पार्श्व में ; सम्पूर्ण समाज मे वे उसी प्रकार समादृत हुए। उनकी महिमा भिक्षुसंघ ने गायी। नालन्दा की मूर्त्ति में भी सारिपुत्र और मौद्गल्यायन इसी रूप में उत्कीर्णित हैं।

सारिपुत्र की प्रज्ञा की प्रशंसा में भगवान् शतमुख हो जाते थे।

"भिक्षुओ! सारिपुत्र पंडित हैं, महाप्रज्ञावान् हैं।" अनुपदसुत्तं

"भिक्षुओ! मेरे महाप्रज्ञावान भिक्षु श्रावकों में यह सारिपुत्र श्रेष्ठ है।"

उनकी प्रज्ञा पर बुद्ध को इतना विश्वास था कि जब कभी वे उपदेश देते देते थक जाते तो सारिपुत्र को भिक्षुसंघ को उपदेश देने की आज्ञा करते थे। उनके उपदेशों मे अन्तर नहीं पड़ता था। मौद्गल्यायन से उन्होंने कहा था--

"साधु, साधु, मौद्गल्यायन, चाहे भिक्षुसंघ को मैं परिधारण करूं या सारिपुत्र और मौद्गल्यायन।"

भिक्षुओं को भी उन्होंने कह रखा था-"भिक्षुओ! सारिपुत्र और मौद्गल्यायन को धारण करो। भजन करो। सारिपुत्र और मौद्गल्यायन पंडित हैं। भिक्षुओ! जन्मदाता पिता की तरह सारिपुत्र हैं, पोषक की तरह मौद्गल्यायन। भिक्षुओ, सारिपुत्र अधिकारी को फल प्राप्त कराता है और मौद्गल्यायन निर्वाण।

भगवान् ५६ वर्ष के हो चले थे। भिक्षुओं को संबोधित कर एक दिन कहा--"भिक्षुओ! मैं वृद्ध हो चला हूँ। अबतक नित्य नये परिचारक से काम चलता रहा है लेकिन अब मैं देखता हूँ कि कोई कोई भिक्षु 'इस मार्ग से चलो' कहने पर दूसरे मार्ग से चलते हैं। मेरा पात्र और चीवर भूमि पर ही छोड़ देते हैं। इसलिए अब तुम मेरे लिये एक नियत परिचारक की व्यवस्था कर दो।"

सारा भिक्षुसंघ दुखी था। सारिपुत्र ने कहा, "भगवन्! मैं परिचर्या करूँगा।" किन्तु भगवान् बुद्ध ने कहा-"नहीं, सारिपुत्र! जिस दिशा में तू जाता है उस दिशा में मेरे जाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। तेरा उपदेश बुद्धों के उपदेश के समान है। इसलिए सारिपुत्र! तुझे परिचर्या में रहने से लाभ नहीं।" उनकी क्षमाशीलता की एक घटना है।

सभी लोगों में यह बात फैली हुई थी कि आयुष्मान् सारिपुत्र बड़े ही क्षमाशील हैं। एकदिन एक ब्राह्मण ने उनकी परीक्षा लेनी चाही। उसने पीछे से अकारण ही सारिपुत्र को एक घूंसा जमाया। सारिपुत्र उसकी ओर बढ़े तथा शान्तचित्त से उससे पूछा "ब्राह्मण तेरे हाथों मे चोट तो नहीं आयी" उसपर क्रोध न करके उसे आशीर्वाद ही दिया। ब्राह्मण पर इसका बड़ा असर हुआ और वह उनका शिष्य बन गया।

अग्रश्रावकों की मृत्यु के संबंध मे बौद्ध साहित्य में यह उल्लेख आता है—

कार्तिक का महीना था। अपना अंत निकट जान आयुष्मान सारिपुत्र बुद्ध से बिदा ले अपनी जन्मभूमि नालिक में चले आये। उन्होंने उसी कोठरी मे जिसमे उनका जन्म हुआ था आसन जमाया। उनकी माता तब तक जीवित थी। अपने पुत्र को सामने पाकर प्रथम तो वे बड़ी ही प्रसन्न हुई पर उसे प्रव्रज्या धारण किये देखकर वे उतनी ही अप्रसन्न भी हुई। परन्तु रात मे सारिपुत्र के चमत्कार देखकर वे बड़ी ही प्रसन्न हुई। सारिपुत्र ने उन्हे उपदेश दिया जिसे सुनकर उन्हे भी ज्ञान हुआ।

उसी दिन भोर मे अग्रश्रावक आयुष्मान सारिपुत्र परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। आयुष्मान चुंद जो उनकी शुश्रूषा कर रहे थे उनका पात्र, चीवर और धातुशेष ले श्रावस्ती में अनाथ पिण्डक के जेतवनाराम मे भगवान के पास गये। तथागत ने उनकी अस्थियों पर श्रावस्ती मे विशाल स्तूप बनवाया।

तथागत ने उनकी मृत्यु पर आनंद से कहा था "आनंद ! जिस प्रकार किसी बड़े वृक्ष के खड़े रहते उसका सबसे अधिक सारवाला तना टूट कर गिर जाये, इसी प्रकार महान् भिक्षुसंघ के रहते सारवान सारिपुत्र का परिनिर्वाण हो गया। आनंद, यह कहां मिलेगा कि जो पैदा हुआ है, जिसकी रचना हुई है, जो अस्तित्व मे आया है उसका विनाश न हो ? नहीं आनंद, यह नहीं हो सकता। इसलिए आनंद, आप अपने दीपक बनो। दूसरे का आश्रय मत लो। धर्म को अपना दीपक समझो। धर्म का ही आश्रय लो।"

सारिपुत्र के परिनिर्वाण के एक पक्ष के भीतर ही अग्रश्रावक मौद्गल्यायन का भी परिनिर्वाण राजगृह के पास कालशिला गुफा में गुण्डों के हाथों हो गया।

भगवान ने उनकी अस्थियों पर भी एक विशाल स्तूप का निर्माण करवाया। श्रावस्ती में ये दोनों स्तूप पास पास ही बने। इस प्रकार सारे जीवन के साथी दोनों मित्र पास पास ही चिर निद्रा में सो गये।

उनकी मृत्यु से तथागत को भी गहरा धक्का लगा। और वे भी छह मास के भीतर ही परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये।

हरिजन मन्दिर प्रवेशचर्चा—

जैनधर्म ने सदा से जातिपांति को नहीं मानने का दावा किया है। भारतवर्ष का साहित्य और इतिहास इसका साक्षी है। इस सम्बन्ध मे हमें जितने भी पुराने उल्लेख मिलते हैं उनसे इसी बात का समर्थन होता है। बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं। यदि हम बर्तमानकालीन जैन समाज का ही बारीकी से अध्ययन कर लें तो भी इस तथ्य का निर्णय हो सकता है। आज भी इसमें दर्जी, लोहार, कोरी और बढ़ई का काम करनेवाले लोग हैं पर वे समाज में नीची श्रेणी के नही माने जाते हैं और न जिनेंद्रदेव की पूजा करनेवाले पुजारी ऊँची श्रेणी के ही माने जाते हैं। फिर भी इसके उपासक बनने का दम भरने वाले कुछ पढ़े लिखे लोगों की व उनके अनुयायियों की जो दशा है वह किसी से छिपी नहीं है। इनमे जातीयता की जड़े कितनी गहरी हैं इसका पता इस बात से लगता है कि बहुत प्रयत्न करने पर भी वे यह मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि कथित शूद्र भी मनुष्य हैं और उन्हें वे सब अधिकार मिलने चाहिए जिनका इतर वर्णवाले उपभोग कर रहे हैं।

यों तो बदलती हुई परिस्थिति को देखकर कुछ जैनपत्रों ने अब इसकी चर्चा करना ही बन्द कर दिया है और कुछ पत्र दबी जबान से इसका समर्थन करने लगे हैं। परन्तु अभी भी उनकी पूरी झिझक नहीं गई है। ऐसे अवसरवादी पत्र कब किस रुख का समर्थन करेगे इसका निर्णय करना कठिन है। जिनके दो चेहरे होते हैं वे सदा अवसर को परखा करते हैं।

हमने ३ नवम्बर का "जैनसंदेश" का अंक देखा है। इसमें कांग्रेसी होने के नाते हरिजनमंदिरप्रवेश बिल का दबी जबान में समर्थन किया गया है। हमने इसे बारीकी से पढ़ा है। पढ़कर हमें तो ऐसा ही मालूम पड़ता है कि अभी भी यह अंधेरे में ही भटक रहा है। यह कांग्रेसी होने के नाते तो हरिजनमंदिरप्रवेश बिल का समर्थन करना चाहता है पर सांस्कृतिक आधार से उसका समर्थन नहीं करना चाहता। इसमें ऐसे कानून बनाने की सलाह

मध्यवर्ती सरकार को दी गई है। हम इससे तो सहमत है कि यदि यह मध्यवर्ती सरकार का प्रश्न हो तो वह ऐसा कानून अवश्य बनावे जिससे यह प्रश्न सदा के लिये हल हो जाय पर हम केवल कांग्रेसी होने के नाते ऐसे कानून का समर्थन करने के लिये कभी भी तैयार नहीं है। हमारी समझ से यह सांस्कृतिक प्रश्न है, और इसका उसी आधार से समर्थन किया जाना चाहिए। कांग्रेस की प्रतिष्ठा का मूल आधार एकमात्र संस्कृति है। उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। जैनसंदेश ने इसके पहले जो गलती की है उसके संशोधन का एकमात्र सही मार्ग अपनी गलती को स्वीकार कर लेना ही है। यदि नाक पकड़ना ही है तो सीधी ही क्यों न पकड़ी जाय उसे घुमाकर पकड़ने में क्या लाभ है? फिर भी दुर्भाग्य से कुछ ऐसे पत्र शेष है जो अपना पुराना राग आलाप रहे है। "जैन दर्शन" उसका मुखिया है। इसका १ नवम्बर का अंक हमारे सामने है। इसमे ऐसी अनेक बातें है जो आक्षेपार्ह है। अबतक समाज मे सुधार के जितने भी आन्दोलन हुए है इसके सम्पादक ने उन सबका विरोध किया है। वे हरिजन मंदिर प्रवेश बिल का भी विरोध कर रहे है यह उनकी प्रकृति के अनुरूप है। हमारा उनसे केवल यही कहना है कि वे थोड़ा संयम से काम ले। धमकी देने से काम चलनेवाला नहीं है। जिस स्थिति का वे बारबार संकेत करते है उसकी जवाबदारी एकमात्र उन्हीं पर और उनके सहयोगियों पर है। वे चाहते तो यह समस्या इतनी न उलझती।

मालूम हुआ है कि म्हैसूर स्टेट भी हरिजन मंदिर प्रवेश बिल पास करने जा रही है, हम उसके इस कार्य का स्वागत करते है। इधर बौद्धधर्म को जो पुनः प्रोत्साहन मिल रहा है उसका एक कारण यह भी है कि इससे देश मे जातीयता के विष को दूर करने मे सरकार को सहायता मिलती है। उस दिन सारनाथ मे उनके जलसे को देखकर एक विद्वान् भाई ने हमसे कहा कि देखो इनका क्या ठाट है। हम इसका क्या उत्तर देते? हम तो इतना ही कह सके कि इन्हें देखो और अपने को देखो! मोर नाचते समय अपने पैरों की कुरूपता को देख देख कर आंसू ढारती रहती है। आज तो यही दशा हो रही है। ये विश्व में अहिंसा और सत्य का प्रचार तो करना चाहते है पर जीवन में जो हिंसा समाई हुई है उसे निकाल बाहर करना नहीं चाहते। कथित शूद्रों के विषय मे केवल इतनी सी बात करनी है कि केवल उन्हें नीच कहना और बुरा कहना छोड़ दिया जाय पर ये इसके लिये भी कहां तैयार है? यही इनकी अहिंसा है और यही इनका सत्य है। ये तो यह भी दावा करते है कि भगवान् महावीर ने भी यही कहा था।

एक भाई ने तो कथित शूद्रों को जूते की चमड़े की उपमा देने की धीठता की है। जैनधर्म की कैसी विडम्बना की जा रही है कुछ कहते नहीं बनता।

कुछ पत्रों का ऐसा ख्याल है कि हम इस चर्चाको बन्द कर दें तो वे बंबई सरकारको इस बातके लिये राजी कर सकते है कि वह जैनोंको हरिजन मन्दिर प्रवेश बिलसे मुक्त कर दे। हमें ऐसी बातें जान कर हँसी आती है। मालूम पड़ता है कि वे देशकी वर्तमान नीतिसे सर्वथा अपरिचित हैं। बम्बई सरकार चाहे जो करे उससे हमें कुछ भी लेना देना नहीं हैं। पर इतना निश्चय है कि भविष्य मे आजकी सामाजिक व्यवस्था नहीं चल सकती। देश इसे बदलने के लिये कृत-संकल्प है। हम चारों ओरकी बुराई को सहकर भी वही कर रहे है जिसमें जैन संस्कृतिका हित है। जैन हिन्दू है या नहीं इस वाद की दिशा बदलनेका लघु प्रयत्न भी इसी लिये हमने किया है। हमारा तो सबसे यही कहना है कि वे वस्तु स्थितिको समझें और उसके अनुरूप अपनेको बनानेका प्रयत्न करें।

तारण स्वामी–

जैन धर्म क्रान्तिकारियों का धर्म है। क्रांति ही मानव जीवन के बहुमुखी विकास के संतुलन को बनाये रख सकती है। जैन धर्म और क्रान्ति एक प्रकार से पर्यायवाची शब्द है। श्रमण संस्कृति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जितने भी महामानव और जन-संस्कृति के परमोन्नायक आध्यात्मिक नेता हुए है उन सभी का जीवन क्रान्तदर्शी था। वह वर्षो से चली आती परम्परा के उन तत्त्वों से विद्रोह करती है जो नैतिकता के नाम पर देश, समाज और संस्कृति को पतन के गहरे गर्त्त मे गिरा रहे थे। सोलहवीं शती भारतीय आध्यात्मिक इतिहास मे विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इस युग मे बहुत से भारतीय नेता हुए जिन्होंने भोलीभाली जनता को पतनोन्मुख मार्ग से मोड़कर सन्मार्ग की ओर प्रेरित किया। ऐसे उदारचेता मनस्वी नेताओं में तारण स्वामी का अपना स्थान है। आपने ज्ञानयोग को अपना प्रधान मार्ग बनाकर अध्यात्म की गवेषणा का जीवन व्रत ले रखा था। धर्म, संस्कृति और परंपरा के नाम पर जैन समाज मे जो छुआछूत आदि प्रचलित थीं उनका प्रबल विरोधकर आपने ज्ञानमार्ग प्रदर्शित किया था। गत मास तारण स्वामी की जयन्ती भारत के विभिन्न भागों में सोत्साह मनायी गयी। हमारी कामना है कि आपके क्रान्तिकारी विचारों का अधिकाधिक प्रचार हो।

सारिपुत्र मोग्गलायन की पवित्र अस्थियाँ–

पराधीन भारत में शताब्दियों तक भारत की भाग्यलक्ष्मी की भांति ब्रिटेन के राजकीय आश्चर्यगृहमें बंदी रहकर भारतकी स्वाधीनता के साथ

अग्रश्रावक सारिपुत्र और मौग्गलायन की अस्थियां अपनी मातृभूमि में सन् ४७ में लौटी हैं। सांची के स्तूप की खुदाई के अनन्तर इनकी पहचान होकर ये लन्दन के आश्चर्यगृह में भेज दी गयी थीं। वहां वे बंदिनी थीं। यह कथन भी सार्थक है। कारण कि पूर्ण एशिया के बौद्धों के सम्मिलित प्रयास के बावजूद भी वे अपने असली अधिकारियों को न दी गयीं थीं। इस लंबी अवधि में लन्दन की बौद्धसभा को केवल एकबार उनकी पूजा करने की आज्ञा दी गयी थी।

भारत सरकार और महाबोधि सोसाइटी के प्रयत्न से जब वे पुनः अपने देश को लौटीं तो उनका उसी शान से स्वागत हुआ, जिस प्रकार स्वतंत्रता का। सारे देश ने अग्रश्रावकों की धातु को मस्तक नवाया। और अपनी श्रद्धांजलि दी। विगत वर्ष महाबोधि सोसाइटी के प्रधान कार्यालय कलकत्ता से ये अस्थियां विहार मे पाटलिपुत्र में पूजार्थ लाईं गईं थीं। उस अवसर पर विहार की सरकार और जनता ने जिस भव्यता से उसका स्वागत किया था यह एक ऐतिहासिक घटना ही है। इस वर्ष पिछले दिनों ये पवित्र अवशेष यू० पी० सरकार और यहां की जनता के आग्रह पर तथागत की प्रथम पुनीत धर्मभूमि सारनाथ मे सम्मानार्थ आये थे। इस अवसर पर युक्त प्रान्तीय सरकार के उच्च पदाधिकारियों के अतिरिक्त देश विदेश के राजदूत भी स्वागत में आये थे। अग्रश्रावकों की अस्थियों को प्रतीक मानकर उसकी छाया मे एशिया के सभी देश बहुत काल के पश्चात फिर मिले हैं। सहस्राब्दियों पूर्व बुद्धधर्म ने उन्हें सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बांधा था। पिछली शताब्दियों में पराधीनता के कारण एशिया की यह सांस्कृतिक एकता कुछ शिथिलसी हो गयी थी परन्तु अग्रश्रावकों की अस्थियों के सन्मुख इस बार वे जिस पवित्र सांस्कृतिक एकता के बंधन में पुनः आबद्ध हुए हैं वह निरन्तर दृढ़ होगा ऐसी हमारी कामना है। 'ज्ञानोदय' परिवार की ओर से हम श्रमणसंस्कृति के अग्रदूत जाग्रत आत्मा अग्रश्रावकों के अवशेषों के प्रति सम्मान प्रगट करते हैं।

सुभद्राजी का स्मारक—

सुभद्राकुमारी चौहान एक ऐसा नाम है, जिसकी याद आते ही नेत्रों के सम्मुख स्मृतिपट पर एक ऐसी भव्य मूर्त्ति आ जाती है जिसमें वीरता का ओज और मातृत्व की शान्ति समान रूप में झलकती है और यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि प्रधान भाव कौन है। वस्तुतः सुभद्राकुमारी जी आधुनिक भारत की उन जाग्रत महिलाओं में थी जिन्होंने रूढ़ियों

के जटिल अंजाल का भेदन कर इतिहास रचा है। आप भारतमाता की उन बेटियों में थीं, जिन्होंने मां की बेड़ियों को काटने में अपना सब कुछ होम दिया था। अपने इस प्रयत्न में वे किसी से पीछे न थीं। स्वतंत्रता संग्राम की आप प्रधान होत्री थीं। 'मां बंधन मुक्त हो' आपकी यह कामना थी। अपनी इसी लगन के पीछे वे दीवानी थीं।

क्या साहित्य क्या राजनीति और समाज सभी क्षेत्रों में आप की प्रतिभा की अमिट छाप है। हिंदी साहित्य के इतिहास में सुभद्रा जी का उदय एक घटना ही है। देश में राष्ट्रीय चेतना के प्रचार में आपकी कविताओं का प्रमुख स्थान रहा है। आपकी 'झांसी की रानी' एक युग तक देश में युवकों के लिये प्रयाण-गीत का काम करती रही है।

एक जाग्रत साहित्यकार होने के साथ साथ आप सक्रिय राजनीति में भी प्रमुख भाग लेती थीं। स्वतंत्रता संग्राम के सभी अवसरों पर आप घरबार छोड़कर जेल गयी थीं। राजनीतिक कार्यकर्त्री के रूप में आपकी सबसे बड़ी विशेषता थी कि आप प्रचार से सदा दूर रहकर त्याग में विश्वास करती थीं। आप राजनीति को परस्पर ईर्ष्या का अखाड़ा और पद या अधिकार की सीढ़ी नहीं मानती थीं। आपकी लोकप्रियताका यही रहस्य था।

अपने सामाजिक जीवन में तो वे और भी क्रान्तिकारिणी थीं। अत्यन्त ही हर्ष की बात है कि जबलपुर के प्रहरी समाज ने इस वीर महिला के स्मारक का आयोजन किया है। समाज ने प्रचुर धन व्यय कर इटली से सुभद्रा जी की मानव-कद की मूर्त्ति बनवायी है। मूर्त्ति का उद्‌घाटन हिंदी की प्रसिद्ध कवियित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने इसी २७ नवम्बर को किया है। वस्तुतः सुभद्रा जी के स्मारक के उद्‌घाटन के लिये महादेवी जी से उपयुक्त पात्री देश मे मिलना दुर्लभ है।

अपने इस प्रयास के लिये प्रहरी समाज बधाई का पात्र है। ऐसे आयोजन देश की जनता के सांस्कृतिक स्तर को उच्च करने में सहायक होंगे।

—मुनि कांतिसागर

मुनि श्री कान्तिसागरजी का आगे का पता—

C/o सुषमा साहित्य मन्दिर,
जवाहिरगंज, जबलपुर।